प्रकाशक
सरस्वती मन्दिर,
वाराणसी

मूल्य ८)

मुद्रक
विश्वनाथ भार्गव
मनोहर प्रेस
जतनबर, वाराणसी ।

निवेदन

साहित्यिक अभिव्यंजना का सर्वाधिक स्वतन्त्र साधन उपन्यास है। इसमें जीवन की यथार्थता एवं परिवर्तनशीलता को ग्रहण करते चलने की अपूर्व क्षमता है। यही कारण है कि इस युग में कविता तथा नाटक की अपेक्षा उपन्यास अधिक लोकप्रिय हो उठे हैं। हिन्दी में यद्यपि उपन्यास-लेखन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु प्रेमचन्द के पूर्व तक इसमें कोई साहित्यिक महत्व की कृति नहीं दिखाई पड़ी। इस दृष्टि से यथार्थवादी परम्परा के हिन्दी उपन्यासों का इतिहास केवल चालीस वर्षों का है। किन्तु अपने जीवन की इस संक्षिप्त अवधि में भी उसने महत्वपूर्ण विकास-यात्रा सम्पन्न कर ली है। हिन्दी-उपन्यास-वाङ्मय आज पर्याप्त समृद्ध है और इसमें विषय तथा शैलीगत अपूर्व विविधता, शक्ति एवं पूर्णता आ गई है। विभिन्न सामाजिक-वैयक्तिक प्रश्नों, परिस्थितियों एव विचार-ऊर्मियों के सूक्ष्म, सजग, सप्राण चित्र हिन्दी उपन्यासों में प्रचुरता से अंकित हुए और वह यथार्थ जीवन को उसकी समग्रता में व्यक्त करने का श्रेष्ठतम साधन बन गया है। प्रस्तुत पुस्तक में अपनी प्राचीन कथा-परम्परा तथा नवीन उपन्यासों के उदय, विकास एवं शिल्प प्रयोगों का परिचयात्मक विवेचन किया गया है। परिशिष्ट रूप में उपन्यास के स्वरूप, तत्व, प्रकार एवं विविध वादों का भी उल्लेख कर दिया गया है। प्रयत्न यह रहा है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण कृति के कथानक का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसकी विशेषताओं का सम्यक् उल्लेख हो। नये-पुराने प्रसिद्ध लेखकों की महत्वपूर्ण कृतियों की समीक्षा का संकल्प रखते हुए भी संभव है कुछ अच्छे उपन्यास उल्लिखित न हो सके हों। इसके लिए मैं उन महानुभाव कृतिकारों के प्रति सविनय क्षमाप्रार्थी हूँ।

प्रायः पाँच वर्ष पूर्व 'हिन्दी उपन्यास' नाम से प्रकाशित मेरी पुस्तक सम्भवतः इस विषय पर प्रथम आलोचनात्मक कृति थी। साहित्य के अध्येताओं द्वारा उसका पर्याप्त स्वागत हुआ और विभिन्न परिवर्द्धन-संशोधन के साथ उसके तीन संस्करण निकले। उस पुस्तक के पुनः प्रकाशन के सिलसिले में जब नये-पुराने उपन्यासों को देखने-पढ़ने का अवसर मिला तो पहले की योजना-विचारणा में पर्याप्त परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत हुई और सम्पूर्ण पुस्तक को मैंने पुनः लिख डालने का प्रयत्न कर लिया। प्रस्तुत पुस्तक की अधिकांश सामग्री नवीन एवं पुनर्लिखित है। प्रेमचन्दोत्तर युग का नये प्रकरण में विवेचन हुआ है और प्रकरणों का क्रम भी

पहले से किंचित् भिन्न है। लेखकों पर विचार करने के पूर्व आरम्भ में ही युग की विषय एवं शिल्पगत विशेषताओं का विस्तृत वर्णन कर दिया गया है। उपसंहार में युगीन प्रवृत्तियों के सिंहावलोकन का प्रयत्न है। दो वर्ष पूर्व ही लिखना आरम्भ कर दिया था किन्तु आज के व्यस्त जीवन-संघर्षों के बीच विस्तृत आकार प्रकार वाले शताधिक उपन्यासों का पढ़ना कितना समयसाध्य है इसे सुधीजन स्वयं समझ सकते हैं। यही कारण है कि पाठकों तथा प्रकाशकों के निरन्तर आग्रह पर भी पुस्तक यथासमय प्रकाशित न हो सकी। इस बीच आलोच्य विषय पर कई पुस्तकें निकाली गईं जिनमें पुराने 'हिन्दी उपन्यास' की सम्पूर्ण सामग्री को समेट लेने का प्रयत्न किया गया है।

प्रारम्भ में इस विषय पर लिखने की प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं सहायता देनेवालों में मेरे आदरणीय गुरु डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, श्रीकृष्णानन्द जी तथा भाई श्री रामचन्द्र श्रीवास्तव प्रमुख हैं। इस बार भी मैंने श्रद्धेय शर्माजी के समृद्ध ग्रन्थागार, एवं मूल्यवान सुझावों से पूरा लाभ उठाया है। मेरे प्रिय शिष्य एवं विद्वान सहयोगी श्री पारसनाथ सिंह ने कुछ लेखकों पर सामग्री जुटाने में मेरी बड़ी सहायता की है। मेरी सम्पूर्ण शुभकामनाएँ सदैव उनके साथ हैं। अन्त में अपने प्रकाशकों के धैर्य की सराहना किये बिना भी नहीं रह सकता जिन्होंने दो वर्ष तक प्रतीक्षा की और पुरानी पुस्तक के पुनर्मुद्रण के प्रलोभन को रोक रखा। वयोवृद्ध श्री आदरणीय गंगाशरण जी के निरन्तर तकाजों-उलाहनों के परिणाम-स्वरूप ही यह पुस्तक प्रकाशित हो सकी है।

शान्ति कुटीर, जौनपुर
विजया दशमी संवत् २०१६ } शिवनारायण श्रीवास्तव

क्रमणिका

तृतीय प्रकरण

चतुर्थ प्रकरण

चतुर्थ प्रकरण

अनुक्रमणिका

(क) लेखक-सूची

(ख) पुस्तक सूची

ऋ

ए

ओ

क

ख

ग

घ

च

ज

ध

न

प

फ

ह

क्ष

त्र

———

प्रथम प्रकरण

भारतीय कथा-परम्परा

पाश्चात्य सभ्यता एवं साहित्य से सम्पर्क, वैज्ञानिक प्रगति, जनतान्त्रिक चेतना आदि के सम्मिलित प्रभाव से जिन नूतन साहित्य-रूपों का आविर्भाव एवं विकास हुआ उनमें उपन्यास सर्वप्रधान है। इस देश के पुरातन साहित्य-भाण्डार में आधुनिक उपन्यास जैसी वस्तु ढूँढने से भी न मिलेगी। इनका कारण यह है कि उपन्यास स्वभावतः यथार्थ जीवन से सम्बन्धित है और सामाजिक-वैयक्तिक चेतना विकास में इसे अनुकूल भूमि मिलती है। अतएव प्राचीन तथा मध्य युग के कल्पनारंजित, आदर्शात्मक एवं धर्मप्राण वायुमण्डल में यह वाञ्छित जीवन-रस ग्रहण ही न कर सकता था। वर्णव्यवस्था, एकतन्त्रीय शासन, धर्म-अध्यात्म-प्रधानता आदि ने यहाँ जीवन एवं साहित्य के प्रति एक नितान्त आदर्शात्मक दृष्टि दी थी जिसमें व्यक्ति को उसकी वैयक्तिक विशेषताओं में न देखकर सामाजिक श्रेणी विशेष के प्रतिनिधि रूप में देखा गया। हमारे प्राचीन साहित्य में अतुलित रस-वैभव है, चमत्कारपूर्ण उक्तियों की विमुग्ध-कारिणी छटा है, शब्द-प्रयोग एवं अलंकार-विधान का अनुपम कौशल है, एक से एक महान मानव मूर्तियों की आकर्षक प्रदर्शनी है, उच्चतम आदर्शों की मोहक प्रतिकृतियाँ हैं, किन्तु उनमें सहजात प्रवृत्तियों की खींचतान से अस्थिर, परि-स्थितियों की लहरों पर झूलता हुआ, अपनी सम्पूर्ण मनुष्योचित सबलता-दुर्बलता से आबद्ध सामान्य मनुष्य विरला ही मिल पायेगा।

किन्तु कथा साहित्य के इतिहास लिखने का सङ्कल्प लेकर बैठा हुआ व्यक्ति इस देश की प्राचीन कथा-आख्यान-परम्परा की उपेक्षा नहीं कर सकता। कारण, सहस्रों वर्षों के विकास-क्रम में संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं के माध्यम से व्यक्त होती हुई कथा-कला ने अपनी स्वतन्त्र विशेषताएँ बना ली हैं और इस प्रचुर प्राचीन साहित्य के अन्तराल में भी स्थान-स्थान पर अन्वेषक को आधुनिक उपन्यास-कहानी के क्षीण नमूने मिल सकते हैं। काव्य हो अथवा धर्मग्रन्थ, आख्यायिका हो अथवा नाटक, व्यंग विद्रूप-गर्भ कविता हो अथवा कौतुक-कथा जहाँ भी लेखक जाने-अनजाने, समाज का चित्र अङ्कित करता है अथवा सामाजिक मनुष्य का आन्तर-बाह्य संघर्ष प्रतिबिम्बित

करने का प्रयास करता है वहीं पर उपन्यास का बीज देखा जा सकता है। आधुनिक उपन्यास के आविर्भाव से सहस्रों वर्ष पूर्व इसके लक्षण एवं प्रमुख उपादान विच्छिन्न-विपर्यस्त भाव से प्राचीन साहित्य के भीतर छिपे पड़े थे और उनका तुलनात्मक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। आदि काल से लेकर वर्तमान युग तक इस देश का साहित्यकार किन किन रूपों में कथा कथन की सहज एवं प्रबल मानव-प्रवृत्ति को स्वर देता रहा है, इसका ज्ञान वाञ्छनीय है। विद्वानों का मत है कि पूर्व एवं पश्चिम के अन्य देशों में भी कथा-कहानियों की परम्परा भारत से ही गई थी।

वैदिक कहानियाँ

ऋग्वेद मानवता का प्राचीनतम साहित्य माना जाता है। इसमें विभिन्न याज्ञिक क्रियाओं द्वारा इन्द्र, वरुण, सविता, मरुत, अग्नि आदि आर्यों के देवताओं के स्तुतिपरक मन्त्र संग्रहीत हैं। ऋग्वेद के 'संवाद-सूक्तों' में दो या अधिक पात्रों के कथनोपकथन मिलते हैं। विद्वानों ने भारतीय साहित्य के अनेक अंगों का उद्गम इन्हीं संवाद-सूक्तों को माना है। इनमें तथा सामान्य स्तुतिपरक सूक्तों में जिनका उद्देश्य देवता-विशेष की महत्ता प्रतिपादित करना है, अनेक आख्यान बीज रूप में मिलते हैं। इन्हीं का आगे चलकर ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों में विकास हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञानुष्ठान का विस्तृत वर्णन है। इसी सम्बन्ध में प्राचीन ऋषियों तथा राजाओं की शिक्षामूलक एवं मनोरंजक कथाओं का उल्लेख किया गया है। प्रातिभ चक्षुओं द्वारा साक्षात्कृत, आध्यात्मिक ज्ञान के सागर उपनिषदों में भी अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं। संहिता में संकेतित बीजकथाओं को 'बृहद्देवता' में तथा षड्गुरु शिष्य की 'कात्यायन सर्वानुक्रमणी' की वेदार्थ दीपिका टीका (११८४ ई०) में किंचित् विस्तार से पल्लवित किया गया है। 'नीति मंजरी' (सन् १४६४ ई०) के लेखक ने अधिकांश वैदिक कहानियों का इस ग्रन्थ में व्यवस्थित ढंग से उल्लेख करके उनसे प्राप्त नीति-उपदेशों को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।[1]

इन वैदिक कहानियों का उद्देश्य मनोरंजन नहीं है। इनके माध्यम से तप, यज्ञ एवं पवित्र जीवन की महत्ता प्रदर्शित की गई है, विभिन्न दैवी शक्तियों की पूजा-आराधना की उपयोगिता दिखाई गई है तथा अनुभूत एवं साक्षात्कृत आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। इनके पात्र अभिजात्य-राजा,

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास, बल्देव उपाध्याय पृ० ३७७।

ऋषि, विप्र आदि, है। फिर भी उस यज्ञ-धूम-सुरभित पवित्र वातावरण के भीतर से तत्कालीन मनुष्य की उच्चतर उपलब्धियों के साथ ही साथ उसकी मानवोचित दुर्बलताएँ भी अभिव्यक्त हो उठी हैं तथा तत्कालीन समाज यत्रतत्र अपनी यथार्थता में उभर आया है। त्वग्दोष के कारण पति द्वारा तिरस्कृत 'अपाला' ने अपनी साधना से इन्द्र को प्रसन्न कर सुन्दर शरीर प्राप्त किया। मन्त्र-द्रष्टा ऋषि सोभरि कारव ने इन्द्र की आराधना कर अक्षय यौवन एवं विलास के उपकरण प्राप्त किए तथा पचास राजकन्याओं से विवाह करके भोग में पूर्णत लिप्त होकर, उसकी निस्सारता का अनुभव किया। ऋषि अजीगर्त तीन सौ गायों के लोभ से अपने ही पुत्र शुनःशेप को बेचने एवं यज्ञ में बलि देने के लिए प्रस्तुत हो गये। ऋषि पिता के द्वारा बूढ़ी गायों के दक्षिणा दिए जाने पर बालक नचिकेता ने सत्याग्रह किया। नारी के प्रेम एवं उसे प्राप्त करने की लालसा ने विप्र श्यावाश्व को मन्त्रद्रष्टा ऋषि बना दिया। महर्षि च्यवन की पत्नी सुकन्या की पतिनिष्ठा से प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारों ने ऋषि को अलौकिक रूप यौवन दिया। प्रियतमा उर्वशी को खोकर राजा पुरूरवा त्रेधा अग्नि के संस्थापक बने। दध्यङ् आथर्वण ने इन्द्र द्वारा मस्तक-छेद की चिन्ता किए बिना अश्विनीकुमारों को मधुविद्या का उपदेश दिया। इन सभी कहानियों मे उच्चतर साधना की ओर आग्रह होते हुए भी शारीरिक प्रयोजनों से सम्बन्धित मानवीय दुर्बलताओं के सुन्दर संकेत है।

महाकाव्य तथा पुराण

वैदिक साहित्य की उपर्युक्त कथा परम्परा लौकिक साहित्य में आकर विभिन्न रूपों मे पल्लवित हुई। विद्वानों का मत है कि आदि कवि वाल्मीकि तथा महर्षि वेदव्यास ने भी राम-कृष्ण की कथा को किसी पूर्व आख्यान से ही प्राप्त किया होगा और अपनी उर्वर कल्पना एवं समृद्ध अनुभव के बल पर रामायण तथा महाभारत को विशाल एवं विस्तृत कला-रूप प्रदान किया होगा। व्यवस्थित ढंग से, एक मूलकथा को मेरुदण्ड बनाकर, व्यापक जीवन-चित्रण का प्रयास इन्हीं दो ग्रन्थों मे मिला। प्रासंगिक कथाओं की बहुलता के बीच विकसित होने वाला महाभारत का आख्यान कथा-कथन का एक भव्य स्वरूप है। उपर्युक्त दोनों ही काव्यग्रन्थों में धर्म, दर्शन एवं समाजनीति को प्रमुखता मिली है। उपनिषदों वाली प्रश्नोत्तर-प्रणाली का अनुसरण यहाँ भी किया गया है। एक जिज्ञासु श्रोता प्रश्न करता है और कोई ऋषि या महापुरुष कथा-प्रसंग

के द्वारा उसका समाधान उपस्थित करता है। इस क्रम से, एक कथा से दूसरी कथा निकलती चलती है। विभिन्न पुराण प्राचीन आख्यानों के भाण्डार हैं जिनमें इतिहास और कल्पना का विलक्षण योग हुआ है। वैदिक साहित्य में उल्लिखित सोभरिकाण्व, राजा हरिश्चन्द्र, नचिकेता, याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी, पुरुरवा और उर्वसी आदि पात्र पुराणों मे विभिन्न रूपों मे अवतरित हुए हैं। पुराणों के प्रसिद्ध दधीचि ऋषि, जिनकी हड्डी से वज्र बना था वैदिक दध्यङ् आथर्वण ही हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य की कथा-परम्परा सहस्रमुखी होकर पुराणों में प्रकट हुई। यहाँ भी उद्देश्य यद्यपि, धर्म, मोक्ष, ईश्वर आदि के स्वरूप की व्याख्या ही है किन्तु इनके द्वारा तत्कालीन उच्चवर्गीय समाज का एक व्यापक चित्र हमारे सामने आता है और एक-एक आख्यान आज के उपन्यास का विषय बन सकता है (श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी जैसे साहित्यकारों ने कुछ ऐसे प्रयत्न किए भी है)। काव्य की सीमाओं के भीतर से वैयक्तिक अन्तर्द्वन्द्वों के सुन्दर सकेत भी यत्र तत्र मिलते है। वर्णन-प्रणाली मुख्यत. अलकृत, आदर्शात्मिक तथा कल्पना प्रधान है।

बौद्ध जातक

बौद्ध जातक कथाओं के रूप में भारतीय कथा-परम्परा ने एक नवीन मोड़ ली। ये कथाएँ अपने वर्त्तमान रूप मे कम से कम दो हजार वर्ष पुरानी हैं।[१] जातक शब्द का अर्थ है जन्म सम्बन्धी। बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व गौतम बुद्ध को अनेक जन्म धारण करने पड़े थे। जातक में बोधिसत्त्व (बुद्धत्व के लिए प्रयत्नशील प्राणी) के पाँच सौ सैतालीस जन्मों का उल्लेख है।[२] हर जातक-कथा चार भागों में विभक्त है—(१) पच्चुपन्न वत्थु जिसका तात्पर्य है वर्त्तमान कथा अर्थात् भगवान बुद्ध के समय की कोई घटना, (२) अतीत वत्थु जिसका मतलब है किसी भी ऐसे अवसर पर भगवान् बुद्ध द्वारा कही गई पूर्व जन्म की कथा; (३) अत्थवण्णना अर्थात् इन गाथाओं की व्याख्या, जिसमें गाथाओं का शब्दार्थ और विस्तृतार्थ रहता है, (४) समोधान—यह अन्त में आता है और इसमें बुद्ध बताते हैं कि उन्होंने जो अतीत कथा सुनाई उसके प्रधान पात्रों में कौन कौन था। वे स्वय उस समय किस योनि में उत्पन्न हुए थे।[३]

१—भदन्त आनन्द कौशल्यायन-जातक, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २५।

२—वही पृष्ठ १२।

३—वही पृष्ठ १७।

उदाहरण

नन्द जातक

"मञ्ञे सोवण्णयो रासि ' " यह गाथा, शास्ता ने जेतवन में विहार करते समय, सारिपुत्र स्थविर के शिष्य के बारे मे कही।

क वर्तमान कथा

वह भिक्षु सुभाषी था, बात सह लेनेवाला था, और बड़े उत्साह से स्थविर की सेवा करता था। एक समय (सारिपुत्र) स्थविर, शास्ता की आज्ञा ले, चारिका करते हुए, दक्षिणागिरि जनपद पहुँचे। वहाँ पहुँचकर वह भिक्षु अभिमानी हो गया। स्थविर का कहना नहीं मानता था। 'आवसु! यह कर' कहने पर स्थविर का विरोधी हो जाता था। स्थविर उसका आशय (= चित्त की बात) न समझते (= जानते)। वह, वहाँ चारिका कर, फिर (वापिस) जेतवन लौट आये। स्थविर के जेतवन-विहार पहुँचने के समय से वह भिक्षु फिर पूर्ववत् हो गया। स्थविर ने शास्ता से निवेदन किया—"भन्ते! मेरा एक शिष्य एक स्थान पर (रहते समय) सौ (मुद्रा) के खरीदे हुए गुलाम की तरह रहता है, दूसरे स्थान पर (रहते हुए) अभिमानी हो, 'यह कर' कहने पर विरोधी हो जाता है।" शास्ता ने कहा—"सारिपुत्र! इस भिक्षु का यह स्वभाव अब ही नहीं है, यह पहले भी एक स्थान पर तो सौ (मुद्रा) से खरीदे गुलाम की तरह रहता था, एक स्थान पर प्रतिपक्षी, (प्रति—) शत्रु हो जाता था।" यह कह स्थविर के याचना करने पर पूर्व जन्म की कथा कही—

ख अतीत कथा

पूर्व समय में वाराणसी मे (राजा) ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय, बोधिसत्व ने एक कुटुम्ब में जन्म लिया। एक गृहस्थ उसका मित्र था। गृहस्थ अपने बूढा था, लेकिन उसकी स्त्री तरुण थी। उसको स्त्री से एक पुत्र पैदा हुआ। उसने सोचा—(कदाचित्) यह तरुण स्त्री, मेरी मृत्यु के बाद किसी दूसरे पुरुष को लेकर, इस धन को नष्ट कर दे। मेरे पुत्र को न दे। सो, मैं इस धन को पृथ्वी में गाड दूँ"। (यह सोच) घर के नन्द नामक नौकर को ले, जगल में जा, एक स्थान पर धन को गाड, उसको बताकर कहा—"तात! नन्द! मेरे मरने पर मेरे पुत्र को यह धन बता देना। उसकी ओर से लापरवाह न होना।" (इस प्रकार) उपदेश देकर मर गया।

क्रम से उसका पुत्र बड़ा हो गया। माता ने कहा—"तात! तेरे पिता ने

नन्द को ले जाकर, धन गाडा था। सो, उसे मँगवाकर कुटुम्ब को पाल।" उसने एक दिन नन्द से पूछा—'मामा ! क्या मेरे पिता ने कहीं कुछ धन गाडा है ?"

"स्वामी ! हाँ।"

"वह कहाँ गाडा है ?"

"स्वामी। जगल मे।"

"तो चलें" कह, कुदाल टोकरी ले. जहाँ धन गडा था, वहाँ पहुँच कर पूछा—"मामा ! धन कहाँ है ?"

नन्द ने धन के ऊपर जाकर, उस पर खड़े हो, धन के कारण अभिमानी हो कुमार को गाली दी—अरे ! दासी पुत्र ! चेटक ! यहाँ तेरा धन कहाँ से आया ?"

कुमार ने उसके कठोर वचन को सुनकर, अनसुने की तरह कहा—"तो चलें।"

उसको साथ ले, लौटकर, फिर दो-तीन दिन गुजरने पर गया। नन्द ने वैसे ही गाली दी।

कुमार ने उसके साथ कठोर बात न बोल लौटकर सोचा—"यह दास, 'इस बार धन बता दूँगा।' कह कर जाता है। लेकिन (वहाँ) जाकर गाली देता है। न मालूम, इसका क्या कारण है ? मेरे पिता का एक कौटुम्बिक मित्र है। उसे पूछकर, (इसका कारण) मालूम करूँगा।" (यह सोच) बोधिसत्व के पास जा, सब हाल कह, पूछा—"तात ! क्या कारण है ?"

बोधिसत्व ने, 'तात ! जिस स्थान पर खडा होकर नन्द गाली बकता है, उसी स्थान पर तेरे पिता का धन है। इसलिए जब नन्द तुझे गाली दे, तो 'आ रे ! दास ! क्या गाली बकता है' कह, उसे खैंच, कुदाली ले, उस स्थान को खोद, कुल से प्राप्त धन को निकाल, दास से उठवा कर, "(घर) ले जा" कह, यह गाथा कही—

> मञ्झे सोवण्णयो रासि सोवण्णमाला च नन्द को,
> यत्थ दासो आम जातो ठितो थुल्लानि गज्जति ॥

[जहाँ पर आम दासी-पुत्र नन्दक खडा होकर कठोर शब्दों की गर्जना करता है, मैं समझता हूँ (वहीं) स्वर्णमय (आभरणों) का ढेर है, वहीं सोने की माला (है)।]

मञ्झे, ऐसा मैं मानता हूँ। सोवण्णयो, सुन्दर वर्ण होने से सोवण्ण (वस्तुयें)। वह कौन-कौन सी ? चाँदी, मणि, सोना, मूँगा आदि रत्न। इस

स्थान में 'सोवरण' से इन सब का मतलब है। उनका ढेर, सोवरण का ढेर। सोवरणमाला च, तेरे पिता के पास, जो सुवर्णमाला थी, वह भी मैं मानता हूँ कि यहीं है। नन्द को यत्थदासो जिस स्थान पर दास नन्दक खडा है, श्रामजा-तो, हाँ (=श्राम) मैं दासी हूँ, इस प्रकार दासत्व के भाव को प्रगट करने वाली दासी का पुत्र ! ठितो थुल्लानि गज्जति, वह जिस स्थान पर खडा होकर स्थूल (वचन) = कठोर वचन बोलता है, वहीं मैं समझता हूँ कि तेरा कुल-धन है।

बोधिसत्व ने कुमार को धन लाने का उपाय बताया। कुमार बोधिसत्व को प्रणाम कर, घर गये, और फिर नन्द को ले, धन के गडे होने की जगह गये। और जैसे कहा था, वैसे ही किया। फिर उस धन को ला, कुटुम्ब को पाला। वह बोधिसत्व के उपदेशानुसार दान आदि पुण्य कर्म करके, जीवन की समाप्ति पर, यथाकर्म (परलोक) सिधारा।

बुद्ध ने, 'पहले भी इस (भिक्षु) का यही स्वभाव था' कह यह धर्मदेशना ला, मेल मिला, जातक का साराश निकाल दिखाया। उस समय का नन्द (अब का) सारिपुत्र का शिष्य था। लेकिन पण्डित—कुटुम्बिक तो मैं ही था।

जातक-कथाएँ प्राचीन हैं या रामायण तथा महाभारत, इन पर विद्वानों में मतभेद है। रामायण-महाभारत के अनेक आख्यान किसी रूप में जातक कथाओं में भी मिलते हैं, इससे यह तथ्य तो पुष्ट होता ही है कि कथा-कहानी की प्राचीन परम्परा बौद्ध तथा अबौद्ध साहित्यों में समान रूप से प्रवाहित होती रही। जातक में यह परम्परा लोक-रुचि के अधिक समीप आई और इसमें महान व्यक्तियों एवं घटनाओ तक ही सीमित न रहकर सामान्य जनसमुदाय के जीवन की साधारण घटनाओं को वर्णित करने का भी प्रयास किया गया। मनुष्येतर जीव-जन्तु, पशु-पक्षी आदि को भी मानव की भाषा-प्रदान करके उनकी कथा के माध्यम से लोकहितकारी उपदेश व्यजित किए गए। जिस प्रकार बुद्ध ने अपने उपदेश के लिए लोक-भाषा को ग्रहण किया उसी प्रकार लोकजीवन को भी। "जातक साहित्य जनसाहित्य के सच्चे अर्थों में जनता का साहित्य है। इसमें हमारे उठने-बैठने, खाने-पीने, ओढने-बिछाने की साधारण बातो से लेकर, हमारी शिल्पकला, हमारी कारीगरी, हमारे व्यापार की चर्चा के साथ हमारी अर्थनीति, राजनीति तथा हमारे समाज के सगठन का विस्तृत इतिहास भरा पड़ा है। उस युग की भूवृत्त की भी पर्यात सामग्री है, विशेषरूप से उस युग के जल-मार्गों तथा स्थल-मार्गों की।"[1]

जातक के कथा-कथन में भी किंचित् विशेपता है। प्राय: सभी जातकों

१—आनन्द भदन्त कौशल्यायन—जातक पृष्ठ ३१

के आरम्भ में "पूर्वकाल में वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय" आता है। जैसे उर्दू की प्रत्येक कहानी 'एक दफा का जिकर है' से आरम्भ होती है, और अंग्रेजी की 'वन्स अपान ए टाइम' से वैसे ही अनेक जातक-कथाओं का आरम्भ उपर्युक्त वाक्य से होता है।[1] वर्तमान कथा कहते-कहते भूत कथा का आरम्भ कर देना और अन्त में दोनों कथाओं की सगत बैठा देने के कौशल का जातक में सुन्दर विकास हुआ। महाकाव्यों तथा पुराणों के अधिकांश पात्र एक पक्षीय—दैवी गुणसम्पन्न अथवा आसुरी वृत्तियों से युक्त—हैं, किन्तु जातक के पात्रों में अपेक्षाकृत अधिक मानवीयता है और कहीं-कहीं मानव मन सचरण की दिशाओं का अच्छा सकेत दिया गया है। इस प्रकार भारतीय कथा-विकास में जातक माला का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

परवर्ती संस्कृत में कथा का स्वरूप

कथा-कहानियों की उपर्युक्त परम्परा परवर्ती सस्कृत में भी प्रवाहित रही। इन कहानियों को स्थूल रूप से तीन श्रेणियो में विभाजित किया जा सकता है—(१) मनोरजक (२) उपदेशात्मक तथा (३) काव्यात्मक। प्रथम कोटि में वे कथाएँ आती हैं जिनमें मनुष्य के क्रियाकलापो का वर्णन है। इनमें आश्चर्य-जनक एव कुतूहलवर्धक घटना-विन्यास के द्वारा श्रोता या पाठक के मन को तल्लीन करने की अद्भुत क्षमता है। इनका प्राचीनतम सग्रह 'वृहत्कथा' है। 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' तथा 'वैताल पचविंशतिका' भी इसी कोटि की रचनाएँ है। उपदेशात्मक कहानियों में 'पचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश' प्रमुख हैं। इनमें पशुपक्षियों की कहानियों के द्वारा उपयोगी नीति-उपदेश दिए गए हैं। काव्यात्मक कथाओं के अन्तर्गत 'वासवदत्ता', तथा 'दशकुमार चरित' आदि साहित्यिक आख्यायिकाएँ आती हैं। इनकी रचना-प्रणाली अत्यन्त अलकृत एव रसात्मक है।

मनोरंजक कथाएँ

वृहत्कथा

दक्षिण के महाराज हाल के राजपण्डित गुणाढ्य ने पैशाची में 'वृहत्कथा' की रचना की, जिसे कुछ विद्वान प्रथम शताब्दी की तथा अन्य पचम शताब्दी की कृति मानते हैं। मूल ग्रन्थ तो अप्राप्य है किन्तु इस पर आधारित तीन ग्रन्थ मिलते हैं—(१) बुद्धस्वामीकृत 'वृहत्कथा श्लोक' (नवीं शताब्दी)

१—वही—पृष्ठ ३१

(२) क्षेमेन्द्र कृत 'बृहत्कथा मंजरी' (ग्यारहवीं शताब्दी) (३) सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर'।

कथा-वर्णन-कला की दृष्टि से उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों में 'कथासरित्सागर' सर्वश्रेष्ठ है। इसमें २४००० श्लोक हैं। और एक कथा से अनेक कथाएँ निकलती चली गई हैं। मूलकथा तो शिव के द्वारा पार्वती से कही गई बताई जाती है किन्तु वास्तविक वक्ता वररुचि है और श्रोता विंध्याचल के जंगलों में रहनेवाला काणभूति। मूलकथाकार एक कहानी आरम्भ करता है और उसी से अनेकानेक कहानियाँ बड़े सहज ढंग से निकलती चली आती हैं। यह शैली पौराणिक एवं जातक कथा-शैली के मिश्रण से विकसित की गई है। प्रत्येक कहानी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। इसमें कल्पित पात्रों के अतिरिक्त अनेक ऐतिहासिक पौराणिक पात्र जैसे राजा वत्सराज, नरवाहनदत्त, राजा-सूर्यप्रभ, विक्रमादित्य, इन्द्र, कुबेर, मयदानव आदि भी आए हैं। स्थल-स्थल पर वररुचिकालीन भारत की वास्तविक झाँकियाँ देखने को मिलती हैं। वास्तव में यह ग्रन्थ कथा का सागर ही है।

वैताल-पंचविंशतिका

विद्वानों का अनुमान है कि इस ग्रन्थ के लेखक 'शिवदास' थे। 'बृहत्कथा मंजरी' तथा 'कथा-सरित्सागर' में इसका उल्लेख है। अतएव इसकी प्राचीनता का अनुमान किया जा सकता है। इसमें प्रसिद्ध महाराज विक्रमादित्य से सम्बन्धित पचीस रोचक कहानियाँ सरल संस्कृत में वर्णित हैं। किसी प्रवंचक साधु ने राजा विक्रम से एक डाल में लटकते हुए शव को यह कह कर लाने का आदेश दिया कि उसके लाने से उनका हित-साधन होगा। शव में एक वैताल रहता था और उसने शव को ले जाने की अनुमति इस शर्त पर दी कि राजा रास्ते भर कुछ न बोलेगा। रास्ते में वैताल ने एक कहानी आरम्भ की और उसके अन्त में एक समस्या रख दी। राजा ने तुरन्त उसका उत्तर दे दिया और वैताल शव के भीतर पुनः डाल पर जा लटका। इसी प्रकार राजा २४ बार शव को लेकर चला और वैताल ने २४ कहानियाँ कहीं, जिनकी अन्तिम समस्या का उत्तर दे देने पर वैताल लौट-लौट गया। अन्तिम बार उसने कोई समस्या नहीं रखी और उस धूर्त साधु का रहस्योद्घाटन कर दिया।

शुक-सप्तति

इसमें एक तोते द्वारा कही गई सत्तर कहानियाँ संग्रहीत हैं। एक सौदागर मदनसेन एकबार व्यापार के सम्बन्ध में बाहर गया और घर की देख-भाल

का भार अपने स्वामिभक्त तोते पर (जो वस्तुतः एक गन्धर्व था) छोड़ गया। तोते ने लक्ष्य किया कि वणिक्-पत्नी कुमार्ग पर जाना चाहती है, अतएव उसने अपनी स्त्री मैना से ७० रातों में उतनी ही कहानियाँ कहीं। उनमें अधिकतर कुपथगामिनी, दुष्टा एव पति को प्रवंचित करनेवाली स्त्रियों की कहानियाँ है, किन्तु उनका उद्देश्य स्त्री-शिक्षा है।

सिंहासन द्वात्रिंशिका

महाराज विक्रमादित्य की मृत्यु के उपरान्त उनका सिंहासन जो इन्द्र द्वारा प्राप्त हुआ था पृथ्वी के गर्भ मे चला गया। महाराज भोज ने उसको बाहर निकलवाया और अपने उपयोग मे लाने का विचार किया। उस सिंहासन मे बत्तीस पुतलियाँ लगी हुई थीं और ज्यों ही राजा भोज सिंहासन पर बैठने को उद्यत होते एक पुतली विक्रम के शौर्य, साहस, उदारता, प्रजावत्सलता आदि की कहानी सुनाकर उन्हे बैठने से रोकती। इस प्रकार इन बत्तीस पुतलियों द्वारा कही गई बत्तीस कहानियाँ इस पुस्तक मे सग्रहीत हैं।

उपदेशात्मक कथाएँ

पञ्चतन्त्र

भारतीय कथा-परम्परा मे 'पचतन्त्र' का विशेष स्थान है। विद्वानों का अनुमान है कि ईसा की चौथी या पाँचवी शताब्दी के लगभग इसका सकलन किया गया होगा। इस ग्रथ का प्रमुख लक्ष्य उपदेश देना है, किन्तु इसके लिए पशु-पक्षियों की कथा की जो प्रणाली अपनाई गई है वह बड़ी ही प्रभावपूर्ण एव मनोरम है। दक्षिण के महिलारोप्य नामक नगर के राजा अमर शक्ति के अत्यन्त मूर्ख एव दुष्ट बुद्धिवाले तीन राजकुमारो को नीतिशास्त्र का ज्ञान कराने के लिए पडित विष्णुशर्मा ने इस ग्रन्थ की रचना की। इसमें 'मित्रभेद, 'मित्रप्राप्ति', 'काकोलूकीय', 'लब्धप्रणाश', और 'अपरीक्षित कारक' ये पाँच तन्त्र हैं। इनके द्वारा वे मूर्ख राजकुमार छ महीने मे ही नीतिशास्त्र-ज्ञाता हो गए।

इनमें, प्रथम तन्त्र के कथाकार है 'करटक' तथा 'दमनक' नामक दो सियार। प्रमुख कथा पिंगलक नामक शेर तथा सजीवक नामक बैल की है। इनके बीच के प्रगाढ स्नेह को लालची एव चुगलखोर गीदड दमनक ने नष्ट कर दिया। इस मूलकथा के बीच विभिन्न प्रकार के नीति-दृष्टान्तस्वरूप बाईस प्रासगिक कथाएँ ग्रथित हैं। 'मित्रसम्प्राप्ति' में कौवे, हरिण, चूहे और कच्छप की अडिग मित्रता की कथा के द्वारा यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया

है कि विरोधी शत्रु यदि मित्र बन जाय तो उसका विश्वास कभी न करना चाहिये। 'लब्धप्रणाश' में बन्दर और मगर की कथा है जिसके द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि कठिन परिस्थिति में भी जिसकी बुद्धि सजग रहती है वह उस परिस्थिति का सामना कर ले जाता है। इसमें ग्यारह अन्तर कथाएँ हैं। 'अपरीक्षित कारक' में एक नाई की कथा के द्वारा यह तथ्य हृदयगम कराने का प्रयास किया है कि बिना अच्छी तरह देखे, जाने, सुने तथा विचारे कोई कार्य न करना चाहिए।

पचतन्त्र की विभिन्न कथाओं के द्वारा मनुष्य-जीवन के लिए उपयोगी व्यावहारिक ज्ञान एव आचार-नीति का प्रदर्शन किया गया है। इसमें राजनीति, अर्थनीति, समाज नीति, नागरिक शास्त्र आदि से संबधित बड़े ही अनुभव-समृद्ध उपदेश सकलित किए गए हैं। कथा का वर्णन गद्य में है किन्तु उपदेशात्मक सूक्तियाँ जो अधिकतर रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत हैं पद्य मे हैं। सब कथाओं के कहने वाले अधिकाश पशु-पक्षी है और पात्र जड, चेतन सभी हैं। आरम्भ में लेखक वर्णन के द्वारा कथा का आरम्भ करता है जैसे "ऐसा सुना जाता है कि दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का एक नगर है। वहाँ धर्म द्वारा उपार्जित बहुत धनी वर्द्धमान नाम का बनिये का पुत्र था।[1] बीच में कथा का सूत्र अन्य पात्र के हाथ में चला जाता है जैसे "करटक बोला—हे भद्र! हम लोगों से इन बातों से क्या प्रयोजन ? क्योंकि कहा है—जो पुरुष जिसमें निपुण नहीं है उसमें निपुणता लाने की इच्छा करता है वही नष्टावस्था को प्राप्त होता है जिस प्रकार काँटे को निकाल कर बानर।

दमनक ने कहा "यह किस प्रकार की कथा है[2] ?"

इस पर करटक कथा कह चलता है। कथाओं में कथा जुडते जाने की यह परिपाटी कथा-सरित्सागर के समान ही है।

पचतन्त्र की कहानियाँ विभिन्न भाषाओ मे अनूदित होकर सम्पूर्ण विश्व मे फैली। सन् ५३३ ई० में हकीम बुरजोई ने सर्वप्रथम पहल्वी में इसका अनुवाद किया। सन् ५६० ई० में एक ईसाई पादरी ने सीरियन भाषा में कलिलग और दमनग नाम से इसका अनुवाद किया। इसीसे ७५० ई० में अरबी मे अनुवाद हुआ जिसका नाम कलीलह और दमनह है। चीनी भाषा मे भी सातवीं शताब्दी के पूर्व यह कथा पहुँच गई थी। विद्वानों का मत है कि 'अलिफ-लैला'

१—पंचतन्त्र—मास्टर खेलाडीलाल द्वारा प्रकाशित अनुवाद (१६३१) पृष्ठ ६

२—वही पृष्ठ १६।

का भार अपने स्वामिभक्त तोते पर (जो वस्तुतः एक गन्धर्व था) छोड़ गया। तोते ने लक्ष्य किया कि वणिक्-पत्नी कुमार्ग पर जाना चाहती है, अतएव उसने अपनी स्त्री मैना से ७० रातों में उतनी ही कहानियाँ कहीं। इनमें अधिकतर कुपथगामिनी, दुष्टा एव पति को प्रवञ्चित करनेवाली स्त्रियों की कहानियाँ हैं, किन्तु उनका उद्देश्य स्त्री-शिक्षा है।

सिंहासन द्वात्रिंशिका

महाराज विक्रमादित्य की मृत्यु के उपरान्त उनका सिंहासन जो इन्द्र द्वारा प्राप्त हुआ था पृथ्वी के गर्भ में चला गया। महाराज भोज ने उसको बाहर निकलवाया और अपने उपयोग में लाने का विचार किया। उस सिंहासन में बत्तीस पुतलियाँ लगी हुई थीं और ज्यों ही राजा भोज सिंहासन पर बैठने को उद्यत होते एक पुतली विक्रम के शौर्य, साहस, उदारता, प्रजावत्सलता आदि की कहानी सुनाकर उन्हें बैठने से रोकती। इस प्रकार इन बत्तीस पुतलियों द्वारा कही गई बत्तीस कहानियाँ इस पुस्तक में सगृहीत हैं।

उपदेशात्मक कथाएँ

पञ्चतन्त्र

भारतीय कथा-परम्परा में 'पचतन्त्र' का विशेष स्थान है। विद्वानों का अनुमान है कि ईसा की चौथी या पाँचवीं शताब्दी के लगभग इसका सकलन किया गया होगा। इस ग्रथ का प्रमुख लक्ष्य उपदेश देना है, किन्तु इसके लिए पशु-पक्षियों की कथा की जो प्रणाली अपनाई गई है वह बड़ी ही प्रभावपूर्ण एव मनोरम है। दक्षिण के महिलारोप्य नामक नगर के राजा अमर शक्ति के अत्यन्त मूर्ख एव दुष्ट बुद्धिवाले तीन राजकुमारों को नीतिशास्त्र का ज्ञान कराने के लिए पडित विष्णुशर्मा ने इस ग्रन्थ की रचना की। इसमें 'मित्रभेद, 'मित्रप्राप्ति', 'काकोलूकीय', 'लब्धप्रणाश', और 'अपरीक्षित कारक' ये पाँच तन्त्र हैं। इनके द्वारा वे मूर्ख राजकुमार छः महीने में ही नीतिशास्त्र-ज्ञाता हो गए।

इनमें, प्रथम तन्त्र के कथाकार है 'करटक' तथा 'दमनक' नामक दो सियार। प्रमुख कथा पिंगलक नामक शेर तथा सजीवक नामक बैल की है। इनके बीच के प्रगाढ स्नेह को लालची एव चुगलखोर गीदड दमनक ने नष्ट कर दिया। इस मूलकथा के बीच विभिन्न प्रकार के नीति-दृष्टान्तस्वरूप बाईस प्रासगिक कथाएँ ग्रथित हैं। 'मित्रसम्प्राप्ति' में कौवे, हरिण, चूहे और कच्छप की अडिग मित्रता की कथा के द्वारा यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया

है कि विरोधी शत्रु यदि मित्र बन जाय तो उसका विश्वास कभी न करना चाहिये। 'लब्धप्रणाश' में बन्दर और मगर की कथा है जिसके द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि कठिन परिस्थिति में भी जिसकी बुद्धि सजग रहती है वह उस परिस्थिति का सामना कर ले जाता है। इसमे ग्यारह अन्तर कथाएँ हैं। 'अपरीक्षित कारक' में एक नाई की कथा के द्वारा यह तथ्य हृदयंगम कराने का प्रयास किया है कि बिना अच्छी तरह देखे, जाने, सुने तथा विचारे कोई कार्य न करना चाहिए।

पंचतन्त्र की विभिन्न कथाओं के द्वारा मनुष्य-जीवन के लिए उपयोगी व्यावहारिक ज्ञान एव आचार-नीति का प्रदर्शन किया गया है। इसमें राजनीति, अर्थनीति, समाज नीति, नागरिक शास्त्र आदि से संबधित बड़े ही अनुभव-समृद्ध उपदेश सकलित किए गए हैं। कथा का वर्णन गद्य में है किन्तु उपदेशात्मक सूक्तियाँ जो अधिकतर रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों से उद्धृत हैं पद्य मे हैं। सब कथाओं के कहने वाले अधिकाश पशु-पक्षी है और पात्र जड, चेतन सभी हैं। आरम्भ में लेखक वर्णन के द्वारा कथा का आरम्भ करता है जैसे "ऐसा सुना जाता है कि दक्षिण देश में महिलारोप्य नाम का एक नगर है। वहाँ धर्म द्वारा उपार्जित बहुत धनी वर्द्धमान नाम का बनिये का पुत्र था।[1] बीच में कथा का सूत्र अन्य पात्र के हाथ में चला जाता है जैसे "करटक बोला—हे भद्र! हम लोगों से इन बातों से क्या प्रयोजन? क्योंकि कहा है—जो पुरुष जिसमें निपुण नहीं है उसमें निपुणता लाने की इच्छा करता है वही नष्टावस्था को प्राप्त होता है जिस प्रकार काँटे को निकाल कर बानर।

दमनक ने कहा "यह किस प्रकार की कथा है[2]?"

इस पर करटक कथा कह चलता है। कथाओं में कथा जुडते जाने की यह परिपाटी कथा-सरित्सागर के समान ही है।

पचतन्त्र की कहानियाँ विभिन्न भाषाओं मे अनूदित होकर सम्पूर्ण विश्व में फैलीं। सन् ५३३ ई० में हकीम बुरजोई ने सर्वप्रथम पहल्वी में इसका अनुवाद किया। सन् ५६० ई० में एक ईसाई पादरी ने सीरियन भाषा में कलिलग और दमनग नाम से इसका अनुवाद किया। इसीसे ७५० ई० में अरबी मे अनुवाद हुआ जिसका नाम कलीलह और दमनह है। चीनी भाषा मे भी सातवीं शताब्दी के पूर्व यह कथा पहुँच गई थी। विद्वानों का मत है कि 'अलिफ-लैला'

१—पंचतन्त्र—मास्टर खेलाड़ीलाल द्वारा प्रकाशित अनुवाद (१६३१) पृष्ठ ६

२—वही पृष्ठ १६।

की कहानियों का आधार भी पचतन्त्र की कहानियाँ ही हैं। 'इसाप' की कहानियाँ तो स्पष्टरूप से इन्हीं कहानियों से प्रभावित हैं।

हितोपदेश

बंगाल के राजा धवलचन्द्र के आश्रित नारायण पण्डित ने चौदहवीं शताब्दी में हितोपदेश की रचना की।[1] ग्रन्थकार ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसका मूल आधार पचतन्त्र ही है। इसकी प्रायः आधी कथाएँ पचतन्त्र से ली गई हैं। इसमें चार प्रकरण हैं—मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और सन्धि। इन चारों प्रकरणों में सब मिलकर अड़तालिस कथाएँ हैं जिनके द्वारा अनेक प्रकार की नीति-शिक्षा दी गई है। जैसा इसके नाम ही से विदित है इसका भी प्रधान उद्देश्य उपदेश देना है। कथा-कथन की शैली अधिकतर पचतन्त्र के समान है। प्रत्येक प्रकरण के मूलभाव या मुख्य उद्देश्य को केन्द्र बनाकर कथा आरम्भ होती है और उसीसे अनेक प्रासंगिक कथाएँ निकलती चली आती हैं। इसमें भी अधिकांश पशु-पक्षियों द्वारा कही गई कथाएँ हैं। कथा कथन में पचतन्त्र की अपेक्षा अधिक सरलता एवं सुबोधता है यही कारण है कि यह ग्रन्थ अधिक लोकप्रिय रहा। पशु-पक्षियों के व्याज से मानव-स्वभाव एवं व्यवहार के विषय में इन कथाओं से बड़ा उपयोगी ज्ञान उपलब्ध होता है।

काव्यात्मक कथाएँ

इस कोटि की कथाओं में सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता', बाणभट्टकृत 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' और दण्डीकृत 'दशकुमार चरित' प्रमुख हैं। विद्वानों का मत है कि ये तीनों ही लेखक सातवीं शताब्दी में हुए। सुबन्धु की 'वासवदत्ता' में केवल नायिका का नाम ही प्राचीन है, कथा बिल्कुल लेखक के मस्तिष्क की उपज है। इसमें कथावस्तु अत्यल्प है, काव्यमय वर्णन में ही सम्पूर्ण रमणीयता है। बाणभट्ट के 'हर्षचरित' को विद्वान लोग संस्कृत की प्रथम आख्यायिका मानते हैं। इसमें महाराज हर्ष की जीवन-कथा सरस शैली में वर्णित है। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' संस्कृत साहित्य की एक अनुपम कृति है जिसमें आदर्श-प्रेम की सुन्दर झाँकियाँ दिखाई गई हैं। इस आख्यायिका में पूर्व जीवन-सम्बन्धों को वर्तमान जीवन से कलात्मक ढंग से ग्रथित किया गया है। महाश्वेता तथा पुण्डरीक और कादम्बरी तथा चन्द्रापीड का पुनीत प्रणय अनेक जन्मों में एक-सी गम्भीरता में अभिव्यक्त होता है। इस ग्रन्थ का वस्तु-विन्यास, घटनाओं का तारतम्य, भावमग्न करनेवाली परिस्थितियों तथा संवादों की

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास—बलदेव उपाध्याय पृष्ठ, ३७८।

योजना, प्रकृति-निरीक्षण, कल्पना की रमणीयता, आदर्श एव यथार्थ का समन्वय आदि आज भी लोगों के अध्ययन, मनन एवं अनुकरण के विषय बन सकते हैं। दण्डी के 'दशकुमार चरित' में दश राजकुमार अपने-अपने पर्यटनों का, विचित्र अनुभवों तथा प्रशसनीय पराक्रमों का मनोरजक वर्णन करते हैं। छल-कपट, मारकाट, तथा साँच-झूठ से ओतप्रोत होने के कारण यह एक सजीव रचना है। दण्डी ने तत्कालीन समाज को पैनी दृष्टि से देखा था और इसीलिए तत्कालीन समाज का व्यंग और विनोद से युक्त बडा ही सुन्दर तथा यथार्थ चित्रण अपने ग्रन्थ में किया है। समाज के शोभन पक्ष की अपेक्षा अशोभन पक्ष का भी चित्र प्रस्तुत कर दण्डी ने अपने चित्रण मे जान फूँक दी है। दम्भी तपस्वी, कपटी ब्राह्मण, तथा छली वेश्याओं का वर्णन बडी जागरूकता के साथ किया गया है। तत्कालीन समाज की विचित्र प्रथाओं का भी चमत्कारी सकेत स्थान स्थान पर किया गया है।[1]

अपभ्रंश में कथा का स्वरूप

विद्वानों के अनुसधान से अपभ्रंश में लिखित बडा ही समृद्ध साहित्य प्रकाश में आया है। यद्यपि इसका अधिकाश काव्य है किन्तु इससे कथा कथन के स्वरूप एवं उसकी परम्परा पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। आठवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक की अपभ्रंश रचनाएँ मिलती हैं, यद्यपि पूर्ण उत्कर्ष १० वीं से बारहवीं शताब्दी के भीतर ही दिखाई पडता है। अपभ्रश की सम्पूर्ण रचनाएँ मुक्तक तथा प्रबन्ध इन दो रूपों में मिलती हैं; मुक्तक रचनाएँ अधिकतर सूक्ति बहुल एव धर्म-आचार के प्रचार के लिए लिखी गई हैं। किन्तु इनके बीच-बीच शृगार एव वीर रस की रमणीय मुक्तक रचनाएँ भी मिलती हैं जिनके द्वारा तत्कालीन लोक-कथाओं पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इन कथाओं में मुज और मृणालवती की कथा तथा रा'नवघण और राण सम्बन्धी कथाओं में पर्याप्त औपन्यासिक सामग्री है। इन्हीं को आधार बनाकर श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी ने गुजराती में क्रमश 'पृथ्वी वल्लभ' तथा 'गुजरात के नाथ' नामक उपन्यास लिखे भी हैं। उपर्युक्त दोनों ही कथाओं की घटनाएँ पर्याप्त रोमाचक एवं मनोरम हैं।

प्रबन्ध काव्य के चरित, कथा और पुराण ये तीन रूप मिलते हैं। चरित में अधिकाश ऐतिहासिक वृत्त हैं, कथा में अधिकतर कल्पना-प्रसूत कहानियाँ हैं और पुराण में अनेक महापुरुषों की जीवन-गाथाएँ हैं। प्रथम

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास—बल्देव उपाध्याय, पृष्ठ ३६४।

हुआ। 'पचतन्त्र', 'हितोपदेश' में कथा के माध्यम से उपदेश देने की जातक-शैली का विकास हुआ तथा अपभ्रंश में कथा को अधिक लौकिक धरातल प्राप्त हुआ। प्रेमाख्यानों की कादम्बरी वाली परम्परा नवीन वातावरण में एक नूतन रूप में विकसित हुई जिसमें काव्यतत्व की अपेक्षा कथातत्त्व को प्रमुखता मिली। यही परम्परा हिन्दी के सूफी कवियों द्वारा गृहीत हुई और 'पद्मावत' जैसे उत्कृष्ट प्रेमाख्यानक काव्य की रचना हुई। हम आगे देखेंगे कि खडी बोली गद्य के आविर्भाव एव विकास के साथ जब हिन्दी उपन्यासों का आरम्भ हुआ तो इसी प्रेमाख्यानक परम्परा को ग्रहण किया गया। 'पद्मावत' आदि रचनाएँ, आध्यात्मिकता के पुट को हटा देने पर शुद्ध 'रोमास' काव्य रह जाती हैं। हिन्दी के आरम्भ काल के कथावाङ्मय पर, जो गद्य में लिखा गया उसका कम प्रभाव नहीं पडा। जीवन की मधुऋतु में दो सुकुमार प्राणों का एक दूसरे से प्यार, मिलन की आकुलता, प्रिय का प्रयत्न, प्रेमपथ की बाधाएँ, उनपर विजय और फिर प्रिया से मिलन—यही रोमास काव्य की रूपाकृति है। हिन्दी-उपन्यास के प्रारम्भिक युगों में इस रूमानी प्रेम के वर्णन की प्रवृत्ति अधिक मिलती है।

द्वितीय प्रकरण

आविर्भाव काल : प्रेमचन्द के पूर्व

(सन् १८८२ से १९१८ ई०)

पिछले प्रकरण में दिखाया जा चुका है कि भारतवर्ष में धर्म-नीति-उपदेश-मूलक, प्रेमप्रधान अथवा आश्चर्यजनक कथा-आख्यायिकाओं की साहित्यिक एवं मौखिक परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। मुसलमानों के आगमन से बनावटी साहस, छल-छद्म, जादू-मन्तर और रूमानी प्रेम से पूर्ण अरब-फारस की कहानियाँ भी इस देश में प्रचलित हुईं। सन् १८०० ई० के आस-पास जब हिन्दी गद्य का आविर्भाव हुआ तब संस्कृत-फारसी-अरबी की इन परम्परित कहानियों को अनूदित करके अथवा उन्हीं को आश्रय करके लिखी गई अनेक कहानियाँ हिन्दी में आईं। इन कथा-कहानियों में 'रानी केतकी की कहानी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'माधवानल कामकन्दला', 'शकुन्तला', 'प्रेम सागर', 'नासिकेतोपाख्यान', 'किस्सा तोता मैना', 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'बहार दर्वेश', 'बागो बहार' तथा 'किस्सा हातिमताई' आदि प्रमुख हैं। बहुत दिनों तक उस समय की साधारण जनता इन्हीं के द्वारा अपना मनोरंजन करती रही।

हिन्दी-उपन्यास का आविर्भाव

जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५० ई० १८८५ ई०) हिन्दी साहित्याकाश में अवतरित हुए तो उनकी दृष्टि साहित्य के इस रूप की ओर पडी और उनके प्रोत्साहन से कितने ही बंगला उपन्यासों का अनुवाद हुआ और मौलिक उपन्यास भी लिखे गए। श्री राधाकृष्ण दास के अनुसार "उपन्यासो की ओर पहले इनका ध्यान कम था। इनके अनुरोध और उत्साह से पहले-पहल 'कादम्बरी' और 'दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद हुआ। स्वयं एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था जिसका कुछ अंश 'कवि-वचन सुधा' मे छपा भी था। नाम उसका था 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती।' इसमें वह अपना चरित्र लिखना चाहते थे। अन्तिम समय मे इस ओर ध्यान हुआ था। 'राधा रानी', 'स्वर्णलता' आदि का उन्हीं के अनुरोध से अनुवाद हुआ। 'चन्द्रप्रभा' और 'पूर्ण प्रकाश' को अनुवाद कराकर स्वयं शुद्ध किया था। 'राणा राजसिंह' को भी ऐसा ही करना चाहते थे।

कुछ शुरू किया था। नवीन उपन्यास 'हमीर हठ' बड़े धूम से आरम्भ किया था, परन्तु प्रथम परिच्छेद लिखकर ही चल बसे। इनके पीछे, इसके पूर्ण करने का भार लाला श्रीनिवास दास ने लिया और उनके परलोकगत होने पर पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने। परन्तु सयोग की बात है कि ये भी कैलाशवासी हुए और कुछ भी न लिख सके। यदि भारतेन्दु जी कुछ दिनों और भी जीवित रहते तो उपन्यासों से भाषा के भाण्डार को भर देते, क्योंकि अब उनकी रुचि इस ओर फिरी थी।"[1] इसी प्रकार बाबू ब्रजरत्न दास का भी कहना है—"यद्यपि भारतेन्दु जी ने एक भी पूरा उपन्यास नहीं लिखा है, पर एक पत्र से ज्ञात होता है कि इन्हीं के उत्साह दिलाने से उस समय स्वर्गीय श्री गोस्वामी राधाचरण जी ने 'दीपनिर्वाण' तथा 'सरोजनी' का उलथा किया और बाबू गदाधर सिंह ने 'कादम्बरी' का सक्षिप्त तथा 'दुर्गेशनन्दिनी' का पूरा अनुवाद किया था। प० रामशकर व्यास द्वारा 'मधुमती' और बाबू राधाकृष्ण दास द्वारा 'स्वर्णलता' अनुवादित हुई थी। 'चन्द्रप्रभा-पूर्णप्रकाश' 'राधा रानी', 'सौन्दर्यमयी' आदि भी इसी प्रकार अनुवादित हुए थे।"[2] भारतेन्दु के जीवन-चरित्र मे श्री राधाकृष्ण दास ने भारतेन्दु द्वारा रचित निम्नांकित अख्यायिकाओं का उल्लेख किया है। 'रासलीला' (गद्यपद्य), 'हमीर हठ' (असम्पूर्ण-अप्रकाशित), 'राजसिंह' (अपूर्ण), 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' (अपूर्ण , 'सुलोचना 'मदालसोपाख्यान' 'शीलवती' और 'सावित्री चरित्र । इनमें से 'सुलोचना' और 'सावित्री चरित्र' के विषय में वे स्वय भी सदिग्ध हैं। 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' मराठी से तथा 'राजसिंह' बगला से अनूदित हैं। 'रामलीला' उपन्यास न होकर गद्य और पद्य में अभिनय के लिए लिखी गई अयोध्याकाण्ड तक की राम कथा है।"

इस प्रकार भारतेन्दु ने एक भी मौलिक उपन्यास की रचना नहीं की। 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' का प्रायः दो पृष्ठों का 'प्रथम खेल' मात्र प्रकाश में आ सका। फिर भी भारतेन्दु ने हिन्दी-उपन्यास के लिए भूमि अवश्य प्रस्तुत की। उनके द्वारा अथवा उनकी प्रेरणा से बगला, मराठी आदि भाषाओं से अनूदित होकर जो उपन्यास हिन्दी में आए उन्होंने हिन्दी लेखकों को भी इस दिशा में प्रेरित किया तथा पाठक भी तैयार किए। दूसरे भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने अपने निबन्धों तथा सामाजिक प्रहसनो आदि में स्थान-स्थान पर घटना, परिस्थिति, वातावरण, तथा पात्रों के सजीव चित्रण तथा व्यगगर्भ आलोचनाओं के द्वारा कहानी-उपन्यास के लिए परोक्षरूप से मार्ग प्रशस्त किया।

१ दे० भारतेन्दु—पृष्ठ १६४।
२ वही।

'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' यदि पूरी हो गई होती तो आत्म कथात्मक उपन्यास का एक सुन्दर स्वरूप प्रस्तुत हुआ होता। इस संक्षिप्त वर्णन मे भी यथार्थ का पर्याप्त पुट है और उपन्यास में यथार्थ वर्णन शैली के विकास की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। अतएव इस कहानी के प्राप्त अंश को पूरा यहाँ दिया जा रहा है।

'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती'

प्रथम खेल

जमीने चमन गुल खिलाती है क्या क्या ?
बदलता है रंग आसमाँ कैसे कैसे ?

हम कौन है और किस कुल में उत्पन्न हैं आप लोग पीछे जानेंगे। आप लोगों को क्या, किसी का रोना हो पढे चलिए, जी बहलाने से काम है। अभी मैं इतना ही कहता हूँ कि मेरा जन्म जिस तिथि को हुआ वह जैन और वैदिक दोनों मे बड़ा पवित्र दिन है। स० १९३० में मै जब तेईस बरस का था, एक दिन खिडकी पर बैठा था, बसन्त ऋतु, हवा ठढी चलती थी! साँझ फूली हुई, आकाश में एक ओर चन्द्रमा दूसरी ओर सूर्य पर दोनों लाल लाल, अजब समा बँधा हुआ, कसेरू, गडेरी और फूल बेंचनेवाले सडक पर पुकार रहे थे। मैं भी जवानी के उमगों में चूर, जमाने के ऊँच-नीच से बेखबर, अपनी रसिकाई के नशे में मस्त, दुनियाँ के मुफ्तखोरे सिफारशियों से घिरा हुआ अपनी तारीफ सुन रहा था, पर इस छोटी अवस्था में भी प्रेम को भली भाँति पहचानता था।

कोई कहता था आपसे सुन्दर ससार में नहीं, कोई कसमें खाता था, आप-सा पडित मैंने नही देखा, कोई पैगाम देता था चमेली जान आप पर मरती हैं, आप के देखे बिना तडप रही हैं, कोई बोला हाय! आपका फलाना कवित्त पढकर रात भर रोते रहे, दूसरे ने कहा आपकी फलानी गजल 'लाला रामदास की सैर में जिस वक्त प्यारी ने गाई सारी मजलिस लोट-पोट हो गयी, तीसरा ठढी साँस भरकर बोला धन्य है आप भी गनीमत है बस क्या कहें कोई जी से पूछे, चौथा बोला आपकी अँगूठी का पन्ना क्या है काँच का टुकडा है या कोई ताजी तोडी हुई पत्ती है एक मीरसाहब चिडियावाले ने चोंच खोली, वेपर की उडायी बोले कि आपके कबूतर किससे कम है वल्लाह, कबूतर नही परीजाद हैं, खिलौने है, तसवीर हैं। हुमा पर साया पडे तो उसे शहबाज बना दें, ऐसे ही खूबसूरत जानवरों में ईसाई लोग खुदा का नूर उतरना मानते हैं, इनको उडते देखकर किसके होश नही उड़ते, कसम कलामुल्लाह शरीफ की मटियाबुर्जवालों

ने ऐसे जानवर ख्वाब में नही देखे। एक दलाल घोड़े की तारीफ कर उठा, जौहरी ने खच्चरों की तरफ बाग मोडी, बजाज बाग की स्तुति में फूल बूटे कतरने लगा, सिद्धान्त यह कि मैं बिचारा अकेला और वाह-वाहें इतनी कि चारों ओर से मुझे दबाए लेती थी और मेरे ऊपर गिरी क्या फिसली पडती थीं।

यह तो दीवानखाने का हाल हुआ अब सीढी का तमाशा देखिये। चार पाँच मुसलमान सिपाही, एक जमादार, दो तीन उम्मेदवार और दस-बीस उटल्लू के चूल्हे, कोई खडा है, कोई बैठा है, हाय रुपया हाय रुपया सबके जबान पर, पर इसमें सब ऐसे ही नही कोई-कोई सच्चा स्वामिभक्त भी है। कोई रंडी के भडुए से लडता है, रुपये में दो आना न दोगे तो सरकार से ऐसी बुराई करेंगे कि फिर बीबी का इस दरबार में दरशन भी दुर्लभ हो जायगा, कोई बजाज से कहता है कि वह काली बनात हमें न ओढाओगे तो बरसों पड़े झूलोगे रुपये के नाम, खाक भी न मिलेगी, कोई दलाल से अलग सट्टा-बट्टा लगा रहा है, कोई इस बात पर चूर है कि मालिक का हमसे बढकर कोई भेदी नही जो रुपया कर्ज आता है हमारी मारफत आता है, दूसरा कहता है बचा हमारे आगे तुम क्या पूगल चर हो औरतों का भुगतान सब मैं ही करता हूँ।

इन सबों में से एक मनुष्य को आपलोग पहचान रखिए, इससे बहुत काम पड़ेगा। यह नाटा खोटा अच्छे हाथ पैर का साँवले रग का आदमी है, बडी मोंछ, छोटी आँखें, कछाडा कसे, लाल पगडी बाँधे, हरा दुपट्टा कमर में लपेटे, सफेद दुपट्टा ओढे, जात का कुनबी है। इसका नाम होली है। होली आजकल मेरे बहुत मुँह लग रहा है, इसीसे जो बात किसी को मुझ तक पहुँचानी होती है वह लोग उससे कहते हैं। रेवडी के वास्ते मसजिद गिरानी इसी का काम है।"

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यजक ब्योरों के द्वारा व्यक्ति एव वातावरण के सजीव चित्रण का प्रयास भारतेन्दु के द्वारा आरम्भ हो गया था। साथ ही भारतेन्दु की सबसे बडी विशेषता एव देन यह भी रही है कि उन्होंने साहित्य के माध्यम से युग-जीवन को भी अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। उनके द्वारा देशी एव विदेशी भाषा के उपन्यासों के अनुवाद का जो दर्रा चला उससे हिन्दी-लेखक इस साहित्य-रूप की ओर आकृष्ट हुए और हिन्दी में भी उपन्यासों की रचना हो चली। आरम्भ में युग-जीवन को आधार बनाकर सामाजिक समस्याओं को चित्रित कर समाज में प्रचलित कतिपय दोषों के दूर करने का लक्ष्य ही प्रधान रहा। किन्तु भारतेन्दु-युग में प्रवर्त्तित सामाजिक उपन्यासों की इस धारा का समुचित विकास न हो सका और देवकीनन्दन खत्री,

गोपालराम गहमरी तथा किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यासों में मनोरंजन को प्रधानता देकर घटनाप्रधान उपन्यासों की ही धूम मचा दी और प्रेमचन्द के आगमन तक सामाजिक अवस्था का चित्रण करने वाले चरित्र-प्रधान उपन्यासों का अभाव ही बना रहा। प्रेमचन्द के पूर्व लिखे गए मौलिक हिन्दी-उपन्यासों को हम पाच श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—(१) सामाजिक, (२) ऐयारी-तिलस्मी, (३) जासूसी, (४) ऐतिहासिक, (५) भाव-प्रधान। यहाँ अति सक्षेप में इनका वर्णन करके युग के प्रसिद्ध लेखकों के कृतित्व के मूल्याकन का प्रयास किया जायगा।

सामाजिक उपन्यास :

उस युग में जो सामाजिक उपन्यास लिखे गए उनका उद्देश्य उपदेश देकर समाज-सुधार करना था। अँग्रेजी राज्य-स्थापना से प्राचीन राजनीतिक एव आर्थिक ढाँचा ढह चला था। जमीन्दारी-प्रथा जड जमा रही थी, भारतीय उद्योग-धन्धे समाप्त होते जा रहे थे। समाज में भी द्रुतगति से परिवर्तन हो रहा था। अँग्रेजी शिक्षा के प्रभाव एव अँग्रेजों के सम्पर्क से एक ओर रूढि-जर्जर धार्मिक, नैतिक एव सामाजिक मान्यताएँ शिथिल पड़ रही थीं और दूसरी ओर फैशन, मिथ्या-प्रदर्शन एव हीनता की भावना का विकास हो रहा था। अँग्रेजी सभ्यता की चमक-दमक मे कतिपय नव शिक्षित अपने यहाँ के सभी सस्कारों एव प्रथाओं को हीन तथा उपहासास्पद दृष्टि से देखने लगे थे और सभी बातों में अग्रेजों का अन्धानुकरण करने की प्रवृत्ति प्रबल पडती जा रही थी। इसी समय ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन आदि सस्थाओं ने अपने प्रचार एवं आन्दोलनों के द्वारा परम्परित सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन एव भारतीय सभ्यता-सस्कृति के अनुरूप समाज के नवसगठन का प्रयास किया। इन सस्थाओं द्वारा मद्यपान, वेश्यागमन, जुआखोरी, धर्मपरिवर्त्तन, धार्मिक आडम्बर एवं ढोंग आदि के उन्मूलन का बड़े ही उत्साह-आवेश के साथ प्रयत्न किया गया। साथ ही पुराने ढग के सनातनधर्मी प्राचीन रीति-नीति एव विश्वासों का अनुमोदन कर रहे थे। प्रारभिक युग के लेखको ने अधिकतर नीति-उपदेश-प्रधान उपन्यास लिखे जिनमें आदर्श विद्यार्थी कैसा हो, आदर्श गृहिणी के क्या गुण है, आदर्श मित्र कैसा होना चाहिए, हिंदुत्व के क्या आदर्श हैं, चरित्र-बल में कितनी शक्ति है, सत्यपालन की क्या महत्ता है, जुआखोरी, मद्यपान एवं कुसगति से क्या हानियाँ होती है—प्रायः इन्हीं को प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया। लाला श्रीनिवासदासकृत 'परीक्षागुरु', बालकृष्णभट्टकृत 'नूतन ब्रह्मचारी', तथा 'सौ

अजान एक सुजान', अमृतलाल चक्रवर्तीकृत 'सती सुखदेवी', लोचनप्रसाद पाण्डेयकृत 'दो मित्र', लज्जाराम शर्माकृत 'आदर्श दंपति' तथा 'बिगड़े का सुधार' तथा जगतचंद्र रमोलाकृत 'सत्यप्रेम' आदि इसी प्रकार के उपन्यास हैं। गोपालराम गहमरी ने 'नए बाबू' में सनातनधर्म के आदर्शों का प्रतिपादन करते हुए विधवा-विवाह तथा स्त्रीस्वातंत्र्य की निंदा की है। उन्होंने कौटुम्बिक जीवन से सम्बन्धित 'सास-पतोहू', 'डबल बीबी', 'देवरानी-जेठानी', 'दो बहन', 'तीन पतोहू' जैसे उपन्यास भी लिखे। सामाजिक उपन्यासों में सबसे अधिक संख्या प्रेम-संबंधी उपन्यासों की है। इनमें रीतिकालीन नायिका-भेदवाले प्रेम को प्रधानता दी गई है और हाव, भाव, उत्कंठा, मान तथा अभिसार की व्यंजना कराई गई है। कुछ उपन्यासों में उर्दूवाली शोखी, शरारत और चुहल भी दिखाई पड़ती है। किशोरीलाल गोस्वामीकृत 'अँगूठी का नगीना', 'चन्द्रावली', 'लीलावती', 'चन्द्रिका' आदि तथा मोरेश्वर पोतदारकृत 'प्रणयी माधव', हरिप्रसाद जिजलकृत 'भीला', 'कामोदकंदला' आदि प्रेम-प्रधान उपन्यास हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द के पूर्व तक हिन्दी में जो सामाजिक उपन्यास लिखे गए उनमें समाज के वास्तविक स्वरूप एवं उसकी गंभीर समस्याओं के यथार्थ चित्रण का प्रयास नहीं के बराबर है।

तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास :

उस युग में सामाजिक उपन्यासों का वांछित विकास न हो सका। इसका बहुत बड़ा कारण कुतूहल-वर्धक एवं मनोरंजन-प्रधान उपन्यासों का प्रवर्तन एवं उनका अत्यधिक प्रचार भी था। श्री देवकीनंदन खत्री ने सन् १८९१ में तथा उसके बाद 'चन्द्रकान्ता' एवं 'चन्द्रकान्ता सन्तति' नामक उपन्यास प्रकाशित किए। इनके प्रकाशित होते ही हिन्दी-जगत में एक धूम-सी मच गई और इनके आगे पूर्ववर्ती सामाजिक उपन्यास फीके पड़ गए। लोगों का कहना है कि 'चन्द्रकान्ता' पढ़ने के लिए ही कितने उर्दूदाँ व्यक्तियों ने भी हिन्दी सीखी। इस उपान्यास की प्रेरणा श्री देवकीनन्दन खत्री को 'तिलस्महोशरुबा' नामक फ़ारसी ग्रन्थ से मिली थी जिसका उर्दू अनुवाद सन् १८८४ ईसवी में होना आरम्भ हुआ था। सम्राट अकबर के मनोरंजनार्थ अबुल फजल फैजी ने सत्रह हजार पृष्ठों का एक बृहत् कथा-ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ आश्चर्यजनक घटनाओं से परिपूर्ण है। इसमें अनेक तिलस्मों का कौतुकावह वर्णन है। "तिलस्म होशरुबा" उन्हीं में एक है। इसमें तिलस्म, ऐयारी तथा जादूगरी की एक से एक बढ़कर करामातें दिखाई गई हैं। तिलस्म एवं ऐयार ये दोनों ही शब्द अरबी

भाषा के हैं। तिलस्म का अर्थ है चमत्कारपूर्ण कल्पना, खजाने की रक्षा के लिए नियुक्त भयकर आकृति अथवा खजाने पर बाँधा हुआ ऐसा यन्त्र जो नक्षत्रों की गणना करके तैयार किया गया हो। अग्रेजी शब्द 'टैलिस्मन' तिलस्म का ही स्मारक हैं। 'ऐयार' शब्द अरबी में तीव्र, दूरगामी एव चपल व्यक्ति के लिए व्यवहृत होता है। देवकीनन्दन खत्री ने अपने 'चन्द्रकान्ता' एव अन्य उपन्यासों में 'तिलस्म होशरुबा' के अनेक तिलस्मी तथा ऐयारी हथकण्डों को अपनाया। अनेक प्रकार से बेहोश करने की हिकमत, मलियों के साथ वन मे घूमती हुई परीजमाल से प्रेम करने की प्रणाली, नजूमी-रम्माल से पता लगाने की तरकीब आदि का मूल स्रोत तिलस्म होशरुबा को ही समझना चाहिए। किन्तु देवकीनन्दन खत्री ने अपने उपन्यासों में चरित्र-वर्णन एव प्रेम-चित्रण करते समय भारतीय मर्यादा का ध्यान रखा है। साथ ही उनमे इतनी नवीन उद्भावनाएँ है कि उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता बन गई है और उनकी मौलिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों का प्रधान ध्येय ताश और शतरज की तरह मनोरजन करना ही था। अतएव इन उपन्यासों के द्वारा मानव-मन की चमत्कार-प्रियता को ही उत्कर्ष मिला और उसकी कुतूहल-वृत्ति को ही शान्ति। ऐयारों के विस्मयावह कृत्यों एव तिलस्मो की आश्चर्यजनक योजना में ही लेखक अपना सम्पूर्ण कौशल लगा देता है। आकस्मिक, अतर्कित एव रोमाचक घटनाओं की ऐसी अवली प्रस्तुत की जाती है, रहस्यपूर्ण, कुतूहलवर्धक एव भूल-भूलैया युक्त ऐसे तिलस्मों का निर्माण होता है कि लेखक पढते-पढते तल्लीन हो जाता है और भूख-प्यास भूल जाती है। आगे हम देवकीनन्दन के कृतित्व का वर्णन करते समय विस्तार से ऐयारी-तिलस्मी उपन्यासो की विशेषताओं के वर्णन का प्रयास करेंगे।

जासूसी उपन्यास :

श्री देवकीनन्दन खत्री द्वारा प्रवर्तित एवं प्रचारित ऐयारी तिलस्मी उपन्यासों की अभूतपूर्व लोकप्रियता ने बाबू गोपालराम गहमरी को एक दूसरे ही प्रकार के विस्मयावह उपन्यास लिखने की प्रेरणा दी। ये उपन्यास थे जासूसी। जासूसी उपन्यास पूर्णरूप से योरप—विशेषत. इगलैण्ड—की देन है। स्काटलैण्डयार्ड की पुलिस और जासूसों के साहस, निर्भयता तथा बुद्धिचातुरी को लेकर इगलैण्ड में जासूसी उपन्यासों की भरमार हो चली थी। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इगलैण्ड के डाकुओं और हत्यारों के दमन के लिए सरकार को पुलिस और जासूसों की बडी कड़ी व्यवस्था करनी पडी थी। बड़े बड़े जासूसों ने अपनी बुद्धि-

चातुरी के द्वारा भयकर डाकुओं के भी छक्के छुडा दिए थे। इन घटनाओं मे उपन्यासकार की प्रतिभा के लिए पर्याप्त सामग्री थी। अतः ऐसे उपन्यास धडाधड निकलने लगे। एडगर एलनपो, वाइकी कौलिन्स, सर आर्थर कानन डॉयल आदि लेखकों ने अपराध-मनोविज्ञान का आधार लेकर बड़े ही कुतूहलवर्धक उपन्यास लिखे। सर आर्थर कानन डॉयल तो अपने प्रसिद्ध जासूसों शरलाक होम्स तथा डाक्टर वाटसन के कारण सदैव ही स्मरणीय रहेंगे। इस प्रकार के उपन्यासों की अनेक मालाएँ ब्लेक सीरिज, सिक्सपेन्स सीरिज, फोरपेन्स सीरिज—निकलीं और साधारण मनोरजन के लिए इनका अत्यधिक स्वागत हुआ। स्टेशन की 'स्टाल' पर चार-छः आने मे खरीदी हुई ये पुस्तकें रेलयात्रा आसानी से समाप्त करने का अच्छा साधन होती थीं। अग्रेजी-साहित्य की यह प्रवृत्ति हिन्दी में गहमरी जी द्वारा व्यक्त हुई और खूब सफल भी रही। आगे गहमरी जी के प्रसग में इस कोटि के उपन्यासों की विशेषता पर विस्तार से प्रकाश डाला जायगा।

ऐतिहासिक उपन्यास :

इस युग में ऐतिहासिक उपन्यास भी बहुत से लिखे गए जिनमें अधिकाश मुस्लिम शासन काल से सबधित हैं। इनको पढ़ने से ऐसा विदित होता है कि न तो इनके लेखकों को इतिहास का सम्यक् ज्ञान था और न अतीत वातावरण को सजीव कर देने की कल्पना-शक्ति। अतएव इन उपन्यासों में प्राय ऐतिहासिक वातावरण का अभाव सा है। घटनाओं एव तत्कालीन रीति-नीति, आचार-विचार, वेशभूषा, आदि के वर्णन में स्थान-स्थान पर काल-दोष परिलिखित होता है। कुछ उपन्यास अपनी इतिवृत्तात्मकता के कारण कोरे इतिहास से लगते हैं और कुछ ऐतिहासिक भूमिका में वर्णित रोमास हैं जिनमें ऐयारी-तिलस्मी तथा जासूसी सभी प्रकार के करिश्मे दिखाए गए हैं। इन उपन्यासों में घटना की मनोरजकता पर अधिक ध्यान दिया गया है, पात्रों की सजीवता पर कम। प्रेम प्रसगों में उसका वासनात्मक रूप अधिक उभर आया है। किशोरीलाल गोस्वामी ने सबसे अधिक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जिनमें 'लवगलता', 'कुसुमकुमारी', 'राजकुमारी', 'तारा', 'चपला', 'शाही महलसरा' आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त बल्देवप्रसाद मिश्र, गगाप्रसाद गुप्त, जयरामदास गुप्त, बलभद्र सिंह, दुर्गादास खत्री आदि अनेक लेखकों ने बहुत से ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की।

भावप्रधान उपन्यास :

आलोच्य युग में ठाकुर जगमोहन सिंह ने 'श्यामा-स्वप्न' तथा ब्रजनन्दन

सहाय ने 'सौन्दर्योपासक', 'राधाकान्त', 'राजेन्द्र मालती' जैसे उपन्यासों की रचना की जो न घटनाप्रधान हैं और न चरित्रप्रधान ही। इन्हें भावप्रधान उपन्यास कह सकते हैं। उनमें अत्यधिक आलकारिक भाषा में किसी व्यक्ति के हृदयोद्गारों की व्यजना है। कथातत्व का प्रायः अभाव-सा है। ये उपन्यास गद्यकाव्य के अधिक निकट हैं। घटना-परिस्थिति के नितान्त अभाव के कारण इनमें कोई गति नहीं है।

प्रमुख उपन्यासकार

लाला श्रीनिवास दास (१८५१–१८८७ ई०)

भारतेन्दुमण्डल के प्रतिभाशाली लेखकों मे लाला श्रीनिवास दास का प्रमुख स्थान है। उनका 'परीक्षा गुरु' (१८८२) हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना जाता है। उन्हें हिन्दी, उर्दू, फारसी, सस्कृत तथा अग्रेजी का अच्छा ज्ञान था। वे एक अनुभवी, व्यवहार कुशल तथा नीति-निपुण व्यक्ति थे और अपने इन्हीं गुणों के कारण १८ वर्ष की अल्पायु में ही राजा लक्ष्मणदास की दिल्ली की कोठी के प्रमुख प्रबन्धक नियुक्त हुए। नगर के म्युनिसिपल कमिश्नर तथा आनरेरी मजिस्ट्रेट भी रहे। जीवन की अत्यधिक कार्य-व्यस्तता के बीच भी लालाजी साहित्य-सेवा के लिए समय निकाल लिया करते थे। 'परीक्षा गुरु' के अतिरिक्त उन्होंने अनेक नाटक भी लिखे थे। उनकी साहित्यिक कृतियों में उनके सासारिक अनुभव तथा व्यवहार कुशलता की छाप है। 'परीक्षा गुरु' की मौलिक विशेषता यही है कि उसमें सर्वप्रथम यथार्थ जीवन-व्यापारों को कथा का विषय बनाया गया। न तो उसमें परपरित ढग की कोई प्रेमकहानी है और न विस्मयकारक घटना-विधान। तत्कालीन मध्यवर्गीय समाज तथा उसमें पलनेवाले कतिपय व्यक्तियों का वास्तविक चित्रण ही इसका ध्येय है। कथानायक मदनमोहन नई सभ्यता से अभिभूत एक नवयुवक व्यापारी है। वह खुशामदी मित्रों के चक्कर में पडकर बाहरी तडक-भडक और दिखावे में सारी पैत्रिक पूँजी नष्ट कर डालता है। ऋण न चुका सकने के कारण उसे हवालात की सैर करनी पडती है। उस विपत्ति के समय में उसका सच्चा मित्र ब्रजकिशोर उसकी सहायता करता है और उसीके दिखाए मार्ग पर चलकर वह पुनः अपनी स्थिति को सभाल लेता है। यह विपत्ति-परीक्षा ही उसका प्रकाश-दर्शक गुरु होती है।

इस उपन्यास के सभी पात्र विभिन्न वर्गों के प्रतीक हैं। मदनमोहन का पिता पुराने ढंग का धर्मभीरू, व्यवहारकुशल एव नीति-परायण व्यक्ति था। उसकी स्त्री आदर्श भारतीय पत्नी है। वह स्वयं, अग्रेजी सभ्यता के ऊपरी रूप

"मिस्टर ब्राइट ! यह बड़ी काच की जोडी हमको पसन्द है इसकी कीमत क्या है ?" लाला मदनमोहन ने सौदागर से पूछा ।

प्रत्येक प्रकरण के आरम्भ में शिक्षाप्रद उद्धरण दिए गए हैं। कथा के बीच-बीच में भी इनके लिए स्थान निकाल लिया गया है। वर्णन में इतिवृत्तात्मकता अधिक है, मार्मिक स्थलों के ब्योरे वार चित्रण की कला का अभाव है। किन्तु हमें ध्यान रखना है कि यह सन् १८८२ में लिखा गया प्रथम उपन्यास है कौतुक-कथाओं एव रूढ़ि-शिथिल शृ गारिक कविताओं की प्रधानता के उस युग में सामान्य जीवन-घटनाओं को आधार बनाकर यथार्थ चरित्र-चित्रण की ओर आग्रह दिखाना भी कम महत्व नहीं रखता। इस दृष्टि से 'परीक्षा गुरु' को प्राचीन उपदेश-प्रधान कथा-आख्यायिकाओं एव प्रेमचन्द के यथार्थवादी उपन्यासों के बीच की एक कडी समझना चाहिए।

सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुख 'परीक्षा गुरु' द्वारा प्रवर्तित परम्परा का उस समय वाछित विकास न हो सका क्योंकि कुछ वर्षों बाद ही तिलस्मी, ऐयारी, जासूसी तथा अन्य प्रकार के घटना-चमत्कार विधायक उपन्यासों की धूम से इसका मार्ग अवरुद्ध हो गया। अनुभवसमृद्ध समर्थ लेखक भी जनरुचि एव द्रव्यलाभ की प्रमुखता देखकर विस्मयकारक उपन्यास लिखने में ही जुट गए।

बालकृष्ण भट्ट (१८४४–१९१४ ई०)

उस युग के विख्यात निबंध-लेखक पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी (१८८६) तथा 'सौ अजान एक सुजान' (१८९२) नामक उपन्यासों की रचना की। ये उपन्यास छोटे छोटे हैं और सोद्देश्य हैं। प्रथम उपन्यास में सदाचार और सद्वृत्ति की शक्ति दिखाई गई है। उपन्यास के नायक 'विनायक' ने अपने चरित्र बल के द्वारा डाकुओं के सरदार पर भी नैतिक विजय प्राप्त की और उसे चरित्रवान बना दिया। भट्ट जी ने विद्यार्थियों को लक्ष्य करके इस उपन्यास की रचना की और यह कामना प्रकट की थी कि साधारण अक्षर ज्ञान रखने वाला नूतन ब्रह्मचारी भी विनायक के समान ही चरित्रवान हो। 'सौ अजान एक सुजान' में भी उपदेश की ही प्रधानता है। सेठ हीराचन्द के पुत्र रिधिनाथ और सिधिनाथ, लम्पटों की कुसगति में पडकर दुर्व्यसनों में फँस जाते हैं। मद्यपान एव वेश्यागमन में पिता की गाढी कमाई को वे नष्ट करने लगे। कई बार वे लोग पुलिस के चगुल मे भी फस जाते हैं किन्तु चन्द्रशेखर (चन्दू) जो बडा ही चरित्रवान एव विद्वान था इन लोगों की बार-बार रक्षा करता है और इन्हें सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है। अन्त में चन्दू के उपदेशों एव उसके चरित्रबल का

इनके ऊपर इतना प्रभाव पडता है कि ये दोनो भाई दुष्टों की सगति को छोडकर सदाचारी बन जाते हैं और फिर अपने वश की मर्यादा वृद्धि करते हैं। इस पुस्तक के अन्त में भट्टजी ने अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है—"अन्त में हम अपने पढने वालों को सूचित करते हैं कि आप लोगो म यदि कोई अबोध और अजान हो तो हमारे इस उपन्यास को पढकर आशा करते हैं, सुजान बने, इस किस्से के अजानो को सुजान करने को चन्द्र था और आप लोगों को हमारा यह उपन्यास होगा" इन दोनों उपन्यासो में लेखक प्रत्यक्ष रूप से उपदेशक बना बैठा है। शिक्षा देने का एक भी अवसर वह हाथ से जाने नहीं देता। लेखन प्रणाली पुराने ढग की है जिसमें स्थल-स्थल पर सुन्दर अलकृत दृश्यों का वर्णन है। चरित्र आदर्श हैं जिनमें यथार्थता की अनुरूपता कम है। उपन्यास-कला की दृष्टि से इन दोनों उपन्यासों का अधिक महत्व नहीं।

ठाकुर जगमोहन सिंह (१८४७–१८९९ ई०)

विजयराघवगढ के राजकुमार ठाकुर जगमोहन सिह भारतेन्दु के मित्रों मे थे। सरकारी सेवा कार्य के सिलसिले में इन्हें मध्यप्रदेश में दूर-दूर तक भ्रमण करने का अवसर मिला और प्रकृति के मनोहर रूपों के प्रति राग उत्पन्न हुआ। ये उच्चकोटि के सरस कवि एव गद्य लेखक थे।

इनका 'श्यामा स्वप्न' (१८८८ ई०) शैली की दृष्टि से उस युग की एक विशिष्ट रचना है। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर इसे गद्य-प्रधान, चार खण्डों में एक कल्पना' तथा 'an original novel in Hindi prose' (गद्य में एक मौलिक उपन्यास) कहा गया है। किन्तु यह 'नोवेल' की अपेक्षा 'कल्पना' ही अधिक है, क्योंकि 'नोवेल' से जिस प्रकार की यथार्थोन्मुख रचना का बोध होता है उससे यह नितान्त भिन्न है। यह पूर्णरूपेण सस्कृत कथा-आख्यायिका के ढग की एक प्रेम-कहानी है। सम्पूर्ण कथा 'चार पहर के चार स्वप्न' मे वर्णित है। स्वप्न किंचित् अतर्कित, अयथार्थ एव असम्बद्ध है—स्वप्न ही जो ठहरे! इन स्वप्नों मे विचित्र भुइहरा, डायन, छू-मतर, देवी-देवता, अद्भुत दृश्य-व्यापार आदि का समावेश है। चारो प्रहर के स्वप्नो का मूलाधार है श्यामा तथा श्यामसुन्दर के प्रणय की कहानी जिसमे रीतिकालीन परिपाटी के सभी उपकरण—नायक, नायिका, सखी, दूती, प्रेम-पत्र, अभिसार, सुरति-समागम, विरह आदि—एकत्र किए गए हैं। रूप-वर्णन मे परम्परित रूपकातिशयोक्ति का प्रचुरता से प्रयोग किया गया है। 'मदन के उलटे नगारे से पयोधर,' मनोज की सीढी-सी त्रिबली, 'अमृत रस कुण्ड नाभि,' 'कनक कदली से जघ' सभी रसिक पाठको के लिए प्रस्तुत हैं। विन्ध्याटवी की मनोरम प्राकृतिक दृश्यावली के वर्णन मे भी

लेखक ने संस्कृत-कवियों की-सी सहृदयता का परिचय दिया है। अलंकृत गद्य-वर्णन के बीच-बीच प्रसंगानुकूल सरस शृङ्गारी कविताओं का भी प्रचुरता से उपयोग हुआ है। सामाजिक उपन्यास के विकास में, विषय की दृष्टि से इसका इतना ही महत्व है कि इसमें एक ब्राह्मण कुमारी तथा क्षत्रिय कुमार के स्वच्छन्द प्रेम-सम्बन्ध एवं विवाह-प्रस्ताव के चित्रण से तत्कालीन शिक्षित समाज में अंकुरित होती हुई नवीन एवं उदार सामाजिक चेतना का संकेत निहित है।

महता लज्जाराम शर्मा (जन्म १८६३ ई०)

ये उस युग के कुशल पत्रकारों में से थे। इन्होंने 'धूर्त रसिक लाल' (१८९६ ई०) तथा 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' (१८६६ ई०) नामक दो उपन्यास लिखे। 'धूर्त रसिक लाल' लेखक के द्वारा 'एक परम बोधजनक सामाजिक उपन्यास घोषित किया गया है जिसमें 'अनेक शिक्षाजनक बातों का एक ही में वर्णन है। लेखक ने "वर्णन के आधिक्य मे अधिक पृष्ठ व्यय करने की अपेक्षा इसमें अधिक विषय लाना आवश्यक समझा है।" 'इसमें धूर्त रसिक लाल का अपने भोले मित्र सेठ सोहन लाल को मद्यपान, वेश्यागमन, नर-मैथुन और जुआ खेलने आदि दुर्व्यसनों मे फँसा उसका सर्वस्व हरण करना, साध्वी सत्यवती पर व्यभिचार का कलंक लगा घर से निकलवा देना, सोहन लाल का मद्यपान और वेश्यागमनादि से स्वास्थ्य बिगड़कर मरण योग्य हो जाना, उसका आत्मघात का यत्न, सेठानी को विष देने के यत्न में रसिक लाल को पकड़ा जाकर दण्ड पाना, सेठ-सेठानी का मिलाप, पति-पत्नी के मिलाप और दंपति के फिर से सच्चा सुख प्राप्त करने का मानो फोटो खींच दिया गया है'[1] 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' भी एक स्त्री-शिक्षा-विधायक, बोधजनक सामाजिक उपन्यास है'। इसमें पाश्चात्य ढंग की शिक्षा-सभ्यता में पली रमा के स्वच्छन्द प्रेम तथा भारतीय संस्कारों से युक्त, परिवार-मर्यादा में रहने वाली रमा की बहिन लक्ष्मी के शील एवं पातिव्रत आदि का वर्णन है इन दोनों उपन्यासों की अधिकांश घटनाएँ अतिरंजित एवं कल्पित हैं। वर्णन के ढंग में रुचि-परिष्कार का अभाव लक्षित होता है। स्थान-स्थान पर बाजारू प्रेम एवं शृंगार का वर्णन है। घटनाओं के चयन मे संग्रह-त्याग के विवेक का नितान्त अभाव है। दोनों ही उपन्यास मूलतः उपदेशात्मक हैं जिनमें भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों की महत्ता बड़े ही स्थूल ढंग से प्रतिपादित की गई है। पात्र एवं वातावरण के चित्रण में यत्र-तत्र निरीक्षण शक्ति एवं व्यावहारिक ज्ञान का भी

---

१. 'धूर्त रसिक लाल' की भूमिका।

परिचय मिलता है। आगे चलकर इसी सुधारवादी ढर्रे पर 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दम्पति' (१९०४ ई०), 'बिगड़े का सुधार' (१९०७), 'आदर्श हिन्दू (१९१५) आदि अनेक और उपन्यास भी महता जी ने लिखे। कलात्मक दृष्टि से इनमें भी कोई विशेषता नहीं परिलक्षित होती।

श्री राधाकृष्ण दास (१८६५-१९०७ ई०) ने गोवध-निवारण की दृष्टि से सन् १८९० ई० में 'निस्सहाय हिन्दू' नामक उपन्यास की रचना की। इसका कथानक अत्यन्त सामान्य एवं शिथिल है और इसमें उपदेश की भावना ही प्रबल है। वर्णन-शैली में यत्र-तत्र यथार्थता का पुट मिल जाता है।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय (१८६५-१९४६ ई०) ने कविता के क्षेत्र में भाषा एवं छन्द-सम्बन्धी अनेक प्रयोग किए थे। सम्भवतः सरल ठेठ खड़ी बोली गद्य का नमूना उपस्थित करने के लिए 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (१८९९) नामक उपन्यास लिखा। सामाजिक उपन्यास के विकास में इसका इतना महत्त्व अवश्य है कि अनमेल विवाह के दुष्परिणाम को दिखाकर इसने समाज में व्याप्त ऊँच-नीच की संस्कार-जन्य मनोवृत्ति की ओर सर्वप्रथम संकेत किया। उपाध्याय जी का 'अधखिला फूल' (१९०७) भी उपन्यास-कला की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं रखता।

देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३ ई०)

हिन्दी उपन्यास के इतिहास में देवकीनन्दन खत्री का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म इनके ननिहाल मुजफ्फरपुर में हुआ था और घर पर इन्हें साधारण शिक्षा प्राप्त हुई थी। प्रायः १८ वर्ष की अवस्था में ये गया गए और वहीं अंग्रेजी तथा फारसी का अध्ययन किया। ६ वर्ष तक ये गया में अपनी कोठी का कारबार देखते रहे और तदुपरान्त काशी चले आए। काशी नरेश से इन्होंने चकिया और नौगढ़ के जंगलों का ठीका लिया और इस सिलसिले में इन्हें उस पहाड़ी प्रदेश में भ्रमण करने का अवसर प्राप्त हुआ। मिर्जापुर जिले के चुनार आदि स्थानों में भी ये घूमे और वहाँ की प्राचीन इमारतों, उनके भग्नावशेषों आदि में बनी हुई सुरंगों, गर्भगृहों आदि ने इनकी कल्पना को उत्तेजित किया। फारसी के 'तिलस्महोशरुबा' के आधार पर इन्होंने भी तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास आरम्भ किए[1] और उस युग के उपन्यास-पाठकों पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया। अपने उपन्यासों के प्रकाशन के लिए इन्होंने सन् १८९८ ई० में अपना 'लहरी प्रेस' भी खोला जिसमें इनके तथा

१—दे० प्रेमचन्द का 'उपन्यास' नामक निबन्ध।

इनके पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री के उपन्यास छपते रहे। इनके मिलनेवालो का कहना है कि उनकी स्मरण-शक्ति अद्‌भुत थी। वे पुस्तक लिखते जाते थे और प्रेस मे भेजते जाते थे। कभी-कभी तो एकाध पृष्ठ की सामग्री कम होती तो खत्रीजी राह चलते थोडी देर के लिए बैठ कर लिख दिया करते थे। लिखने की गति यह थी कि 'नरेन्द्रमोहिनी' का प्रथम भाग एक दिन मे लिख डाला था। प्रसिद्ध 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास चार भागो मे तथा 'चन्द्रकान्ता सतति' चौबीस भागों मे प्रकाशित है।

'चन्द्रकान्ता' में एक ही कुमारी के दो प्रेमियों के सघर्ष की कथा वर्णित है। यह सघर्ष अस्त्र-शस्त्र का ही नहीं बौद्धिक कौशल का भी है। विजयगढ के राजा जयसिंह की कन्या चन्द्रकान्ता अनुपम सुन्दरी है। उसके रूप-गुण की प्रशसा सुनकर नौगढ के राजा सुरेन्द्र सिंह का कुमार वीरेन्द्र सिंह उससे प्रेम करने लगता है। चन्द्रकान्ता भी उससे स्नेह करती है, किन्तु दोनों के मिलन में बाधास्वरूप विजयगढ के वजीर का लडका क्रूरसिंह आ उपस्थित होता है। अपनी शक्ति को अपर्याप्त पाकर वह चुनारगढ के राजा शिवदत्त को भडकाता है, और वह भी उसी के पक्ष में होकर युद्ध करने लगता है। दोनो पक्षों में सधे हुए ऐयार हैं जो अपनी अद्‌भुत कारीगरी दिखाते हैं। वीरेन्द्र सिंह के प्रमुख ऐयार जीतसिंह, तेजसिंह, देवीसिंह, जगन्नाथ ज्योतिषी आदि हैं, शिवदत्त की ओर बद्रीनाथ, चुन्नीलाल, पन्नालाल, रामनारायण आदि हैं। यह सघर्ष बहुत दिनों तक चलता रहता है, अन्त में वीरेन्द्र सिंह का पक्ष विजयी होता है, चन्द्रकान्ता शत्रुओं के चगुल से छूटती है और धूम-धाम से वीरेन्द्र सिंह तथा चन्द्रकान्ता का विवाह हो जाता है।

इस प्रकार के अधिकाश उपन्यासों की कथा 'चन्द्रकान्ता' की उपर्युक्त कथा से मिलती-जुलती है। प्रायः सभी में प्रेम के कारण संघर्ष होता है और दोनों पक्ष के ऐयारों के अद्‌भुत अलौकिक कार्यों के घात-प्रतिघात मे कथानक जटिल होता हुआ आगे बढ़ता है। इन ऐयारों का कौशल निराला है। वे विचित्र सूझ-बूझ के व्यक्ति हैं जो कठिन से कठिन कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। उनके ऐयारी झोले में रूप बदलने, बेहोश करने, होश में लाने, मरहमपट्टी करने के सभी सामान होते हैं। वे ऐसी जडी-बूटियाँ जानते है, कि घातक चोटों को ठीक कर दे। वे जैसा भी चाहें रूप धारण कर लेते हैं. जहाँ भी चाहें पहुँच जाते हैं, जिसे भी चाहें बेहोश कर देते हैं। बेहोशी दूर करने की सबसे अच्छी बूटी 'लखलखा' उनके पास रहती है। उनके कुछ अपने, सकेत होते हैं जो ऐयार ही समझ सकते हैं। वे अपने कौशल से मोम के ऐसे मनुष्य बना देते हैं जिन्हें

देख वास्तविक मनुष्यों का निश्चयात्मक भ्रम हो जाय। इनमें कुछ ज्योतिषी भी होते है जो रमल फेंककर सभी बातों का पता लगा लेते है। ये ऐयार बड़े ही बलशाली होते हैं, जीवित मनुष्य को बेहोश कर, उनका गट्ठर कंधे पर लादकर ये मीलों पैदल चले जाते है। पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी ऐयारी का कौशल दिखाती है। नायिका की सहेलियों में एकाध ऐयारा होती हैं और कभी-कभी वे पुरुष ऐयारों को भी चकमे मे डाल देती है। ऐयार बड़े ही वीर, उदार, स्वामिभक्त, नीतिपरायण तथा धर्मज्ञ होते हैं। इनके कुछ अपने नैतिक नियम एवं विश्वास होते है। एक ऐयार कभी दूसरे ऐयार की हत्या नहीं करता। ऐयार ही क्या, वे युद्ध को छोड़कर, किसी भी व्यक्ति की हत्या नहीं करना चाहते। इन्हें देख बारहवीं शताब्दी के वीराख्यानक काव्यों के वीरों की याद आ जाती है।

अपने कार्य-साधन के लिए ऐयार लोग तिलस्म का उपयोग भी करते हैं। तिलस्म के विषय में यह धारणा है कि अपार धनसम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिए बड़े-बड़े ज्योतिषी, नजूमी, वैद्य, कारीगर और तान्त्रिक आदि की सहायता से तिलस्मी इमारत बनाई जाती थी। इसमे प्रवेश करने की रीति बड़ी आश्चर्यजनक होती है और एक बार यदि कोई अजान व्यक्ति इसमें फँस जाय तो उसका निकलना असम्भव-सा हो जाता है। ये तिलस्म कुतूहलवर्धक, विस्मयजनक एव अति विचित्रतापूर्ण रहस्यों के आगार होते हैं। इसमे कहीं तो संगमरमर का ऐसा विशाल बगुला रहता है जो अपने पास आदमी को देखते ही पर फैलाता है, मुँह खोलता है और पीछे वाले आदमी को निगल जाता है। कहीं चबूतरे पर पत्थर का आदमी किताब लेकर सोया रहता है और सीढ़ी पर पैर रखते ही आदमी को धम्म से जमीन पर गिरा देता है। चोट करने पर आदमी उठ बैठता है, मुँह खोल देता है, भाथी की तरह उसके मुँह से हवा निकलने लगती है और सारा मकान हिलने लगता है। पास जाने पर वह आदमी को दोनो हाथों मे दबोच लेता है। कहीं अजदहा कुण्डली मारे बैठा रहता है और पास जाते ही ऐसी तेज साँस लेता है कि आदमी उसके मुँह के भीतर चला जाय। तिलस्म के भीतर अनेक तहखाने, छोटी बड़ी कोठरियाँ, बारहदरी, सुन्दर महल, तथा आराम के सभी सामान भी यथास्थान रहते है। पहाड़, दर्रे, खोह, नाले, जंगल भी उसीके भीतर रहते है। उसमें मेवे के दरख्त तथा मीठे जल के सोते अवश्य रहते हैं। तिलस्म को तोड़ने की तरकीब उसी के भीतर रखी हुई एक किताब में लिखी रहती है और इसको वही तोड़ भी सकता है जिसके भाग्य मे इसे तोड़ना बदा हो। एकबार पुस्तक से रहस्य मालूम हो जाने पर रासायनिक द्रव्यों से बने बगुले, अजदहे, शेर, पत्थर के आदमी क्रमशः नष्ट कर दिए जाते

हैं और खजाना हाथ आ जाता है। ऐयार लोग इन तिलस्मों का प्रयोग बन्दीगृह के रूप में भी करते हैं।

प्राय: नायक के द्वारा ही तिलस्म टूटता है, अपार धन-सम्पत्ति की उपलब्धि होती है, नायिका का उद्धार होता है और धूमधाम से नायक-नायिका का विवाह सम्पन्न होता है। साथ ही नायिका की सहेलियाँ जो ऐयारी में सिद्धहस्त होती हैं और नायक के मित्र ऐयारों से प्रेम-सम्बन्ध रखती हैं उनका भी व्याह हो जाता है और आनन्द महोत्सव में उपन्यास का पर्यवसान होता है।

यद्यपि ऐयारी-तिलस्मी उपन्यास 'तिलस्महोशरुबा' जैसी फारसी पुस्तकों के अनुकरण पर लिखे गये हैं किन्तु एक बात उल्लेखनीय है कि इनमें प्रेम का वासनात्मक पक्ष सामने नहीं रखा गया है। स्त्री-सौन्दर्य-वर्णन में अंगों की विवृति रूपलुब्ध मन पर उनका प्रभाव आदि सतर्कतापूर्वक बचाए गए हैं। प्रेम का आदर्श भारतीय स्वरूप ही सामने रखा है जिसमें मर्यादा का उल्लंघन नहीं है। अधिकांश पात्र अपने आचार विचार का सतर्कता से पालन करते हैं। बीच-बीच में विरहदग्ध हृदयों की कोमल भावनाओं का भी सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है।

फिर भी यह कह देना आवश्यक है कि इन ऐयारी या तिलस्मी उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य रहा, रससंचार, भाव-विभूति या चरित्र-चित्रण नहीं। ये उपन्यास दादी-नानी वाली कहानियों के विकसित रूप ही हैं, जिनका प्रधान उद्देश्य हमारी सहज कुतूहलवृत्ति को ही जागरित एवं शान्त करना है। 'चन्द्रकान्ता' में हमारे आकर्षण-बिन्दु जीतसिंह, तेजसिंह, चपला आदि पात्र नहीं हैं बल्कि उनके द्वारा किए गए अद्भुत, अलौकिक क्रियाकलाप हैं। इन पात्रों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, सभी प्राय. एक से हैं। वे लेखक के हाथ की पुतली मात्र हैं। लेखक के इशारे पर वे ऊँची से ऊँची अट्टालिका फाँद जा सकते हैं, पानी पर दौड सकते हैं और भयानक भूगर्भ में भी अपना कौतुक दिखला सकते हैं। लेखक के एक बार 'छू-मंतर' करते ही बिल्कुल [illegible] ही रूप-रंग के अनेक पुरुष एक ही स्थान पर एकत्र हो सकते हैं। जीवन की कठोर वास्तविकता से दूर यह एक निराली दुनियाँ है। इस बात को लेखक ने स्वयं भी स्वीकार किया है[१]।

---

१ कुछ दिनों की बात है कि मेरे कई मित्रों ने संवाद-पत्रों में इस विषय का आन्दोलन उठाया था कि इसका (चन्द्रकान्ता का) कथानक सम्भव है या असम्भव। मैं नहीं समझता कि यह बात क्यों उठाई और बढाई गई। जिस प्रकार पंच-तन्त्र, हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिए लिखे गए उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिए, पर यह सम्भव है कि असम्भव इसपर कोई यह समझेगा कि चन्द्रकान्ता और वीरेन्द्रसिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र

जगत के दुःख-ताप, असन्तोष-हाहाकार के नीरस वातावरण से भागकर इस अद्भुत लोक में क्षणिक विश्राम की प्रवृत्ति से ही ये उपन्यास प्रेरित होते हैं। ये जीवन के चित्र नहीं इच्छाओं के काल्पनिक मूर्त्त विधान हैं। इनमें मानव के मूलभूत भाव राग-द्वेष, क्रोध करुणा, प्यार-घृणा आदि को उद्वेलित करने का प्रयास नहीं। काव्य की वास्तविक महत्ता सुन्दर चरित्र-सृष्टि में ही है। चरित्र-सृष्टि का अर्थ है रागों और मनोवेगों के आधार-स्वरूप मानव-पात्रों की सृष्टि। मानव-पात्रों की ऐसी सृष्टि इन उपन्यासों में नहीं मिलती। तेजसिंह बद्रीनाथ या चपला का ऐयारी बटुआ ही हमें आकर्षित करता है। वे काव्य के अमर सजीव पात्र नहीं, जिनमें विशाल वैचित्र्यपूर्ण भावना संसार के सार की प्रतिष्ठा हो। वे बाजीगर मात्र हैं जो अपने विधाता और नियामक के इशारे पर नया-नया तमाशा दिखाते चलते हैं। 'अब वे क्या करेंगे ?' इसी की ताक में हमारी जिज्ञासा उद्बुद्ध रहती है। यह औत्सुक्य-तृप्ति ही इनका एकमात्र उद्देश्य है, अन्यथा मानवता के मानसिक उत्थान में इनका कोई योग नहीं—और इसीलिए साहित्य में इनका कोई स्थान भी नहीं।

पर साहित्य की दृष्टि से कोई मूल्य न रखते हुए भी ऐसे उपन्यासों का अपना मूल्य तो होता ही है। 'चन्द्रकान्ता' का विधाता साधारण प्रतिभा का लेखक न रहा होगा। उसकी बुद्धि की प्रशंसा सभी सहृदय करते हैं और करेंगे। घटनाओं का एक जटिल, सघन, दुरूह जाल दूर तक फैलाकर फिर अन्त में अपनी विलक्षण स्मृति के बल पर इन फैले हुए तथ्यों को समेट लेना साधारण व्यक्तित्व का कार्य नहीं। इसी से आज भी ये रचनाएँ कुछ न कुछ आश्चर्य और कुतूहल का विषय बनी हुई हैं।

हिंदी-साहित्य के इतिहास में देवकीनन्दन खत्री की भाषा के संबंध में पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'उन्होंने ऐसी भाषा का व्यवहार किया जिसे थोड़ी हिंदी और थोड़ी उर्दू पढ़े हुए लोग भी समझ लें। कुछ लोगों का यह कहना

स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं तो बड़ी भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और उसका यह एक छोटा-सा नमूना है।

× × × ×

चन्द्रकान्ता में जो बातें लिखी गई हैं वे इसलिए नहीं कि लोग उनकी सचाई-झुठाई की परीक्षा करें प्रत्युत इसलिए कि पाठ कौतूहल-वर्धक हो।"

—देवकीनन्दन खत्री

× × × ×

है कि उन्होंने राजा शिवप्रसाद वाली उस पिछली 'आम-फ़हम' भाषा का अनुसरण किया, जो एकदम उर्दू की ओर झुक गई थी, ठीक नहीं। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि उन्होंने साहित्यिक हिंदी न लिखकर 'हिन्दुस्तानी' लिखी, जो केवल इसी प्रकार की हल्की रचनाओं में काम दे सकती है"।

बाबू देवकीनंदन खत्री की रचनाओं में विशेष उल्लेखनीय 'चंद्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' ही हैं। इनमें तिलस्म और ऐयारी की धूम है। इनके अतिरिक्त 'काजर की कोठरी', 'कुसुम कुमारी', (१८६६-१६००) 'नरेन्द्र-मोहिनी' (१८६६) 'वीरेन्द्रवीर' (१८१८ द्वि० सं०) इत्यादि अनेक उपन्यास इन्होंने लिखे हैं।

किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१६३२ ई०)

विषय एवं शैलीगत विविधता की दृष्टि से उस युग के उपन्यासकारों में पंडित किशोरीलाल गोस्वामी का स्थान महत्वपूर्ण है। उन्होंने उस समय तक प्रचलित सभी औपन्यासिक प्रवृत्तियों को ग्रहण करके अपने ढंग से उपस्थित करने का प्रयास किया। संख्या और परिमाण की दृष्टि से उन्होंने जितने उपन्यास लिखे उतने उस युग का कोई लेखक नहीं लिख सका। इनकी पहली रचना 'प्रणयिनी-परिणय' सन् १८६० ई० में निकली और प्रेमचन्द के उदय के बाद तक इनके उपन्यास प्रकाशित होते रहे। सन् १८६८ ई० में इन्होंने 'उपन्यास' नामक मासिक-पत्र निकाला और अपने जीवन-काल में ६५ छोटे-बड़े उपन्यास लिखकर प्रकाशित किए। इनके विषय में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में लिखा है—"और लोगों ने भी उपन्यास लिखा पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामी जी वहीं घर करके बैठ गए। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिए चुन लिया और उसीमें रम गए।"

गोस्वामी जी मथुरा-वृन्दावन के रहने वाले निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव थे। इनका जन्म काशी में अपने मातामह गोस्वामी कृष्णचैतन्य के यहाँ हुआ था, शिक्षा भी यहीं मिली थी, और कुछ दिनों तक आरा (बिहार) में रहने के उपरान्त सन् १८६० ई० से यह काशी में ही स्थायी रूप से रहने भी लगे। इनके मातामह भारतेंदु के साहित्य-गुरु थे। उस युग के इन हिन्दी-साहित्यकारों के संसर्ग में इनकी रुचि भी साहित्य-सर्जन की ओर अग्रसर हुई। उनके स्वभाव में सरसता एवं सजीवता थी, जिसकी स्पष्ट छाप उनकी कृतियों पर पड़ी है। उन्होंने पुराने ढंग की अत्यन्त सरस कविताएँ की, नाटक, लेख, एवं जीवन-चरित्र लिखे, किन्तु उनकी वृत्ति उपन्यास-रचना में ही पूरी तरह रमी हुई थी।

गोस्वामी जी के ऊपर वैष्णव-भक्ति एवं सनातनधर्म का गहरा सस्कार पड़ा था और वे हिन्दूधर्म और सस्कृति के प्रबल समर्थक तथा पक्षपाती थे। ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों से बचकर अपने धर्म एव अपनी भाषा की रक्षा को वे प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य समझते थे और अपने उपन्यासों में स्थान-स्थान पर धर्म-नीति-सस्कृति-सम्बन्धी उपदेश का अवसर निकाल लिया करते थे। सामाजिक एव धार्मिक रूढियों से उत्पन्न विषमताओं से अवगत होते हुए भी उनमें इतना साहस न था कि उनका खुल कर विरोध करते। उस समय तक आर्यसमाज का सुधारवादी आन्दोलन चल चुका था किन्तु उन्होंने इस आदोलन को भी जिस रूप में चाहिए था चित्रित नहीं किया। स्थान-स्थान पर आर्यसमाजी दृष्टिकोण की कडी आलोचना करके सनातनधर्मविहित प्राचीन आचार-विचार एव रीति-नीति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। नवीन शिक्षा एव पाश्चात्य जीवन-रीति के सम्पर्क से जो एक वैज्ञानिक दृष्टि मिल रही थी, गोस्वामी जी ने उसका समुचित उपयोग अपने साहित्य मे नहीं किया। वास्तव में उपन्यास के द्वारा यथार्थ जीवन-दर्शन की सम्भावनाओं को उन्होंने उपयुक्त ढंग से स्वायत्त नहीं किया और उपन्यास को 'प्रेम का विज्ञान'[1] एव शिक्षा का साधन ही मानकर चले।

इस दृष्टि के अपनाने के कारण ही गोस्वामीजी के प्राय. सभी उपन्यास प्रेम प्रधान हो गए हैं जिनमें एक या अनेक प्रेमकथा ही आकर्षण का विषय बनी है। इनके उपन्यासों में कुछ ये है—त्रिवेणी (१८८८ ई० ?), स्वर्गीय कुसुम वा कुसुमकुमारी (१८८९ ?), प्रणयिनी परिणय (१८९०), हृदय-हारिणी वा आदर्श रमणी (१८६०), लवंगलता वा आदर्श बाला (१८६०), सुख-शर्वरी (१८९१), लीलावती (१९०१), प्रेममयी (१६०१), राजकुमारी (१६०२), तारा (१६०२), चपला वा नव्य समाज चित्र (१६०३), कनककुसुम वा मस्तानी (१९०३), चन्द्रावली वा कुलटा कुतूहल (१६०५), हीराबाई या बेहयाई का बोरका (१६०५), चन्द्रिका वा जडाऊ चम्पाकली

१ (क) प्रेम और प्रेमतत्त्व को सभी चाहते हैं, पर इसका उपाय बहुत कम लोग जानते होंगे, प्रेमिक प्रेम को पाने के लिए व्याकुल तो होते हैं; सभी अपने लिए दूसरे को पागल करना चाहते हैं, पर अभी तक इसका उपाय बहुतों ने नहीं जाना है। इसका अभाव केवल उपन्यास ही दूर करता है इसीलिए प्राचीनतम कवियों ने और साम्प्रतिक योरोपियन कवियों ने उपन्यास की सृष्टि की। जो बात झूठ-सच से नहीं होती, तन्त्र-मन्त्र-यन्त्र से नहीं बनती वह प्रेम के विज्ञान 'उपन्यास' से सिद्ध होती है! ‥ ‥इसके पढ़ने से मनुष्य के हृदय के ऊपर बड़ा असर होता है और सब बात बनती है।‥ —'सुख शर्वरी' के निदर्शन से।

(१६०५), कटेमूड की दो दो बातें या तिलस्मी शीशमहल (१६०५), याकूती तख्ती या यमज सहोदरा (१६०६), जिन्दे की लाश (१६०६), तरुण तपस्विनी या कुटीर वासिनी (१६०६), लखनऊ की कब्र वा शाही महलसरा, रजिया बेगम या रंग महल में हलाहल, मल्लिकादेवी वा बंगसरोजिनी, लीलावती वा आदर्श सती, पुनर्जन्म वा सौतियाडाह, गुल बहार, इन्दुमती या वनविहगिनी, लावण्यमयी, मालती-माधव वा मदन-मोहिनी। इनमें 'त्रिवेणी' तथा 'स्वर्गीय कुसुम' का रचना काल सदिग्ध है और कुछ विद्वान् 'प्रणयिनी-परिणय' (१८६०) को ही इनका पहला उपन्यास मानते हैं।

उपन्यासों की उपर्युक्त सूची को देखने से पता चलता है कि गोस्वामीजी ने सामाजिक, ऐतिहासिक, ऐयारी-तिलस्मी, तथा जासूसी सभी प्रकार के उपन्यास लिखने का प्रयास किया था। मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त इन्होंने अनेक उपन्यासों के (अधिकतर बगला भाषा से) अनुवाद भी किए थे। इनमें कुछ उपन्यास तो चार-चार छः-छः भागों में हैं और कुछ पचास-साठ पृष्ठ के भी हैं, जिन्हें एक लम्बी कहानी ही कहा जा सकता है। अधिकाश उपन्यास नायिका के नाम पर रखे गए हैं और इनसे ही सकेत मिलता है कि वे नायिका-प्रधान हैं। नायिका के अतिरिक्त वर्ण्यविषय की दृष्टि से अधिकाश उपन्यासों का दोहरा नामकरण किया गया है। मुखपृष्ठ पर धर्मसम्प्रदाय सहित गोस्वामीजी का नाम, उनके द्वारा रचित अनेक उपन्यासों की सूची, महाभारतादि सस्कृत ग्रथों से नीति-उपदेश-प्रधान उद्धरण भी दिए गए हैं। प्रकरणों का, मुख्य घटना की दृष्टि से, नामकरण किया गया है और उनके आरम्भ में भी उपदेशात्मक उद्धरण हैं। बाद के सस्करणों में प्रथम सस्करण के प्रकाशन-वर्ष का उल्लेख न होने से उसे मालूम करने में जिज्ञासु विद्यार्थी को कठिनाई होती है।

गोस्वामी जी को तत्कालीन समाज का अच्छा ज्ञान था और उन्होंने सामाजिक भूमिका में जिन अनेक उपन्यासों की रचना की उनसे तत्कालीन मध्यवर्गीय समाज पर थोड़ा प्रकाश भी पड़ता है। देशकाल-वर्णन एव चरित्र-चित्रण में यथार्थता की ओर भी किंचित आग्रह है। किन्तु गोस्वामी जी के रुचि की कतिपय सीमाओं एव वर्णन-कौशल के अभाव में उनके उपन्यास साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण न हो सके। उनके रुचि की सबसे बड़ी सीमा यह थी कि उन्होंने स्त्रियों के चरित्र-वर्णन में ही अधिक रस लिया। वेश्याओं के कपटपूर्ण पापाचार[1], साली बहनोई के अवैध प्रेम[2], विधवाओं के व्यभिचार

१. चन्द्रावली वा कुलटा कुतूहल। २. वही।

तथा भ्रूण हत्या[1], देवदासी का कुत्सित जीवन[2], कुटनियों की करामातें, सपत्नी-कलह[3] आदि के वर्णन के साथ-साथ आदर्श प्रेम एव तज्जन्य त्यागतपस्या[4], पतिनिष्ठा एव पतिव्रतधर्म-निर्वाह[5] आदि विषय ही गोस्वामी जी के अधिकाश उपन्यासों के प्रतिपाद्य रहे है। स्त्रियों की मानवोचित दुर्बलताओं के प्रति गोस्वामी जी अत्यधिक अनुदार रहे और स्त्रियों के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण सनातनी ही रहा। एक मार्ग भ्रष्ट विधवा की मृत्यु पर गोस्वामी जी अपने एक आदर्श पात्र के मुख से बोलते हैं—'डाक्टर साहब की बातें सुनकर बाबू साहब तो बड़े तरद्दुद में पड गए पर मैं बहुत ही खुश हुआ क्योंकि ऐसी-ऐसी पापिनी स्त्रियो से यह ससार जितनी जल्दी खाली हो उतना ही अच्छा। कारण इसका यह है कि देश और समाज को रसातल भेजने के हेतु ऐसी-ऐसी कुलटा स्त्रियाँ ही हैं न कि हरिहर सरीखे दुराचारी पुरुष, क्योकि यदि स्त्री भली हो तो उसे कोई भी नारकी पुरुष नहीं बिगाड सकता। इस विषय में गोस्वामी तुलसी-दास ने बहुत ठीक कहा है—"टरै न सम्भुसरासन कैसे, कामीबचन सतीमन जैसे।"[6] अपने आदर्श स्त्री-पात्रों में उन्होने धर्मग्रन्थो में वर्णित सभी गुणों के समावेश का प्रयास किया है।

गोस्वामी जी के उपन्यासों को पढने से ऐसा लगता है कि उनका सनातनी वैष्णव उपदेशक भले ही स्त्रियों के कुत्सित कर्म की मौखिक निन्दा करता हो किन्तु उनका रसिक हृदय स्त्रियों के रूप-यौवन, हाव-भाव, प्रेम-क्रीडा तथा हास-विलास के खुले वर्णन में अधिक परितृप्ति मानता था। ऐतिहासिक तथा सामाजिक दोनों ही ढंग के उपन्यासों में शृगारिक सकेतों की प्रचुरता है। आगे चलकर उग्र ने जिस नग्न वर्णन-प्रधान सकीर्ण यथार्थवादी उपन्यास का प्रवर्त्तन किया उसके बीज गोस्वामीजी के उपन्यासों में ही निहित है। इनके उपन्यासों में प्रेम के रूमानी ढग को अपनाया गया है, जिसमें युवक नायक तथा तेरह-चौदह वर्ष की नायिका से अकस्मात् साक्षात्कार हो जाता है, मिलन की उत्सुकता एव व्याकुलता आ घेरती है, प्रयत्न होते है और अन्त में विवाह हो जाता है[7]। अपने पूर्ववर्ती एव समसामयिक अन्य उपन्यासकारों की अपेक्षा गोस्वामीजी ने प्रेमानुभूति का कुछ अधिक सजीव एवं गम्भीर वर्णन किया है। किन्तु उसमें भी कल्पना का पुट अधिक है और रीतिकालीन अनेक उपायों का अवलम्बन किया गया है।

अधिकाश सामाजिक उपन्यास उद्देश्यगर्भित हैं जिनमें सदाचार का उत्कर्ष

१. माधवी-माधव वा मदन-मोहिनी। २. त्रिवेणी। ३. सौतियाडाह। ४. माधवी-माधव। ५. लीलावती, त्रिवेणी। ६ 'माधवी-माधव' वा 'मदनमोहिनी'। ७. 'प्रणयिनी परिणय'।

तथा दुराचार का पराभव दिखाया गया है। इस दृष्टिकोण के कारण ही सभी सुखान्त हैं, शोकपर्यवसायी कोई नहीं। प्राय. सभी दुराचारी पात्रो का किसी न किसी प्रकार अन्त करा दिया जाता है। यह अन्त भी ऐसा होता है कि पाठक पाप के परिणाम की वीभत्सता को पूरी तरह देख ले। उदाहरण के लिए 'माधवी-माधव' में दीवान के साथ व्यभिचार करने वाली बड़ी वहू गर्भपात के उपरान्त अस्पताल में ही मर जाती हैं, दीवान मेहतरानी के साथ कुकर्म करता हुआ घर की छत गिर जाने से समाप्त हो जाता है, मदन को गायब करने वाला मुरारी तिवारी नाव उलट जाने से मर जाता है। दीवान तथा मुरारी तिवारी की लाश को डोमड़े फेकते हैं। इसके विपरीत सदाचारी पात्र विपत्तियो के बीच से गुजर कर भी अन्त मे कृतकार्य होते है। 'त्रिवेणी' उपन्यास का नायक मनोहर-दास नाव टूट जाने से अपनी प्रिया पत्नी को खो बैठता है। निराशा में वह सन्यासी हो जाता है किन्तु वर्षों बाद कुभमेला के अवसर पर उसके सामने साधुवेश में उसके ससुर तथा उसकी पत्नी प्रकट हो जाते है और उसका जीवन सुखपूर्वक बीतने लगता है। 'माधवी-माधव' के सभी सज्जन पात्र किसी-न-किसी रूप मे पुरस्कृत होते हैं। माधव का विवाह माधवी से हो जाता है, मदन का मोहिनी से, शकरदयाल का दुर्गा से। लालाजी को वृद्धावस्था में पुत्र उत्पन्न होता है। गरीब माधव को अच्छी-सी कोठी और बहुत-सा धन मिल जाता है।

धर्मोपदेश की अत्यधिक प्रवृत्ति के कारण लेखक किसी-न-किसी बहाने ब्राह्मणो की श्रेष्ठता, पूजा-पाठ, व्रत-उपवास के महत्त्व, तीर्थस्थानों की पवित्रता, वेश्यागमन, जूआखोरी, मद्यपान आदि की निन्दा तथा धर्म के सिद्धान्तों पर लम्बे-चौड़े व्याख्यान का अवसर निकाल लेता है। कहीं कहीं तो ये व्याख्यान पात्रो के मुख से ही सुनने को मिलते हैं और कहीं स्वय लेखक श्रीमुख से उपदेश देने लगता है। जुआ के विरुद्ध बोलते हुए एक पात्र कहता है—"इसी तरह दीपावली भी बड़े आनन्द से बीती, पर दिवाली के ऊपर जो 'जुआ' खेलने की बुरी और 'सत्यानाशी' रस्म इस देश में फैल रही है उसे रोकना चाहिए, परन्तु मेरे विचार से जब तक न्यायशीला गवर्नमेण्ट इस जुए को रोकने के लिए कोई कठोर नियम न बनाएगी तब तक इस देश के बेवकूफ अपनी बेवकूफी से कभी बाज न आवेंगे। भारतवर्ष में कितने ही शहरों में—विशेषकर काशी और मिर्जापुर में—कई बदमाशों के यहाँ बारहो महीने और तीसो दिन जुआ होता है। सरकार को चाहिए कि इस पाप को निर्मूल करके अपनी गरीब प्रजा की इस भयानक आफत को बचावें।"[1]

१—'माधवी-माधव वा मदन मोहिनी'।

अपने सामाजिक उपन्यासों में गोस्वामीजी ने वस्तु-योजना, चरित्र-वर्णन, वातावरण-चित्रण आदि में किंचित् यथार्थता का पुट देने का प्रयास किया; किन्तु घटना-प्रधानता के उस युग में वे अपने को घटना-चमत्कार के आकर्षण से बचा न सके और उनके उपन्यासो में चरित्र की ओर आग्रह स्पष्ट होने पर भी घटनाओं की ही प्रधानता रही। सजीव चरित्र-सृष्टि के लिए जिस व्यजक वर्णन-कौशल की आवश्यकता होती है उसका उनमें अभाव था। पात्रों के मानसिक ऊहापोह में भी पैठने का इन्होंने प्रयास नहीं किया, केवल उनकी जीवन घटनाओं एव क्रियाकलापों का इतिवृत्त-कथन करते रहे। तत्कालीन समाज की बहुविध समस्याओं तथा उस समाज के विभिन्न श्रेणी के व्यक्तियों की प्रकृति, जीवन-रीति एवं विचार-पद्धति आदि का उपयुक्त ढग से समावेश गोस्वामी जी अपने उपन्यासों में न कर सके। किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उस युग के लेखकों में इन्हीं के सामाजिक चित्रण में कुछ सजीवता है।

गोस्वामी जी ने इतिहास-पुस्तकों का पर्याप्त अध्ययन किया था किन्तु उनमें ऐसी प्रतिभा न थी कि उपन्यास के माध्यम से ऐतिहासिक वातावरण को सजीवता प्रदान कर सकते। इन उपन्यासों में इतिहास की अपेक्षा अपनी कल्पना पर ही अधिक आश्रित रहने के कारण उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं को विकृत कर दिया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वय स्वीकार किया है—"इसलिए हमने अपने बनाए उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को 'गौण' और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कहीं कहीं कल्पना के आगे इतिहास को दूर ही से नमस्कार भी कर दिया है।"[१] ऐतिहासिक उपन्यासों में भी गोस्वामी जी ने अपने समसामयिक समाज का प्रतिबिम्ब लाने का प्रयास किया, जिससे उनके उपन्यास ऐसे हो गए हैं मानो जहाँगीर और शाहजहाँ को कोट-पतलून पहनाया गया हो। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियों का वास्तविक चित्रण देखने को नहीं मिलता।

उनके अधिकाश ऐतिहासिक उपन्यास मुसलमान शासन-काल से सम्बन्धित हैं। इनके लिखने में गोस्वामी जी की दृष्टि प्रधानतः इस बात पर रही है कि एक ओर तो मुसलमानों की विलासिता, कपट-चातुरी, स्वार्थ-लिप्सा, विश्वासघात, निर्दयता, हिन्दुओं पर अत्याचार एव बर्बरता आदि का वर्णन किया जाय और दूसरी ओर हिन्दू राजाओं की वीरता, दृढता, धर्म-प्रेम, कर्तव्यनिष्ठा आदि

१—'तारा' की भूमिका।

उदात्त गुणों के चित्र एकत्र किए जायँ। राज-बालाओं के चित्रण में अद्‌भुत् दृढता, कष्टसहिष्णुता, हिन्दूधर्म एव जाति के प्रति गौरव-भावना मुसलमान प्रेमियों के प्रति घृणा आदि आदर्श वृत्तियों को गहरे रगों से उभाडने का प्रयास किया गया है। बेगमों और शाहजादियों की इश्कमिजाजी, उनके कुत्सित प्रेम-व्यापार, वासनातृप्ति के लिए किए गए गर्हित कृत्यों तथा बाँदियों और कुटनियों की अद्‌भुत हरकतों का बडा ही शोख-वर्णन गोस्वामी जी ने किया है।

गोस्वामीजी का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास सम्भवत 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी' है। ७ अक्टूबर १८९० ई० को 'हिन्दुस्तान' में इसका छपना आरम्भ हुआ, यद्यपि पुस्तकरूप में यह प्रकाशित हुआ १९०४ ई० में। इसमे सन् १७४० ई० के आस-पास, बगाल की राजनीतिक भूमिका में एक प्रेम-कथा वर्णित है। अत्याचारी नवाब सिराजुद्दौला को पदच्युत करके, क्लाइव की सहायता एव सकेत से, मीरजाफर को सूबेदार बनाने के प्रयत्न में, रगपुर का राजकुमार नरेन्द्रसिह मुर्शिदाबाद मे गुप्त रूप से रहता था। वहीं पर एक दिन, अत्यन्त नाटकीय परिस्थिति मे, उसने मुसलमानों द्वारा ध्वस्त, कृष्णनगर राज्य के दिवगत महाराज धनेश्वरसिह की कन्या कुसुमकुमारी को, जो अपनी माता के साथ अत्यन्त दीन अवस्था में अपने दिन काट रही थी, देखा। दोनों में प्रेम हो गया और नरेन्द्रसिंह गुप्त रूप से बराबर माँ-बेटी की सहायता करता रहा। अन्त में नरेन्द्रसिंह तथा कुसुम का ब्याह हो गया। इस उपन्यास का उत्तरार्ध है 'लवगलता या आदर्शबाला' (१८९०)। नरेन्द्रसिह की बहन लवगलता को सिराजुद्दौला ने अपने महल में पकड मँगाया था। लवगलता ने बडी चतुराई एव वीरता के साथ अपने को नवाब के चगुल से छुडाया। वास्तव में इन दोनों उपन्यासों का उद्देश्य दो भारतीय ललनाओं के साहस, सयम एव वीरता का चित्रण करना है। इनके रूप में लेखक ने भारतीय नारीत्व का आदर्श उपस्थित करने का प्रयास किया है। इन्होंने अपने प्राणों पर खेल कर पातिव्रत की, धर्म की एव जाति की रक्षा की थी। मुसलमानों की दुष्टता, कामुकता, धर्मान्धता आदि पर अधिक बल दिया गया है। मुसलमानों की अपेक्षा अँग्रेजों को अच्छा चित्रित किया गया है। दोनों ही उपन्यास कुतूहलवर्धक काल्पनिक घटनाओं से पूर्ण हैं। नवाब सिराजुद्दौला के गोल तिलस्मी कमरे, नजीर खाँ का अद्‌भुत वेशपरिवर्त्तन, हीराझील के रहस्यमय मार्ग, महेन्द्रकुमार का स्त्री-वेश बनाकर आने, नगीना बेगम के प्रति सैयद अहमद के रहस्यमय छुटकारे और लखलखा-हार आदि का वर्णन बडे ही मनोरजक ढग से किया गया है। चरित्र-चित्रण की अपेक्षा रोमाचकारी घटनाओं के वर्णन में लेखक ने अधिक रस लिया है।

हैं। विचित्र सुरगों, पेचीले रास्तों, भूगर्भगृहों, तिलस्मी तालाब एव कब्रिस्तान आदि का कुतूहलवर्धक वर्णन है। 'रजिया बेगम या रंगमहल में हलाहल' में रजिया बेगम की उच्छृङ्खल प्रेमलीलाओं का वर्णन है। वह १२३६ ई० में अपने भाई रुकनुद्दीन फीरोजशाह को तख्त से उतारकर गद्दी पर बैठी थी। इसमें भी उपर्युक्त सभी करामातें दिखाई गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास-रचना के लिए अतीत के गर्भ में प्रविष्ट कर उसे सजीव कर देने की अन्तर्दृष्टि एव कल्पना-कुशलता की गोस्वामी जी में किंचित् कमी थी। वे पूर्व ग्रह-ग्रस्त होकर—मुसलमानो की कुत्सित जीवन-रीति के काले पर्दे पर हिन्दू आदर्शों को प्रकाशित करने की भावना—इस क्षेत्र में आए और इसी कारण ऐतिहासिक घटनाओं एव पात्रों के साथ न्याय न कर सके। इनके उपन्यासों मे स्थान-स्थान पर कालदोष परिलक्षित होता है। चमत्कार एव शृगार-प्रियता के कारण भी पर्याप्त बाधा पहुँची और वे प्रधानत ऐयारी-तिलस्मी-जासूसी हथकण्डों के सहारे, ऐतिहासिक भूमिका में, वासनोत्तेजक प्रणय-लीलाओं के चित्रण में लगे रहे। फिर भी इस क्षेत्र में गोस्वामी जी के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सर्वप्रथम इन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास-रचना का सूत्रपात किया और चरित्र एव वातावरण-चित्रण की ओर, थोडा ही सही, उत्साह दिखाकर मार्ग प्रशस्त किया। मुसल्मानों के खान-पान, वेशभूषा, रीति-नीति एव बातचीत के चित्रण में यत्र-तत्र पर्याप्त सजीवता मिलती है।

सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त गोस्वामी जी ने तिलस्मी, ऐयारी और जासूसी उपन्यास भी लिखे किन्तु उनमें कोई मौलिक विशेषता नहीं दिखाई पडती। अधिकतर प्रेम-कथा के विस्तार पर ही दृष्टि रही है।

अपने उपन्यासों में गोस्वामी जी ने भाषा-सम्बन्धी अनेक प्रयोग किए। प्रारम्भिक उपन्यासों में सस्कृतनिष्ठ, समास-बहुला, अलकृत भाषा की छटा देखने को मिलती है। ऐतिहासिक उपन्यासों में जहाँ मुसलमान पात्र बोलते हैं और हिन्दू भी मुसलमान से बातचीत करते हैं वहाँ उर्दूए-मवल्ला का प्रयोग किया गया है। किंतु जहाँ हिंदू-हिंदू के बीच बात होती है वहाँ तत्सम-तद्भव शब्दों से युक्त परिमार्जित हिंदी का प्रयोग किया गया है। जैसे—

"तारा—जनाब शाहजादे साहब! अगर नाज़नियाँ नाज़ो नखरे या रुखाई न जाहिर करे तो फिर आशिकों के सच्चे इश्क का जौहर क्योंकर मालूम हो।"

और दूसरी ओर रानी चद्रावती अपने भाई से कहती हैं—

"भारतवर्ष के भाग्य-विपर्यय का प्रत्यक्ष इतिहास आँखों के आगे नाच

रहा है, तौ भी स्वार्थ से अन्धे होकर तुमने यवनों पर अन्धविश्वास कर लिया। भाई, जागो और मोह-निद्रा को छोड सनातन धर्म और क्षत्रिय कुल की गौरवता पर दृष्टि डालो।"[1]

फारसी रग में रगी उपर्युक्त भाषा को लक्ष्य करके ही शुक्ल जी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा—कुछ दिनो पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ। उर्दू भी ऐसी-वैसी नहीं उर्दूए मवल्ला।... .. उर्दू जबान और शेर-सखुन की वेढगी नकल से, जो असल से कभी-कभी साफ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासो का साहित्यिक गौरव घट गया है...।" सस्कृतनिष्ठ हिन्दी तथा फारसीनिष्ठ उर्दू के अतिरिक्त गोस्वामीजी की कृतियों में हिन्दी का वह सहज स्वाभाविक रूप भी मिलता है जिसमें सस्कृत के प्रचलित तत्सम-तद्भव शब्दों के साथ-साथ दैनिक जीवन में प्रचलित उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इस भाषा के नमूने 'राजकुमारी' (१९०१) तथा 'अँगूठी का नमूना' (१९१८) जैसे उपन्यासों में मिलते हैं। यही वह भाषा है जिसका प्रवर्त्तन भारतेन्दु ने किया और जिसे प्रेमचन्द ने परिपक्वता दी। गोस्वामीजी की प्रतिनिधि भाषा यही है। इस भाषा के माध्यम से कहीं-कहीं इन्होंने व्यक्ति एव वातावरण के चित्रण में निपुणता का परिचय दिया है। अत्यधिक शृङ्गारिकता के होते हुए भी नायिकाओ के सौंदर्य-वर्णन में पर्याप्त प्रभावोत्पादकता है। सवादों में नाटकीयता का समावेश सर्वप्रथम इन्हीं के द्वारा हुआ। कथा के बीच-बीच नीति-उपदेश की बहुलता, पात्रों के चरित्र एव घटना पर स्वय विस्तार से टीका-टिप्पणी करने की प्रवृत्ति, दर्शक बनकर 'हाय! हाय!' 'वाह! वाह!' कहने की हल्की भावुकता, अनावश्यक इतिवृत्त-कथन, विभिन्न प्रसगों के वर्णन में अनुपात का अभाव, यथार्थ जीवन-व्यापारों एव स्थितियों की अपेक्षा दैवी सयोग, आकस्मिकता तथा आश्चर्यजनक व्यापारों की योजना आदि के कारण गोस्वामीजी की कृतियों में यद्यपि वह सजीवता एव विश्वसनीयता नहीं आ सकी जो प्रेमचन्द की कृतियों में देखने को मिली। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि तिलस्मी-जासूसी उपन्यासों तथा प्रेमचद के सामाजिक उपन्यासों के बीच गोस्वामीजी के उपन्यास एक शृङ्खला से हैं। उपन्यास के विकास क्रम में इनका यही महत्त्व है।

गोपालराम गहमरी (१८६६-१९४६ ई०)

जिस प्रकार देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी मे ऐयारी-तिलस्मी उपन्यासों का

---

[1] 'तारा'।

प्रवर्त्तन किया, उसी प्रकार अंग्रेजी के जासूसी उपन्यासों से प्रेरणा लेकर, हिन्दी में जासूसी कहानियां एव उपन्यासो का ढेर लगा देने वाले गहमरी जी सदैव स्मरणीय रहेंगे। गहमर (गाजीपुर, उत्तर प्रदेश) में रहने के कारण ये गहमरी कहलाए और अपने दीर्घ जीवन के प्राय. ५३ वर्ष इन्होंने साहित्य-सर्जन में ही बिताए। साहित्य के विभिन्न रूपो—कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी—के निर्माण की इनमें प्रवृत्ति थी, किन्तु मुख्यतया इनकी प्रतिभा जासूसी उपन्यासों के द्वारा ही प्रकाशित हुई। जासूसी उपन्यासों के अतिरिक्त इन्होंने बहुत से सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्याम भी लिखे। अपने जासूसी उपन्यासों के प्रकाशन के लिए इन्होंने सन् १६०० ई० से 'जासूस' नामक एक मासिक पत्र गहमर से ही निकालना आरम्भ किया। इसमें प्राय दो सौ मौलिक तथा अनूदित उपन्यास निकल चुके है। अब तक यह पत्र चल रहा है।

गहमरी जी का प्रथम उपन्यास है 'चतुर-चचला' जो सन् १६८३ में प्रकाशित हुआ। उसके उपरान्त उन्होंने 'भानमती' (१८६४) 'नए बाबू' (१८६४), 'नेमा' (१८६४) आदि उपन्यासो की रचना की। ये सभी उपन्यास बगला उपन्यासों के भावानुवाद हैं। इनमें मनोरजन का दृष्टिकोण ही प्रधान है। हाँ, 'नए बाबू' मे लेखक ने विधवा-विवाह तथा स्त्री-स्वातत्र्य का विरोध करने तथा परम्परित सनातनी आदर्शों की स्थापना का प्रयास किया है। आगे चलकर उन्होंने हिन्दू गार्हस्थ्य जीवन से सम्बन्धित कुछ उपन्यास लिखे जिनमें घरेलू झगडों की ओर सकेत करके उनके आदर्श समाधान सुझाए गए हैं। इन उपन्यासों में 'सास-पतोहू' (१८६६), देवरानी-जेठानी (१६०१) डबल बीबी (१६०२), दो बहन (१९०३) तथा 'तीन पतोहू' (१६०५) आदि प्रमुख हैं। इनमें साधारण घरों में सास-बहू, देवरानी जेठानी, एव सपत्नियों के कलह की कहानियाँ हैं। इनके मूल में सुधारवृत्ति है और साहित्यिक दृष्टि से इनका अधिक महत्त्व नहीं है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है गहमरी जी को सबसे अधिक ख्याति जासूसी उपन्यासो से ही मिली। इनकी सूची दो सौ के लगभग है अतएव सबका नाम गिनाना यहाँ न तो आवश्यक है और न उचित ही। कुछ उपन्यासों के नाम बता देना ही पर्याप्त होगा। ये हैं—'अद्भुत लाश' (१८६६), 'गुप्तचर' (१८६६), 'बेकसूर की फाँसी' (१९००), 'सरकती लाश' (१६००) 'खूनी कौन है?' (१९००) 'बेगुनाह का खून' (१६००), 'जमुना का खून' (१६००), 'डबल जासूस' (१९००), 'मायाविनी' (१९०१), 'जादूगरनी'

मनोरमा (१९०१), 'लड़की चोरी' (१९०१) 'जासूस की भूल' (१९०१), 'थाना की चोरी' (१९०१), 'भयकर चोरी' (१९०१)।

जासूसी उपन्यासों का ध्येय भी अद्भुत एव आश्चर्यजनक घटनाओं के द्वारा पाठक का मनोरजन करना ही होता है किन्तु बाबू देवकीनन्दन खत्री और गहमरीजी के उपन्यासों के अन्तर स्पष्ट लक्षित होते हैं। ऐयारी उपन्यासों में घटनाओं का एक जमघट सा होता है और ये घटनाएँ प्रायः एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं होतीं। उनका नायक ही बिखरी हुई घटनाओं में संबंध स्थापित करता है, जिससे ये एक सम्बद्ध कहानी का रूप धारण कर पाती हैं। परतु जासूसी उपन्यासों में यह बात नहीं होती। उनमें पूर्वापर सबंध होता है और प्रत्येक घटना का एक निश्चित क्रम होता है। घटनाओं के इस तरह कार्य-कारण रूप में गुथे होने के कारण इनके द्वारा पाठकों में ऐयारी उपन्यासो की अपेक्षा आशा, निराशा, भय, आशका आदि की तीव्रतर भावनाएँ उद्दीप्त कराई जा सकती हैं। इस कार्य-कारण सबध के अभाव से ही 'चंद्रकाता' जैसे उपन्यास बिलकुल ही कपोल-कल्पना से लगते हैं। पर जासूसी उपन्यास कुतूहलपूर्ण होते हुए भी बिलकुल हवाई ही नहीं जान पड़ते। उनकी बहुत-सी बातें बुद्धिग्राह्य भी होती हैं।

जासूसी उपन्यासों का क्षेत्र ऐयारी की अपेक्षा अधिक परिमित होता है। ऐयारी उपन्यासो की भाँति जासूसी उपन्यासों मे कल्पना के पख उन्मुक्त नहीं होते। उसके परों में बुद्धि का बधन होता है जो उसे अधिक मानवीय बनाता है। यहाँ जासूस वहीं तक अपना कौशल दिखला सकते हैं जहाँ तक वह मानव-बुद्धिगम्य हो—अलादीन के चिराग की तरह वे सर्वशक्तिमान् नहीं हैं। उनकी बुद्धि वहीं तक काम करती है जहाँ तक आधुनिक विज्ञान उन्हें सुविधाएँ देता है। उनके ओवरकोट के पाकेट में तेजसिंह के झोले जैसी शक्ति नहीं। इसके अतिरिक्त इन उपन्यासो मे 'चद्रकाता-सतति' आदि की भाँति पात्र-बाहुल्य भी नहीं होता। गहमरीजी के अधिकतर उपन्यास आधुनिक समाज-संबंधी ही होते हैं, जिनमें थोड़ा-बहुत चरित्र-चित्रण भी मिलता है। पर यह चरित्र-चित्रण उतना ही होता है जितना घटनाएँ अपेक्षा करती हैं। पात्रों मे साहस, निर्भयता, चालाकी आदि गुणों का अवस्थान करके उसे निभाने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें मानव के क्रिया कलाप मानव-शक्ति के भीतर ही होते हैं, दानव के नहीं। इसीलिए ऐयारी की अपेक्षा ये उपन्यास हमारे अधिक निकट हैं, यद्यपि उनका भी प्रधान ध्येय घटना-वैचित्र्य ही होता है। एक छोटे से रहस्य-बीज के द्वारा बड़ी-बड़ी घटनाओं और भेदों का पता लगाने की चातुरी में ही इन उपन्यासो का प्रधान आकर्षण होता है। एक सनसनी फैलानेवाली घटना—किसी खून, किसी डकैती

के मूल में किसका हाथ है—इन बातों के उद्घाटन में ही जासूसी उपन्यासों की सफलता होती है। इनमें अधिकतर जासूसों के चरित्र का उत्कर्ष दिखाया जाता है और इनका उद्देश्य ऐयारी उपन्यासों की अपेक्षा अधिक उपयोगी होता है।

आज भी गहमरीजी के उपन्यास जनता का मनोरंजन कर रहे हैं और साधारण पाठकों को बहुत प्रिय भी हैं। इनकी भाषा भी बड़ी चटपटी और वक्रतापूर्ण होती है। ये गुण लाने के लिए कहीं-कहीं उन्होंने पूर्वी शब्दों और मुहावरों का बेधड़क प्रयोग किया है। उनके लिखने का ढंग बहुत ही मनोरंजक है।

व्रजनन्दन सहाय (जन्म १८७४ ई०)

बंगला के 'उद्भ्रान्त प्रेम' जैसे उपन्यासों के ढंग पर श्री व्रजनन्दन सहाय ने 'राजेन्द्र मालती' एवं 'सौन्दर्योपासक' (१९१२) की रचना की, जिनसे हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में एक नवीन रूपादर्श की प्रतिष्ठा हुई। इनके पूर्व जो उपन्यास लिखे गए थे उनमें या तो घटना-चमत्कार या चरित्र-वैशिष्ट्य-प्रदर्शन की ओर ही दृष्टि थी। केवल 'श्यामास्वप्न' ही भावानुभूति एवं भावाकुलता को लेकर अग्रसर हुआ था किन्तु उसकी परम्परा न चल सकी। 'श्यामास्वप्न' में प्रेम एवं विरह के वर्णन में प्राचीन रूढ़ियों का ही अनुसरण है, और युगरुचि के अनुकूल अद्भुत आश्चर्यजनक तथ्यों का भी समावेश है। किन्तु 'सौन्दर्योपासक' अति सूक्ष्म कथा-तन्तु का आश्रय लेकर स्वच्छन्द प्रेमानुभूति एवं विरहाकुलता की अभिव्यक्ति करता है। इस उपन्यास का सौंदर्योपासक नायक अपने विवाह के समय अपनी साली के रूप-यौवन पर मुग्ध होकर उससे प्रेम करने लगता है। किंतु दोनों का संयोग तो संभव था नहीं और साली का, जो स्वयं जीजा से प्रेम करती थी, विवाह अन्य पुरुष से हो जाता है। ये दोनों ही प्रेमी विरहाकुलता में धीरे-धीरे घुलने लगे। साली यक्ष्मा-रोग से ग्रसित होकर एक दिन इस दुखद संसार से प्रयाण कर जाती है। सौंदर्योपासक की स्त्री को पति के मनोभाव का पता लग गया था और वह भी दुखी रहती थी। इसी दुख में उसकी भी मृत्यु हो जाती है। पत्नी और प्रिया की मृत्यु पर रोने के लिए सौंदर्योपासक बच रहता है। इतनी ही सी कथा को लेकर इस उपन्यास की रचना हुई। प्रेमी के हृदय में अपने प्रति, प्रिया के प्रति, निष्ठुर जगत के प्रति जो भावनाएँ उठती हैं उनका अत्यधिक भावप्रवणता के साथ वर्णन किया गया है। इस तरह यह उपन्यास घटना-चरित्र की उपेक्षा कर केवल भावानुभूति एवं भावोच्छ्वास पर आधारित है। सामाजिक दृष्टि से, इसमें स्वच्छन्द प्रेम का प्रतिपादन एवं अनमेल विवाह के दुष्परिणाम की ओर संकेत है।

उपर्युक्त दो उपन्यासों के अतिरिक्त व्रजनन्दन सहाय ने अनेक अन्य उपन्यास भी लिखे, जिनमें 'लाल चीन' ऐतिहासिक है।

अन्य उपन्यासकार :

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त अनेक लेखक उपन्यास के क्षेत्र में आये और प्रेमचन्द के आगमन के पूर्व तक मौलिक तथा अनूदित उपन्यासों का ढेर-सा लग गया। इसमें सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी ऐयारी तथा जासूसी सभी प्रकार के उपन्यास हैं। सामाजिक उपन्यासों में देवदत्त का 'सच्चा मित्र' (१८६१), रामगुलाम का 'सुवामा' (१८६४), कार्तिक प्रसाद खत्री का 'दीनानाथ' (१८६६), अमृतलाल चक्रवर्ती का 'सती सुखदेवी' (१९०२), लोचन प्रसाद पाण्डेय का 'दो मित्र' (१६०६), बल्देव प्रसाद मिश्र का 'संसार' (१६०७), नवलराय का 'प्रेम' (१६०७), सकल नारायण पाण्डेय का 'अपराजिता' (१६०७), रामनरेश त्रिपाठी का 'मारवाडी और पिशाचिनी' (१६१२), जगतचन्द रमोला का 'सत्यप्रेम' (१६१३), योगेन्द्रनाथ का 'मानवती' (१६१४), हरस्वरूप पाठक का 'भारत माता' (१६१५), राधिका प्रसाद सिंह अखौरी का 'मोहिनी' (१६१८), उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में बल्देव प्रसाद मिश्र कृत 'अनारकली' (१६००), 'पृथ्वीराज चौहान' (१६०२) तथा 'पानीपत' (१६०२), गंगा-प्रसाद गुप्त का 'नूरजहाँ' (१६०२), 'वीरपत्नी' (१९०३), 'कुमारसिंह सेना-पति' (१९०३), 'पूना में हलचल' (१६०३ द्वि०), 'हम्मीर' (१६०४), मथुरा प्रसाद शर्मा का 'नूरजहाँ' (१६०५), लालजी सिंह का 'वीर बाला' (१६०६), जैनेन्द्र किशोर का 'गुलेनार' (१६०७), जयराम दास गुप्त कृत 'काश्मीर का पतन' (१६०७), 'रंग में भंग' (१९०७), 'मायारानी' (१६०८), 'नवाबी परिस्तान' (१६०६), 'कलावती' (१६०६), तथा 'मल्का चाँद बीबी' (१६०६), आदि प्रमुख हैं। ऐयारी-तिलस्मी उपन्यास लिखने वालों में देवकीनन्दन खत्री के बाद हरेकृष्ण जौहर का नाम उल्लेखनीय है। जासूसी उपन्यास लिखने वालों में गहमरी जी के बाद ईश्वरी प्रसाद शर्मा, जयराम दास गुप्त, माधव केसरी आदि प्रमुख हैं।

अनुवाद :

हिन्दी-पाठक तथा लेखक दोनों की ही दृष्टि से अनूदित उपन्यासों का बड़ा महत्त्व रहा है। यद्यपि हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' के लिखने की प्रेरणा अंग्रेजी से मिली थी किन्तु बाद के उपन्यासों ने मराठी तथा बँगला के उपन्यासों से विषय एवं विधान दोनों ही दृष्टियों से बहुत कुछ लिया।

बहुत से प्रारम्भिक लेखक तो मूल पुस्तक तथा लेखक का नाम भी न देकर केवल 'अमुक भाषा से अनूदित' या 'अमुक भाषा के एक उपन्यास के आश्रय से लिखित' कहकर ही इतिकर्तव्य हो जाते थे। इस विषय में यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भिक अनुवादकारों ने अनुवाद करते समय अधिकतर मूल रचना के भाव पर दृष्टि रखी और कथा-प्रसगों में थोडा-बहुत परिवर्तन करके काम चला लिया। अतएव बहुत से उपन्यासों के विषय में यह कहना कठिन हो गया है कि वे मौलिक हैं या अनूदित।

अनुवादों का आरम्भ भारतेन्दु के समय से ही हो गया था। बाबू गदाधर सिंह ने 'बगविजेता', और 'दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद किया। भारतेन्दु के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', 'मरता क्या न करता' आदि उपन्यास अनुवाद करके निकाले। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इदिरा', 'राधारानी', 'युगलागुरीय' और पण्डित राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा', 'जावित्री', 'मृणमयी' का अनुवाद किया। फिर तो बगला के उपन्यासों के अनुवाद का ऐसा रास्ता खुला कि भरमार हो गई। पर पिछले अनुवादकों का अपनी भाषा पर वैसा अधिकार न था जैसा उपर्युक्त लेखकों का था। अधिकाश अनुवादक हिन्दी का ठीक ठीक रूप देने मे समर्थ नहीं हुए। इन अनुवादों से काम यह हुआ कि नए ढग के ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों का अच्छा परिचय हो गया और स्वतन्त्र उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हुई।"*

भारतेन्दु काल में अनुवादों का जो मार्ग प्रशस्त हुआ उसमे आज भी अवरोध नहीं आ पाया है। ये अनुवाद बँगला, मराठी, उर्दू तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं के थे। कुछ सस्कृत की प्राचीन कथाओं का भी हिन्दी रूपान्तर किया गया। किन्तु सबसे अधिक अनुवाद बँगला उपन्यासों के ही हुए। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'कृष्णकान्त का दान-पत्र' (१८९७) तथा कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' (१८९५), 'प्रमीला' (१८९६), 'कुलटा', 'मधुमालती' (१८९७) तथा 'दलित कुसुम' (१८९८) के अनुवाद किए। बाबू गोपालराम (गमहर) ने भी बँगला के निम्नाकित उपन्यासों के अनुवाद किए। 'चतुरचञ्चला' (१८९३), 'भानमती' (१८९४), 'नए बाबू' (१८९४), 'बडा भाई' (१९००), 'देवरानी-जेठानी (१९०१), 'दो बहिन' (१९०२), 'तीन पतोहू' (१८९४) तथा 'सास-पतोहू'। उर्दू से अनुवाद करनेवालों में बाबू

* दे० 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—रामचन्द्र शुक्ल

रामकृष्ण वर्मा अग्रगण्य थे। उन्होंने 'ठग वृत्तान्त माला' (१८८६), 'पुलिस वृत्तान्त माला' (१८९०), 'अमला वृत्तान्त माला' (१८९४), 'ससार दर्पण' (१८९५) तथा 'चित्तौर चातकी' (१८९५) नामक अनुवाद किए। गाजीपुर के मुशी उदितनारायण लाल ने भी कुछ अनुवाद किए जिनमें मुख्य है 'दीपनिर्वाण'। पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी 'वेनिस का बाँका', का उर्दू से अनुवाद किया था। मराठी से 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' तथा 'रमा और माधव' (१८९९) नामक दो अनुवाद हुए। गुजराती से पण्डित किशनलाल ने 'मुद्राकालीन अर्थात् इतिहास चन्द्रोदय' (१८९२) का अनुवाद किया। इसमें यवनों के अत्याचार एव आर्यों की वीरता का वर्णन है। मेहता लज्जाराम शर्मा का 'कपटी मित्र' भी गुजराती का ही अनुवाद है। अग्रेजी के नाटकों एव कहानियों के भी उस समय कुछ अनुवाद निकले जिनमें पुरुषोत्तम दास टण्डन कृत 'भाग्य का फेर' या 'प्यारे कृष्ण को कहानी' (१९००) जो शेक्सपियर के 'पेरीक्लीज' का अनुवाद है, अधिक उल्लेखनीय है। गदाधर सिंह ने 'ओथेलो' का बँगला से अनुवाद किया था।

"इस युग के भीतर बकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचन्द्र रक्षित, चन्डीचरण सेन, शरत्बाबू, चारुचन्द्र इत्यादि वग भाषा के प्रायः सब प्रसिद्ध प्रसिद्ध उपन्यासकारों की पुस्तकों के अनुवाद तो हो ही गए, रवीन्द्र बाबू के "आँख की किरकिरी" आदि कई उपन्यास हिन्दी रूप में दिखाई पड़े जिनके प्रभाव से इस युग के अत में आविर्भूत होनेवाले हिन्दी के मौलिक उपन्यासकारों का आदर्श बहुत कुछ ऊँचा हुआ। इस अनुवाद-विधान में योग देनेवालों में पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्मा और पण्डित रूपनारायण पाण्डेय विशेष उल्लेखनीय हैं। वग भाषा के अतिरिक्त मराठी और गुजराती के भी कुछ उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में हुआ, पर बँगला की अपेक्षा बहुत कम। बाबू रामचन्द्र वर्मा का 'छत्रसाल' इस प्रकार के अच्छे उपन्यासों में है।*

उपसंहार :

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द के पूर्व तीस-बत्तीस वर्षों के अवकाश में प्रचुरता से उपन्यास-सृष्टि हुई। अपने शैशव एवं किशोरावस्था में हिन्दी-उपन्यास अधिकतर अद्भुत, अलौकिक घटना-व्यापारों में ही विस्मय-विमुग्ध सा उलझा रहा। उसने हमें मनमाने ढग से तिलस्मों की सैर कराई, ऐयारी के आश्चर्यजनक करिश्में दिखाए, और जासूसी के कारनामों

* देखिए 'हिंदी साहित्य का इतिहास'—आचार्य रामचंद्र शुक्ल।

से चमत्कृत करता रहा। यह सब होते हुए भी उसमें जगत और जीवन के परिचय की तीव्र आकांक्षा थी और उसने तत्कालीन समाज की गतिविधि के अनुसरण का भी प्रयास किया। परिवर्तित सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का व्यक्ति एवं समाज पर जो प्रभाव पड़ा था उसके अंकन का प्रयास हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'परीक्षा गुरु' से ही आरम्भ हो गया था। इसमें नैतिकता के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण है और नवीन जीवनादर्शों की ओर स्पष्ट संकेत भी। उस समय के अन्य सामाजिक उपन्यासों का मुख्य प्रतिपाद्य भी कौटुम्बिक एवं सामाजिक समस्याएँ ही रहीं। ये समस्याएँ अधिकतर सतह पर होने के कारण सर्वस्पष्ट थीं। आक्रामक अँग्रेजी सभ्यता से बचाव के लिए प्राचीन भारतीय आदर्शों की प्रतिष्ठा आवश्यक दिखाई पड़ी और अधिकांश उपन्यासों में भारतीयता एवं चारित्रिक सदाचार पर ही विशेष आग्रह रहा। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल रही कि अधिकांश तत्कालीन उपन्यासों में 'हितोपदेश', 'मनुस्मृति', 'सुभाषित रत्नावली', 'रहिमन विलास', चाणक्य, भर्तृहरि, कालिदास, व्यास, शेख सादी, शेक्सपियर आदि की उपदेशप्रद सूक्तियों को अध्याय के आरम्भ में तथा अन्यत्र भी देने का प्रयास किया गया। प्रेम-कथाओं के वर्णन में रीतिकालीन परिपाटी को ग्रहण किया गया और शुद्ध रूमानी प्रेम की व्यंजना हुई। मिलन, विरह आदि में काल्पनिकता, संयोग एवं कृत्रिमता की प्रधानता होते हुए भी यत्र-तत्र प्रेम की विविध दशाओं एवं प्रेमानुभूति के विभिन्न रूपों के चित्रण में पर्याप्त गम्भीरता भी मिलती है। कुल मिलाकर, हम कह सकते हैं कि उस युग का उपन्यास सभी प्रकार के प्रभावों को ग्रहण करके चलने का प्रयास करता रहा।

सामाजिक पक्ष की ओर आग्रह स्पष्ट होने पर भी, युग रुचि की सीमाओं के कारण तथा उच्चकोटि की विधायिनी प्रतिभा के अभाव में उस युग का उपन्यास-साहित्य अधिकतर घटना-बहुल ही रहा। कलात्मक संयम के अभाव में वस्तु-विन्यास भी सुगठित न हो सका और अधिकांश उपन्यास विच्छिन्न, विपर्यस्त घटनाओं के समूह मात्र मालूम पड़ते हैं। वह युग एक प्रकार से कथा-प्रधान था, जिसमें लेखक स्वयं अपने श्रोताओं को कहानी सुनाता हुआ आगे बढ़ता जाता है। वह क्षण भर के लिए भी उनकी उपस्थिति को विस्मृत नहीं कर पाता और यथास्थान उनको सम्बोधित भी करता चलता है, जैसे—"प्यारे पाठक! इधर का तो यह हाल था, अब उधर का सुनिए कि जोहरा के जाने के बाद घंटे भर तक बेगम चुपचाप बैठी हुई तालाब की ओर और कभी-कभी अपनी सहेलियों की ओर निहारती रही।"* कथाक्रम में लेखक पाण्डित्य-प्रदर्शन का

* किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'रज़िया बेगम' से।

अवसर भी हाथ से जाने नहीं देता और प्रायः सभी विषय को लेकर टीका-टिप्पणी करने लगता है। ऐसे स्थलों पर कथा-प्रवाह में अनावश्यक व्याघात उपस्थित हो जाता है और पाठक का धैर्य भी छूटने लगता है। कहीं-कहीं तो लेखक स्वयं दर्शक बन कर अपनी भावनाओं का वर्णन करने लगता है, जैसे—"हाय-हाय। यह नारकीय पिशाच क्या किया चाहता है? क्या यह नर-राक्षस इस घर को श्मशान बनावेगा। असह्य! असह्य!!"* कथा-प्रसंगों के वर्णन में प्रायः अनुपात का अभाव लक्षित होता है। किसी महत्त्वहीन प्रसग का अनावश्यक विस्तार हो गया है और किसी महत्त्वपूर्ण एव मार्मिक प्रसग की नितान्त उपेक्षा हो गई है। प्रभावपूर्ण रूप-व्यापारों का चयन करके उनके संश्लिष्ट चित्रण का कौशल अज्ञात सा ही था। फिर भी कहीं कहीं दृश्यों का अच्छा वर्णन मिल जाता है। कुछ लेखकों—श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, किशोरीलाल गोस्वामी आदि—ने यथातथ्य-वर्णन एव रूप-चित्रण में यत्र-तत्र पर्याप्त सफलता भी पाई है। किन्तु यथार्थ जीवन-व्यापारों एवं स्थितियों की अपेक्षा दैवी सयोग, आकस्मिकता तथा आश्चर्यजनक व्यापारों की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है।

पात्रों के शील-स्वभाव की सूचना अधिकतर लेखक के ही मुख से मिलती है। कुछ लेखकों ने चरित्रगत सामान्य स्थूल विशेषताओं के चित्रण का प्रयास भी किया। कहीं-कहीं मनोवैज्ञानिक दृष्टि की झलक भी मिलने लगी थी, किन्तु जिस रूप में मनोविज्ञान का समावेश होना चाहिए था नहीं हुआ। व्यक्तित्व-निर्माण की कला अज्ञात थी। पात्रों को न तो विकास-स्वातन्त्र्य ही मिला और न उनका सम्पूर्ण स्वरूप ही सामने आ सका। किशोरीलाल गोस्वामी जैसे कुछ लेखकों ने उपन्यास में नाटकीय ढग के सभाषण एव स्वगत-चिन्तन का समावेश किया, जिसे उपन्यास-कला की प्रगति में एक विशेष चरण समझना चाहिए। इन सभाषणों में कहीं-कहीं पर्याप्त सजीवता भी है, किन्तु उनके द्वारा व्यक्तिगत वैचित्र्य की अभिव्यक्ति सुलभ न हो सकी। यह कला आगे चलकर प्रेमचन्द द्वारा विकसित हुई। प्रेमचन्द की कृतियों में ही उपन्यास के यौवन का उन्मेष दिखाई पड़ा, और वह यथार्थ सामाजिक परिवेश में जीवन की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन बना।

---

* किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'मदनमोहिनी' से।

तृतीय प्रकरण

विकास काल : प्रेमचन्द युग

(सन् १९१८ से १९३६ ई०)

प्रेमचन्द का 'सेवासदन' (१९१८) हिन्दी उपन्यास में एक नवीन दिशा का सूचक होकर आया। इस तथा प्रेमचन्द की अन्य कृतियों द्वारा हिन्दी उपन्यास के नवीन रूप तथा आदर्श की प्रतिष्ठा हुई और वह जीवन को उसकी समग्रता में व्यक्त करने का श्रेष्ठतम साधन बना। प्रायः बीस वर्षों तक ('गोदान' १९३६) प्रेमचन्द का हिन्दी उपन्यास साहित्य पर एकच्छत्र राज्य रहा। इस अवकाश में अन्य समर्थ लेखक भी क्षेत्र में आए और इस साहित्य-रूप को वस्तु एव कलागत विविधता तथा प्रौढता प्राप्त हुई। वास्तव में ये बीस वर्ष भारतवर्ष के इतिहास में बड़े ही महत्त्वपूर्ण रहे हैं। अंग्रेजी शासन, शिक्षा एव सभ्यता के प्रभाव से तथा हिन्दू-समाज में व्याप्त कुरीतियों, अन्धविश्वासों, मतमतान्तरों एव धार्मिक आडम्बरों के प्रति बौद्धिक विद्रोह से हमारे भीतर अपने धर्म, शिक्षा, सस्कृति एव आचार-विचार विषयक जो एक हीनता की भावना आ गई थी उसके उन्मूलन का प्रयास राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, महादेव गोविन्द रानडे, श्रीमती एनीबेसेन्ट, तथा लोकमान्य तिलक प्रभृति मनीषी बहुत पहले आरम्भ कर चुके थे। जिसके फलस्वरूप हिन्दू-समाज में एक नवीन चेतना का, गौरव-भावना का उदय हो रहा था। प्रथम महायुद्ध में, भारतीय सैनिकों ने विभिन्न मोर्चों पर, जिस अद्भुत वीरता का परिचय दिया उससे हमारा सुप्त आत्मगौरव एव आत्मविश्वास जग पड़ा। इधर सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गान्धी के अवतीर्ण होते ही (१९१७) स्वतन्त्रता-आन्दोलन को नया बल मिला, नई दिशा मिली और उनके द्वारा प्रेरित, प्रवतित एव निर्देशित विभिन्न सत्याग्रह-आन्दोलनों ने अपने स्वत्व के लिए सघर्ष की एक नितान्त नूतन प्रणाली दी। हमारे भीतर अन्याय-उत्पीडन के विरोध की एक गौरवमयी शक्ति जगी तथा उत्पीडक समाज, सामन्तवर्ग, सरकारी अधिकारी, एव पूँजीपति से टक्कर लेने का अभूतपूर्व साहस उदित हुआ। मार्क्स एवं फ्रायड की आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक स्थापनाएँ, रूस की नव-जागृति, विज्ञान के अभूतपूर्व अविष्कारों, आदि का भी हमारे जन-जागरण पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस प्रकार

दो दशकों का यह अवकाश सामाजिक उद्बोधन का, राष्ट्रीय जागर्ति का, आध्यात्मिक तथा लौकिक आदर्शों के परीक्षण का, नवीन मानववादी विचारधारा के प्रचार का, वर्ग-चेतना के उदय का एवं मानव-मन-विश्लेषण का युग रहा है। इस अवधि में प्रणीत हिन्दी उपन्यासों में इन युगीन प्रभावों की स्पष्ट छाप पडी है और उनमें तदनुकूल अनेकरूपता आई है। विषय-निर्वाचन, जीवन-दर्शन तथा चित्रण-कला तीनों ही क्षेत्रों में उपर्युक्त प्रभाव स्पष्टता से परिलक्षित हैं। कल्पना, रोमास, एव चमत्कार-प्रदर्शन के इन्द्रजाल से विमुक्त सामाजिक यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े होकर इस युग के हिन्दी उपन्यास ने वास्तविक अर्थों में अपने युग का प्रतिनिधित्व किया।

तत्कालीन युगजीवन और उपन्यास :

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रादुर्भूत ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना-समाज, थियोसोफिकल समाज आदि के द्वारा अधिकतर सामाजिक स्तर पर कार्य हुए। गान्धी जी की देश-सेवा का क्षेत्र अधिक विस्तृत हुआ और उन्होंने बड़े पैमाने पर एक जनवादी आन्दोलन का आरम्भ किया। इस आन्दोलन के तीन पक्ष थे—व्यक्ति को उत्पीडित करनेवाली सामाजिक-धार्मिक रूढियों के विरुद्ध आन्दोलन, व्यापक निर्धनता के कारणस्वरूप आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध आन्दोलन तथा विदेशी शासनसत्ता के विरुद्ध आन्दोलन। तत्कालीन उपन्यास ने, जिसका प्रवर्तन प्रेमचन्द द्वारा हुआ, इस जन-जागरणवादी आन्दोलन के विभिन्न पक्षों को अपने चित्रण का आधार बनाया और सम्मिलित कुटुम्ब की विषमताएँ, नारी-वर्ग की विभिन्न समस्याएँ, धर्म-एव जातिगत भेदभाव, परम्परागत सामाजिक कुरीतियाँ तथा अन्धविश्वास, धार्मिक-नैतिक बाह्याडम्बर, किसान-मजदूर की शोचनीय आर्थिक-सामाजिक स्थिति, जमींदार-पूँजीपति की निरकुशता, सरकारी कर्मचारियों के अन्याय-अत्याचार तथा विभिन्न राष्ट्रीय आन्दोलन आदि में से एक या अनेक उनकी कथा-वस्तु के प्रतिपाद्य बने।

सम्मिलित कुटुम्ब :

भारतीय समाज-व्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण अग सम्मिलित कुटुम्ब रहा है। इससे परिवार में सहयोग, सद्भाव, स्नेह एवं समानता की भावना रही है। सपत्नी-विद्वेष, तथा सास-बहू, ननद-भौजाई, देवर-भौजाई, देवरानी-जेठानी आदि के कलह की कहानी भी इस देश मे अति प्राचीन है, किन्तु आर्थिक ढाँचा इतना परस्परापेक्षी था, पारिवारिक एकता के आदर्श एवं सस्कार इतने दृढ़ थे कि कटुता के ये छोटे-मोटे झोंके ऊपर ही ऊपर से निकल जाते थे।

जीवन में ही वैधव्य की व्यथा को झेल ले जाती है। भगवती प्रसाद वाजपेयी की 'पतिता की साधना' (१६३६) में विधवा 'नन्दा' एव हरी का सामीप्य वासना की अपेक्षा साधना के आधार पर दिखाने का प्रयास किया गया।

विधवा के समान ही वेश्या की समस्या है जो व्यक्ति एव समाज दोनों ही के लिए अभिशापस्वरूप है। बहुत सी स्त्रियाँ तो परिस्थितियों से बाध्य होकर वेश्या-जीवन ग्रहण करती हैं। समाज जितना ऊपर से इनसे घृणा करता है उतना ही भीतर से वेश्यालयों की कामना भी करता है। वेश्यालय में अनेक प्रकार के व्यभिचार होते हैं—नारी की कोमल वृत्तियो को मारकर उसमें छल, प्रपच, कपट, हृदयहीनता आदि दुर्गुण भरने का प्रयत्न किया जाता है। इस व्यसन में पड़कर अनेक पुरुषों का सत्यानाश हो जाता है। प्रेमचन्द ने अपने 'सेवासदन' (१९१८) में वेश्या-समस्या के चित्रण को ध्येय बनाया और वेश्यालय के वातावरण का बडा ही सजीव किन्तु मर्यादित चित्रण किया। वेश्या के सम्बन्ध में भी प्रेमचन्द का सहृदय, उदार एव मानववादी दृष्टिकोण रहा। उन्हें वेश्यावृत्ति से घृणा है, उन सामाजिक परिस्थितियों के प्रति आक्रोश है जो अनेक स्त्रियों को इस नरक की ओर ढकेल देती हैं, समाज के धनी-धोरियों के प्रति शिकायत है कि वे व्यक्तिगत जीवन में ऐसी सस्थाओं को प्रोत्साहन देते हैं किन्तु वेश्याओं की दयनीय स्थिति के प्रति समवेदना है, करुणा है। उन्होंने बिना हिचकिचाहट के उनके साथ विवाह करने की अनुमति दी है। हाँ, यदि वे विवाह न करना चाहें अथवा कोई युवक उन्हें न अपनाना चाहे तो उनके उद्धार के लिए आश्रमों की स्थापना होनी चाहिए। उन्होंने 'गबन' में वेश्या के वास्तविक प्रेम एवं आत्म-त्याग को भी चित्रित करने का प्रयास किया। कौशिक ने 'माँ' (१६२६) में, ऋषभचरण जैन ने 'वेश्यापुत्र' (१६२६) में, उग्र ने 'शराबी' (१६३०) में वेश्यालय के वातावरण, वेश्याओं की स्थिति आदि का यथार्थ वर्णन किया है। निराला जी की 'अप्सरा' (१६३१) में भी वेश्या की कोमल भावनाओं एवं दयनीय स्थिति का भावुकतापूर्ण वर्णन है। इस विषय को लेकर अन्य लेखकों ने भी अनेक उपन्यास लिखे।

अनमेल विवाह भी नारी-जीवन को विषाक्त करने के कारण हुआ करते हैं। अधेड़ या वृद्धजन जब पैसे के बल पर तरुणी से ब्याह कर लेते हैं तो पति-पत्नी दोनों ही के लिए अनेक समस्याएँ उठ खडी होती हैं। कभी-कभी युवती की अतृप्त कामना भयकर पारिवारिक द्वन्द्व का रूप धारण कर लेती है। 'निर्मला' में प्रेमचद ने ऐसी ही स्थिति का वर्णन किया है। 'कायाकल्प' भी इस समस्या को प्रस्तुत करता है। श्रीनाथ सिंह कृत 'क्षमा' (१६२५), भगवती प्रसाद

वाजपेयी कृत 'मीठी चुटकी' (१६२७) एवं 'अनाथ पत्नी' (१६२८) और मुक्त कृत 'तलाक' (१६३२) में अनमेल विवाह की समस्या पर ही कथा आगे बढ़ी है।

इन समस्याओं के अतिरिक्त भी समाज में अनेक ढंग से स्त्रियों पर अनाचार एवं बलात्कार हुआ करता है। कितनी ही स्त्रियाँ मेले-तमाशे में बहकाई एव भगाई जाती हैं और उन्हें कुत्सित जीवन व्यतीत करने को बाध्य किया जाता है। नगर के चकलों, अनाथाश्रमों एव विधवाश्रमों में नारी के साथ जो अमानुषिक बलात्कार होता है उनका चित्रण करनेवालों में चतुरसेन शास्त्री, उग्र एव ऋषभचरण जैन प्रमुख रहे। उग्र के उपन्यासों में 'दिल्ली का दलाल' (१६२७), 'बुधुवा की बेटी' (१६२८) 'शराबी' (१६३०) प्रमुख हैं। चतुरसेन शास्त्री कृत 'हृदय की परख' (१६१८) तथा 'व्यभिचार' (१६२४) और ऋषभचरण जैन के उपन्यासों में 'दिल्ली का व्यभिचार' 'दिल्ली का कलंक', 'दुराचार के अड्डे' आदि इसी कोटि के उपन्यास हैं। ये सभी उपन्यास यथार्थवाद के नग्न रूप की ओर जिसे 'नेचुरलिज्म' भी कह सकते हैं, झुके हैं। इस उपन्यासों में कलाकार की निस्सगता एव उसके विवेक का अभाव परिलक्षित होता है। समाज के कुत्सित अग को व्यथापूर्वक नहीं, रसपूर्वक अनावृत किया गया है। रगीन एवं चटपटी भाषा-शैली में लिखे गए ये उपन्यास मर्यादा की सीमा का अतिक्रमण कर गए हैं, अश्लील हो उठे हैं। यहाँ समस्या तो अपने विकृत रूप में है किन्तु उसका समाधान नहीं है।

स्त्री-शिक्षा के प्रसार एव राष्ट्रीय चेतना से आलोच्य युग में ही नई नारी का उदय भी हो चुका था। विभिन्न सत्याग्रह-सग्रामों में इन प्रबुद्ध महिलाओं ने सक्रिय भाग लिया था। प्रेमचन्द ने 'रगभूमि' (१६२६), 'कायाकल्प' (१६२६ , 'कर्मभूमि' (१६३२) में इनका भी चित्रण किया। ये उच्च आदर्शों से प्रेरित एव भारतीय सस्कारों में पली जाग्रत महिलाएँ हैं। एक दूसरे प्रकार की नारी जो पुरुषों के साथ निःसकोच भाव से मिलती-जुलती है, क्लब, सिनेमा, नाचघर एव दावतों में सम्मिलित होती है, टेनिस और ब्रिज खेलती है तथा अपने मन से प्रेम और विवाह करती है, भी प्रकाश में आ रही थी। प्रेमचन्द के 'गोदान' (१६३६) की 'मालती' तथा 'विदा' (१६२८) की अनेक नारियाँ इसी वर्ग की हैं। इनका भी चित्रण करके हिन्दी उपन्यास ने नारी जीवन के सभी पक्षों को घेर सा लिया। पुराने सस्कारों में पली स्त्रियों के साथ नई रोशनी की चकाचौंध से चकित नई नारी सबका किसी न किसी रूप में तत्कालीन हिन्दी उपन्यास में समावेश हो गया।

इस तरह आलोच्य युग में नारी विषयक विभिन्न समस्याओं को विस्तृत

की शक्ति मिली। विरोध से अत्याचार एव दमन की विकरालता और भी बढ़ी। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में विभिन्न वर्गों की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों एव परस्पर के सघर्ष की कहानी बड़े ही कलात्मक एव सजीव ढग से आँकी है। किसानों की मनोवृत्ति एव उनके आचार-विचार, जमींदारों एव उद्योग-पतियों के विभिन्न रूप, स्वभाव सस्कार, रहन-सहन एव शोषण के ढग, पुलिस की धाँधली एव अमानुषिकता, अफसरों का अहकार एव उनकी गुलाम मनो-वृत्ति, किसान-मजदूरों के सत्याग्रह, पकड-धकड, मार-पीट, मुकदमा-पैरवी आदि का बड़ा ही यथार्थ, सूक्ष्म निरीक्षित, व्यजक एव हृदयग्राही वर्णन प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' (१९२२), 'रगभूमि' (१९२५), 'कायाकल्प' (१९२६), 'कर्मभूमि' (१९३२), 'गोदान' (१९३६) आदि उपन्यासों में मिलता है। वास्तव में ये उपन्यास स्वतन्त्रता के पूर्व के भारतीय जीवन का, कला के उत्कृष्टतम माध्यम से, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक इतिहास प्रस्तुत करते हैं। इनके वर्णन में प्रेमचन्द ने अभूतपूर्व निरीक्षण शक्ति, सूक्ष्मदर्शिता एव चित्रण कला का परिचय दिया है। प्रेमचन्द के अतिरिक्त अन्य लेखकों ने भी उपर्युक्त विषयों पर उपन्यास लिखे, यद्यपि उनमें वह व्यापकता न आ सकी। इनमें शिवपूजन सहाय कृत 'देहाती दुनिया' (१९२६), ऋषभचरण जैन कृत 'सत्याग्रह' (१९३०) और 'भाई' (१९३१), निराला कृत 'अलका' (१९३३), प्रसाद की 'तितली' (१९३४), श्रीनाथ सिंह का 'जागरण' (१९३४) अधिक उल्लेखीय हैं।

अन्य सामाजिक विकृतियाँ :

दासता के दीर्घकालीन अवकाश में अनेक प्रकार की सामाजिक विकृतियाँ मध्यवर्ग एव किसानों के ऊपर काई की पर्त की भाँति जमती चली आ रही थीं। इनमें दम घोटकर मार डालनेवाली जकड थी। अशिक्षा, अज्ञान, एव अन्धविश्वास के पारावार में सम्पूर्ण ग्रामीण एव मध्यवर्गीय समाज डूबा हुआ था। जन्म, मूडन-छेदन, विवाह, मृत्यु जितने भी जीवन के सस्कार हैं उनके चारों ओर एक आवश्यक आडम्बर लिपटा हुआ है। भोजन भले ही मयस्सर न हो किन्तु पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा, नेग न्योछावर, तिलक-दहेज, भोज-भात इनसे निष्कृति नहीं। ये सामाजिक मर्यादाएँ हैं जिनका पालन करना ही होगा। व्यक्तिगत आचार का सर्वथा लोप हो जाने पर भी सामाजिक आचार अपने विकराल रूप में बना हुआ है। स्त्रियों के लिए नैतिकता के कठोर बन्धन हैं। केवल सन्देह मात्र पर समाज कठोर से कठोर दड देने के लिए उतावला रहता है। थोडी-थोडी बातों पर, काना-फूसी पर लगे हुए विवाह-सम्बन्ध टूट

जाते हैं, द्वार पर आई बारात लौट जाती है, लोग बिरादरी से बहिष्कृत कर दिये जाते हैं। धार्मिक आडम्बर एवं अन्धविश्वासों का लाभ उठाकर पंडे-पुरोहित, ओझा दरसनिए, साधू-सन्यासी भोली-भाली जनता को ठगते रहते हैं। अछूतों की दयनीय दशा थी। प्रेमचन्द ने अपने प्रायः सभी उपन्यासों में इन सामाजिक विकृतियों का चित्रण किया है, प्रसाद ने 'कंकाल' एवं 'तितली' में, सियाराम शरण गुप्त ने 'गोद' तथा 'अन्तिम आकांक्षा' (१९३४) में, निराला ने 'अप्सरा' और 'अलका' में, वृन्दावन लाल वर्मा ने 'प्रेम की भेंट', 'कुंडली चक्र' आदि में समाज की कतिपय कुरीतियों का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है।

प्रेमचन्द युगीन उपन्यास समाज का सच्चा प्रतिबिम्ब है :

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द ने उपन्यास को सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का वास्तविक कला-माध्यम बनाया और उसमें जीवन की विभिन्न भूमियों के चित्रण की अभूतपूर्व योग्यता उत्पन्न हुई। समाज के विभिन्न वर्ग, उनकी मनस्थिति, स्वार्थों के संघर्ष, सामाजिक रूढ़ियाँ एव विषमताएँ, शासन-यन्त्र की कठोरता, आर्थिक विषमता एवं तज्जन्य असन्तोष, धार्मिक-नैतिक बाह्या-डम्बर आदि का विस्तार के साथ उपन्यास में अंकन हुआ। राजा, ताल्लुकेदार, जमींदार, साहूकार, सरकारी कर्मचारी, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, पंडे-पुरोहित, महंत-मठाधीश, मुसलमान-ईसाई, विधवाएँ-वेश्याएँ, जर्जर सम्मिलित कुटुम्ब, बहकाई-औरतें, शराबी, जुआड़ी, लुच्चे-लफंगे, उपदेशक और सुधारक विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों का उपन्यास के कथानक में समावेश किया गया। उस युग के उपन्यास में बड़ा विस्तार, व्यापकता एव गाम्भीर्य है और वह वास्तविक अर्थों में तत्कालीन समाज को प्रतिबिम्बित कर सका है।

हास्य प्रधान उपन्यास :

हास्य और व्यंग को प्रधानता देकर उपन्यास लिखने वालों में गंगा प्रसाद श्रीवास्तव प्रमुख हैं। उन्होंने समाज और व्यक्ति की बाह्य विकृतियों के व्यंगात्मक चित्र उपस्थित किए हैं। इनके विषय में प्राय. लोगों को शिकायत रहती है कि उनके हास्य में रुचि परिष्कार का अभाव है। इन्होंने अनेक उपन्यास लिखे हैं जिनमें 'लतखोरीलाल' अधिक प्रसिद्ध हुआ। जी० पी० श्रीवास्तव की अपेक्षा अन्नपूर्णानन्द का हास्य अधिक परिष्कृत होता है।

ऐतिहासिक उपन्यास :

हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास अपेक्षाकृत कम लिखे गए हैं। इन उपन्यासों का एक अलग ही महत्त्व और उद्देश्य होता है। किसी अतीत युग की रीति-नीति,

आचार-विचार, रहन सहन, रग-ढग, एव सामाजिक, राजनीतिक परिस्थिति आदि का जो विशद, सजीव एवं हृदयग्राही चित्र एक सफल उपन्यासकार दे सकता है, वह अनेक इतिहासकार मिलकर भी नहीं दे सकते। किन्तु समसामयिक वातावरण एव जीवन-रीति को अपनाकर उपन्यास लिखना जितना सरल है उतना अतीत-युगीन वातावरण, घटनाओं एव पात्रों को लेकर नहीं। कारण यह है कि इसके लिए तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री तथा इतिहास का सम्यक् ज्ञान अत्यावश्यक है अन्यथा ऐसी बातें उपन्यास में समाविष्ट हो सकती हैं जो ऐतिहासिक औचित्य की कसौटी पर खरी न उतरें। साथ ही इतिहास का सम्यक् ज्ञान होते हुए भी यदि लेखक में एक विशेष प्रकार की रूपविधायिनी कल्पना शक्ति नहीं है तो उसकी कृति इतिहास मात्र होकर रह जायगी।

भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से ललित गद्य का सहारा लेकर वृहत्कथाएँ लिखी जाती रही हैं, इसका उल्लेख प्रथम प्रकरण में किया जा चुका है। इन कथाओं का प्रधान उद्देश्य कल्पना-कुतूहल का विस्तारमात्र था। हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों का आरम्भ किशोरीलाल गोस्वामी ने किया। उनके उपन्यासों में एक तो ऐतिहासिक अनौचित्य बहुत खटकता है, दूसरे मनोरजन पर ही दृष्टि रहने के कारण उनमें कुतूहलवर्धक काल्पनिक घटनाओं का ही विन्यास है, मानवीय जीवन के आतरिक सत्यों की खोज का प्रयास नहीं है। प्रेमचन्द के उपन्यास क्षेत्र में आने तक इनके उपन्यास निकलते रहे ('गुप्त गोदना' १६२२)। किन्तु प्रेमचन्द के यथार्थ चित्रण कला' से इन्होंने प्रेरणा नहीं ग्रहण की। 'सौन्दर्योपासक' के लेखक ब्रजनन्दन सहाय ने १६१६ ई० में 'लाल चीन' नामक ऐतिहासिक उपन्यास की रचना की। लाल चीन दक्षिण भारत के बहमनी सुलतान गयासुद्दीन (सन् १३६६-१३६७) का तुर्क गुलाम है। स्वामी से असन्तुष्ट होकर उसने उसके विरुद्ध षडयन्त्र आरम्भ किया। गयास के भाई शम्स को अपनी परम सुन्दरी कन्या लुतफुन्निसा से विवाह का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। गयास बन्दी बनाया गया और उसकी आँखें निकलवा ली गई। किन्तु गयास के सहायकों द्वारा शम्स पराजित होता है और लालचीन पकड़ा जाता है। गयास की तलवार से ही लालचीन मारा गया, गयास के परिवार का ही फिरोज नामक वीर बहमनी शासक बनाया गया और गयास मक्का चला गया। लुतफुन्निसा और शम्स का विवाह हुआ। वह दौलताबाद का शासक बनाया गया। यह उपन्यास सरल एवं परिष्कृत भाषा में लिखा गया है और पात्रों को व्यक्तित्व प्रदान करने का प्रयास भी परिलक्षित होता है। किन्तु आग्रह घटनाओं पर ही अधिक है। स्थान-स्थान पर ऐतिहासिक

अनौचित्य भी परिलक्षित होता है। यथार्थ वातावरण एव चरित्र-चित्रण की कला का अभाव बना हुआ है। अनेक अन्य लेखकों ने भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे--मुरारीलाल पंडित कृत 'विचित्र वीर' (१६१६) अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल को पृष्ठभूमि बनाकर लिखा गया है। दुर्गादास खत्री का 'अनंगपाल' (१६१७) महमूद गजनवी के आक्रमण से सम्बन्धित है। मिश्रबन्धु के 'वीरमणि' (१६१७) की कथा अलाउद्दीन खिलजी के चित्तौड़ आक्रमण पर आधारित है। गोविन्द वल्लभ पंत का 'सूर्यास्त' (१६२२), विश्वम्भरनाथ जिज्जा का 'तुर्क तरुणी' (१६२५), भगवतीचरण वर्मा का 'पतन' (१६२७), ऋषभचरण जैन का 'गदर' (१६३०) तथा कृष्णानन्द का 'केन' (१६३०) नामक उपन्यास ऐतिहासिक असगतियों के होते हुए भी चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सामान्यतः अच्छे बन पड़े हैं।

उपर्युक्त सूची से पता चलता है कि हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास पर्याप्त मात्रा में लिखे गए किन्तु उनके द्वारा किसी युग के सांस्कृतिक निर्माण का प्रयत्न नहीं परिलक्षित होता। भारत की अन्य भाषाओं में अधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए। बगाल के यशस्वी उपन्यासकार राखालदास के 'करुणा' एव 'शशाक' नामक उपन्यासों में हमारी सास्कृतिक चेतना बड़ी ही स्पष्ट रेखाओं में व्यक्त हुई। इतिहास एव कल्पना का ऐसा मधुमय संयोग, ऐतिहासिक पात्रों का ऐसा सशक्त व्यक्तित्व-निर्माण अतीत वातावरण का ऐसा सजीव चित्रण कम देखने को मिलता है। 'शशाक' के अनुवाद में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी प्रतिभा से चार चाँद लगा दिए हैं। उन्होंने इसे दुःखान्त से सुखान्त बना दिया है। महाराष्ट्र में हरिनारायण आप्टे ने तथा दक्षिण में लक्ष्मी नरसिंहम् ने इतिहास के गर्भ से ऐसे पात्रों को लेकर उनका चित्रण किया कि उनसे हमारे भीतर राष्ट्रगौरव की भावना का उदय हुआ और राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला। हिन्दी में उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों का सूत्रपात वृन्दावन लाल वर्मा द्वारा हुआ। उन्होंने बुन्देलखण्ड के विभिन्न कालों के इतिहास एव जनश्रुतियों को आधार बनाकर अनेक उपन्यास लिखे हैं। ऐतिहासिक घटनाओं, पात्रों एव देशकाल के वर्णन में यथार्थवादी पद्धति का उपयोग करके इन्होंने कालविशेष का पुनर्निमाण सा कर दिया है।

इनका प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'गढ़कुंडार' १६३० में प्रकाशित हुआ जिसको बड़ी ख्याति मिली। तबसे आप बराबर लिखते रहे हैं और 'विराटा की पद्मिनी' (१६३६), 'मुसाहबजू (१६४२), 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' (१६४६)

'कचनार' (१९४६) सत्रह सौ उन्तीस (१९४७), 'महादजी सिन्धिया' (१९४८) 'टूटे काँटे' (१९४९) तथा 'मृगनयनी' (१९५०) आदि उपन्यास प्रकाश में आ चुके हैं। भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' (१९३४) उपन्यास को भी पर्याप्त ख्याति मिली। इसमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में एक कल्पित कहानी का वर्णन करके पाप-पुण्य की चिरन्तन समस्या को समझाने का प्रयास किया गया है। सन् १९३६ के बाद—प्रेमचन्दोत्तर युग में—अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा।

जीवन-दृष्टि : आदर्शोन्मुख यथार्थवाद :

हिन्दी का प्रथम उपन्यास 'परीक्षागुरु' स्पष्टतः सोद्देश्य था। उसमें धार्मिक एव नैतिक उपदेश की भावना प्रबल थी और मनुष्य को सन्मार्ग पर ले जाने का लक्ष्य स्पष्ट था। प्रेमचन्द के पूर्व उस सम्पूर्ण युग में इस सुधारवादी दृष्टिकोण की ही प्रमुखता थी। किन्तु सुधार का आवरण इतना मोटा था, उपदेश-वृत्ति इतनी स्पष्ट एव स्थूल थी कि साहित्य में सप्राणता एव विश्वसनीयता न आ सकी। प्रेमचन्द युग में इस सुधारवादी दृष्टिकोण को अधिक सूक्ष्म एव कलात्मक बना लिया गया। प्राणविहीन, कल्पनाश्रित आदर्शवाद से आगे बढ़कर उसे एक ओर तर्काश्रित बनाया गया और दूसरी ओर यथार्थोन्मुख किया गया। उस युग के प्रवर्त्तक प्रेमचन्द पर आदर्शवादी सस्कार बड़े ही प्रगाढ़ भाव से पड़े थे और वे साहित्य को मानव-मगल का साधन समझते थे, किन्तु उनमें कलाकार का विवेक था, मौलिक साहित्य-प्रेरणा थी अतएव उन्होंने युगीन सामाजिक जीवन का अत्यधिक सचाई से, यथार्थ चित्रण करते हुए ही आदर्श-मार्ग की ओर सकेत किया। सामाजिक यथार्थ का इतना सूक्ष्म, सहज, स्वस्थ, एव सजीव वर्णन प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती लेखकों में तो है ही नहीं परवर्त्ती लेखकों में भी कम ही मिलता है। जीवन को उसकी सम्पूर्ण वास्तविकता में ग्रहण करते हुए उन्होंने उसके सम्भावित स्वस्थ एव मगलमय स्वरूप की ओर अग्रसर करने का प्रयास किया और अपनी इस प्रवृत्ति को आदर्शोन्मुख यथार्थ के नाम से अभिहित किया। वे भावना में आदर्शवादी थे किन्तु चित्रण-भूमि पर आकर यथार्थ जीवनानुभूतियों से प्रेरणा ग्रहण करते थे। कलाकार का आग्रह सजग और सचेत था अतएव युग की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विषमताओं, विरूपताओं की ओर से आँखें बन्द नहीं की जा सकती थीं किन्तु सस्कारजन्य आशादर्शवादिता का अकुश भी कठोर था। इस द्वन्द के परिणामस्वरूप ही उनके उपन्यासों के अंत में आदर्शवाद यथार्थ पर विजयी हुआ है। जीवन एव

साहित्य के प्रति प्रेमचन्द का यह दृष्टिकोण ही अधिकांशसाहित्यकारों का पथ-प्रदर्शक बना। प्रसाद ('तितली' में), कौशिक, वृन्दावन लाल वर्मा, ऋषभ चरण जैन ('भाई,' 'सत्याग्रह' जैसी आरम्भिक कृतियो में), सियारामशरण गुप्त, तथा जैनेन्द्र ('परख' में) में आदर्शोन्मुख यथार्थ की ही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इन कलाकारो की कृतियों में यद्यपि सामाजिक यथार्थ की अनेक भूमियाँ मिलती हैं किन्तु प्रवृत्तियों पर सयम, सामाजिक मर्यादा के अनुशासन एव धार्मिक-नैतिक विधि-निषेधों के महत्त्व आदि को सभी स्वीकार करके चले हैं। वास्तव में वह युग सुधार-जागरणवादी ही था अतएव यथार्थ की भूमि पर चलते हुए भी लक्ष्य (आदर्श) की ओर दृष्टि लगी हुई है।

यथार्थवाद एवं उसकी विभिन्न भूमियाँ :

प्रेमचन्द-युग के दो दशकों में यथार्थवाद की बदलती हुई विभिन्न भूमियाँ मिलती हैं। स्वयं उनके 'गोदान' में जीवन के प्रति जो दृष्टि है वह पहले के उपन्यासो में नहीं है। पहले के उपन्यासों में आशावादिता है, काली रात्रि के बाद अरुणोदय की आकाक्षा ही नहीं विश्वास भी है। किन्तु सामाजिक संघर्षों की विभीषिका, एव निरतर की पराजय ने सामाजिक यथार्थ के प्रति एक तटस्थ एव अधिक बौद्धिक दृष्टि दी है और होरी की जीवन-गाथा में कलाकार को केवल चित्रण से ही सन्तोष करना पडा। यहाँ यथार्थ पर आदर्श हावी नहीं हुआ, जो कुछ जैसा है वैसा ही चित्रित है। जैसा होना चाहिए वह बताने की कोशिश नहीं की गई। वास्तव में 'गोदान' सामाजिक यथार्थ का उत्कृष्टतम चित्र है। उसमें जीवन का यथातथ्य चित्रण है, लेखक की व्याख्या, व्यक्तिगत, दृष्टि आदि को बचाया गया है। पात्र स्वय जीवन की व्याख्या या व्यजना करते हैं।

प्रसाद के 'ककाल' में भी यथार्थवाद का प्रायः यही रूप है। अन्तर केवल इतना है कि उसमें समाज की विरूपता एव व्यक्ति के स्खलन के चित्र ही अधिक हैं। उसमें यौनवासना को मानव की सबसे बडी दुर्बलता मानकर ही कथानक का विकास हुआ है और यौन-नैतिकता के प्रति एक नूतन दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है। मानवीय दृष्टि से पाप और पुण्य के मूल्याकन का प्रयास किया गया है। सामाजिक सदाचार के विकृत रूप को अनावृत कर सामने रखने का इसमें प्रयत्न है। सामाजिक कुरूपता का ऐसा वास्तविक चित्रण 'ककाल' के पूर्व नहीं हो सका था। आदर्श के आग्रह से पात्रों को सुधार कर कथा को मोडने का प्रेमचन्दी प्रयास इसमें नहीं किया गया है। गोस्वामी कृष्णशरण के उपदेशों में आदर्श की ओर संकेत होते हुए भी कथा यथार्थवादी मार्ग पर ही

प्रवाहित हुई है। संस्कृतनिष्ठ, परिष्कृत भाषा में बड़े ही संयम तथा सतर्कता से घटनाओं का वर्णन किया गया है। कहीं भी अश्लील अथवा कुरुचिपूर्ण प्रसंग सामने नहीं आ पाए हैं। यथार्थ की नग्नता को बड़े ही परिष्कृत रूप में चित्रित करने का प्रयास किया गया है।

इसके विपरीत उग्र, ऋषभचरण जैन प्रभृति लेखकों ने सामाजिक अनाचार के एक भयावह रूप को भाषा की सम्पूर्ण रंगीनी में ब्योरेवार चित्रित किया। दुराचार के विभिन्न अड्डों—वेश्यालय, मदिरालय, अनाथालय, तथा चकलों आदि—में चलनेवाले स्त्री के अनैतिक व्यापारों का रोमांचक वर्णन देने का इन लेखकों ने प्रयास किया है। जुआड़ियों, शराबियों, वेश्यागामियों, लम्पटों, गुण्डों, चोरों, उचक्कों, गिरहकटों आदि के कुत्सित कार्यों का वस्तुनिष्ठ चित्रण किया गया है। मेलों-तमाशों से किस प्रकार भोली-भाली स्त्रियाँ कुटनियों आदि के द्वारा बहकाई-भगाई जाती हैं, गुण्डों के हाथों उनकी कैसी दुर्दशा होती है आदि विषयों को पूरी नग्नता के साथ चित्रित करने का उत्साह 'दिल्ली का दलाल' तथा 'दुराचार के अड्डे' जैसे उपन्यासों में मिलता है। यहाँ न प्रेमचन्द का आदर्श-मर्यादावादी अंकुश है न प्रसाद का कलात्मक संयम। वर्णन के ब्योरों से ऐसा लगता है मानो लेखक की उनमें स्वयं रति हो। वह कलाकार का निष्पक्ष, वैज्ञानिक विवरण भी नहीं है। यह यथार्थवाद का नितान्त विकृत एवं संकीर्ण रूप है।

रोमानी दृष्टिकोण :

रोमांस को हम यथार्थवाद तथा आदर्शवाद से बिल्कुल अलग नहीं कर सकते। यथार्थवाद तथा आदर्शवाद दोनों ही में रोमांस की अनेक साहित्यिक रीतियों का प्रयोग प्रायः मिलता है। उग्र के 'चन्द हसीनों के खतूत', वृन्दावन लाल वर्मा के 'प्रेम की भेंट', 'विराटा की पद्मिनी' तथा अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में रोमांस की प्रमुखता है।

चित्रण कला : बहिर्मुखी प्रवृत्ति :

उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द-युग की सबसे महत्त्वपूर्ण देन एवं भेदक विशेषता है चरित्र-चित्रण में स्वाभाविता का प्रवेश। इस युग में आकर ही ऐसे जीते-जागते पात्रों की निर्माण-कला का विकास हुआ, जिनके क्रिया-कलापों की मनोविज्ञान के प्रकाश में व्याख्या की जा सकती है। विभिन्न परिस्थितियों की मानव मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है तथा अपने स्वभाव-संस्कार के अनुसार व्यवहार करता हुआ मनुष्य किस प्रकार नवीन मानसिक एवं बाह्य परिस्थितियों

का निर्माण करता है, इसका अंकन प्रेमचन्द के द्वारा आरम्भ हुआ, जो बराबर कलात्मक पूर्णता की ओर बढ़ता गया। आलोच्य युग में उपन्यासों के पात्र नितान्त मनःकल्पित न रहकर स्वाभाविक हो गए और उनके विचारों, कर्मों, एवं अनुभूतियों में मानवोचित संगति देखी जा सकती है। मनोवैज्ञानिक चरित्र सृष्टि के लिए तथा वातावरण को वास्तविकता प्रदान करने के लिए इस युग के लेखकों ने यथार्थवादी शैली का उपयोग किया। वस्तु-संगठन, कथनोपकथन, तथा वातावरण आदि के विधान में सूक्ष्म निरीक्षण पर आश्रित तथा सावधानी एवं सतर्कता से नियोजित व्यंजक ब्योरों के द्वारा उपन्यास को मूर्त्तता तथा वास्तविकता प्रदान की गई। इस नवीन मूर्त्तविधायिनी कला से उपन्यास में बड़ी विशालता, विस्तार, गाम्भीर्य, शक्ति तथा सौन्दर्य आ गया है और हमें सहज ही उनके द्वारा वास्तविक जीवन का भ्रम हो जाया करता है।

प्रेमचन्द के उपन्यास बहिर्मुख वर्णन-प्रधान हैं। जीवन का बहिर्मुख वर्णन करनेवाला उपन्यास पात्र एवं उसके क्रिया-कलापों को सामाजिक भूमिका में देखता है उसका धरातल अधिकतर भौतिक है और इसीलिए जीवन का व्यावहारिक पक्ष ही उसका प्रतिपाद्य बन पाता है। यहाँ व्यक्ति का जीवन समूह-सापेक्ष्य है, वह समाज का प्राणी है और सामाजिक परिस्थितियों के प्रकाश में ही उसका चरित्र स्पष्ट हो पाता है। यह बात नहीं कि इस प्रकार के चित्रण में पात्रों के मनोविकारों एव अनुभूतियों के लिए स्थान न हो, ऐसा होने पर तो उपन्यास का कोई मानवीय मूल्य ही न रह जायगा। मनोविकार उठते हैं किन्तु उनका सम्बन्ध अधिकतर चेतना के ऊपरी स्तर से होता है, उनमें प्रधानता बाह्य द्वन्द्वों की होती है अन्तर्द्वन्द्व की नहीं। यही कारण है कि इस प्रकार के उपन्यास अत्यधिक जीवनवत् एव विश्वसनीय होते हैं। उनकी वर्णन-प्रणाली सीधी-सादी तथा कथा वस्तु सुगठित होती है। उनमें रंजन-शक्ति भी अधिक होती है; क्योंकि चरित्र घटना-सापेक्ष्य होते हैं। प्रेमचन्द, वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, कौशिक, उग्र, ऋषभ चरण जैन आदि युग के प्रमुख लेखकों में बहिर्मुख चित्रण की प्रधानता है। प्रसाद के पात्रों में अपेक्षाकृत अधिक आन्तरिकता है। वे केवल भौतिक स्तर पर ही न रहकर सांस्कृतिक स्तर पर भी हैं। उनके उपन्यासों में वर्ग की अपेक्षा व्यक्ति पर अधिक आग्रह है।

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति :

जैनेन्द्र के 'परख' और तदुपरान्त 'सुनीता' मे चित्रण-कला को एक नवीन दिशा मिली—वह अधिक अन्तर्मुखी हुई। अन्तर्मुखी उपन्यासों में व्यक्ति-जीवन

को लक्ष्य बनाकर, व्यक्ति के मानसिक सघर्ष तथा उसकी परिस्थिति जन्य समस्याओं के चित्रण को ही प्रधानता दी जाती है। आत्मा की गहराइयों में उतरकर उसके प्रत्येक कम्पन-स्पन्दन को चित्रित करने की यह प्रवृत्ति आगे चलकर प्रेमचन्दोत्तर युग में विभिन्न रूपो में विकसित हुई। इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की प्रेरक शक्ति आधुनिक मनोविज्ञान है, जिसके अनुसार मन की एक अखण्ड सत्ता है और व्यक्ति के विचार-वितर्क एव उसके क्रियाकलाप उसके चेतन मन से ही नहीं, अवचेतन मन से भी अनुशासित होते हैं। अधिकाश मनुष्य विभिन्न प्रकार की काम-अर्थ मूलक कुंठाओं से ग्रस्त हैं, अतएव प्रत्येक व्यक्ति पर परिस्थिति की विभिन्न प्रतिक्रिया होती है और तदनुरूप उसके मनोविकार एवं कार्यविधि का स्वरूप भी निर्दिष्ट होता चलता है। अन्तर्मुखी प्रणाली को अपनाकर चलनेवाला लेखक चेतना के सूक्ष्मतम विकास को चित्रित करने का प्रयास करता है। उसके अनुसार मनुष्य के कार्यकलाप का उतना महत्त्व नहीं होता, जितना उसकी प्रेरक शक्ति का। प्रत्येक भाव एव मनोविकार के मूल में पहुँचने के प्रयत्न में कथा के बीच-बीच लम्बे विचारात्मक स्थल स्वतः आ जाते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों के पात्र अधिकतर आत्मलीन होते हैं। कलाकार की व्यक्तिगत रुचि, मानसिक सगठन तथा उसकी प्रतिभा के अनुसार अन्तर्द्वन्द्व प्रधान उपन्यासों के स्वरूप में भी अतर आ जाया करता है। आलोच्य युग में अन्तर्द्वन्द्व प्रधान प्रवृत्ति का आरम्भ मात्र हो सका था।

प्रमुख उपन्यासकार :

प्रेमचंद—(१८८०-१९३६ ई०)

प्रेमचद में एक अपूर्व प्रतिभा थी। वे धरती का सपूर्ण रस लेकर एक वटवृक्ष के समान इतनी व्यापकता-विशालता में फैले कि आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ अनेक प्रकार की वृक्षावलियों के बीच भी अपने बड़प्पन में अकेले ही रहे। वे एक सच्चे युग-प्रवर्त्तक साहित्यकार थे जिन्होंने युगों से वियुक्त साहित्य का पुनः युग-जीवन से योग कराया। उनके हाथों पड़कर हिन्दी-उपन्यास सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम साधन बना। उनमें एक तपस्वी की साधना थी, महाकाव्यकार की व्यापक जीवनानुभूति थी, कुशल चितेरे की रूप-विधायिनी कला थी। उन्होंने जीवन को अत्यधिक निकट से जाना था, और स्वय सघर्षों के बीच से गुजर कर, परिस्थितियों के थपेड़े खाकर, समाज के विष को पचाकर, साहित्य में शिव की प्रतिष्ठा की थी। हिन्दी उपन्यास को साहित्यिक गरिमा, सप्राणता, एव विश्वसनीयता प्रदान करनेवाले वे प्रथम लेखक थे।

मुशी प्रेमचद का जन्म काशी के एक निकटवर्त्ती गाँव में एक नौकरीपेशा निम्नमध्यवर्गी कायस्थ परिवार में हुआ था। गाँव ही में कच्चे घरों, बाग-बगीचों, खेत-खलियानों के बीच, देहाती लडकों की सगति में, गिल्ली-डडा, लुका-छिपी खेलते हुए धूल-धूसरित बचपन बीता। आठ वर्ष की अवस्था में ही माँ की स्नेह-शीतल छाया हट गई और सौतेली माँ के व्यग-विद्रूप एव कठोर शासन की अश्रुसिंचित अनुभूतियाँ मिलीं। डेढ रुपए किराये के गदे घर में रहकर, चार आने गज के मोटे, कपड़े तथा 'अधरापुल के चमरौ धेजूते' पहन कर स्कूल की पढ़ाई आरम्भ हुई। कभी समय मे फीस के रुपए न मिले, किताब-कौपियाँ न मिली, और रूखा सूखा खाकर, गुड जैसे सामान्य खाद्य के लिए भी तरसते हुए, बिल्कुल फटे हाल श्री घनपतराय अथवा नवाबराय—परिस्थितियों को देखते हुए घर के इन नामों में भी तीव्र व्यग है—का छात्र जीवन अग्रसर हुआ। इसी बीच ग्यारह वर्ष की किशोरावस्था में अपने से बडी उम्रवाली, नितान्त कुरूपा, असभ्य एवं उग्र प्रकृति की एक स्त्री पत्नी रूप में गले मढ दी गई। विमाता एवं पत्नी के दैनिक कलह से कौटुम्बिक जीवन अत्यधिक कटु हो उठा। नवीं कक्षा में पढ ही रहे थे कि गृहस्थी का सारा भार इनके दुर्बल कन्धों पर डालकर पिता चल बसे। गाँव से पाँच मील पैदल चलकर स्कूल आना, छुट्टी के उपरान्त ट्यूशन करना, और फिर आठ बजे रात तक भूखे-प्यासे गाँव लौटना—इस कठोर तपस्या के बाद एन्ट्रेन्स पास हुए। आर्थिक परेशानियों के कारण अनेक बार इएटर में फेल होकर पढना ही छोड दिया (इसके बहुत दिनों बाद इएटर तथा बी० ए० पास कर सके)। पहली स्त्री से तग आकर उससे नाता तोड लिया (यद्यपि जीवन-पर्यन्त खर्च भेजते रहे) और एक बाल-विधवा से पचीस वर्ष की उम्र में पुनः विवाह किया। अनेक वर्षों तक सरकारी नौकर—स्कूलों के सब डिप्टी इन्सपेक्टर तथा अध्यापक—रहकर गान्धी जी के असहयोग आन्दोलन में १२५) रु० की नौकरी छोड दी और चर्खा-प्रचार में लग गए। इसके उपरान्त कई सस्थाओं में प्रधानाध्यापक रहे, 'मर्यादा' 'और 'माधुरी' के सम्पादन किए किन्तु अपनी स्वतन्त्र प्रकृति के कारण कहीं भी स्थायी रूप से रह न सके। इस बीच उपन्यास-कहानियों से पर्याप्त ख्याति मिल चुकी थी किन्तु पुस्तकों का अधिकाश लाभ प्रकाशकों को ही मिला और प्रेमचद पूँजीवादी शोषण के शिकार बने रहे। इस अनुभव ने अपना प्रेस खोलने की प्रेरणा दी और इस निजी 'सरस्वती प्रेस' मे 'हस' (मासिक) तथा 'जागरण' (साप्ताहिक) नामक पत्रिकाएँ प्रकाश मे आई। किन्तु इनसे भी घाटा ही रहा और आर्थिक कष्ट से परेशान होकर हिन्दी के औपन्यासिक सम्राट् को कुछ दिनों

तक बम्बई की किसी फिल्म कम्पनी में कहानी लेखक का काम भी अपनी इच्छा के विपरीत करना पड़ा। इस प्रकार जीवन पर्यन्त परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए; छप्पन वर्ष की अवस्था में सन् १९३६ में सरस्वती के इस वरद पुत्र ने अभावों के बीच ही, लम्बी बीमारी के बाद, गरीबी की इस भूमि से प्रयाण किया।

प्रेमचंद जी के उपन्यासों की पृष्ठभूमि को समझने के लिए उनके जीवन-संघर्षों को जानना जरूरी था। वे स्वभाव से सहृदय, संकोची एवं दयालु थे। अपनी जन्मभूमि से, देहाती वातावरण से उन्हें स्वाभाविक स्नेह था और उससे आजीवन सम्बन्ध बनाए रहे। किसान मजदूरों के जीवन, उनकी मनोवृत्ति, उनके स्वभाव-संस्कार एवं ग्रामीण सभ्यता-संस्कृति से उनका प्रगाढ़ परिचय था। निरन्तर अभाव में पलने के कारण ही उनकी सहानुभूति बड़ी ही व्यापक एवं विस्तृत हो गई थी। दादी की गोद से उन्हें कहानी सुनने का चस्का लगा, तिलस्म होशरुबा, चहार दर्वेश, हातिमताई आदि उर्दू कहानियों से वह बढ़ा और आगे चलकर उर्दू, हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी, रूसी आदि उपन्यास-कहानियों से वह प्रेम परिपुष्ट हुआ। उनके चारों ओर जीती-जागती कहानियाँ थीं, उनके जीवन में ही अनेक कहानियों के कथानक थे अतएव वह स्वयं कहानी-उपन्यास लिख चले। आरम्भिक कृतियाँ उर्दू माध्यम से आईं, बाद में राष्ट्रभाषा हिन्दी के गौरव को आयत्त कर हिन्दी में लिखने लगे। आज हिन्दी प्रेमचन्द की उपन्यास-कहानियों से समृद्ध, गौरवान्वित एवं समादृत है।

विषय-निर्वाचन :

साहित्यकार की महत्ता के मापदण्डों में हृदय की विशालता का प्रमुख स्थान है। युग के साहित्यकारों में यह गुण सर्वाधिक मात्रा में प्रेमचन्द को ही उपलब्ध था। उनमें ऐसी व्यापक सहानुभूति थी, ऐसी उदार दृष्टि थी कि निम्नवर्ग से लेकर उच्चवर्ग की अनेकानेक कठिनाइयों, समस्याओं को वे निर्लिप्त भाव से देख सके, हृदयंगम कर सके। संकीर्ण घरेलू परिस्थितियों से लेकर समाज और राष्ट्र का कोई भी पक्ष उनकी दृष्टि से परे न था। वे उन बुराइयों से पूर्ण परिचित थे जो हमारे पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में घुन की भाँति लगकर हमें दिनों दिन खोखला करती जा रही थीं। साथ ही साथ उस महान साहित्यकार ने मानव की दुर्बलताओं को सहानुभूति एवं संवेदना के साथ देखने की साधना की थी। चाहे ईश्वर पर उनका विश्वास न रहा हो किन्तु मनुष्य पर अडिग विश्वास था। मानवता के लिए उनके हृदय में बड़ी ममता मोह था—वह मोह जो विश्वात्मवाद की भित्ति है। इस मोह ने ही उन्हें दलित

वर्ग का साहित्यिक प्रतिनिधि बना दिया। उन्होंने इस वर्ग की शोकार्त्त वाणी को ऊँचा उठाया, उनकी कठिनाइयों का समाधान सुझाया। इस दृष्टि से हम प्रेमचन्द साहित्य को 'प्रोलेटेरियन' या आर्तमानवता का साहित्य कह सकते हैं। 'प्रोलेटेरियन' साहित्य अधिकाश में दलित मानवता और उसके प्रयत्नों का इतिहास होता है।[1] प्रगतिशील विश्व-साहित्य की प्रवृत्ति वर्गवैषम्य से उत्पन्न समस्याओं के अकन की ओर अधिक लक्षित होती है। इस प्रयोग का उद्गम प्रधानतया रूस है। क्रान्ति के पूर्व रूस की प्रायः वही अवस्था थी जो प्रेमचन्द के युग में भारत की। जारशाही शासन की विषम परिस्थितियों ने ही गोर्की, टालस्टाय तथा डास्टायवस्की आदि को जन्म दिया जिनकी कृतियों से वहाँ की उठती हुई जन-भावना को उत्तेजना मिली। विश्व-साहित्य की यह प्रवृत्ति भारत में प्रेमचन्द के द्वारा व्यक्त हुई जिन्होंने यहाँ के पीडित, शोषित तथा दलित वर्ग की मूकता को मुखर किया। उनके उपन्यासों में विधवाएँ हैं, वेश्याएँ हैं, बूढ़े पति की युवती पत्नियाँ हैं, उनमें अन्ध सस्कारों से ग्रस्त, अभावमय परिस्थितियों में पले, कर्ज में आकण्ठ डूबे, जमीन्दार के सिपाही-कारिन्दों से त्रस्त, हाकिम-अमलों की हरी-बेगारी से आतंकित, सिपाही-दारोगा के हथकण्डों के शिकार, बिरादरी की भोज-भात-प्रथा से परेशान, थके-हारे किसान हैं, उनमें बड़े-बड़े कारखाने में मशीनवत् काम करने वाले, शोषण के जीवित प्रतीक श्रमिक हैं; उनमें युगों से उत्पीडित अछूत भी हैं, अनाथ, अपाहिज, अन्धे, भूखे, भिखमंगे भी हैं। इन सबकी जीवन स्थितियों का, बडी ही सूक्ष्मता से पर्यवेक्षण करके कलाकार की सम्पूर्ण सचाई के साथ, प्रेमचन्द ने यथार्थवत् चित्रण किया। भारतीय साहित्य में, इसके पूर्व, जन साधारण की, साहित्य में इस रूप में प्रतिष्ठा न हो सकी थी। वह अधिकतर श्रीमानों का साहित्य था। प्रेमचन्द ने समाज से उपेक्षित, नियति से प्रवञ्चित अति सामान्य मानवों को चित्रण का विषय बनाकर साहित्य को एक नवीन दिशा दी।

प्रेमचन्द के हृदय की विशालता इस बात से और भी स्पष्ट हो जाती है कि शोषित-दलित वर्ग को अत्यधिक स्नेह-सहानुभूति प्रदान करके भी वे तथाकथित

१—ऐट दी प्रेजेंट टाइम दैट हिच इज नोन ऐज़ दी प्रोलेटेरियन लिट्रेचर, डील्स परफोर्स, लार्जली विथ दी मिज़री एण्ड रेचेडनेस ऑफ दि पूवर एण्ट देअर स्ट्रगिल फार ए वेटर लाइफ। बाइ इट्स वेरी नेचर इट मस्ट वी ए लिट्रेचर ऑफ कॉफ्लिक्ट एण्ड विटरनेस।

—फिलिप हेन्डरसन कृत 'नॉवेल टुडे

शोषक-उत्पीडक वर्ग—राजा-महाराजा, जमींदार, साहूकार, उद्योगपति, सरकारी अफसर-कर्मचारी, पडे-पुरोहित आदि—के प्रति कठोर न हो सके। इस वर्ग को भी इस महान साहित्यकार की सम्पूर्ण सहानुभूति मिली है। उन्होंने, शोषण की विभिन्न प्रणालियों का, अत्याचार-अनाचार के विभिन्न रूपों का, आभिजात्य दम्भ एव मिथ्या गौरव से प्रेरित असहिष्णुता का, मानव की पाशविकता का, निम्न कोटि की स्वार्थ-साधना आदि का बडा ही विस्तृत, वास्तविक एव ब्योरेवार चित्रण किया है। शोषक वर्गों के बीच भी विभिन्न प्रकार एव मनोवृत्ति के व्यक्तियो की भावना एवं कार्य-प्रणाली का दिग्दर्शन कराया है। अत्याचार, अनाचार एव शोषण के विरुद्ध उनके मन में बडी घृणा है और उसके लिए विभिन्न उपन्यासों में विविध प्रकार के दण्डों का विधान भी किया, किन्तु अत्याचारी, अनाचारी व्यक्ति के प्रति उनके मन में कभी मैल नहीं रहा। उन्होंने परिस्थितियों को दोष दिया, व्यक्ति को नहीं। यही कारण है कि उनके उपन्यासों में बड़े से बड़े जनशोषक एव उत्पीडक के प्रति भी पाठक के मन में घृणाभाव का उदय नहीं होता। यह उनके स्वस्थ व्यक्तित्व एव व्यापक मानववादी दृष्टिकोण का ही परिणाम है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में 'वरदान', 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन', 'निर्मला', 'गबन' और 'गोदान' प्रधानतया सामाजिक और पारिवारिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें कुटुम्ब एव समाज सम्बन्धी अनेक भूमियाँ, परिस्थितियाँ एव समस्याएँ हैं। अनेक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का चित्रण करते हुए समस्याओं के समाधान का प्रयत्न किया गया। 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि', 'कायाकल्प' तथा 'कर्मभूमि' में सामाजिक एव कौटुम्बिक समस्याओं के साथ-साथ किसी न किसी प्रकार के सामयिक आन्दोलन का वर्णन है। 'प्रेमाश्रम' में किसान-जमींदार सघर्ष है, 'रगभूमि' में सामतवाद तथा पूँजीवाद के विरुद्ध आन्दोलन है, 'कायाकल्प' की कथावस्तु में यद्यपि पुनर्जन्म की अलौकिक कहानी ही केन्द्र-बिन्दु है किन्तु उसमें भी हिन्दू-मुस्लिम सघर्ष तथा ऐक्य आन्दोलन और किसान मजदूर आन्दोलन का समावेश हुआ है। कर्मभूमि में लगानबन्दी आन्दोलन तथा अछूतोद्धार का वर्णन है। इन उपन्यासो में एक पारिवारिक अनुरूपता है और इनमें न्यस्त बहुत-सी घटनाएँ परस्पर मिलती-जुलती हैं। सब मिलाकर गान्धी-युग के तीन चरण का सामाजिक-आर्थिक राजनीतिक इतिहास इनमें मिल जायगा।

आदर्श और यथार्थ का समन्वय :

सामाजिक यथार्थ का जैसा स्वस्थ, सन्तुलित समग्र एव स्वाभाविक वर्णन

प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है वैसा हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है। फिर भी प्रेमचन्द आदर्शवादी लेखक कहे जाते हैं और आदर्शवादी का अर्थ मानव-मंगलवादी से लेकर सुधारक, प्रचारक, उपदेशक तक लगा लिया जाता है। इसी प्रकार उन्हें शुद्ध कलाकार न कहकर उपयोगितावादी लेखक कहने की प्रवृत्ति भी प्रबल है। इन भ्रान्तियों के मूल में एक तो आदर्श-यथार्थ-सम्बन्धी प्रेमचन्द के विचार है, दूसरे उपन्यासों को समाप्त करने की उनकी रीति। उनके मत से "यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है।"[1] "समाज की कुप्रथा की ओर ध्यान दिलाने के लिए" यथार्थवाद की उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी "दुर्बलताओं के चित्रण में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाने को" प्रेमचन्द अनुचित मानते हैं। यथार्थ के सम्बन्ध में उनकी द्विविध आपत्तियाँ हैं। एक तो वह "हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है"। दूसरे वास्तविक जीवन में मनुष्य "जिस छल, क्षुद्रता, और कपट से घिरा हुआ है उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती।" इन्हीं कारणों से प्रेमचन्द आदर्शवाद की आवश्यकता समझते हैं। वह मनुष्य के प्रति हमारी निष्ठा को अडिग रखकर हमें आशावादी बनाए रखता है और एक ऐसे सुखद कल्पना लोक में पहुँचा देता है जहाँ 'चित्त को कुत्सित भावों से नजात मिले', 'जहाँ सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो।" किन्तु कोरे, काल्पनिक आदर्शवाद के खतरों से भी वे अवगत हैं—"जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति मात्र हों,—जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।'[2] अतएव मध्यम मार्ग का अवलम्बन ही वह श्रेयस्कर समझते हैं—"वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो।' इसे उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की संज्ञा दी। यथार्थ की भूमि पर चलकर ही वह गन्तव्य—आदर्श—तक पहुँचना चाहते हैं। उनके अनुसार मनुष्य की दुर्बलताओं का चित्रण करते हुए भी यह दिखाने का प्रयत्न करना चाहिए कि उसने उनपर विजय पाई है। साहित्यकार हमारी सद्वृत्तियों को तभी उद्बुद्ध

१—'उपन्यास' नामक निबन्ध। २—वही।

कर सकता है जब कि "उसके चरित्र Positive हों जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकायें; बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पजे में न फँसें; बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजयनाद करते हुए निकलें।[3]

प्रेमचन्द के उपर्युक्त दृष्टिकोण का कारण यह है कि वह साहित्य को केवल मनोरजन की सामग्री न समझ कर मानव-मगल एवं मानव-मन-परिष्कार का एक श्रेष्ठतम साधन समझते थे। केवल मनोरजन करना तो वे 'भाडों, मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम' समझते थे। उनके विचार से साहित्यकार हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का सचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।" यह दृष्टि नितान्त भारतीय एव आदर्शवादी है जो बौद्धिक दृष्टि से यथार्थ को उसके नग्नरूप में देखने से उन्हें सदैव वरजती रही। दूसरी ओर उनके भीतर कलाकार की ऐसी तीव्र एवं सच्ची प्रेरणा थी जो उस युग की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों को पूरी यथार्थता में उभाड कर उनके सामने लाती थी। उनके उपन्यासों पर इन द्विविध सघर्षों की छाप है। चरित्र एव वातारण के चित्रण में, समस्या के प्रत्यक्षीकरण में वे एक सच्चे यथार्थवादी हैं। उनका कट्टर से कट्टर आलोचक भी यह न कहेगा कि उन्होंने आदर्शवाद की झोंक में पात्रों की दुर्बलताओं को, समस्या की कठोर वास्तविकता को छिपाने का प्रयास किया। अपने आदर्श पात्रों—'सेवासदन' में पद्मसिंह, 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशकर, 'रगभूमि' में सूरदास, 'कायाकल्प में चक्रधर, तथा 'कर्मभूमि' में अमरकान्त— की मानवोचित कमजोरियों का भी उन्होंने कलाकार की तटस्थता से वर्णन किया है। उनके उपन्यासों में एक भी ऐसा पात्र नहीं है जो आदर्श की प्रतिमूर्ति मात्र हो। वर्ग-सघर्ष को मिटा कर परस्पर स्नेह-सद्भाव के आकांक्षी होते हुए भी उन्होंने आर्थिक शोषण का यथार्थ चित्रण, उसकी सम्पूर्ण भयानकता में किया। उन्होंने अत्याचार को कम करके नहीं दिखाया। वास्तव में पात्रों, परिस्थितियों एव समस्याओं के प्रस्तुतीकरण में प्रेमचन्द आदर्शवादी नहीं हैं, वे परिणामों में, समाधानों में आदर्शवादी हैं। इसी मनोवृत्ति की प्रेरणा से उपन्यास के अन्त में चलकर उनके अधिकाश दुर्जन पात्र या तो मृत्यु आत्म-हत्या के द्वारा हटा दिये जाते हैं या उनमें आमूल परिवर्तन हो जाता है, वे दुष्कृत्यों के प्रति पश्चात्ताप करते हैं, सदाचरण की ओर प्रवृत्त होते हैं। प्रायः

३—वही।

उपन्यासों का अंत घटनाओं के स्वाभाविक क्रम के अनुसार न होकर प्रेमचन्द की आदर्शवादी भावना के अनुसार होता है। जहाँ उन्होंने ऐसा नहीं किया है, (जैसे 'गोदान' तथा 'रंगभूमि' में) पात्रों एवं घटनाओं के घातप्रतिघात को सहज रूप से अग्रसर होने दिया है, समस्या को चित्रित करके छोड़ दिया है, मनःकल्पित समाधान देने का प्रयास नहीं किया है वहाँ उनकी कला पूर्णता पर पहुँच गई है। किन्तु अधिकतर तो वे यथार्थ तथा आदर्श के बीच समझौता ही करके चले। वे न कभी सन्देहशील हुए और न पराजयवादी। उन्होंने पतन और स्खलन का भी वर्णन किया है, किन्तु सामान्य मानव-सुलभ दुर्बलता के रूप में—उसमें आसक्ति नहीं दिखलाई। वास्तव में भारतीय राष्ट्र की मौलिक मनोवृत्ति, उसके आदर्श एवं प्रतिभा की सुन्दरतम अभिव्यक्ति प्रेमचन्द के उपन्यासों में हुई है। ये उपन्यास राष्ट्रीय महाकाव्य के समान हैं। सामयिक सत्यों को व्यापक एवं चिरतन भूमि देने में प्रेमचन्द पूर्ण सफल रहे हैं अतएव समय के प्रवाह में उनकी कृतियों का मूल्य कभी कम नहीं हो सकता। उनकी कला एवं वास्तविक महत्ता का मूल्याङ्कन करने के पूर्व उनकी कृतियों पर एक विहगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

प्रेमचन्द के उपन्यास

सेवा सदन (१९१८ ई०)

इस उपन्यास की रचना १९१४ ई० में 'बाजारेहुस्न' के नाम से उर्दू में हुई। बाद में प्रेमचन्द ने इसका हिन्दी में 'सेवा-सदन' के नाम से अनुवाद किया और यह १९१८ ई० के आस-पास प्रकाशित हुआ। विचार-परिपक्वता, वस्तु-योजना एवं चित्रण-कला की दृष्टि से इसे ही हम प्रेमचन्द का प्रथम उपन्यास मानते हैं। इसके पहले १९०५ ई० में 'प्रेमा' नामक एक छोटा-सा उपन्यास भी निकल चुका था, किन्तु इसका कथानक एक अच्छी कहानी के ही अधिक उपयुक्त है। यह उपन्यास उनके उर्दू 'हम खुरमा व हम सवाब' का अनुवाद है। इसमें विधवाओं के प्रति लेखक की संवेदना व्यक्त हुई है। इस प्रकार समाज के एक पीड़ित वर्ग को लेकर वे क्षेत्र में आये और विधवा विवाह के रूप में इस समस्या का समाधान बताया। कलात्मक दृष्टि से बहुत उच्चकोटि का न होते हुए भी 'प्रेमा' एक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आदि से ही प्रेमचन्द की विचारधारा किस दिशा में प्रवाहित हो रही थी इसका इसे स्पष्ट संकेत इस प्रारंभिक कृति से मिलता है। आरम्भ से ही वे एक उद्देश्य लेकर साहित्यक्षेत्र में उतरे और कला को सामाजिक समस्याओं

के चित्रण एव उनके समाधान का माध्यम बनाया। 'सेवा-सदन' में यह उद्देश्य और भी स्पष्ट हो जाता है। इसमें दहेज-प्रथा से कितना भयकर अनर्थ हो सकता है, इसीका मार्मिक चित्रण है। मनुष्य की एक क्षणिक दुर्बलता उसके जीवन मे कितना उलट फेर उपस्थित कर देती है, दारोगा कृष्णचन्द्र इसके जीवित उदाहरण है। काल अपनी द्रुत गति से आगे बढता जाता है पीछे मुडकर देखता तक नहीं। अतीत जीवन के सारे स्वर्णोज्ज्वल चित्र वर्तमान की एक ही भूल में खो दिये जाते हैं। न कोई ईश्वर उनका लेखा लेता है न मनुष्य ही। मनुष्य को पशु बनाने का बहुत-कुछ दायित्व मनुष्य को ही है। ससार ने, समाज ने, धर्म ने लाला कृष्णचद्र को पाप की कमाई करने को बाध्य किया। जवान बेटी को घर में रखना ससार, समाज और धर्म सभी दृष्टि से निंदनीय है। किंतु उसी ससार ने, उसी समाज ने और उसी धर्म ने उनका सोने का घर मिट्टी में मिला दिया। स्वय जेल गए, स्त्री दारिद्र्य की ज्वाला मे भस्म हो गई, बडी लडकी 'सुमन' अपात्र के हाथों पडकर विपथगामिनी बनी और छोटी शान्ता बहुत दिनों तक दुःख झेलती रही। और इन सबका मूल कारण क्या है? दहेज। एक साधारण हिंदू घर में जन्म लेने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि प्रेमचद की उदार दृष्टि इस कुप्रथा पर पडी। 'सेवासदन' के द्वारा उन्होंने बेटों को बेचनेवाले पैसे के गुलाम हिंदू-समाज को दिखला दिया कि 'देखो, तुम्हारी इस लोभ-वृत्ति के कारण घर के घर चौपट हो जाते हैं'। इसके उपरान्त दरिद्र पति द्वारा अपमानित और निर्वासित सुमन को कुछ दिनों के लिए वेश्यालय में बिठाकर उन्होंने सभ्यताभिमानी समाज को उसके सबसे जघन्य कलुष का दर्शन कराया। अनमेल विवाह, पारिवारिक कलह आदि अनेक कारणों से बहुत सी स्त्रियों को बाध्य होकर वेश्यावृत्ति ग्रहण करनी पडती है। अनुकूल परिस्थितियों मे ये ही स्त्रियाँ सफल गृहिणी भी हो सकती हैं। गजाधर ने जब एक छोटे से अपराध पर सुमन को घर से निकाल दिया तो वह पडित पद्मसिंह शर्मा के पास आश्रय माँगने गई किंतु उनमें इतना साहस न था कि उसको अपने यहाँ रख लेते। अत में भोली रडी के यहाँ ही उसे आश्रय मिला। वह सुन्दर तो थी ही नाचना-गाना भी आरभ कर देती है और विलास के सारे उपकरण उसके चारों ओर एकत्र हो जाते हैं। समाज के एक बहुत बड़े सरदार स्वयं पद्मसिंह का भतीजा उसका प्रेमिक बनकर आता है। जब उसका इस प्रकार पतन हो जाता है तो समाज के कुछ सुधारक चलते है उसका उद्धार करने किन्तु वह समाज के खोखलेपन का पर्याप्त अनुभव कर चुकी है। विट्ठलदास सुधारक से वह कहती है "मेरा तो

यह अनुभव है कि जितना आदर मेरा अब हो रहा है उसका शतांश भी तब नहीं होता था। एक बार मैं सेठ चिम्मनलाल के ठाकुरद्वारे में झूला देखने गई थी, सारी रात बाहर खड़ी भींगती रही। किसी ने मुझे भीतर न जाने दिया। लेकिन कल उसी ठाकुरद्वारे में मेरा गाना हुआ तो ऐसा जान पड़ा मानों मेरे चरणों से वह मन्दिर पवित्र हो गया।" वस्तुस्थिति का कितना भयकर किंतु यथार्थ चित्र सुमन ने अनावृत कर दिया है। समाज ऊपर से वेश्याओं की जितनी ही निंदा करता है, भीतर ही भीतर उतना ही उन्हें चाहता भी है। विट्ठलदास सुमन के इन अकाट्य तर्कों का भला क्या उत्तर देते! समाज ने तो अपने को इतना विकृत कर रखा है कि उस पर विश्वास ही नहीं जमता।

'सेवासदन' का महत्त्व इस बात से और भी बढ़ जाता है कि वेश्या और वेश्यालय के चित्रण में भी कहीं निम्नकोटि की वासना प्रदर्शित करनेवाले दृश्य नहीं आ पाए हैं। बल्कि युगों से ठुकराई जानेवाली इन पतिताओं के प्रति सहानुभूति से लेखक का हृदय भरा है। वह उन्हें देख घृणा से आँखें नहीं फेर लेता बल्कि करुणा से आर्द्र हो उठता है। पद्मसिंह के शब्दों में—"हमें उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया है। यह दालमंडी हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिंब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात् स्वरूप है। हम किस मुँह से उनसे घृणा करें। उनकी अवस्था बहुत शोचनीय है। हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें सुमार्ग पर लावें, उनके जीवन को सुधारें।" यह है उनके प्रति प्रेमचंदजी की दृष्टि। मिथ्या यथार्थवादियों की भाँति उन्होंने इन वेश्याओं का नग्न उद्घाटन नहीं किया। करुणार्द्र समवेदना के द्वारा ही उन्होंने मृतकों में जीवन डालने का प्रयत्न किया है। वेश्याएँ भी हृदय रखती हैं, उन्हें भी सुख दुख की अनुभूति होती है, उनके भीतर भी मानापमान की भावना हो सकती है, इसे कितने लोग अनुभव करते हैं। समाज ने आज तक उन्हें अपनी वासना-तृप्ति का साधन समझने के अतिरिक्त उनके लिए और किया ही क्या है! फिर यदि वे पुरुष को निर्ममतापूर्वक फाँसकर उसे चूसती हैं तो इसमें उनका दोष ही क्या है!

जिस समय द्वार पर आई हुई बरात, यह जानकर कि 'शांता' 'सुमनबाई' की छोटी बहन है, लौट जाती है उस समय का दृश्य सचमुच ही बड़ा करुण है। निर्दय समाज किसका दोष किसके सिर मढ़ देता है। यदि 'शांता' की बहन पतिता हो जाती है, उसका पिता जेल काट चुका है तो इसमें उसका

क्या दोष था ? किंतु छिद्रान्वेषी समाज तो जैसे ऐसा अवसर ढूँढा करता है। 'शांता' की पवित्रता तथा उसके धैर्य ने उस सामाजिक अत्याचार की भयंकरता और भी बढा दी है। 'शांता' के रूप में प्रेमचंद ने भारत की चिरंतन नारी का दर्शन कराया है जिसमें प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा है। यह उसके प्रेमजन्य तप का ही परिणाम था कि सदन जैसा अस्थिरचित्त युवक इतना संयमी बन जाता है। अंत में वेश्या बालिकाओं के लिए 'सेवासदन' की स्थापना करके लेखक ने मानो समाज को इस समस्या का हल सुझा दिया।

रचना-कौशल की दृष्टि से सर्वप्रथम उपन्यास होते हुए भी 'सेवा-सदन' प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों से बढ़कर है। उसकी जैसी पूर्णता अन्य उपन्यासों में न आ पाई। सारी कथा का केंद्र बिंदु 'सुमन' है और उसके व्यक्तित्व के साथ उपन्यास की सारी घटनाएँ बडी दृढता से जुड़ी हैं। अथ से इति तक हमारी दृष्टि उस पर से नहीं हटती। बडी विषम परिस्थिति में उसका विवाह होता है, गृह-कलह और विपन्नता में ही विवाहित जीवन बीतता है, पति द्वारा गृह-निष्कासन से वेश्यावृत्ति ग्रहण करने को बाध्य होती है और फिर आन्तरिक प्रेरणा से अनाथाश्रम की स्थापना कर सेवावृत्ति में उसके जीवन का अवसान होता है। आदि से अंत तक एक अखंड अविरल धारा है जिसकी गति में एक लय है। 'शांता' की प्रासंगिक कहानी का परिचालन भी 'सुमन' की मूल कथा से ही होता है। चरित्र, घटना और परिस्थिति में असामान्य सामंजस्य है। परिस्थिति और घटना चरित्र का निर्माण करते हैं तथा चरित्र के द्वारा नवीन परिस्थितियों की उद्भावना होती है। उपन्यास के आरम्भ में ही दारोगा कृष्णचंद्र ऐसी परिस्थिति में चित्रित किए गए हैं कि उन्हें कन्या के विवाह के लिए घूस लेना और परिणामस्वरूप जेल जाना पड़ता है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति होता तो संभवतः उस भयंकर परिणाम को अपने कौशल से बचा ले जाता किंतु सीधे-सादे कृष्णचंद्र परिस्थिति को सम्हाल नहीं पाते। इस घटना का उनके परिवार पर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है और यहीं से 'सुमन' की विपत्तियों का आरम्भ होता है। वह एक ऐसी परिस्थिति में डाल दी जाती है जो उसके लिए बिल्कुल नवीन है और जिसकी वह अभ्यस्त नहीं। परिणामस्वरूप उसके चरित्र में असंतोष बड़े वेग से बढ़ने लगता है। पद्मसिंह के घर का सुखी वातावरण, शहर की चहल-पहल आदि 'सुमन' की अभावानुभूति को और भी तीव्र कर देते हैं। पड़ोसी भोली रंडी की ओर से इस अभावपूर्ति का एक अव्यक्त संकेत मिलता है और अंत में निरपराध गृहनिष्कासन उसे पतन-पथ पर द्रुतगति से अग्रसर कर देता है। इस पतन में उसके पति,

पद्मसिंह शर्मा, भोली रंडी आदि सबका कुछ न कुछ हाथ है। इस तरह वेश्यावृत्ति से वह अपने तन और मन की भूख को तृप्त करना चाहती है। किंतु इस नवीन वातावरण की भी उसके व्यक्तित्व पर बड़ी प्रबल प्रतिक्रिया होती है जिससे परवर्ती परिस्थितियों का निर्माण होता है। इस प्रकार 'सुमन' की वैयक्तिक चेष्टाओं एवं परिस्थितियों का घात-प्रतिघात बराबर चला चलता है जिनका एक निश्चित दिशा में अंत होता है।

'सेवा-सदन' की एक बहुत बड़ी विशेषता है वातावरण एव व्यक्तियों के चित्रण की सजीवता। शहर के रईसों, सेठ-साहूकार, समाज-सुधारकों आदि के बड़े ही यथार्थ रेखाचित्र खींचे गए हैं। इन चित्रों को उतारने की व्यंग्य परिपाटी प्रेमचंद की अपनी प्रतिभा थी। शहर की गलियाँ, सड़कें, घाट, उपवन आदि के बीच 'सुमन' और भी प्रस्फुटित हो उठी है। वातावरण का इतना ब्योरेवार चित्रण आज भी अन्यत्र नहीं मिलता।

वरदान

'सेवा-सदन' के उपरान्त 'वरदान' नामक एक छोटा सा उपन्यास निकला। लेखक की कृतियाँ क्रमशः विकास की दिशा सूचित करती हैं और उसकी विचार-सरणियों का परिचय देती हैं। किन्तु 'सेवासदन' के पाठकों को 'वरदान' देखकर निराशा ही होती है। इसका कारण यह है कि 'प्रेमा' की भाँति 'वरदान' की रचना भी बहुत पहले हो चुकी थी, यद्यपि हिन्दी में आया वह इसके पीछे। 'सेवा-सदन' के पूर्व ही प्रेमचन्द ने उर्दू में एक बहुत बड़ा परिहास-प्रधान उपन्यास लिखा था—जो कहीं छप न सका और अब जिसकी पाडुलिपि का भी कहीं पता नहीं है। उसी की मूल कथावस्तु लेकर 'वरदान' की रचना हुई।

इसमें एक निष्फल प्रेम को कथानक का आधार बनाया गया है। प्रताप और बृजरानी का बचपन से ही साथ है। आगे चल कर दोनों में प्रगाढ़ प्रेम हो जाता है किन्तु बृजरानी का विवाह एक डिप्टी के लड़के कमलाचरण से होता है। इससे दोनों प्रेमी-हृदयों को बड़ी ठेस लगी। ससुराल आकर बृजरानी पति का प्रेम प्राप्त करने का प्रयास करती है। होस्टल के पते से 'प्राणनाथ' को चिट्ठी पत्री भेजती है। उधर प्रताप भी इलाहाबाद पढ़ने चले जाते हैं। कमलाचरण एक उच्छृंखल युवक है। एकबार होस्टल से भागकर, एक विचित्र घबराहट की मनोदशा में चलती गाड़ी से कूद कर प्राण दे देता है। उसके डिप्टी पिता को डाकू गोली से मार डालते हैं। बृजरानी अनाथ हो

जाती है और उसके दुख से दुखी होकर प्रताप साधू हो जाते हैं। बालाजी के नाम से उनकी बडी ख्याति होती है और वे समाजसेवा एव सुधार के काम में प्रवृत्त होते हैं। उनसे प्रेम करनेवाली एक दूसरी लडकी माधवी भी सन्यासिनी हो जाती है।

इस उपन्यास में प्रेमचन्द एक बहुत ही साधारण कथाकार के रूप में सामने आते हैं। कहानी नितान्त काल्पनिक एव गढी हुई है। प्रेम की तीव्रता एव प्रेमी की मनोदशा का यथार्थ चित्र देने में लेखक सफल नहीं हो सका है। ससुराल पहुँच कर विरजन के चरित्र का जो परिवर्तन दिखाया गया है वह परिस्थितियो को देखते हुए स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द का आदर्शवाद पूरी तरह हावी है। सामाजिक यथार्थ का सजीव वर्णन करनेवाला कलाकार अभी प्रकट नहीं हुआ है। इसीलिए परिस्थिति एव पात्रों का ठीक-ठीक समन्वय नहीं हो सका, गम्भीरता नहीं आ पाई है। वस्तु-विधान एव उसके निर्वाह में भी स्थान-स्थान पर कलात्मक भूलें दृष्टिगोचर होती हैं। सच बात तो यह है कि 'सेवा-सदन' के पूर्व लेखक की उन्मुक्त प्रतिभा अपने वास्तविक रूप में प्रकट ही न हुई थी।

प्रेमाश्रम (१९२२)

'प्रेमाश्रम' में 'सेवासदन' के लेखक की वर्णनात्मक प्रतिभा और भी प्रखर हो गई है, साहित्य और जीवन के प्रति उनकी दृष्टि और भी स्पष्ट हो उठी है। इस बार उन्होंने अपने उपन्यास के लिए एक ऐसा क्षेत्र चुना जिससे उनका अत्यधिक निकट से परिचय था। किसानों की आर्थिक सामाजिक अवस्था, उनके शोषक तत्त्वों—जमीन्दार तथा उसके प्यादे कारिन्दे, गाँव का पटवारी, अफसर तथा उनके अहलकार, पुलिस के सिपाही-दारोगा, वकील-कचहरी तथा सूदखोर महाजन आदि—की मनोवृत्ति एव कार्यप्रणाली, निरीह किसानों की मनोदशा—भीरुता, मूक-सहिष्णुता, वेबसी, सदेहशीलता, विश्वासघात, के साथ-साथ सदाशयता, श्रमशीलता, मर्यादाप्रियता आदि—के बड़े ही सूक्ष्मनिरीक्षित यथार्थ चित्र इस उपन्यास में अकित हैं। यह उपन्यास युगों से उत्पीडित एव पदमर्दित ग्रामीण चेतना का अग्रदूत होकर आया। हिन्दी-साहित्य में शोषण के प्रति वास्तविक विद्रोह का सूत्रपात यहीं से होता है। अत्याचार-अन्याय के विरुद्ध यहाँ मर्माहत किसान उठ खडा हुआ है और उसके इस अप्रत्याशित प्रतिरोध से शोषक वर्ग अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसका मस्तक झुका देने को, तोड देने को सन्नद्ध है। तत्कालीन परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि किसान की पराजय अनिवार्य है,

वह बुरी तरह हारा है—यद्यपि आदर्शवादी प्रेमचन्द ने कथा को एक अस्वाभाविक मोड़ देकर अन्त में किसान की विजय दिखाई है।

कथा का आरम्भ लखनपुर गाँव से होता है। जमीन्दार के चपरासी गिरधर महराज किसानों को घी के लिए रुपए बाँटने आए हैं। रुपए सेर का भाव कटेगा यद्यपि बाजार भाव दस छटाँक का है। अधिकांश किसानों ने तो मारे डर के रुपए ले लिए किन्तु मनोहर के यहाँ न भैंस थी न घी था और न पास में रुपए थे कि बाजार से खरीद कर दे देता; उसने रुपए नहीं लिए। गिरधर कड़े पड़े, धमकी दी, मनोहर भी उत्तेजित हो उठा—"यहाँ कोई दबैल नहीं है। जब कौडी-कौडी लगान चुकाते हैं तो धौंस क्यों सहें।" यह मानो नवीन किसान-चेतना बोल रही थी। यथार्थवादी मनोहर कहने को तो कह गया किन्तु परिणाम सोचकर वह चिन्तित हुआ। खाने बैठा तो "इस भाँति रोटियाँ तोड-तोड़ मुँह मे रखता था, जैसे कोई दवा खा रहा हो। इतनी रुचि से वह घास भी खाता।" मनोहर का जवान लडका बलराज इस घटना से और भी उत्तेजित हो उठा—"कोई हमसे घी क्यों माँगे ? किसी का दिया खाते हैं कि किसी के घर माँगने जाते हैं ? अपना तो एक पैसा नहीं छोडते तो हम क्यों धौंस सहें।" गाँव वालों को मौका मिला कारिन्दा साहब—गुलाम गौस खाँ—को भड़काया। कादिर मियाँ तथा बिलासी (मनोहर की स्त्री) के अनुनय-विनय करने पर भी, खाँ साहब मालिकों से कहने शहर चल पड़े। ज्ञानशंकर नए मालिक हुए थे। उनकी स्वार्थप्रियता ने खाँ साहब को खुलकर खेलने का अवसर दिया—"वर्षान्त पर उन्होंने बडी निर्दयता से लगान वसूल किया। एक कौड़ी भी बाकी न छोडी। जिसने रुपए न दिए या न दे सका, उस पर नालिश की कुर्की कराई और एक का डेढ़ वसूल किया। शिकमी असामियों को समूल उखाड दिया और उनकी भूमि पर लगान बढ़ाकर दूसरे आदमियों को सौंप दिया। मौरूसी और दखीलकार असामियों पर भी कर-वृद्धि के उपाय सोचने लगे।" सारे इलाके मे हाहाकार मच गया। इजाफा लगान की खबर पाते ही सब असामी दब गये। डपट सिंह, सुक्खू, दुखरन भगत सब गौस खाँ की हाँ में हाँ मिलाने लगे। कोई द्रोही था तो मनोहर और उसका कोई बन्धु था तो कादिर। गाँववालों द्वारा तिरस्कृत तथा जमीन्दार द्वारा अपमानित मनोहर के भीतर भयकर प्रतिक्रिया हुई। वह और भी तन गया। बलराज गरज उठा—'कौन इजाफा करेगा, सिर तोड़ के रख दूँगा।' कार्तिक का आरम्भ होते ही गाँव में डिप्टी ज्वाला सिंह का दौरा हुआ—पडाव पड गया। चपरासी किसीके दरवाजे से लकडी उठा ले गए, किसी का बकरा खोल ले गए, लोग बेकार पकड़े जाने लगे, सम्पूर्ण गाँव में भूकम्प आ गया।

बलराज ने कहा 'मेरी भैंसे बेगार के नाम से छटाक भी दूध न देंगी' चपरासी बोला इसे गरमी चढ़ गई है। लश्कर ले चलो, गर्मी उतर जाय। बलराज मर्माहत होकर बोला—'मियाँ, हमारी गरमी पाँच-पाँच रुपल्ली के चपरासियों के मान की नहीं, जाओ अपने साहब-बहादुर के जूते सीधे करो, जो तुम्हारा काम है। हमारी गरमी के फेर में न पड़ो नहीं तो हाथ जल जायँगे। उस जन्म के पापों का दण्ड भोग रहे हो, लेकिन अब भी तुम्हारी आँखें नहीं खुलतीं।' चपरासी और गौस खाँ इस उत्तर से दाँत पीस कर रह गए। उनकी प्रतिहिंसा पूरे वेग से जग पड़ी।

यहीं से दमन का चक्र आरम्भ हुआ। दारोगा दयाशकर और गौस खाँ ने मिलकर गाँव में कोहराम मचा दिया। बलराज की ओर से गवाही देने के कारण सम्पूर्ण गाँववालों से मुचलका लिया गया। फिर इजाफा लगान की नालिशें दायर हुईं। उधर गाँव पर प्लेग का प्रकोप हुआ, हर रोज एक-न-एक घर पर बिजली गिरने लगी, कादिर मियाँ का जवान लड़का तीन घड़ी में चल बसा, सुक्खू चौधरी का घर ही सत्यानाश हो गया। डपटसिंह के दो-दो जवान लड़के चल बसे। गाँव की उस विपत्ति का चित्र खींचने में प्रेमचद ने कुछ उठा नहीं रखा। इधर मुकदमें की पैरवी में शहर दौड़ना, उधर छः कोस दूर नदी पर लाशें ले जाना। मुकदमें ने बर्तन-भाँडे तक बिकवा दिए थे, गाँव में कफन तक के लिए पैसे नहीं रह गए थे, लाशें तीन-तीन पहर पड़ी रह जातीं। बेचारे प्रेमशंकर आए थे सदुद्देश्य से प्रेरित होकर, पुत्रशोक में पागल डपटसिंह इन्हें देखकर व्यंग-विह्वल स्वर में बोल उठा—"ओ हो, आप तो हमारे मालिक हैं। क्या इजाफा वसूल करने आए हैं? उसीसे लीजिए जो वहाँ धरती पर पड़ा हुआ है, वह आपकी कौड़ी-कौड़ी चुका देगा। गौस खाँ से कह दीजिए उसे पकड़ ले जाँय, बाँधें, मारें, मैं न बोलूँगा। मेरा खेती-बारी से घर-द्वार से इस्तीफा है।"

फिर भी ज्ञानशंकर से प्रेरित-प्रोत्साहित गौस खाँ का अत्याचार-चक्र चलता रहा। प्लेग का प्रकोप कम होने के पूर्व ही झोपड़ों में आग लगवा दी, जिससे मजबूर होकर सबको गाँव लौटना पड़ा, तालाब का पानी पीना बन्द करा दिया, सुक्खू चौधरी के घर से कोकीन बरामद कराके दो साल की सजा दिला दी, गाँव में किसी पुलिस-अफसर का लश्कर पहुँचा तो गाँव के इज्जतदार आदमियों से बेगार ली गई, चरावर रोक दिया गया और अन्त में अत्याचार की पराकाष्ठास्वरूप चरावर में गाय चराती हुई बिलासी को ढकेल कर स्त्री का अपमान किया गया। मनोहर का खून खौल उठा, उसने उसी रात बलराज की सहायता

से गौस खाँ की हत्या कर दी और थाने पर जाकर अपराध स्वीकार कर लिया। फिर भी पकड़-धकड़ शुरू हुई और सारा गाँव हिरासत में ले लिया गया। यहाँ तक कि ज्ञानशंकर के संकेत से प्रेमशंकर पकड़ लिए गए। बाद में लाला प्रभाशंकर की दौड़-धूप से प्रेमशंकर तो छूट गये किन्तु अन्य लोगों पर मुकदमा चला, दोनों ओर से पैरवी शुरू हुई, पुलिस ने झूठे गवाह बनाए, डाक्टर ने झूठा बयान दिया, रुपयों के लोभ से वकील ने धोखा दिया, और प्रेमशंकर के लाख प्रयत्न करने पर भी बलराज और कादिर खाँ को काला पानी तथा अन्य अभियुक्तों को सात-सात वर्ष का सपरिश्रम कारावास मिला। सरकारी गवाह बिसेसर साह रिहा हो गए—मनोहर आत्मग्लानि से जेल में ही आत्म-हत्या करके पहले ही इस लोक से रिहा हो चुका था। गाँव में नए कारिन्दा फैजुल्लाह खाँ का निर्बाध-राज्य हो गया। गाँव का दूध-घी, उपले-लकड़ी, घास-पयाल, कद्दू कुम्हड़े, हल-बैल सब उनके थे।

यहाँ तक प्रेमचंद एक सच्चे यथार्थवादी कलाकार के समान कथा को बढ़ाते आए। यह दुःखद, एवं भीषण अन्त ही उन परिस्थितियों में स्वाभाविक था। किन्तु आदर्शवादी प्रेमचद के अनुसार सत्य और न्याय की यह पराजय तो हमें निराशावादी बना देगी। सदाचार पर से हमारा विश्वास उठ जायगा। यही कारण था कि उन्होंने यहीं से कथा को एक कृत्रिम मोड़ दिया। प्रेमशंकर ने हाईकोर्ट में अपील की, अपनी करनी पर पश्चात्ताप करके बिसेसर साह ने पुलिस का भण्डाफोड़ किया, बैरिस्टर इर्फान अली ईमानदारी से पैरवी करने लगे, डाक्टर प्रियानाथ ने बयान बदल दिया और सभी अभियुक्त छूट गए। किन्तु इतने ही से प्रेमचंद को सन्तोष न हुआ। वह तो उस संस्था को ही मिटाना चाहते थे 'जिसका अस्तित्व कृषकों के रक्त पर अवलम्बित है।' उनकी दृष्टि में "भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है, इसलिए उसे किसानों से कर लेने का अधिकार है। अगर किसी अन्य वर्ग या श्रेणी को मीरास, मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्य पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता दी जाती है तो इस प्रथा को वर्तमान समाज व्यवस्था का कलंक-चिह्न समझना चाहिए।" इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने मायाशंकर के द्वारा उन अधिकारों और स्वत्वों का त्याग कराया जो प्रथा-नियम और समाज-व्यवस्था ने उसे दिए थे। जमीन्दार के जूये से मुक्त होकर गाँव की कायापलट हो गई। 'वही लखनपुर, जो दनाले और बरबादी की रंगभूमि था, अब स्वर्ग को लजाने वाला हो गया

है। वहाँ खूब रौनक और सफाई है। प्रायः सभी द्वारों पर सायबान थे, उनमें बड़े-बड़े तख्ते बिछे हुए थे। अधिकाश घरों में सफेदी होगई थी। फूस के झोपड़े गायब हो गए थे, अब सभी घरों पर खपरैल थे। द्वारों पर बैलों के लिए पक्की चरनियाँ बनी हुई थीं और कई द्वारों पर घोड़े बँधे दिखाई देते थे। पुराने चौपाल में पाठशाला थी और उसके सामने एक पक्का कुँआ और धर्मशाला थी। सुक्खू चौधरी के मन्दिर पर इस समय बड़ी बहार थी। चौतरे पर बैठे हुए चौधरी रामायण पढ़ रहे थे और कई स्त्रियाँ बैठी सुन रही थीं।" क्या ही अच्छा होता यदि जमीन्दारी-उन्मूलन तथा ग्राम-विकास-योजनाओं को देखने के लिए प्रेमचद जीवित रहते। आज उस महान् साहित्य-कार का स्वप्न साकार होता जा रहा है।

किसान-समस्या के साथ ही साथ ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय जमींदार के सम्मिलित कुटुम्ब की जर्जर अवस्था तथा विभिन्न प्रवृत्तियों का भी स्वाभाविक चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। उपन्यास की मुख्य सघर्ष-भूमि लखनपुर गाँव के जमींदारों का मकान काशी में था। "मकान के दो खण्ड आमने-सामने बने हुए थे। लेकिन दोनों ही खण्ड जगह-जगह टूट फूट गए थे। कहीं कोई कड़ी टूट गई थी और उसे थूनियों के सहारे रोका गया था, कहीं दीवार फट गयी थी और कहीं छत धँस पड़ी थी—एक वृद्ध रोगी की तरह जो लाठी के सहारे चलता हो। किसी समय यह परिवार नगर में बहुत प्रतिष्ठित था, किन्तु ऐश्वर्य के अभिमान और कुल-मर्यादा-पालन ने उसे धीरे-धीरे इतना गिरा दिया कि अब मुहल्ले का बनिया पैसे-धेले की चीज भी उसके नाम पर उधार न देता था। लाला जटाशकर मरते मरते मर गए, पर जब घर से निकले तो पालकी पर। लड़के-लड़कियों के विवाह किए तो हौसले से। कोई उत्सव आता तो हृदय सरिता की भाँति उमड आता था, कोई मेहमान आ जाता तो उसे सर-आँखों पर बैठाते, साधु सत्कार और अतिथि सेवा में उन्हें हार्दिक आनन्द होता था। इसी मर्यादा-रक्षा में जायदाद का बड़ा भाग कुछ रेहन हो गया और अब लखनपुर के सिवा चार और छोटे-छोटे गाँव रह गए थे जिनसे कोई चार हजार वार्षिक लाभ होता है।"

लाला जटाशंकर के छोटे भाई थे लाला प्रभाशकर। 'दोनों में इतना प्रेम था कि स्त्रियों में तू-तू मैं-मैं होती थी, किन्तु भाइयों पर इसका असर न पड़ता था।' बड़े भाई की मृत्यु के बाद भी बेचारे कुल-मर्यादा को ढोये हुए चले जा रहे हैं। सहृदय, स्नेहशील, उदार, परिवार की शान और इज्जत के लिए जान देने वाले और कर्ज लेकर खर्च करने वाले, असामियों के दुःख-दर्द में

शामिल होने वाले लाला प्रभाशकर पुरानी पीढ़ी के जीवन्त प्रतीक हैं। इनके पुत्र दयाशकर दारोगा होकर पुलिस के सारे दुर्गुणों को अपनाकर पिता के बिल्कुल विपरीत मार्ग पर चलते हैं। लाला जटाशकर के पुत्र प्रेमशकर तथा ज्ञानशंकर अँग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होकर दो नितान्त विरोधी दिशाओं की ओर अग्रसर होते है। प्रेमशकर तो अमेरिका से लौट कर शोषण के विरुद्ध सग्राम छेड देते हैं और किसानों के सच्चे हिमायती बन बैठते हैं और ज्ञानशकर ऊँचे उठने की उत्कट अभिलाषा में कुछ दिनों तक चचा की टीका-टिप्पणी करके, लड-झगड कर अन्त में घर और जायदाद का बँटवारा करा लेते हैं। लखनपुर इन्हीं के हिस्से मे पडता है। इनका शह पाकर कारिन्दा गौस खाँ किसानों पर खुलकर अत्याचार आरम्भ कर देता है। इजाफा लगान, बेदखली, मार-पीट, गाली-गलौज, नजर-नजराने का दौर शुरू होता है। अपनी ही सम्पत्ति से सन्तुष्ट न रहकर ज्ञानशकर अपनी विधवा साली रानी गायत्री पर भी अपना कपटपूर्ण जाल फैलाते हैं और धर्माडम्बर के आड में उस बेचारी को वासना की ओर खींच ले चलते हैं। यदि अवसर रहते ही वह चेत न जाती तो उसका सर्वनाश अवश्यम्भावी था। इतना ही नहीं श्वसुर रायकमलानन्द के एकमात्र पुत्र की मृत्यु का समाचार पाकर ज्ञानशकर मन ही मन प्रसन्न होते है और जल्दी से जल्दी उनकी जायदाद हडप कर लेने की आकाक्षा में एक दिन उन्हें जहर तक देते हैं, यद्यपि अपने योगबल से रायसाहब विष के प्रभाव से बच जाते हैं। किन्तु ज्ञानशंकर का ही पुत्र मायाशकर नाना-मौसी तथा पिता की सम्पत्ति का स्वामी होकर भी जब स्वेच्छा से सारे अधिकार त्याग देता है तो ज्ञानशकर को डूब मरने के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं दिखाई पडता।

इस प्रकार मध्यवर्ग की विभिन्न सम्भावनाओं की ओर प्रेमचन्द ने बड़ी कुशलता से सकेत किया है। यही वह वर्ग है जो ऊँचे से ऊँचा त्याग भी कर सकता है, लोकनेतृत्व भी कर सकता है और साथ ही स्वार्थ से प्रेरित होकर जघन्य कलुष में भी सम्मिलित हो सकता है। एक ओर परिवार वत्सल, स्नेह-शील, सहृदय, सहानुभूतिशील, धर्मपरायण लाला प्रभाशंकर हैं, परदु.खकातर, लोकसेवी, परमत्यागी प्रेमशकर है तो दूसरी ओर स्वार्थान्ध ज्ञानशकर हैं जिनकी महत्वाकाक्षा के आगे चाचा-भाई का स्नेह-सौजन्य, भार्या की पतिनिष्ठा एव मूक सहिष्णुता, साली का पवित्र वैधव्य, श्वसुर का शक्तिशाली एव महान् व्यक्तित्व कुछ भी नहीं। इन सबकी उपेक्षा कर सबको मिटाने पर ही मानों वह तुले हैं। मध्यवर्ग के साथ रायकमलानन्द तथा रानी गायत्री के प्रसग में प्रेमचन्द ने उच्च-

वर्ग की जीवन-रीति एव मनोवृत्ति का भी परिचय कराने का प्रयास किया है किन्तु वह अग अपेक्षाकृत निर्बल है।

'प्रेमाश्रम' का पूर्वार्ध तो बड़े सुन्दर और सहज रूप से नियोजित हुआ है परन्तु उसके उत्तरार्ध में प्रेमचन्द जी स्पष्ट सुधारक बन बैठे हैं। ऐसा लगता है मानों सबको वे त्यागी और आदर्शवादी बनाने पर तुले हुए हैं। प्रेमशकर तो अमेरिका से साम्यवादी भावनाएँ लेकर आए ही थे। उन्होंने जमीन्दारी में अपना हक तक छोड़ दिया और ग्रामीणों की सेवा में जीवन बिताने लगे, परन्तु इनका जादू कुछ ऐसा चला कि जीवन भर पाप की कमाई करनेवाले लोग धीरे-धीरे 'प्रेमाश्रम' की बागवानी करते हुए नजर आने लगे। डाक्टर इर्फान अली, जो स्वार्थ-लोभ से लखनपुर के कितने ही अभागों को मृत्यु की वेदी पर छोड़कर चले गए थे, डाक्टर प्रियानाथ जिन्होंने पुलिस के दबाव और ज्ञानशकर के रुपयों के लोभ से बीसों आदमियों के सिर खून करने का अपराध जड़ दिया था तथा बाबू दयाशकर थानेदार जिसने जीवन भर सिवाय लूट-खसोट के कुछ किया ही नहीं आदि सज्जनों को जब हम अपना-अपना पेशा छोड़कर 'प्रेमाश्रम' में बागवानी और परिश्रम करते हुए देखते हैं तो जैसे चौंक उठते हैं। इसी तरह लखनपुर में सुक्खू चौधरी और बिसेसर साह भी बिलकुल साधु बन जाते हैं। उधर राय कमलानन्द, जो जीवन भर अपनी वासनाओं की तृप्ति में ही लगे रहे, आत्मदर्शी साधु होकर हरद्वार की घाटियों में घूमते हुए दिखाई पडते हैं और उनकी सुपुत्री रानी गायत्री जो बड़ी शीघ्रता से पतन की ओर चली जा रही थीं एकाएक राजपाट छोड़ तीर्थाटन की ओर देख पडती हैं। मायाशकर के अधिकार-त्याग ने ज्ञानशकर को डूब मरने के अतिरिक्त कोई उपाय ही न छोड़ा। इस तरह पुस्तक का अत होते-होते हम देखते हैं कि जितने दुष्ट पात्र थे या तो उनके विचारों ने इतना पलटा खाया कि वे बिलकुल सज्जन बन बैठे अथवा वे मर गए या मार डाले गए। प्रेमचन्दजी का यह सत्ययुग-निर्माण उनकी कल्पना और आदर्शप्रियता को भले ही संतुष्ट कर ले परन्तु साधारण पाठक तो उसे सुधार समझ कर सदेह की दृष्टि से अवश्य देखने लगेंगे। यद्यपि 'प्रेमाश्रम' के पात्रों के जितने विचार-परिवर्तन दिखाये गए हैं उनके लिए बड़े सबल कारण भी दिए गए हैं तो भी ये परिवर्तन किंचित् अस्वाभाविक से लगते हैं।

एक बात और है जो 'प्रेमाश्रम' में खटकती है। वह है बहुत से पात्रों की आत्महत्या। ऐसा लगता है कि प्रेमचन्दजी जब किसी पात्र के भावी जीवन की पूरी-पूरी व्यवस्था नहीं कर पाते तो उनके लिए केवल एक ही उपाय रह जाता

है और वह यह है कि वे इस विश्व नाटक के रंगमंच पर से हटा दिये जायँ। विद्यावती, रानी गायत्री तथा ज्ञानशंकर की मृत्यु इसके उदाहरण हैं। फिर इन पात्रो की आत्महत्या बहुत कुछ युक्तियुक्त है, परन्तु लाला प्रभाशंकर के दोनों लड़कों—पद्म और तेज—की बलि तो निर्दय क्रूरता सी लगती है। समझ में नहीं आता कि यदि इन निरीह प्राणो की बलि नहीं दी जाती तो कहानी के विकास में कहाँ तक रुकावट पड़ती। इस बलिदान का कारण यह हो सकता है कि इसी दुःख से दुखी होकर दयाशंकर ने सज्जनता ग्रहण की तथा मायाशंकर के त्याग को प्रोत्साहन मिला, परन्तु इसके लिए अन्य सदय उपाय बिना किसी व्याघात के निकाले जा सकते थे। इसका एकमात्र यही उद्देश्य हो सकता है कि हमारे मन पर भूत-प्रेत, देवी-देवता आदि के जो संस्कार या कुसंस्कार पड़े हुए हैं उनका निवारण किया जाय। परन्तु इन अन्धविश्वासों का निवारण करने के लिए अन्य उपाय भी निकाले जा सकते थे।

जब हम 'प्रेमाश्रम' की रूप-रचना पर विचार करने लगते हैं तो लगता है उनमें अभी तक 'कर्मभूमि', 'गबन' और 'गोदान' वाली रचनात्मक प्रतिभा का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। उपन्यासों का सबसे कलात्मक और उत्कृष्ट रूप वह है जिसे नाटकीय उपन्यास कहा जाता है। ऐसे उपन्यास के पात्रों और घटनाओं में, कार्य-कारण-संबंध होता है। पात्रों के द्वारा घटनाओं की सृष्टि होती है और फिर इन घटनाओं की प्रतिक्रिया पात्रों के चरित्र पर होती है। इस तरह नाटकीय उपन्यासों के पात्र सतत विकासमान रहते हैं। परतु 'प्रेमाश्रम' के सभी पात्रों में हम देखते हैं कि उनके चरित्र पर नवीन घटनाओं की प्रतिक्रिया बहुत कम होती है। वे मानो बने बनाये पात्र हैं जो अपनी इच्छा-शक्ति से घटनाओं का निर्माण तो करते चलते हैं परंतु उनमें बँधते नहीं। ज्ञानशंकर, प्रभाशंकर प्रेमशंकर इन तीनों पात्रों में चरित्र की ही प्रधानता दिखलाई पड़ती है। ज्ञानशंकर को पहले पहल देख उनके विषय में हम जो अपनी धारणाएँ बना लेते हैं उसकी उत्तरोत्तर पुष्टि ही होती जाती है। परिस्थितियाँ बदलती हैं, परतु ज्ञानशंकर नहीं बदलते। उनकी स्वार्थपरता तथा लोभवृत्ति अंत तक समान रूप से चली चलती है। राय कमलानंद तथा रानी गायत्री की संपत्ति पा जाने पर अवश्य वे थोड़े से सदय और उदार हो जाते हैं, जिसे लेखक ने स्वयं परिस्थितियों का प्रभाव कहा है। परतु उसे उनके चरित्र की क्षणिक भावुकता समझना चाहिए, उसका नित्य अंग नहीं। ज्ञानशंकर को जब हम अंतिम दृश्य में खोया हुआ-सा नदी के किनारे आत्महत्या के लिए तत्पर देखते हैं तो हम

लिए गए किन्तु सूरदास झोपड़ी छोड़ने पर राजी न हुआ। जनता की सहानुभूति उसकी ओर थी। इधर सशस्त्र पुलिस उसकी झोपडी गिराने को तैयार थी और उधर अपार जनसमुदाय उमड़ा चला आ रहा था। अङ्गरेज कप्तान ने निहत्थी जनता पर गोली चलाने का हुक्म दे दिया और अनेक मनुष्य धराशायी हो गए। पुलिस के सिपाहियों ने स्वय बगावत कर दी, गोली चलाने से इन्कार कर दिया। इस पर गोरखों की फौज बुलाई गई। सूरदास डरा कि कहीं गोली चल गई तो उस दिन से भी अधिक खून-खच्चर हो जायगा। भैरो के कन्धे पर बैठ कर वह उत्तेजित भीड़ से आग्रह करने लगा कि लोग अपने-अपने घर लौट जाँय—"आप लोग वास्तव में मेरी सहायता करने नहीं आए हैं। हाकिमों के मन में, फौज के मन में, पुलिस के मन में जो दया और धरम का खयाल आता, उसे आप लोगों ने जमा होकर क्रोध बना दिया है। मैं हाकिमों को दिखा देता कि एक दीन अन्धा आदमी एक फौज को कैसे पीछे हटा देता है, तोप का मुँह कैसे बन्द कर देता है, तलवार की धार कैसे मोड़ देता है। मैं धरम के बल पर लड़ना चाहता था · ।" इसके आगे वह कुछ न कह सका। मिस्टर क्लार्क ने उसे खड़े होकर कुछ बोलते सुना, तो समझे अन्धा जनता को उपद्रव मचाने के लिए प्रेरित कर रहा है। उन्होंने जेब से पिस्तौल निकाली और सूरदास पर चला दिया। गोली सूरदास के कन्धे में लगी, सिर लटक गया, रक्त प्रवाह होने लगा और वह भूमि पर गिर पड़ा। आत्मबल पशुबल का प्रतिकार न कर सका।

इस तरह सूरदास एक आदर्श सत्याग्रही के रूप में चित्रित किया गया है। मृत्यु की सेज पर पड़ा हुआ उन्माद की अवस्था में वह सामूहिक संघर्ष की विफलता के कारणों एव सत्याग्रह के 'टेकनिक' की बड़े ही सहज ढग से व्याख्या करता है—"बस-बस···अब मुझे क्यों मारते हो, तुम जीते मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नहीं बना। तुम मजे हुए खिलाडी हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं, खिलाडियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज, मारपीट करते हैं। कोई किसी को नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाडी हैं। बस, इतना ही फरक है। तालियाँ क्यों बजाते हो, यह तो जीतने वालों का धरम नहीं? तुम्हारा धरम तो है हमारी पीठ ठोंकना। हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नहीं, रोये तो नहीं, धाँधली तो नहीं की। फिर खेलेंगे जरा दम ले लेने दो, हार-हार कर तुम्हीं से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत अवश्य होगी।" क्या ही अच्छा

होता यदि जीवन के साथ जल-जल कर खेलने वाले प्रेमचन्द स्वयं अपने जीवन में यह जीत देख सकते।

सूरदास की आधिकारिक कथा के साथ-साथ अनेक प्रासंगिक कथाओं की भी योजना की गई है। इनमें मुख्य है विनय और सोफिया की प्रेम-कथा। कुँवर विनयसिंह की माँ रानी जाह्नवी अपने एकमात्र पुत्र को आदर्श देशसेवक बनाने की शिक्षा देती हैं। इसी बीच विनय और सोफिया का परिचय प्रेम में परिणत हो जाता है और विनय को कर्तव्य की कठोर शिक्षा देने के लिए उन्हें सेवक-दल के साथ राजस्थान भेज दिया जाता है। कथा का यह विस्तार थोड़ा अनावश्यक सा लगता है किन्तु तत्कालीन राजा, दीवान, पोलिटिकल एजेन्ट तथा जनता की मनोवृत्ति और देशी राज्यों की परिस्थिति बड़ी ही स्पष्ट रेखाओं से अंकित हो उठी है। सोफिया और विनय के मानसिक द्वन्द्व एवं परिस्थितिजन्य चरित्र-परिवर्तन के चित्र भी पर्याप्त प्रभावपूर्ण हैं। इस प्रेम-प्रसंग को प्रेमचन्द ने बड़ा ही ऊँचा एवं आदर्श धरातल प्रदान किया है एवं विभिन्न परिस्थितियों में डालकर उसे प्रगाढ़ता प्रदान की है। सम्भवत प्रेमचन्द को तत्कालीन सामाजिक वातावरण में अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्ध दिखलाने में हिचक हुई और इसीलिए उन्होंने अनायास विनय को आत्महत्या के द्वारा रंगभूमि से हटा दिया। सूरदास को गोली लगने पर उत्तेजित भीड़ को संयत रखने के प्रयास में विफल होकर एवं जनता के व्यंग बाणों को सहन न कर सकने के कारण विनय स्वयं ही अपने को गोली मार लेता है। इस प्रकार उसे सहज ही वीरगति प्राप्त होती है यद्यपि उस समय न तो उसे मरने की कल्पना ही थी और न इच्छा ही। अनायास नाटकीय ढंग से यह अकल्पित घटना घटित होती है। रानी जाह्नवी ने, इन्दु, सोफिया तथा जनता ने विनय को शहीदों का उच्च स्थान प्रदान किया किन्तु उस भावप्रवण, तथा प्रेम के कारण अस्थिरचित्त युवक का यह बलिदान केवल भावुकता का आवेश मात्र ही था। बाद में सोफिया भी क्लार्क से विवाह की पूरी तैयारी के बीच नाटकीय ढंग से आत्महत्या के लिए घर से निकल जाती है। इस प्रकार प्रेमचन्द ने अपनी आदर्शवादी रीति से इस प्रेम की परिणति चित्रित की है।

सूरदास को केन्द्र बनाकर जो सत्याग्रह-आन्दोलन चला है प्रेमचन्द ने उसका बड़ा कुशल निर्वाह किया है। समूह की मनोवृत्ति, भावनाओं के आवेश-प्रेरित उतार-चढ़ाव, अफसरों की विचार तथा कार्य-प्रणाली आदि के चित्रण में बड़ी सूक्ष्मदर्शिता का परिचय मिलता है। हमारे पारस्परिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन की व्याख्या के साथ साथ विभिन्न वर्गों एवं श्रेणियों के अधिकाधिक

पात्रों के सजीव चित्रण का प्रयास किया गया है। पांडेपुर गाँव के बजरंगी, जगधर, भैरो, नायकराम, ताहिर अली आदि के पारस्परिक एवं पारिवारिक चित्रण प्रेमचन्द के प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित होने के कारण ही नितान्त जीवन-वत् हैं। पादरी जॉन सेवक, उनकी स्त्री, उनके पिता की मानसिक भूमियों के वर्णन में भी पर्याप्त यथातथ्यता है। प्रभुसेवक तथा सोफिया भावना-जगत के प्राणी है। सोफिया आदर्श में जीती है। उसके समक्ष प्रेम भी एक भावनागत विषय है, उसीसे वह जीवित रहती है और उसी से उसका पोषण होता है। उसमें ऐन्द्रिता का नितान्त अभाव है। रानी जाह्नवी भी उच्च आदर्शों से अनुप्राणित रमणी है। इन्दु का चित्रण अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय भूमि पर रखकर किया है। ये तीनों ही स्त्रियाँ नारी-जागरूकता का प्रतीक होते हुए भी अपनी अलग विशिष्टता रखती हैं। कुँवर भरतसिंह, चतारी के राजा महेन्द्र प्रताप सिंह तथा जसवन्त नगर के महाराज ये तीनों पात्र सामन्ती सभ्यता के अवशिष्ट एवं राजसत्ता के स्तम्भ हैं। इनके व्यग-चित्र उतारने में प्रेमचन्द को पर्याप्त सफलता मिली है।

विनय के राजस्थान भ्रमणवाले प्रसग को छोडकर कथावस्तु पर्याप्त सुगठित है। सूरदास वाली कथा का विकास बड़े ही सहज एव स्वाभाविक ढग से होता है। पात्र स्वय परिस्थितियो का निर्माण करते हैं और उनके चरित्र पर परिस्थिति की प्रतिक्रिया होती है। घटनाओं की तर्कसगत परिणति में ही कथा का अन्त होता है। 'प्रेमाश्रम' की तरह सत्याग्रह की विजय दिखाने का कृत्रिम प्रयास नहीं किया गया है। सूरदास का सत्याग्रह इस रूप में सफल नहीं हुआ कि उसकी जमीन बची रहे, उसका झोपडा बचा रहे, पांडेपुर गाँव बचा रहे। इस दृष्टि से भी वह सफल नहीं रहा कि उसके सबसे बड़े शत्रु राजा महेन्द्र प्रताप का हृदय परिवर्त्तन हो जाता। द्वेष एव घृणा से अन्धे होकर ही वह रात मे उसकी मूर्ति को तोड कर गिरा देने के लिए गए। सूरदास की विजय लौकिक नहीं आध्यात्मिक है। उसके जीवन एव मृत्यु में उसके प्रति जनता की जो श्रद्धा थी वही मानो उसका पुरस्कार था। उसके विरोधी राजा महेन्द्रप्रताप तथा जॉनसेवक दोनों को ही अपने ढग से दण्ड देकर लेखक ने एक प्रकार से साहित्यिक न्याय की भी रक्षा कर ही ली। महेन्द्रप्रताप का पारिवारिक जीवन तो अत्यन्त दुःखद था ही उनकी मृत्यु भी सूरदास की मूर्ति के नीचे दबकर हुई और मरने के बाद भी उन्हें दुनियाँ की घृणा एव निन्दा ही मिली। जॉनसेवक की बेटा-बेटी, जिनके लिए मनुष्य सब कुछ करता है, सदैव के लिए उससे अलग हो गए।

सूरदास की कथा जितनी स्वतः परिचालित है उतनी विनय और सोफिया

की नहीं। इस कथा को लेखक ने अग्रसर किया है और उसमें आदर्शवाद एवं कल्पना का पुट अधिक है। फिर भी उनके जीवन की अनेक मार्मिक स्थितियों का बड़ी ही तन्मयता से वर्णन किया गया है। सोफिया को वश में करने के लिए जड़ी की धूनी एवं उसका प्रभाव पर्याप्त आश्चर्यजनक है।

कायाकल्प (१९२८)

'कायाकल्प' का एक भाग तो लौकिक धरातल पर, पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं को लेकर अग्रसर हुआ है किन्तु उसमें एक अंश ऐसा भी है जो पूर्वजन्म की आश्चर्यजनक बातों का वर्णन करता है। इसी पुनर्जन्म वाले कथा-भाग के आधार पर उपन्यास का नामकरण हुआ है। जगदीशपुर रियासत की विधवा रानी देवप्रिया के पति की दिवगत आत्मा अपनी प्रिया को पाने के लिए व्याकुल रहती है और हर्षपुर के राजकुल में उनका पुनर्जन्म होता है। हिमालय पर्वत के एक महात्मा (जो डारविन के अवतार थे) के अद्भुत प्रयोगों से इनमें पूर्वजन्म की चेतना उद्बुद्ध होती है और देवप्रिया से मिलकर उसे अपने साथ लाते हैं और कायाकल्प के द्वारा वृद्धा से उसे तरुणी बना देते हैं। अपने अद्भुत यान में बैठ नक्षत्र लोक की सैर करते हुए इन चिरप्रेमियों में कामपिपासा उद्बुद्ध होती है, विमान वेग से नीचे को उतरने लगता है, राजकुमार की मृत्यु हो जाती है, और तरुणी रानी अपने प्रियतम को पुनः पाने की कामना में हर्षपुर में राज्य करने लगती है। इस बार जगदीशपुर के राजा विशालसिंह के दौहित्र के रूप में पुनः राजकुमार का जन्म होता है और तरुण होने पर रानी देवप्रिया से मिलन होता है। किन्तु इस बार भी प्रेम प्रतिफलित नहीं हो पाता और राजकुमार की मृत्यु हो जाती है। प्रेमचन्द ने इस प्रसंग में उन्मुक्त कल्पना से काम लेकर अनेक चमत्कारपूर्ण कार्य-व्यापारों एवं घटनाओं का समावेश किया है। हिमालय की कन्दरा में स्थित महात्मा की अद्भुत प्रयोगशाला, उसमें बैठकर जेनेवा नगर में हो रहे राष्ट्रमण्डलीय सदस्यों की बैठक को देखना-सुनना, विचित्र यान पर नक्षत्र-लोक की सैर आदि अलौकिक बातों में मन चाहे रम जाय किन्तु विश्वास नहीं जमता। प्रेमचन्द की इन विलक्षण कल्पना के मूल में जब हम पैठते हैं तो हमें पता चलता है कि वह मानव तथा उनके अनुभवों के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास का ही परिणाम है। उन्हें सामुद्रिक विद्या, जड़ी-बूटी, शक्ति तथा योग की क्रिया और उनके फल आदि परम्परा-प्राप्त बातों पर विश्वास था। उनका कहना था—"इतने लोग इतने काल से ईमानदारी के साथ इस ओर लगे रहे, उनके परिणामों की मैं उपेक्षा करूँ!' उनके अनुसार "तिब्बत में आज

भी ऐसी महान आत्माएँ है जो माया का रहस्य खोल सकती है।" इसी विश्वास के फलस्वरूप उन्होंने अपने उपन्यासो में यत्र-तत्र कुछ अलौकिक बातों का समावेश किया है किन्तु 'कायाकल्प' की मूलप्रेरक वृत्ति ही पुनर्जन्म के विश्वास को दृढ करती है। इस प्रसग के समावेश से स्वाभाविक्ता की क्षति हुई है।

इस अलौकिक प्रसग को, जो सम्पूर्ण उपन्यास का पचमाश भी न होगा, छोड देने पर 'कायाकल्प' एक उत्कृष्ट उपन्यास ठहरता है। व्यक्ति पर परिस्थिति की प्रतिक्रिया का बडा ही सहज, स्वाभाविक एव बुद्धिग्राह्य वर्णन इस उपन्यास में मिलता है। इसके प्रधान नायक ठाकुर विशालसिंह जगदीशपुर की रानी साहिबा के चचेरे देवर है। कुल-मर्यादा निभाने की धुन में पिता काफी कर्ज छोड कर मरे। राजा विशालसिंह भी किसी तरह पुरानी शान निभाए जा रहे है और राज्य मिलने की आशा में तीन ब्याह हो चुके है। इन रानियों की मनोवृत्ति एव परस्पर कलह के चित्रण में प्रेमचन्द ने बडी ही सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया है। विशालसिंह जब तक राजा नहीं हुए थे रानी की फिजूलखर्ची तथा प्रजा पर किए गए अन्याय-अत्याचार का रोना रोया करते थे, बेगार लेने की प्रथा को जड से उठा देने की बातें किया करते थे, किन्तु उनके तिलकोत्सव पर बेगार ही नहीं ली गई दीवान हरीसेवक सिंह की सलाह से हल पीछे १०) चन्दा भी लगा दिया गया। प्रजावत्सल राजा ने दीवान को ताकीद कर दी थी—'इतना ख्याल रखिए कि किसी को कष्ट न होने पाए। आपको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि असामी लोग सहर्ष आकर शरीक हो।' राजा साहब की इस सहृदयता पर मु० ब्रजधर ने जो टिप्पणी की वह बडी व्यजनापूर्ण है। उन्होंने कहा—"हुजूर का फरमाना बिल्कुल ठीक है। अगर हुजूर सख्ती करने लगेंगे तो उन गरीबों के आँसू कौन पोछेगा। सूरज जलाता भी है और रोशनी भी देता है। जलाने वाले हम हैं, रोशनी देने वाले आप हैं।" इन खुशामदी कर्मचारियों एव राजसी वातावरण ने विशालसिह के प्रजावाद की भावना को कभी कार्यरूप में परिणत ही न होने दिया। तिलकोत्सव पर जान तोडकर काम करने वाले भूखे-प्यासे बेगार मजदूरों ने हटरो की मार से क्षुब्ध होकर बगावत कर दी और उन पर गोलियाँ चलानी पडीं। इस प्रकार प्रजा की रक्षा का स्वप्न देखने वाला राजा परिस्थितियों के दबाव से प्रजा के रक्त का टीका लगाकर सिंहासन पर बैठा। तीन रानियों से सन्तुष्ट न होकर राजा ने चौथा विवाह भी किया और पूरी तरह राजसी विलासिता के दास बन गए।

प्रेमचन्द ने एक दूसरे पात्र चक्रधर को आदर्शवादी के रूप में चित्रित किया है। देश-सुधार की धुन में वह योग्यता रखते हुए भी सरकारी नौकरी की

ओर नहीं जाते और जगदीशपुर के दीवान हरीसेवकसिंह की लड़की मनोरमा का ट्यूशन करके काम चलाते हैं। उनके उच्च विचारों से प्रभावित होकर मनोरमा उनसे प्रेम करने लगती है, चक्रधर हिन्दू-मुस्लिम दंगे को शान्त करने के लिए अपनी जान जोखिम में डालते हैं, जिससे उन्हें बड़ी कीर्ति मिली। उन्होंने जगदीशपुर रियासत की प्रजा में नवीन चेतना फूँक दी और तिलकोत्सव पर मजदूरों का पक्ष ले राजा की बन्दूक का कुन्दा खाया और फिर जेल गए। जेल में भी अपने अहिंसावाद से उन्होंने कैदियों का सम्मान प्राप्त किया और जेल से छूटने पर विशालसिंह तथा उनकी नई रानी मनोरमा—चक्रधर की प्रेमिका—आदि ने धूम-धाम से उनका स्वागत किया। चक्रधर की पत्नी अहिल्या विशालसिंह की खोई हुई लड़की निकली और उनका लड़का शंखधर राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। इस नए वातावरण की उनके चरित्र पर जो प्रतिक्रिया हुई, उसका प्रेमचन्द ने बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। इसी प्रकार मु० वज्रधर, दीवान हरीसेवक सिंह, उनकी रखेली लौंगी, चक्रधर की पत्नी अहिल्या, पहले की तीनों रानियाँ तथा नई रानी मनोरमा आदि के चित्र बड़े ही यथार्थ, स्वाभाविक एवं प्रभावपूर्ण हैं। प्रत्येक पात्र के चरित्र-विकास में कलात्मक सजगता का परिचय मिलता है। उनके व्यवहार, विचार-प्रणाली, अन्तर्द्वन्द्व, बातचीत आदि का बड़ी ही स्पष्ट, सजीव रेखाओं में चित्रण किया है और वे हमारी स्मृति में बहुत दिनों तक बने रहते हैं।

इस उपन्यास में लौकिक तथा पारलौकिक कथाओं की इस रूप में योजना की गई है कि दोनों नितान्त एकाकार हो गई हैं। जगदीशपुर की रानी देवप्रिया की अतृप्त विलास-वासना से ही कथा का आरम्भ होता है और अन्त में माया-कल्प करके युवती देवप्रिया रानी कमला के रूप में तीसरी बार अपने पति को खोकर उन्हें पाने की आशा में पूरे संयम के साथ जीवन व्यतीत करती है। यद्यपि कथा दुःखान्त है, किन्तु कमला सुखाशा में ही बीती है। मनोरमा की प्रेम-कथा में भी बड़ी गहराई है। चक्रधर के प्रेम को वह आजीवन अपने हृदय में प्रकाशित किये रही और इधर अधेड़ अवस्थावाले पति से विवाह करके पत्नी के धर्म का भी तत्परता से निर्वाह करती रही। ठाकुर हरीसेवक सिंह तथा उनकी रखेली लौंगी का प्रसंग एवं मु० वज्रधर का पारिवारिक प्रसंग भी बड़ी ही कुशलता से कथा में नियोजित है। अनेक परिस्थितियों एवं प्रसंगों की अवतारणा करके प्रेमचन्द ने उनका सफल निर्वाह किया है और इस कौशल से सबको एक सूत्र में पिरोया है कि कथावस्तु अत्यधिक सुनियोजित एवं सुगठित हो उठी है। स्थान-स्थान पर नाटकीय वर्णन-कौशल से वस्तु की प्रभविष्णुता

प्रदान की है। सामाजिक विशृंखलताओं का जहाँ वर्णन किया गया है वहाँ व्यक्ति को उत्तरदायी न बनाकर सामाजिक व्यवस्था की ही कटु आलोचना की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से 'कायाकल्प' बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है और यह कहकर कि इसमें अवास्तविक घटनाओं का विस्तार-मात्र है हम कृति एवं कर्त्ता के प्रति पूर्ण न्याय नहीं करते।

निर्मला (१९२८)

'कायाकल्प' के उपरान्त प्रेमचन्द जी ने 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' नामक दो छोटे-छोटे उपन्यास लिखे। 'निर्मला' अधिक वय में विधुर विवाह करने के दुष्परिणाम की करुण कहानी है। इस उपन्यास की नायिका निर्मला का विवाह एक बूढ़े वकील से होता है—यद्यपि उसकी सगाई एक युवक से हो चुकी थी किन्तु दहेज के रुपये न जुट सकने के कारण टूट गई। वकील साहब लाला तोताराम के तीन पुत्र पहली स्त्री से थे। इस अनमेल विवाह के कारण निर्मला का जीवन विषाक्त-सा हो उठा। कामलालसा में अन्धे लालाजी को अपने ही पुत्र मनसाराम तथा निर्मला के अनुचित सम्बन्ध पर सन्देह होता है और यह सन्देह सम्पूर्ण परिवार को नष्ट कर डालता है। पिता की सन्देहजनित उपेक्षा एवं कठोर व्यवहार के आघात से मर्माहत हो मनसाराम बीमार पड़ा और अस्पताल में पिता तथा विमाता के सामने ही उसकी मृत्यु हो गई। मझला लड़का जियाराम जिसे भाई की मृत्यु के उपरान्त पिता तथा विमाता से चिढ़ हो गई थी, घर से गहने चोरी करके भागता है और भेद खुल जाने पर, आत्महत्या कर लेता है। सबसे छोटा लड़का भी एक दिन विरक्त होकर घर से निकल जाता है। लड़के को खोजने के लिए मुशी जी जो घर से निकले तो फिर निर्मला के जीते जी न लौटे। उधर डाक्टर सिन्हा जिनसे पहले निर्मला की सगाई हुई थी, निर्मला के सामने अपना प्रेमजाल फैलाते हैं, किन्तु निराश होने पर तथा पत्नी की फटकार सुनने पर वह भी आत्मघात कर लेते हैं। निर्मला भी घुलघुल कर एक दिन मर जाती है। "मुहल्ले के लोग जमा हो गए। लाश बाहर निकाली गई। प्रश्न था कौन दाह करेगा? लोग इसी चिन्ता में थे कि सहसा एक बूढ़ा पथिक बुगचा लटकाए आकर खड़ा हो गया। यह मुशी तोताराम थे।"

'सेवासदन' की भाँति ही 'निर्मला' की वस्तु-योजना भी सुगठित एवं ठोस है। निर्मला को केन्द्र बनाकर सारी घटनाएँ बड़े सहज भाव से अग्रसर होती चलती हैं और हमारी दृष्टि एक क्षण के लिए भी उस अभागिनी नारी पर से हटने नहीं पाती। एक नारी 'सेवासदन' की सुमन थी जो पति से प्रताड़ित होकर

वेश्या-जीवन वरण करती है और दूसरी नारी यह निर्मला है जो कोटि कोटि भारतीय नारियों का प्रतिनिधित्व करती हुई मूकभाव से सामाजिक अत्याचार को सहती हुई मर्यादा का बोझ वहन करती चलती है। इस उपन्यास में एक साथ ही अनेक हत्याएँ कराकर लेखक ने इसे किंचित् अतिरंजित कर दिया है। किन्तु प्रधान पात्रों का चित्रण बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढग से किया गया है।

प्रतिज्ञा

'प्रतिज्ञा' भी एक छोटा-सा सामाजिक उपन्यास है। इसमें प्रेम-साधना और कर्तव्य-निष्ठा का सुन्दर सामजस्य अंकित किया गया है। इसे 'प्रेमा' का ही एक नवीन रूप समझना चाहिए। थोडे से पात्रों को लेकर यह छोटा-सा मनोवैज्ञानिक चित्रण पर्याप्त सरस और सुन्दर बन पडा है।

गबन (१९३०)

इन छोटे-छोटे उपन्यासों के उपरात बड़ा-सा 'गबन' निकला जो कि राई जैसे कारणों के द्वारा पर्वत-से परिणामों का प्रसार लेकर आया। इसने हमें दिखलाया कि मानव कितना दुर्बल, कितना असमर्थ है। उसकी छोटी से छोटी भूल उसे सतत नीचे की ओर ही लिए जाती है। परिस्थितियों के बहाव में निरुपाय-सा मनुष्य उठता-गिरता चला जाता है। परिस्थितियाँ ही उसका उद्धार कर सकती हैं और उन्हीं में वह संपूर्ण विलीन भी हो जा सकता है। जालपा के आभूषण-अनुराग तथा रमानाथ के मिथ्या अहंकार और आत्म-प्रशंसा में अंकुरित होकर कहानी पुलिस के मायालय में नग्न अठखेलियाँ करने लगती है। जिसकी व्यवस्था केवल जन धन की रक्षा और त्राण के लिए है वही पुलिस स्वार्थ के प्रलोभन से किस तरह निरीह प्रजा पर जाल बिछाया करती है और उसमें उन निरपराधों को फँसाकर कैसे घर के घर चौपट कर देती है, इसका दर्शन 'गबन' से अच्छा अन्य कहीं न मिलेगा।

'गबन' में प्रेमचन्द की रचनात्मक प्रतिभा का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है। इस उपन्यास की कथा-वस्तु अन्य उपन्यासों की अपेक्षा अधिक सुगठित और तर्कसगत है। घटना, चरित्र और परिस्थिति की सापेक्षता इसमें पूरी-पूरी तरह चरितार्थ हुई है। प्रारंभ से ही घटना और चरित्र एक दूसरे पर घात-प्रतिघात करते हुए चलते हैं और अन्त तक यह अन्योन्याश्रित संबंध बना रहता है। बिसातीवाली एक छोटी-सी घटना ने 'जालपा' के बाल-स्वभाव को प्रभावित किया और यह छोटा-सा प्रभाव ही घर और गाँव के वातावरण में पल्लवित होकर उत्कट आभूषण-प्रेम के रूप में प्रकट हुआ। इस आभूषण-प्रेम ने ही 'जालपा'

और 'रमानाथ' के सारे कष्टों का सर्जन किया। परन्तु यह आभूषण-प्रेम परिस्थितियों की ही सृष्टि थी, परिस्थितियों के बदलते ही पतिपरायणा 'जालपा' के चरित्र ने भी दूसरा पहलू बदला और इस परिवर्तन ने घटनाओं पर नियन्त्रण आरम्भ किया। इस तरह हम देखते है कि घटना और चरित्र की यह आँख-मिचौनी अथ से इति तक चली चलती है। 'रमानाथ' के चरित्र मे यह घात-प्रतिघात और भी स्पष्ट है। वह जब तक पढता रहा योग्य विद्यार्थी रहा। पढाई छूट जाने पर जब परिस्थिति ने उसे आवारों और शोहदों के वातावरण में ला खडा किया तो बडी तेजी से उस पर वही रग चढ चला और वह पूरी तरह से फैशन और मिथ्याप्रदर्शन का गुलाम बन गया। इस मिथ्याप्रदर्शन के फेर मे पडकर ही उसे स्त्री के गहनों की चोरी करनी पडी। इस चोरी की घटना ने 'जालपा' के चरित्र पर जो प्रतिक्रिया की उसके प्रतिकार की अभिलाषा ने ही 'रमानाथ' जैसे व्यक्ति को भी नौकरी करने के लिए विवश किया। परिस्थिति के दबाव से यहाँ भी उसने सरकारी रुपया खर्च किया और इस घटना के काल्पनिक भय ने उसके चरित्र को नवीन रूप प्रदान किया और उसने अपने लिए नवीन परिस्थितियों का निर्माण किया। यदि 'जालपा' ने अपनी सबल आत्मिक शक्ति से 'रमानाथ' का उद्धार न कर लिया होता तो वह न जाने कितने नीचे तक बह जाता। इस तरह 'गबन' के प्रधान पात्रों और घटनाओं का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि प्रत्येक चरित्र-परिवर्तन के मूल में कोई न कोई घटना है और प्रत्येक घटना चरित्र की विशेषता का फल है। इस उपन्यास में लेखक ने अपने को अधिक से अधिक निरपेक्ष रखने का प्रयत्न किया है और इसी कारण इसका कलात्मक मूल्य भी बहुत बढ गया है।

इस उपन्यास का केंद्रबिंदु 'रमानाथ' है उसके चरित्र का कोई स्थायी पहलू नहीं है। विवाह के पूर्व तक वह साधारण विद्यार्थी रहा जिसमें कुसगति के प्रभाव से मिथ्या-प्रदर्शन और डींग हाँकने की प्रवृत्ति जोर पकडती जा रही थी। विवाह के उपरात वह स्त्री पर इतना अनुरक्त हो गया कि उसे प्रसन्न रखना ही उसके जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य हो गया। उसने अपने घर की वास्तविक स्थिति को 'जालपा' तक से छिपा रखा और उसके सामने सदैव अपने पिता के ऐश्वर्य के कल्पित चित्र खींचता रहा। उसकी इच्छाओं को पूरा करने में उसने सदैव कल्पना से काम लिया और उसे प्रसन्न रखने की चेष्टा में ही वह घूस लेता है, कर्ज लेता है और कर्ज चुकाने के लिए एक दिन दफ्तर के कुछ रुपये भी ले लेने के लिए बाध्य होता है। यदि उसमें तनिक भी व्यवहार-कुशलता होती तो परिस्थिति को सँभाल ले जाता, किन्तु उसके अस्थिर चित्त की कल्पनाएँ

उसे इतना भयभीत कर देती है कि उसे मुँह छिपाकर भागना ही पड़ता है। वह कुछ दिनों तक छिपकर कलकत्ते के एक विश्वसनीय खटिक-परिवार में दिन बिताता है, किंतु उसके पीछे दिन-रात जो एक भय का भूत लगा रहता है, वह एक दिन अनायास उसे पुलिस के चगुल में फँसा देता है। कर्मकुशल पुलिस-कर्मचारी तो एक ऐसी ही कठपुतली की तलाश में थे। उसे बड़े-बडे प्रलोभन दिए गए जिसे दृढभय से स्वीकार करके वह 'मुखबिर' बन जाता है। इसी एक मार्ग से उसे अपने मनःकल्पित अभियोग से मुक्ति तथा सासारिक उन्नति दिखाई पड़ी। यदि बीच में 'जालपा' न आ जाती तो उस पाप-पक से वह अपने को कभी उबार न पाता और कितने ही निरीह व्यक्तियों की हत्या का भागी बनता। जालपा के सबल व्यक्तित्व का पुलिस अधिकारियो पर अधिक प्रभाव पडा और उसने अपना बयान बदल डाला। सच पूछा जाय तो उसका अपना कोई व्यक्तित्व ही नहीं है और इसीलिए वह परिस्थितियों की धारा में डूबता-उतराता बहता चला जाता है।

इसके विपरीत उसकी स्त्री 'जालपा' का व्यक्तित्व बड़ा ही सबल है। जब हम आरंभ में उसे देखते हैं तो वह बिलकुल सामान्य देहाती लडकी-सी लगती है। किन्तु रमानाथ के अदृश्य होते ही वह एकाएक बिलकुल असाधारण हो उठती है। जिन बातों को हमने उसके चरित्र का स्थायी पहलू समझा था, परिस्थति बदलते ही वे हमें बिलकुल अस्थायी-सी लगती हैं। स्थिति की यथार्थता से अवगत होते ही उसने अपनी भूल समझी और फिर प्राणपण से इसके प्रायश्चित्त के लिए तैयार हो गई। अपनी कर्तव्य-परायणता से ही वह अपने डूबते हुए पति का उद्धार कर लेती है। 'जालपा' में लेखक ने अपनी सपूर्ण सबलताओं-दुर्बलताओं के साथ एक भारतीय नारी का मंगलमय रूप सजीव कर दिया है।

'जालपा' की सहेली 'रतन' का चरित्र भी कम महिमामय नहीं है। उसका सदनुराग, सरल प्रेम, धर्मपरायणता, पति-भक्ति, स्वार्थत्याग, सेवानिष्ठा सब अनुपम है।

इस सपूर्ण उपन्यास में 'देवीदीन' खटिक तथा उसकी स्त्री 'जग्गो' का चरित्र बडा ही सहज, स्वाभाविक एव सुन्दर बन पडा है। ससार के विषय में उस अपढ 'देवीदीन' का अनुभव बडा खरा है। 'रमा' को देखते ही उसे वास्तविक स्थिति का आभास मिल गया था और 'गबन' की बात जानकर भी वह उसे आश्रय देने में न हिचका। अपने जवानी के दिनों में स्त्री का मन रखने के लिए ही वह स्वय 'जेहल' काट चुका है। देश-भक्ति उसकी नस-नस

में प्रवाहित होती है। विदेशी वस्त्र की दूकानों पर धरना देते-देते उसके दो जवान बेटे गोली से उड़ा दिए गए। "उस वखत ऐसा जान पड़ता था कि मेरी छाती गज भर की हो गई है, पाँव जमीन पर न पड़ते थे, यही उमग आती थी कि, भगवान ने औरों को पहले न उठा लिया होता तो उन्हें भी भेज देता !" 'रमानाथ' से यह कहते समय गर्व से बुड्ढे की छाती फूल उठी थी। भद्र समाज की उसकी आलोचना बड़ी अनुभवसिद्ध है। "वह शहीदों की शान से बोला—इन बड़े-बड़े आदमियों के किए कुछ न होगा, इन्हें बस रोना आता है, छोकरियों की भाँति बिसूरने के सिवा इनसे कुछ नहीं हो सकता! बड़े-बड़े देस-भगतों को बिना बिलायती सराब चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो तो एक भी देसी चीज न मिलेगी। दिखाने को दस-बीस कुरते गाढे के बनवा लिए और सब सामान बिलायती है।" कबल बँटवानेवाले सेठ 'करोड़ी-मल' के विषय मे उसकी राय है, "उसे पापी कहना चाहिये, महापापी। दया तो उसके पास से होकर भी नहीं निकलती। उसकी जूट की मिल है। मजदूरों के साथ जितनी निर्दयता इसकी मिल मे होती है और कहीं नहीं होती। आदमियों को हटरों से पिटवाता है, हटरों से! चरबी-मिला घी बेचकर इसने लाखों कमा लिए। यदि साल में दो-चार हजार दान न कर दे तो पाप का धन पचे कैसे ?" किंतु भीतर से इस अनुभवी खटिक का हृदय नवनीत की तरह स्निग्ध है। वह आदमी पहचानता है और प्रेम के मूल्य को जानता है। मानव की महत्ता उसकी आँखों में पैसे से कहीं अधिक है और इसीलिए तो भोले 'रमानाथ' के लिए उसके हृदय में इतनी ममता है। बुढ़िया 'जग्गो' उसे चाहे प्रतिदिन ऊपर मे कितनी ही फटकार सुनाए किन्तु उसे जानती है। 'जग्गो' के सामने दुनिया का अनुभव रखनेवाला 'देवीदीन' भींगी बिल्ली बन जाता है। इस दपति के बाह्य आवरण को भेदकर प्रेमचन्द ने इनके अन्तरतर के जिस आलोक का आभास दिया है वह अलौकिक है।

'गबन' के अन्त में भी प्रेमचन्द ने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार एक स्वर्ग का निर्माण किया है जहाँ पर सभी पात्र कर्मयोग में, अविरत उद्योग में, सुख-सन्तोष और शाति का अनुभव करते हैं। यहाँ पर भी 'जोहरा' को कोई व्यवस्था न कर सकने के कारण प्रेमचन्द उसे नदी की लहर में ढकेल देने के लिए बाध्य हुए हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि उन्होंने प्रायः सभी में समाज के किसी न किसी अत्याचारी वर्ग की धाँधलियों को अनावृत करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि भारतीय

पुलिस की कार्यवाहियों का खोखलापन दिखाने के लिए इससे बढ़कर दूसरा उपन्यास न मिलेगा। भारतीय पुलिस सच्चे अपराधियों की खोज नहीं करती, बल्कि अपनी कार्यवाही दिखलाने के लिए कुछ लोगों को अपराधी सिद्ध कर देने में ही अपनी सफलता समझती है। इसके लिए वह उचित-अनुचित सभी उपायों का अवलंबन कर सकती है।

'गबन' की उत्कृष्टता का एक और कारण भी है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' या 'कायाकल्प' आदि में जो सुधारवादी आंदोलन खड़े किये गये हैं वे अपने अनावश्यक प्रसार के कारण कभी-कभी पाठक को विरक्त करते हैं और उसमें अत्यधिक सुधार की प्रवृत्ति देखकर वह कुढ़ उठता है, परंतु 'गबन' सोद्देश्य होते हुए भी किसी 'सेवा-सदन', 'सेवा-भवन' या 'प्रेमाश्रम' की स्थापना को ध्येय बनाकर नहीं चला है। इसके अतिरिक्त 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'काया-कल्प' तथा 'कर्मभूमि' की इतनी अधिक घटनाएँ एक सी हैं कि एक को पढ़ लेने के उपरांत बिलकुल उन्हीं ब्योरों के साथ दूसरा पढ़ने पर पाठक उसमें तन्मय नहीं होता। उपन्यास का एक प्रधान उद्देश्य मनोरंजन भी है, अतएव लेखक को यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह बिलकुल एक सी मिलती-जुलती कहानियों की रचना न करे, अन्यथा पाठक का उनसे पर्याप्त मनोरंजन न होगा। कहना न होगा कि वस्तु-वैभिन्य के कारण 'सेवा-सदन', 'गबन' और 'गोदान' में जी कुछ रमता है और विशेषतया 'रंगभूमि' आदि आंदोलनवाले उपन्यासों के पढ़ चुकने के उपरांत।

कर्मभूमि (१९३२)

'निर्मला', 'प्रतिज्ञा' और 'गबन' यद्यपि समय की माँग से प्रभावित होकर समाज और शासन-व्यवस्था के किसी न किसी दुर्बल अंग का ही प्रदर्शन करते हुए आए थे परन्तु 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' आदि के समान उनमें किसी विस्तृत आंदोलन का प्रयास नहीं मिलता। 'गबन' के द्वारा देश के विभिन्न राजनीतिक षड्यंत्र के मुकदमों में पुलिस की धाँधली का संकेत अवश्य कराया गया है, परन्तु वह प्रधान विषय नहीं है। सन् १९३० में एक बार पुनः देश ने 'प्राणों की बाजी' लगाई और सविनय अवज्ञा का दौरदौरा चला। इस स्वतंत्रता-युद्ध में पुलिस ने विभिन्न प्रांतों में बड़े-बड़े अमानुषीय अत्याचार किए। छोटी-छोटी बातों पर गोलियाँ चलीं और बेचारे किसान तंगदस्ती के कारण लगान न चुकाने पर विद्रोही समझे जाकर सख्तियों के शिकार बने। पुरुषों की तो बात ही क्या पिकेटिंग करती हुई परदे में रहनेवाली हिंदू तथा मुसलमान महिलाएँ भी

गिरफ्तार हुईं और उन पर मानवता के समस्त नियमों के विरुद्ध दिन-दहाड़े अत्याचार किए गए।* इन सबको देखकर समय के साथ चलनेवाले प्रेमचद एक बार पुनः 'कर्मभूमि' में आये और देश के इस वीर प्रयत्न का विशद चित्रण किया। 'कर्मभूमि' भी 'रगभूमि' तथा 'प्रेमाश्रम' की भाँति दलित किसानों एव मजदूरों की मूक वाणी का स्वर है। इसमें शिक्षा-सस्थाओं की अर्थव्यवसायी नीति, म्युनिसिपल कर्मचारियों की स्वार्थपरता, सेठ-साहूकारों के धनार्जन के घृणित उपाय, मठाधीश-महत तथा जमींदारों की विलासिता एव क्रूरता तथा राजकर्मचारियों के आत्मपतन तथा स्वेच्छाचार आदि की कलात्मक दृष्टि से सुदर व्याख्या हो गई। इस उपन्यास में 'सुखदा', 'मुन्नी', 'रेणुका देवी', 'नैना', 'सकीना' तथा 'पठानिन' आदि महिलाओं ने पुरुषों की अपेक्षा अधिक सफलता के साथ सत्याग्रह-संग्राम का सचालन करके देश की जागर्ति और सजीवता का आदर्श परिचय दिया। उपन्यास के अत में जब इस 'कर्मभूमि' के सभी नायक और नायिकाएँ जेल में आ जाती है तो सेठ 'समरकात' के मुख से 'गवर्नर साहब' की यह आज्ञा कि 'सारे कैदी छोड दिए जायँ और एक कमेटी करके निश्चय कर लिया जाय कि हमें क्या करना है' सुनकर हमे १९३१ में किए गए गाधी-इरविन-समझौते की बात याद आ जाती है। 'कर्मभूमि' के इस समझौते के उपरात प्रेमचद पुन इस झगड़े में पडने न गए। उन्होंने मानो समझ लिया कि ऐसे आदोलनो से "सैकडों घर बरबाद हो जाने के सिवाय और कोई नतीजा नहीं निकलता।"§ "इनसे प्रेम की जगह द्वेष बढ़ता है। जब तक रोग का ठीक निदान न होगा, उसकी ठीक औषधि न होगी, केवल बाहरी टीम-टाम से रोग का नाश न होगा।"† इस रोग का नाश करने के लिए उन्होंने बताया कि "हमें प्रजा मे जाग्रति और सस्कार उत्पन्न करने की चेष्टा करते रहना चाहिए। हमारी शक्ति पूरी जाति की आत्मा को जगाने में लगनी चाहिए।"†

'रगभूमि' और उसके उपरात 'गबन' में प्रेमचदजी ने जिस उत्कृष्ट कोटि की रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया था, 'कर्मभूमि' में उसका पूरी तरह से निर्वाह किया गया है। यद्यपि पात्रों की बहुलता हो जाने के कारण कुछ के चरित्र पूरी पूरी तरह परिस्फुट नहीं हो सके हैं तो भी इन पात्रों का जितना चित्रण हुआ है वह बडा ही सजीव, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। परतु 'कर्मभूमि' के उत्तरार्ध

---

*देखिए 'काग्रेस का इतिहास'—श्री पट्टाभि सीतारामैया।

§ कर्मभूमि,

† वही,

में भी 'प्रेमाश्रम' की भाँति प्रेमचद की सुधारक वृत्ति प्रबल हो उठी है। अतएव इसका उत्तरार्ध उतना सुदर नहीं है जितना पूर्वार्ध।

गोदान (१६३६)

'सेवा-सदन' के बाद से ही छिद्रान्वेषी आलोचकों ने प्रेमचद पर आदर्श-वादी, सुधारवादी और न जाने कौन कौन वादी होने का दोषारोपण आरभ कर दिया था। यद्यपि अपने जीवनकाल में प्रेमचद ने इन आलोचनाओं की कभी परवाह नहीं की, फिर भी 'कर्मभूमि' तक पहुँचते-पहुँचते जीवन की सतत पराजय ने इस आशावादी सैनिक को भी थोडा बहुत विचलित किया ही। वे जितना ही आदर्श की ओर बढ़ते गए वह उनसे उतना ही दूर होता गया और कम से कम उनके जीवनकाल में तो उनके स्वप्न स्वप्न ही रह गए। अतएव मृत्यु की ओर बढ़ते हुए प्रेमचंद ने 'गोदान' देकर किंचित् क्षोभ के साथ ही उठ-उठकर गिर जानेवाले जीवन की नैराश्यपूर्ण कठोर वास्तविकता का नग्न परिचय कराया। इस उपन्यास में न तो 'रगभूमि' की भाँति जीवन का कोई आशावादी दार्शनिक सदेश है, न 'प्रेमाश्रम' की भाँति किसी 'रामराज्य' का आदर्श स्वप्न, और न 'सेवा-सदन' की भाँति समाज-सेवा का कोई कार्यक्रम। इसमें तो केवल जीवन के जीते-जागते चित्र हैं और उसकी अनेक समस्याएँ। अन्य उपन्यासो की भाँति इन समस्याओं का समाधान बताने का तनिक भी प्रयास नहीं किया गया है और इसीलिए यह उपन्यास अपूर्ण सा लगता है, परतु इस अपूर्णता में भी पूर्णता के प्रति एक आकाक्षा है, एक सकेत है। 'गोदान' के होरी की पराजय में व्यक्ति की आत्मा की विजय का वह सुखद संदेश नहीं है जो 'रगभूमि' के 'सूरदास' या 'विनय' में है। यही 'गोदान' की अपूर्णता है। परन्तु यह अपूर्ण उपन्यास भी हमारे ग्रामीण जीवन की कुरूपता पर अभूतपूर्व ढग से प्रकाश डालता है।

'गोदान' में ग्रामीण जीवन के उपर्युक्त अन्धकार-पक्ष को सवेदनापूर्वक ग्रहण करने के लिए ही प्रेमचद को नागरिक जीवन भी साथ-साथ लेकर चलना पडा और इस तरह उसकी भी अच्छी-सी व्याख्या हो गई। 'गोदान' में एक ओर 'होरी' और उसके गाँववालों की सघर्षपूर्ण करुण कहानी है, तो दूसरी ओर 'मालती-मेहता' के मित्रों का आमोद-प्रमोद, शिकार-थियेटर से पूर्ण विलासमय जीवन। इन दो प्रकार के जीवनों को साथ-साथ रख देने से एक के सहारे दूसरे की शक्ति और दुर्बलता के बोध में सहायता तो मिलती है परन्तु दोनों कहानियों के बीच अत्यन्त क्षीण सबधसूत्र होने के कारण कथा में प्रभाव की अन्विति का अभाव खटकता है। आपस में कोई निसर्ग सबध न होने के कारण

दोनो कहानियाँ स्पष्टतः चिपकाकार रखी हुई सी जान पडती हैं। यह उपन्यास का एक दोष है। कलाकार चाहे कितने ही प्रकार के जीवनो का चित्रण क्यों न करे परन्तु उसको चाहिए कि वह उनके चुने हुए अशो को लेकर कहानी को ऐसा सुगठित रूप दे कि वह एक अविच्छिन्न समष्टिवत् दिखाई पडे और समस्त मिलकर एक ही प्रभाव पाठक पर डाले। इस दृष्टि से 'गोदान' का कथानक बिखरा-सा लगता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'गोदान' केवल वर्तमान का एक निष्पक्ष चित्र है। उसमें आगत 'भविष्य की सभावनाओं' की झाँकी नहीं कराई गई है। इसमें तो एक चरित्र को लेकर उसे अनेक परिस्थितियो मे डालकर तथा बहुत से पात्रो और चरित्रों के ससर्ग मे लाकर समाज का एक जीवित चित्र निर्माण किया गया है। इसमें भी 'गबन' की भाँति कथा-वस्तु और चरित्र में भेद नहीं रह गया है। 'होरी' के चरित्र की थोडी-सी विशेषता दिखाकर और उसे एक विशेष वातावरण में रखकर लेखक तटस्थ होकर स्वय द्रष्टा बन जाता है। 'होरी' अपने जातिगत स्वभाव से ही नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है और फिर बेबस सा स्वय भी उनके अनुसार ही ढल जाता है। इस तरह परिस्थितियों की तरगों में डूबता-उतराता, नियति के हाथों का खिलौना वह कृषक जीवन-यात्रा के अतिम छोर तक चला जाता है। परन्तु नगरवाले कथानक में यह बात इतनी स्पष्ट नहीं है। वहाँ पर परिस्थितियों की प्रतिक्रिया व्यक्ति पर इतनी सरलता से नहीं होती। राय साहब, मिर्जा खुरशेद तथा मेहता आदि प्रायः सभी में अपनी वैयक्तिकता है। परतु यह वैयक्तिकता इतनी सबल भी नहीं है कि वह परिस्थितियों को तोड-मरोड सके। गाँववाली कहानी का विकास नगरवाली की अपेक्षा अधिक क्रमिक तथा सगत है। इसकी गभीरता के सामने नगरवाली कहानी बहुत ही हल्की लगती है। ग्रामवाली कहानी की अपेक्षा नगरवाली कहानी में घटनाएँ कुछ अधिक हैं और एक-आध तो निरर्थक-सी भी हैं। बेचारे खन्ना की मिल में बैठे-बिठाए आग लगा देने से कथा के विकास में कहाँ तक सहायता मिली समझ में नहीं आता। सिवाय इसके कि गोविंदी के दिन फिर जायँ— धन-मद से विरक्त होकर खन्ना उसे प्यार करने लगें— इस घटना का कोई उद्देश्य लक्षित नहीं होता। इसके अतिरिक्त नगर के सभी सभ्य नागरिकों के बीच "नगी देह, केवल जाँघिए पहने हुए' कबड्डी के मैदान में डाक्टर मेहता और खुरशेद का उतर आना थोडा असगत-सा लगता है, परतु वहाँ तो प्रेमचन्द मेहता को पूरा 'फिलॉसफर' सिद्ध करने को हाथ धोकर पीछे पड़े थे।

गाँववाली कहानी का नायक 'होरी' है जो व्यक्ति नहीं वर्ग है। वह भारतीय किसान का एक जीता-जागता चित्र है। उसमें गुण भी हैं और दुर्गुण भी। वह अपने कुटुम्ब से प्रेम करता है, ईश्वर से डरता है, सामाजिक मर्यादा को स्वीकार करता है। दुनिया की मार ने उसे अनुभवी बना दिया है। वह जानता है कि "जब दूसरों के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।" उसकी विनम्रता इसी अनुभूति का परिणाम है, और इस विनम्रता के कारण ही वह इस गाँव के मुखिया लोगों का आजीवन उत्पीडन सहता रहा। किन्तु अत्यत विषम परिस्थिति में भी उसकी ग्रामीण सहृदयता सजग रही। जिस समय रात को खेत पर आकर 'धनिया' समाचार देती है कि 'गोबर' द्वारा छोडी हुई गर्भवती 'झुनिया' उसके दरवाजे पर आश्रय माँगने आई है तो वह क्रोध से तमतमा उठता है और उसे हाथ पकडकर दूर कर देने की बात कहता है। किंतु पैरों पर पडी हुई झुनिया से वह यही कह सका—"डर मत बेटी, डर मत, तेरा घर है, तेरा द्वार है, तेरे हम हैं आराम से रह।" इस झुनिया के लिए समाज के ठेकेदारों ने उस पर कम अत्याचार नहीं किए, किंतु वह सब कुछ मूकभाव से सहता हुआ उसे ओट में किये रहा। जब तक कुटुम्ब सम्मिलित था वह अपने छोटे भाइयों 'हीरा' और 'शोभा' को पुत्रवत् पालता रहा, अलग हो जाने पर भी उनकी मर्यादा को अपनी ही मर्यादा समझता है। यह जानते हुए भी कि भाई ने ही उसकी गाय को विष दिया वह यह सहन नहीं कर सकता कि पुलिस उसके घर की तलाशी ले। क्योंकि सामाजिक दृष्टि से इसमें उसकी भी हेठी है। भाई के भाग जाने पर वह यथासाध्य अनाथा भावज की सहायता करता है। यदि उसे कष्ट होता तो दुनियावाले तो 'होरी' पर ही उँगली उठाते। किंतु उसमें स्वार्थ की मात्रा कम नहीं है। लोगों की दृष्टि बचाकर छोटे-मोटे स्वार्थ साध लेना उसकी दृष्टि में अनुचित नहीं। "घर मे दो चार रुपए पड़े रहने पर भी महाजन के सामने कसमें खा जाता था कि एक पाई भी नहीं है। सन को कुछ गीला कर देना और रुई में बिनौले भर देना उसकी नीति में जायज है।" "अपने भाई के ही दो-चार रुपए दबा लेने के लिए वह 'दमडी' बंसोर को ज्यादा लाभ देने को तैयार हो जाता है, क्योंकि उस पर बाहर वालो की दृष्टि नहीं पडती। व्यक्तिगत सदाचार की अपेक्षा सामाजिक सदाचार का उसे अधिक ध्यान रहता है। इस 'होरी' का जीवन अथ से इति तक कठिनाइयों के साथ सतत सघर्ष में ही बीता है। वह एक दुःख सुलझा नहीं पाता कि दूसरा उपस्थित हो जाता है। वशमर्यादा की रक्षा मे वह दिन-दिन महाजनो के जाल मे फँसता जाता है और एक दिन ऐसा आता है कि उसका घर-बार, हल-बैल सब कुछ

सक्ता है और न घटना-प्रधान। अधिकतर प्रेमचन्द एक विशेष वातावरण एवं परिस्थिति में कुछ विशिष्ट मनःस्थिति वाले पात्रों को रखकर कथा का सूत्रपात कर देते हैं। उसके उपरान्त व्यक्ति एवं परिस्थिति की प्रतिक्रिया से कथानक अग्रसर होता है। व्यक्ति के क्रियाकलाप नई-नई परिस्थितियों का निर्माण करते हैं और परिस्थितियो के अनुसार ही चरित्र का विकास होता है। यद्यपि चरित्र विवशतापूर्वक घटनाओं के साथ आबद्ध हैं, फिर भी उनका मनोबल इतना प्रबल है कि घटनाओं को साथ लिए चलता है। परिस्थितियों का मानव पर क्या प्रभाव पडता है? तथा मानव किस तरह स्वयं नई परिस्थितियों की सृष्टि करता है, इसका प्रेमचन्द ने बहुत सुन्दर आभास दिया है।

चरित्र-चित्रण की यथार्थवादी कला का विकास एवं पूर्ण उत्कर्ष प्रेमचन्द की कृतियों में ही हुआ। उनके पात्र कहीं बेगाने देश के वासी नहीं, हमारे ही दु ख-संतापपूरित ससार के निवासी होते हैं। मानव की दुर्बलता-सबलता सभी की इन कल्पनाचित्रों मे प्राण-प्रतिष्ठा करके इस कलाकार ने अपनी सृष्टि को हमारे जगत् के बहुत निकट ला दिया है। उनके उपन्यासों के पात्र हमारे चारो ओर चलने-फिरने, उठने-बैठने वाले प्राणी हैं। इनके रूप-रग, बोल-चाल, कार्यप्रणाली, मनोदशा, रहन-सहन सबका इतना जीवनवत् वर्णन किया गया है कि हमें वास्तविकता का भ्रम हो जाता है। परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में ढले हुए इनके चरित्र मानव-सौन्दर्य एव सीमा के प्रतीक हैं।

प्रायः कहा जाता है कि प्रेमचन्द ने व्यक्तियों का चित्रण न करके वर्गों का चित्रण किया है जिसका आशय यह है कि उनके पात्र वर्गविशेष की मनोवृत्ति के परिचायक हैं। किसान, जमीन्दार, साहूकार, हाकिम, वकील, दारोगा, पटवारी आदि विभिन्न वर्ग एवं पेशे के व्यक्तियों में से जहाँ एक व्यक्ति का चित्रण किया है वहाँ उस वर्ग की सभी विशेषताएँ उसमें एकत्र कर दी गई है और उस एक व्यक्ति के रूप में हम पूरे वर्ग को देख लेते हैं। इस प्रकार की सामूहिक मनोवृत्ति के चित्रण में प्रेमचन्द बेजोड है। उन्हें तत्कालीन भारतीय समाज का कलात्मक अकन करना था, अतएव उन्होंने व्यक्ति को केन्द्र न मानकर समाज को ही केन्द्र माना और उनके उपन्यास सामाजिक यथार्थ के चित्रण में पूर्णरूपेण सफल रहे। समाज-सापेक्ष्य व्यक्ति की वैयक्तिक विशेषताओं में भी उनकी पूरी पैठ रही है और उनके पात्रों के द्वारा व्यावहारिक मनोविज्ञान का बडा सुन्दर परिचय मिलता है। हाँ, यह अवश्य है कि प्रेमचन्द अज्ञेय आदि के समान अपने पात्रों का मनोविश्लेषण करने नहीं बैठे और उनमे दमन, घुटन, कुण्ठा, यौन-विकृति आदि के चित्रण का प्रयास नहीं मिलता। किन्तु परिस्थिति के

अनुसार मनुष्य के भीतर किस प्रकार छोटे-छोटे भाव-विचार-बुद्बुद् उठते और विलीन होते रहते हैं इसके चित्रण की प्रेमचन्द में अद्भुत क्षमता है।

चरित्र-चित्रण के लिए प्रेमचन्द वर्णन एवं वार्तालाप दोनों ही का बड़ी कुशलता से उपयोग करते है। जिस प्रकार कुशल चित्रकार कतिपय रेखाओ से चित्र में सजीवता तथा व्यजकता ला देता है उसी प्रकार प्रेमचन्द कुछ चुने हुए व्यंजक शब्दो के द्वारा पात्र-विशेष को हमारे सामने खडा कर देते हैं। 'रंगभूमि' में ताहिर अली, नायकराम, महेन्द्र प्रताप, 'गोदान' में दुलारी, सहुआइन, पटेसरी, झिंगुरी सिंह, तथा 'प्रेमाश्रम' में चपरासी-कारिन्दों के जो हास्य-व्यग-गर्भित शब्द-चित्र दिए गए हैं वे अपनी यथार्थता एवं व्यंजना में अद्वितीय हैं। वर्णन के द्वारा पात्र की आकृति एवं चरित्रगत विशेषताओं का रेखा-परिचय दे लेने के बाद प्रेमचन्द वार्तालाप एव क्रियाकलाप के द्वारा रेखाओं में रूप भरते हैं और चरित्र का एक एक अग धीरे-धीरे स्पष्ट होता चलता है। किसके चरित्र का कौन सा अग दुर्बल है, किसकी कैसी मनोवृत्ति है ये कलाकार के नेत्रों से छिपे नहीं होते और उन्हीं के अनुसार वह चित्र मे रग भरता चलता है। मानव-मन की प्रवृत्तियों के भीतर जितनी पैठ प्रेमचन्द की है, उतनी कम लोगों की होगी।

पात्रों की बातचीत से उनके चरित्र की विशेषताओं को प्रदर्शित करने में प्रेमचन्द अद्वितीय है। उनके हाथो औपन्यासिक कथोपकथन का सौंदर्य खूब निखर आया। उनके पात्रों की बातचीत जितनी स्वाभाविक, उपयुक्त और चुस्त होती है, उतनी कम उपन्यासकारों के पात्रों में मिलेगी। उनके लम्बे से लम्बे कथोपकथन भी सरस और सजीव होते है। प्रेमचन्द का परिचय, समाज के निम्न से लेकर उच्चवर्ग के लोगो तक, इतने निकट का है, उनकी जीवन रीति, मनोवृत्ति एवं बोलचाल को उन्होंने अपने भीतर इतना भर लिया है कि पात्रों के अनुसार भाषा आप से आप प्रवहमान रहती है। कथोपकथन की चुस्ती एवं सरसता-सजीवता ही इनके उपन्यासों का प्राण है।

भाषा पर असाधारण अधिकार ही प्रेमचन्द की सफलता का रहस्य है। उनकी आरम्भिक कृतियों मे अवश्य थोड़ी-बहुत भाषा की शिथिलता मिलती है परन्तु थोड़े ही दिनों के बाद उनमे वह तेजस्विता और सरसता, वह भाव-व्यजकता और माधुरी आ गई, जो हिन्दी-साहित्य में एक नवीन उपलब्धि थी। उर्दू के साधारण शब्दो के मेल से बनी हुई जिस भाषा का प्रयोग प्रेमचन्द ने किया उसमें अपनी गति है, अपना प्रवाह है और वह जन-मानस के दुकूलो को छूती हुई चलती है। पात्रों की बातचीत में अधिकतर उन्होंने पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग का ही प्रयास किया है। हिन्दू घरो मे हिन्दी और पढ़े-लिखे मुसलमानो

से उर्दू बोलवाई गई है। किन्तु ग्रामीण पात्रों ने चाहे वह हिन्दू हों या मुसलमान जिस भाषा का प्रयोग किया है उसमें देहाती बोली तथा हिन्दी का असाधारण एकीकरण हुआ है। खडी बोली हिन्दी में दिहाती शब्दो एवं मुहावरो का प्रयोग करके प्रेमचन्द ने जिस भाषा का निर्माण किया उसमें अत्यधिक स्वाभाविकता है। गॉव के वातावरण से ही उन्होंने मुहावरों, कहावतों, एवं हास्य-व्यग की उक्तियों का चयन किया और उनका ऐसा उपयुक्त प्रयोग किया कि उनमें नूतन व्यजकता आ गई है। उनके उपमान भी गॉव के ही परिचित दृश्यो से चयन किये गए है। अतएव उनकी भाषा के अलकार उसकी सहज-सरल सुन्दरता को और भी वढा देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द का महत्व केवल इसी बात में नहीं है कि उन्होंने तत्कालीन समाज की अनेक पक्षीय समस्याओं एव विकृतियों की ओर सकेत करके उनके सुधार की ओर संकेत किया और अपने युग एव समाज के साहित्यिक स्वर बने वरन् उनका महत्व इस बात में भी है कि उन्होंने कथा-साहित्य को एक नूतन कलात्मक गरिमा दी।

लोग प्रायः शरत् और रवींद्र से प्रेमचद की तुलना कर दिया करते हैं और कोई एक को बडा ठहराता है, कोई दूसरे को। प्राय· लोग कहते हुए पाए गए हैं कि बगला-साहित्य हृदय को अधिक छूता है, उसमें अधिक तीव्रता होती है, वह मन को अधिक अटकाए रहता है। यह बात कुछ हद तक ठीक भी है। इसका प्रधान कारण यह है कि बँगला-साहित्य में स्त्री-भावना अधिक है और प्रेमचद में उसकी कमी है। शरत् और रवींद्र दोनों ही महान हैं परंतु प्रेमचद की महत्ता और ही तरह की है। रगभूमि मे प्रभुसेवक की कविता की सोफी द्वारा आलोचना कराकर प्रेमचद ने अपनी स्थिति पूरी तरह स्पष्ट कर दी है। सोफी कहती है—"तुम्हारी कविता बहुत उच्चकोटि की है। मैं इसे सर्वाङ्ग-सुदर कहने को तैयार हूँ। लेकिन तुम्हारा कर्तव्य है कि अपनी इस अलौकिक शक्ति को स्वदेश बधुओं के हित में लगाओ। अवनति की दशा में शृंगार और प्रेम का राग अलापने की जरूरत नहीं होती, इसे तुम भी स्वीकार करोगे। सामान्य कवियो के लिए कोई बधन नहीं है—उन पर कोई उत्तरदायित्व नहीं है, लेकिन तुम्हें ईश्वर ने जितनी ही महत्त्वपूर्ण शक्ति प्रदान की है उतना उत्तरदायित्व भी तुम्हारे ऊपर ज्यादा है।"* सचमुच ही प्रेमचंदजी के ऊपर बहुत बडा उत्तरदायित्व था। वे राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रमुख उपन्यासकार थे। उनकी रचनाएँ हिमालय से कन्या-

*देखिए रगभूमि, पृष्ठ १५७।

कुमारी तक पढ़ी जायँगी। अतएव यह आवश्यकता थी कि उसमें जीवन की अधिक से अधिक मार्मिक दशाओं तथा समाज और देश की अधिक से अधिक समस्याओं का समाहार हो। बंग-साहित्य तथा प्रेमचद-साहित्य में वही अतर है जो सूर-साहित्य तथा तुलसी-साहित्य मे है। एक में जीवन के कुछ चुने हुए सरस पक्षों का ही दिग्दर्शन है और दूसरे में सपूर्ण जीवन। मानव-मगल के लिए कौन अधिक उपयोगी है इसे समझाने की आवश्यकता नहीं है। प्रेमचद के उपन्यास हमारी राष्ट्रीय जागर्ति के इतिहास हैं। कालातर में यदि इस समय का इतिहास लुप्त हो जाय और इनकी रचनाएँ बची रह सकें तो इन्हीं के आधार पर विचार-शील निर्णायक देश की सामाजिक एवं राष्ट्रीय जागर्ति का व्यापक आभास प्राप्त कर सकता है।

जयशंकर प्रसाद (१८८९-१९३७)

कविवर 'प्रसाद' जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। कविता, नाटक, कहानी तथा उपन्यास, साहित्य के इन सभी प्रमुख अगों को उन्होंने नवीन रूप दिया, नूतन चेतना दी। ककाल (१९२९) उनका प्रथम उपन्यास है। इसमें वर्तमान के एक विशेष पक्ष का विशेष दृष्टि से चित्रण किया गया है। मनुष्य-समाज ने सभ्यता के विकास मे अनेक धार्मिक तथा नैतिक मान्यताओं एव सस्थाओं की स्थापना की है। इनके मूल में सामूहिक कल्याण की भावना ही काम करती है किन्तु इन्हीं पर इतना आग्रह हो गया कि व्यक्ति की उपेक्षा की जाने लगी और उसकी सहज प्रवृत्तियों को पग-पग पर कुचलने का प्रयास होने लगा। मानव-मगल की भावना से प्रेरित सस्थाएँ उत्पीडन का कारण बन चलीं और इनके चक्र मे आक्रान्त व्यक्ति स्वय में बडा दयनीय हो उठा। 'ककाल' में सामाजिक बन्धनों एव व्यक्ति की सहज प्रवृत्तियों के सघर्ष से उद्भूत विषमताओं का मार्मिक अकन किया गया है।

प्रयाग, काशी, हरद्वार, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थस्थान ही 'ककाल' की कथा के केन्द्र हैं। इन पुण्य स्थानों में धर्म का आवरण डालकर मनुष्य की निम्नगा प्रवृत्तियाँ किस प्रकार क्रीडा करती है इनका कलात्मक अकन ही 'कंकाल' का विषय है। देवनिरजन कुभ मेले के सबसे बड़े महात्मा है। ब्रह्मानन्द के रस में निमग्न वे सपूर्ण भक्त-मण्डली को उसी रस का पान कराते है। किन्तु बाल्यसखी युवती किशोरी को देखते ही उनका मन चचल हो उठता है और वे मानवी भूख की उपेक्षा नहीं कर पाते। महन्त बने रहकर भी, दुनियाँ को धोखा देकर भी वे अपने को धोखा नहीं दे पाते और किशोरी के यौवन-रस में

डूबने-उतराने लगते है। अपने इस पतन को भी वे एक दार्शनिक रूप दे देते हैं—"जगत तो मिथ्या है ही, इसके जितने कर्म हैं वे भी माया हैं, प्रमाता जीव भी प्राकृत है, क्योंकि वह भी अपरा प्रकृति है, जब विश्वमात्र प्रकृति है, तो इसमें अलौकिक अध्यात्म कहाँ? यही खेल यदि जगत् बनानेवाले का है तो मुझे भी खेलना चाहिए।" और साधु देवनिरंजन परस्त्री 'किशोरी' तथा विधवा 'रामा' से खेल खेल चलते हैं, जिसके परिणामस्वरूप क्रमशः विजय और तारा का जन्म होता है। मंगलदेव जिसमे साहस और सदाशयता है, तथा जो आदर्शवादी भी है, तारा को गर्भवती बना ठीक विवाह के दिन यह जानकर भाग जाता है कि तारा दुश्चरित्रा माँ की सतान है, यद्यपि मगलदेव स्वयं भी सम्भवतः अवैध सम्बन्ध से उद्भूत व्यक्ति है। विजय, यमुना बनी तारा से प्रेम करता है और उधर से निराश होकर बाल-विधवा 'घटी' की ओर उन्मुख होता है। हो सकता है कि इस 'घटी' को भी 'नन्दो' ने किसी महात्मा से ही पाया हो। किन्तु समाज उसे 'घटी' से विवाह करने की भी अनुमति नहीं देता। तीसरी बार 'विजय' प्रेम करता है 'गाला' से जो डाकू बदन गूजर की मुसलमान स्त्री से उत्पन्न बालिका है, किन्तु वह अस्वीकार इसलिए करती है कि विजय उसका आश्रित है। अत में मगलदेव जिसने तारा जैसी पवित्र स्त्री का परित्याग कर दिया था, विवाह करता है 'गाला' से—मानो वह बडी कुलीन हो! इधर ईसाई धर्मगुरु बाथम घटी में अनुरक्त होता है। इस प्रकार 'ककाल' में सभी मान्य सामाजिक सस्थाओं की खिल्ली उडाई गई है, उसकी जर्जरता नग्न करके प्रदर्शित की गई है। हम वास्तव में समाज को जैसा देखते हैं वह वैसा है नहीं। 'कंकाल' का अंत बडा प्रभावपूर्ण एव प्रतीकात्मक है। एक ओर तो 'धर्मसघ' का वह जुलूस जिसमें मंगल जैसा पापात्मा धर्मात्मा बना धर्म की ध्वजा उठाए चल रहा है और दूसरी ओर उसी धर्म तथा समाज के नीचे पिसी यमुना अपने भाई का 'ककाल' लिए बैठी है। वह जुलूस हमारे धर्म तथा समाज का बाहरी प्रतीक है तथा वह कंकाल उसकी नग्न भयकरता। 'विजय' एवं 'यमुना' के जीवन का जैसा करुण चित्र प्रसाद ने अंकित किया है वह अवश्य ही समाज की निर्ममता पर तीव्र आघात है।

उपर्युक्त विवरण से यह भी प्रगट होता है कि 'ककाल' एक व्यग्यप्रधान उपन्यास है। व्यंग का प्रधान उद्देश्य किसी न किसी प्रकार का सुधार होता है। प्रसाद जैसे तटस्थ एव सहृदय कलाकार के हाथ पड़ यह व्यग परिपाटी बढ़ी प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई है। व्यग घटनाओं में भी है, व्यक्तियों के सवादों तथा आचरणों में भी। निरजन जैसे साधु का किशोरी से प्रणय आद्यन्त

व्यंगपूर्ण है। स्वयसेवक मंगलदेव का तारा को गर्भवती बनाकर छोड़ जाना और फिर डाकू की बालिका से विवाह करना भी कितने तीव्र व्यग से युक्त है। ईसाई धर्मध्वजा-धारी पादरी एक अनाथ बालिका का उपभोग करना चाहता है। देवनिरजन के भण्डारे मे मोटे और भी मोटे बनते हैं तथा बाहर भिगमगों की भीड पत्तलों पर टूटती है जिसे देखकर 'तारा' सोचती है—"भीतर जो पुण्य के नाम पर—धर्म के नाम पर—गुलछर्रे उडा रहे हैं, उसमे वास्तविक भूखों का कितना भाग है, यह पत्तलों के लूटने का दृश्य बता रहा है। भगवान ! तुम अन्तर्यामी हो।" किशोरी का पुत्र विजय भिखमगो की श्रेणी में काशी की सडकों पर दिन काटता है और किशोरी एक दूसरे बालक को गोद लेती है। इसी प्रकार के कितने ही स्थल हैं जिनमें व्यक्ति, समाज, परिस्थिति एव नियति का बड़ा मार्मिक व्यग दिखाया गया है। किन्तु अपने व्यग में भी 'प्रसाद' कभी निष्करुण नहीं हुए हैं। उन्होंने व्यक्ति को नियति के हाथों की पुतली मानकर ही उसके प्रति व्यग किया है, जिसमें चोट करने की भावना उतनी नहीं है जितनी संवेदना और सुधार की।

यह संवेदना किसके प्रति है, और वह सुधार क्या है जिसकी कामना 'ककाल' मे की गई है? यह सवेदना समाज द्वारा पीडित व्यक्ति के प्रति है। हमारा समाज इतना विकृत हो गया है कि जिनमें अपने कर्मों पर आवरण डालने की क्षमता है उन पर किसी की दृष्टि नहीं पडती अथवा डालने की आवश्यकता नहीं समझी जाती, किन्तु जो दुर्बल हैं, असहाय हैं, उनकी तनिक भी त्रुटि समाज की आँखों में बहुत बडी होकर दिखलाई पडती है और समाज के विधि-निषेधों के नीचे उन्हें आजीवन घूर्णित होना पडता है। स्त्रियाँ अबला है अतएव समाज अपने विकराल नखदन्तों से सर्वाधिक उन्हीं को विक्षत करता है। 'ककाल' में 'तारा' और 'घटी' समाज के उत्पीडन का लक्ष्य बनी हैं। प्रभातकुसुम की भाँति अनाघ्रात और निर्मल होने पर भी तारा केवल एक तुच्छ विचार की दासता के कारण उस प्रणयी द्वारा परित्यक्त की जाती है जिसने उसे सर्वप्रथम दाम्पत्य की शिक्षा दी थी। किन्तु वह इस इतने बड़े अन्याय को मूकभाव से सहन करती गई। बाल-विधवा घटी के हृदय में भी प्रेम की कितनी तीव्र उत्कण्ठा है। इसके पहले कि वह यह जानने के योग्य हो कि पति नाम की भी कोई प्यार करने की वस्तु होती है उस पर वैधव्य का अभिशाप लाद दिया जाता है। यदि उसको जीवनोत्थान का अवसर दिया जाता तो प्रणय-माधुरी और हास से भरी हुई यह रसिक ब्रज-बाला कैसी सुन्दर गृहस्थी का विस्तार करती। इन दोनों ही स्त्रियों ने जीवन के कटु अनुभवों से कुछ सत्य

प्राप्त किये है जिनके कारण अपनी दयनीयता में भी वे महिमामयी हो उठी हैं। यमुना कहती है—"जब मै स्त्रियों के ऊपर दया दिखाने का उत्साह पुरुषों में देखती हूँ, तो जैसे कट जाती हूँ, ऐसा जान पडता है कि वह सब कोलाहल, स्त्री जाति की लज्जा की मेघमाला है। उनकी असहाय परिस्थिति का व्यग-उपहास है।" दूसरे स्थान पर वह लतिका से कहती है—"कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं है बहन! सब पुरुषों के है। सब हृदय को कुचलनेवाले क्रूर हैं। फिर भी मै समझती हूँ कि स्त्रियों का एक धर्म है वह है आघात सहने की क्षमता रखना।" घटी यद्यपि ऊपर से बडी चचल है फिर भी वह जीवन के प्रश्नों को सहल किये बैठी है। वह कहती है—"हिन्दू स्त्रियो का समाज ही कैसा है, उसमे कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिए कुछ सोचना-विचारना चाहिए। और जहाँ अन्ध अनुसरण करने का आदेश है वहाँ प्राकृतिक, स्त्रीजनोचित, प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है—जैसा कि घटना-वश प्राय. स्त्रियाँ किया करती है—उसे क्यों छोड दूँ? यह कैसे हो, क्यों हो? इसका विचार पुरुष करते हैं। वे करें, उन्हें विश्वास बनाना है, कौडी-पाई लेना रहता है, और स्त्रियों को मरना पडता है।" इसी दृष्टिकोण एव दार्शनिक तटस्थता के कारण घटी का चरित्र यमुना के चरित्र से भिन्न हो उठा है। उसने रुदन को छिपाकर हँसना सीखा है जब कि यमुना ऐसा नहीं कर सकी है। 'ककाल' की प्रायः सभी स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा प्रवचित हैं और ये पुरुष भी ऐसे हैं जिन्होंने अपने चारों तरफ सज्जनता का आवरण फैला रखा है। किशोरी देवनिरजन से छली जाती है, लतिका पादरी बाथम से। पादरी बाथम की लोलुपदृष्टि घटी पर भी पड़े बिना नहीं रहतो। किशोरी के लिए इससे बडा दु.ख क्या हो सकता था कि मृत्यु-सेज पर पडी हुई भी वह अपने पुत्र विजय को अपना कह कर अपने पास न रख सकी। 'विजय' के जीवन का भी इतना करुण अन्त इसीलिए हुआ कि उसमें समाज के प्रति विद्रोह-भावना थी। यदि वह समाज से बचाकर वासनाओं की तृप्ति कर सकता तो सम्भव है, उसके जीवन की धारा दूसरी ही होती। इसके अतिरिक्त इस बात का बोध भी कि वह किशोरी एव निरजन के अवैध सम्बन्ध से उत्पन्न है और समाज में वह सिर ऊँचा करके खडा नहीं रह सकता, उसके चरित्र में ग्रन्थियाँ डालने में सहायक हुआ।

इस प्रकार प्रसादजी ने 'ककाल' मे समाज के दलित, दुखी और कलकित अग को चित्रित कर मानों अभिमानी समाज को चेतावनी है—"देखो, समाज के इस पतित, दलित अग की ओर भी देखो। तुम्हारी अवहेलना से कितनी

महत्ता नष्ट हुई जा रही है। जिनको तुम पतित कहकर ठुकराते हो उनको सहानुभूति की दृष्टि से देखो तो मालूम होगा कि वे उनसे भी महान् हैं, जिन्हें तुम महान् समझते हो। जिन्हें तुम पतित समझते हो, उनमें जीवनोत्थान की आकांक्षा भी है। परन्तु तुम्हारे अत्याचार ने उनकी उन्नति के सब अवसर छीन लिए हैं। मानव की परिस्थितियों और दुर्बलताओं को समवेदना के साथ समझने में ही मानव का उद्धार होगा। दैव ने विपत्ति नहीं बनाई है, समाज ने स्वयं अपने लिए काँटे बो लिए है, जिनको वह स्वय ही नष्ट भी कर सकता है" पाप और पुण्य की भी एक स्थान पर बडी मार्मिक व्याख्या की गई है। विजय यमुना से कहता है—"पाप और कुछ नहीं है यमुना, जिन्हें हम छिपाकर किया चाहते है, उन्हीं कर्मों को पाप कह सकते हैं, परन्तु समाज का एक बडा भाग उसे यदि व्यवहार्य्य बना दे तो वही कर्म हो जाता है, धर्म हो जाता है। देखती नहीं हो, इतने विरुद्ध मत रखनेवाले, ससार के मनुष्य अपने अपने विचारों में धार्मिक बने हैं, जो एक के यहाँ पाप है वही तो दूसरे के यहाँ पुण्य है।"

'ककाल' में मनुष्य को अनावृत करके देखने का प्रयास किया गया है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, ये सब भेद मनुष्यकृत हैं। धार्मिकता के आडम्बर एवं उच्चकुलोद्भवता के अहकार आदि के नीचे मनुष्य की प्रवृत्ति सजग रहती है। स्त्री के लिए पुरुष का आकर्षण एव पुरुष के लिए स्त्री का आकर्षण शाश्वत सत्य है किन्तु इतने बडे सत्य की अवहेलना करके समाज व्यक्ति को दण्डित करता है। व्यक्ति के स्वतन्त्रता की पुकार ही 'कंकाल' की पुकार है। किन्तु स्वतन्त्रता मिले कैसे ? मनुष्य ने इस दीर्घकाल के अवकाश में समाज का जो ढाँचा खड़ा किया है क्या उसे एक बार ही धराशायी हो जाना पड़ेगा। नहीं, 'कंकाल' समाज में सुधार की कामना करता है। समाज व्यक्तियों द्वारा निर्मित है। व्यक्तियों मे पूर्ण व्यक्तित्व के विकास से ही समाज का कल्याण होगा। अन्धानुकरण छोड़कर हममें वस्तुओं के वास्तविक मूल्यांकन की क्षमता उत्पन्न करनी होगी। अन्तरात्मा के निर्देश पर चलकर ही हम अपना और समाज का कल्याण कर सकेंगे। मानसिक सुधार ही सबसे बडा सुधार है। 'भारत-सघ' की स्थापना के मूल में यही उद्देश्य निहित है। 'सघ' की स्थापना के समय मंगलदेव कहता है—"सुधार सौन्दर्य का साधन है। सभ्यता सौन्दर्य की जिज्ञासा। शारीरिक और आलकारिक सौन्दर्य प्राथमिक है, चरम सौन्दर्य मानसिक सुधार का है। मानसिक सुधारों में सामूहिक भाव कार्य करते है..." समाज को सुरक्षित रखने के लिए उसके संघटन में स्वाभाविक मनोवृत्तियों की सत्ता स्वीकार करनी होगी। सबके लिए एक

पथ देना होगा। समस्त प्राकृतिक आकाङ्क्षाओं की पूर्ति आपके आदर्श में होनी चाहिए।" इस प्रकार 'कंकाल' समाज का विघटन नहीं करता, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं, वरन् वह समाज के नवीन संगठन का आकांक्षी है।

रचना की दृष्टि से यह उपन्यास शुद्ध चरित्रप्रधान है। लेखक को कुछ विशेष प्रकार के पात्रों को चित्रित करना था और उसने उन्हें विभिन्न परिस्थितियों में डालकर उनके चरित्र के अभिप्रेत पक्षों का प्रदर्शन किया है। इसके लिए पात्र अनेक स्थानों में लेखक के संकेत पर घूमते फिरे हैं। देवनिरंजन, किशोरी, यमुना, विजय, मंगलदेव आदि सुविधा के अनुसार कभी हरद्वार, कभी काशी, कभी मथुरा आदि स्थानों पर पहुँच जाते हैं। इससे कहीं-कहीं तो कृत्रिमता आ गई है। उदाहरणार्थ, यमुना जहाँ भी जाती है प्रायः सभी जगह मंगलदेव भी उपस्थित हो जाते हैं। बाद में विजय की सुख-शर्वरी में धूमकेतु बनकर भी उसी की छाया के समान मंगल उसके पीछे घूमते फिरे हैं। विभिन्न स्थानों पर तारा एवं मंगल की भेंट अथवा विजय एवं मंगल की सहउपस्थिति को लेखक ने संयोग-मिलन का रूप देने का प्रयत्न किया है। किन्तु इसका इतना अतिरेक है तथा उद्देश्य इतने स्पष्ट हैं कि पाठक भ्रम में नहीं रह पाते। यह एक कलात्मक त्रुटि है। पात्रों का कोई व्यक्तित्व ही नहीं रह जाता, वे सूत्रवत् संचालित से लगते हैं। पात्रों को मनमानी विभिन्न परिस्थितियों में डालते रहने के अतिरिक्त प्रसादजी ने सुविधा के अनुसार नियति के कुछ अन्य खेल भी दिखाए हैं, जैसे निरंजन का मठाधीश हो जाना, गाला को डाके का धन मिलना, 'श्रीचन्द्र' को 'चन्दा' द्वारा आर्थिक सहायता की प्राप्ति, मोहन का श्रीचन्द्र का दत्तक पुत्र होना इत्यादि।

यह तो स्पष्ट है कि 'कंकाल' में प्रसाद का दृष्टिकोण आदर्शवादी नहीं है। किन्तु साथ ही उसे यथार्थवादी भी नहीं कहा जा सकता, कम से कम उस अर्थ में जिसमें 'उग्र' अथवा ऋषभचरण जैन ने यथार्थवाद को समझा है। आदर्श तथा यथार्थवाद के सम्बन्ध में प्रसादजी का दृष्टिकोण जान लेना चाहिए। उनके अनुसार—"कुछ लोग कहते हैं कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धान्त से ही आदर्शवाद धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए यही आदेश करता है, और यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार से अधिक और कुछ नहीं ठहरता, क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था। किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है, न धर्मशास्त्र-प्रणेता। इन दोनों के कर्तव्य स्वतन्त्र हैं। साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का प्रयत्न करता है। साहित्य, समाज की वास्तविक स्थिति क्या है इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का

सामञ्जस्य स्थिर करता है। दुःखदग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।" प्रसाद ने 'कंकाल' में यद्यपि 'निरंजन', 'किशोरी', मंगलदेव आदि की दुर्बलताओं का चित्रण किया है किन्तु ये तीनों ही पात्र उन दुर्बलताओं को स्वीकार करके प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पश्चात्ताप भी करते हैं। आग्रह प्रवृत्तिजन्य पतन पर इतना नहीं है जितना कि जीवन की व्यर्थता पर। इसीलिए पतन का कुरुचिपूर्ण विवरण कहीं भी नहीं मिलता। वर्णन में एक मर्यादा है, तथा वासनामय कुत्सित चित्रों को बचाने का प्रयास किया गया है। भाषा में गम्भीरता और संयम का प्रवाह है। मर्मान्तिक वेदना में भी ईश्वर को नकारा नहीं गया है। देवनिरंजन जैसे व्यक्ति को भी गोस्वामी कृष्णशरण के निम्नांकित उपदेश से शान्ति मिलती है—"निरंजन, भगवान् क्षमा करते हैं। मनुष्य भूलें करता है, इसका रहस्य है, मनुष्य का परिमित ज्ञानाभास, सत्य इतना विराट है कि हम क्षुद्र जीव व्यावहारिक रूप में उसे सम्पूर्ण ग्रहण करने में प्रायः असमर्थ प्रमाणित होते हैं। जिन्हें हम परम्परागत संस्कारों के प्रकाश में कलंकमय देखते हैं, वे ही क्षुद्र, ज्ञान में सत्य ठहरें तो मुझे कुछ आश्चर्य न होगा।" कुछ लोगों का यह कहना कि 'कंकाल' में अश्लीलता का प्रचार है, बिल्कुल ही तथ्यरहित है।

'तितली' (१९३४) प्रसाद का दूसरा उपन्यास है। इसमें वर्णित जीवन 'कंकाल' से नितान्त भिन्न है। मानव की यौन दुर्बलताओं पर ही अधिक आग्रह रहने के कारण 'कंकाल' का समाज-दर्शन एकपक्षीय सा लगता है। उसमें चारित्रिक स्खलन एवं पतन के चित्रण की प्रवृत्ति प्रधान है, जिसे निरपवाद सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत 'तितली' में प्रेम के आदर्शस्वरूप एवं आत्मसंयम के वर्णन का प्रयास है। इस उपन्यास में वर्णित समाज के अनेक स्तर हैं और इनकी शक्ति एवं दुर्बलता दोनों ही की ओर लेखक की दृष्टि है। विषयचयन की दृष्टि से इस उपन्यास में प्रसाद ने प्रेमचन्द-मार्ग को अपनाया है और जमींदार के कर्मचारियों की कूटनीति एवं घाँधली, ग्रामीण जनता की सरलता एवं घोर स्वार्थ वृत्ति, गाँवों की राजनीति, त्योहार-उत्सव मनाने के ढंग, सम्मिलित कुटुम्ब की दुर्बलता आदि की झलक दिखाने का प्रयत्न किया है। इसमें ग्राम-सुधार तथा ग्राम-संगठन की ओर भी संकेत है। कविजनोचित उन्मुक्त कल्पना से प्रेरित होकर, एक विस्तृत चित्रपट पर अनेक प्रकार की जीवन-रीतियों के चित्रण के उत्साह में लेखक ने लंदन तथा कलकत्ता जैसे जनसंकुल स्थानों में अपने पात्रों को ले जाकर मानव-समाज के विभिन्न रूपों को देखने-दिखाने का प्रयास किया है। इस उपन्यास में भी नियति एवं समाज के साथ मानव का संघर्ष चलता है और अपनी आस्था

एव नैतिक दृढता में मनुष्य कठोरतम कष्टों के झेलने की शक्ति संग्रह करता है। 'ककाल' मे समाज, नियति एव व्यक्ति के प्रति अनास्था तथा निराशा का उदय होता है। क्योंकि उसमें बराबर व्यक्ति, नियति के हाथो पराजित हुआ है किन्तु 'तितली' मे असीम धैर्यपूर्वक, बिना झुके हुए दारुण विपत्तियों को झेल ले जाने वाले व्यक्ति की कथा वर्णित है। इसमें भारतीय दृष्टि की प्रमुखता है और इसी लिये यह उपन्यास सुखान्त है। सत्य की विजय होती है और अधर्म का व्यापार करने वाले पापियों का कष्ट मे ही अन्त होता है।

इस उपन्यास में दो कथाएँ साथ-साथ वर्णित है। एक तो इन्द्रदेव और शैला की कथा है तथा दूसरी तितली और मधुवन की। ये दोनों ही कथाएँ समानान्तर अग्रसर होती हैं और एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। इन्द्रदेव गॉव के सुशिक्षित युवक जमीन्दार हैं जो विलायत से बैरिस्टरी की डिग्री लेकर ही नहीं, अपनी भावुकता एव उच्चाशयता में एक दरिद्र अगरेज युवती शैला को भी लेकर लौटे हैं। शैला, ग्रामीण वातावरण मे अपने को घुला-मिला लेती है तथा इन्द्रदेव की बहन माधुरी एव उसके समर्थकों—लेडी डाक्टर अनवरी, कारिन्दा, तहसीलदार आदि—के कुत्सित सकेतो से ऊबकर ग्राम-सुधार आदि कार्यों मे लगकर अपनी स्वतन्त्र स्थिति बनाने का प्रयास करती है। इन्द्रदेव, अपने प्रति शैला की इस उदासीनता एव घर के कुत्सित वातावरण से ऊबकर शहर मे जाकर बैरिस्टरी आरम्भ करते हैं। शैला और इन्द्रदेव के बीच की दूरी बढती ही जाती है। पड़ोसिन भाभी नन्द रानी के प्रयत्नों से शैला (जो पहले ही हिन्दू धर्म मे बाबा रामनाथ के द्वारा दीक्षित हो चुकी थी) और इन्द्रदेव का विवाह तो हो जाता है किन्तु विशेष परिस्थिति एव मनःस्थिति के कारण दोनों साथ फिर भी नहीं रह पाते। इन्द्रदेव जमीन्दारी के अपने सारे अधिकार, विरक्ति की अवस्था में माँ को सौंप ही चुके थे। इधर शैला वाटसन की ओर किंचित उन्मुख होने लगी थी किंतु वाटसन की ही प्रेरणा से वह पति के पास लौट जाती है और मरणासन्न सास उसे पुत्रवधू के रूप में स्वीकार कर सारे अधिकार पुनः सौंप देती है।

मधुवन शेरकोट के जमीन्दारों का एक मात्र वशज है, जिसके पास शेरकोट खण्डहर और दो तीन बीघे जमीन छोड़कर और कुछ नहीं बचा है। इधर तितली गॉव के कुलीन क्षत्रिय परिवार की अनाथ कन्या है। तितली (बजो) और मधुवन (मधुवा) दोनों ही बाबा रामनाथ की देख-रेख में बड़े हुए हैं। अभाव में घिरे रहने पर भी परिश्रम एव आत्मसम्मान की भावना को पूरी तरह हृदयगम कर लिया है। शैशव का पुनीत स्नेह यौवन में पहुँच कर स्त्री-

पुरुष-प्रणय के रूप में परिवर्तित हो गया और मधुवन की बहिन राजकुमारी, कारिन्दा (सुखदेव) एवं तहसीलदार आदि के षडयन्त्र तथा विरोध के बीच बाबा रामनाथ एक दिन उन्हें विवाह-बन्धन में बाँधकर स्वय चल देते है। सुखदेव चौबे तथा तहसीलदार ने गाँव में आतक मचा रखा था और मधुबन पर उनकी सबसे कड़ी दृष्टि थी। अनायास मधुबन को तहसीलदार के लट्ठबाजो से मार-पीट करनी पडी और वह कानून के चंगुल में आ गया। बाद मे लम्पट महत का गला घोंट कर वह भाग गया और उसके ऊपर डाके का मुकदमा चला। कुछ दिनों तक कलकत्ते में छिप कर रहने के बाद वह पुलिस के हाथों में पड गया और उसकी लम्बी सजा हो गई। मधुवन से वियुक्त तितली ने अपूर्व धैर्य, सयम, कर्तव्यनिष्ठा एव कार्यतत्परता का परिचय दिया और अपने पुत्र मोहन तथा अन्य अनाथ बालकों की गृहस्थी जुटा दुख के दिन काटने लगी। अन्त में एक दिन मधुबन लौट ही आता है।

'कंकाल' यदि यथार्थवाद की ओर उन्मुख है तो 'तितली' पूर्णत. आदर्श-वादी उपन्यास है। 'ककाल' में मानव की यौन दुर्बलता या स्खलन पर अधिक आग्रह है किन्तु इस उपन्यास में चारित्रिक दृढ़ता के साथ-साथ आदर्श-प्रेम के के चित्रण का प्रयास है। लन्दन के अनाथ आवारो के बीच रहने वाली शैला इन्द्रदेव के साथ आकर अपूर्व सयम तथा आत्मनियन्त्रण का परिचय देती है। स्वयं इन्द्रदेव भी इस युवती के साथ-साथ रहकर भी कभी विचलित होते नहीं देखे गए। इसी प्रकार मधुबन-तितली का प्रेम भी केवल शारीरिक आकर्षण से परे की वस्तु है। मैना के सम्बन्ध में इतना प्रतिवाद होने पर भी मधुबन का मन कुमार्ग की ओर नहीं बढा। मधुबन, तितली, शैला, इन्द्रदेव, मलिया सभी मे अपूर्व इन्द्रिय-निग्रह है। 'कंकाल' की भाँति 'तितली' दुखान्त नहीं है। प्रेमचन्द के उपन्यासो की भाँति इस उपन्यास मे भी दुर्जन पात्रो का या तो पश्चात्ताप-पूर्ण सुधार कर लिया गया है, या उनका बडा दुखद अन्त दिखाया गया है। महन्त, मैना, सुखदेव चौबे, तहसीलदार आदि को प्रसाद ने मेले मे बिगडे हुए हाथी के नीचे कुचलवा दिया है। गृह-कलह को जन्म देने वाली इन्द्रदेव की बहन माधुरी अपनी परामर्शदात्री लेडी डाक्टर अनवरी के द्वारा ही छली जाती है और उसका लम्पट पति श्याम-लाल अनवरी को लेकर कलकत्ते चला जाता है। कुछ दिनो तक सुखदेव चौबे के चक्कर में पडकर मधुबन जैसे भाई की उपेक्षा करने वाली राजो भी ठोकर खाकर पुन. सुमार्ग पर चल पडती है। सत्य मार्ग पर चलते हुए तितली, मलिया, मधुबन, रामदीन अत्यधिक कष्ट झेल कर भी अन्त में सुखी होते है। इस

प्रकार इसमें अच्छे कर्मों का अच्छा एव बुरे कर्मों का बुरा परिणाम दिखाकर भारतीय कर्मफलवाद की भावना का पोषण किया गया है। एक प्रकार से इस उपन्यास में जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए नारीत्व एव पत्नीत्व की गरिमा का प्रदर्शन ही प्रमुख लक्ष्य है।

तितली भारतीय नारीत्व का प्रतीक है जिसके रूप में प्रसाद का नारी-आदर्श प्रतिफलित हुआ है। 'सलज्ज कान्ति मे जैसे शिशिर कणों से लदी कुन्दकली की मालिका सी गम्भीर सौंदर्य का सौरभ बिखेरती हुई' तितली ने जब अपने नारीत्व के पूर्ण अभिमान में विरोधों के बीच, बालसखा मधुबन से विवाह करने की स्वीकृति दी तो विरोधियों के उत्साह पर पाला पड गया और 'सिन्दूर से भरी हुई तितली की माँग दमक उठी।' दाम्पत्य-जीवन में प्रवेश करके अभावों के बीच भी वह प्रसन्न रही और निर्भीकता तथा साहस के साथ कर्तव्य का पालन किया। मलिया को आश्रय देने में मधुबन हिचक रहा था किन्तु उसकी दयनीय परिस्थिति को अपनी सहज नारी-सुलभ समवेदना में समझती हुई तितली बोल उठी—"बुलावा आ रहा है, न्योता आ रहा है, सब तो है पर यह भी जानते हो कि वह क्यों वहाँ से काम छोड आई है? वहाँ जायगी अपनी इज्जत देने? न जाने कहाँ का शराबी उनका दामाद आया है। उसने तो गाँव भर को ही अपनी ससुराल समझ रखा है। कोई भलामानस अपनी बहू-बेटी छावनी में भेजेगा क्यों?" और मलिया से कह दिया—"रोती क्यों है रे? यहीं रह, कोई डर नहीं।" यह मानो जान-बूझ कर विपत्ति को निमन्त्रित करना था, किन्तु वह जानती थी कि वह वही कर रही है जो उसे करना चाहिए। बारात में हाथी के बिगड जाने पर मैना को बचाकर जब मधुबन शेर-कोट में राजो के यहाँ रात भर रह गया तो इस समाचार से भी तितली के मन में पति पर सन्देह न होकर एक प्रेमज ईर्ष्या का उदय हुआ और वह निस्सकोच शेरकोट पहुँच गई। वहाँ रूठी हुई राजो ने जिस स्नेह-सद्‌भाव से उसका स्वागत किया उससे उसका मन निर्मल हो उठा, किन्तु मैना के प्रसग से वह दुखी थी और पति से मान किए रही। एक दिन हँसी-हँसी में उसने राजो से कह ही डाला—"उनकी बात क्या पूछती हो। तुम्हीं तो मुझसे चिढ़कर उनके लिए मैना को खोज लाई हो जीजी।" जब लम्पट महन्त का गला घोंट कर मधुबन अन्तर्ध्यान हो गया तो तितली उसके मुकदमें की पैरवी के लिए दर-दर भटकती रही। शैला के प्रोत्साहन से वह इन्द्रदेव के पास भी गई किन्तु उसके स्वाभि-मानी मन ने उनकी सहायता लेने से इन्कार कर दिया। वह बनजरिया लौट आई अपनी खेती-गृहस्थी में पूरे मनोवेग से जुट गई। राजो को किंचित्

आश्चर्य हुआ, उसे भाई के बिना जीना व्यर्थ सा लगा। इस पर तितली ने अपनी मनोभावना स्पष्ट कर दी—"मैं भी तुम्हारी सी ही बात सोचकर छुट्टी पा जाती जीजी! पर क्या करूँ, मैं वैसा नहीं कर सकती। मुझे तो उनके लौटने के दिन तक जीना पड़ेगा। और जो कुछ वे छोड़ गए हैं, उसे सम्हाल कर उनके सामने रख देना होगा।" अपनी इसी कर्तव्यनिष्ठा को लेकर वह भयानक ससार में लड़ती रही। उसने थोड़े से वृक्ष और साधारण सी खेती का अवलम्ब लेकर अपने परिश्रम से उसकी उपज बढ़ा ली और वहीं एक बच्चों की पाठशाला भी चलाने लगी। व्यभिचार की अनाथ सतानों को, जिन्हें उनकी माताएँ भी छूने में पाप समझती हैं, उसने वरदान के समान एकत्र किया और उनके पालन-पोषण में अपने को व्यस्त बना लिया। उसने उस भयानक विपत्ति में भी किसी के सामने दीनता नहीं प्रकट की और उन्नतग्रीव होकर अपने अधिकारों की माँग करती रही। उसकी आत्मनिर्भरता, उन्नत उच्च विचारों, पति एव वश के गौरव की रक्षा की तत्परता, सामाजिक अन्याय के विरोध एवं साहस तथा श्रमशीलता आदि को देखकर शैला, इन्द्रदेव, वाट्सन चकित तथा हतप्रभ हो गए।

पति के लिए उसके मन में अगाध स्नेह तथा निष्ठा है। तितली से यह पूछने पर कि "तो तुम मधुबन को अब भी प्यार करती हो?" उसने कहा—"बहन शैला, ससार भर उनको चोर, हत्यारा और डाकू कहे, किन्तु मैं जानती हूँ कि वह ऐसे नहीं हो सकते। इसलिए मैं कभी उनसे घृणा नहीं कर सकती। मेरे जीवन का एक-एक कोना उनके लिए उस स्नेह के लिए सन्तुष्ट है।" इसी स्नेह का सबल लेकर वह चौदह वर्ष तक पुरुषोचित साहस से ससार का सामना करती रही, किन्तु उसके धैर्य की भी सीमा थी। मधुबन के चले जाने के उपरान्त उत्पन्न मोहन को लेकर गाँववालो की कुत्सित काना-फूसी उसके मर्म पर आघात करती थी। मोहन, जो कुछ समझदार हो गया था, अपने सम्बन्ध में गाँववालो की सदेहपूर्ण धारणा से सदैव व्यथित रहता था, लज्जित रहता था। इस आन्तरिक अशान्ति में वह घुलता जा रहा था, उसे ज्वर आ गया। उसकी मनोदशा से व्यथित तितली फूट पड़ी—"कह भी! मुझे जीते जी मार न डाल! मेरे लाल पूछ! तुझे डर किस बात का है? तेरी माँ ने संसार में कोई ऐसा काम नहीं किया है कि तुझे उसके लिए लज्जित होना पड़े।" पिता के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर वह बोली—"हाँ बेटा, तेरे पिताजी जीवित हैं। मेरा सिन्दूर देखता नहीं! ·····मेरा सत्य अविचल होगा तो तेरे पिताजी भी आवेंगे।" वहीं पास में ही लता की छाया में छिपा हुआ मधुबन मानो कोई गंभीर सदेश सुन

रहा था। किन्तु तितली के हृदय में भावनाओं की आँधी उठ रही थी—"... ओह, सभव है, यह मेरे जीवन का पुण्य मुझे ही पापिनी और कलकिनी समझता हो तो क्या आश्चर्य। मैंने इतने धैर्य से इसी लिए ससार का सब अत्याचार सहा कि एक दिन वह आवेंगे, और मैं उनकी थाती उन्हें सौंप कर अपने दुःखपूर्ण जीवन से विश्राम लूँगी। किन्तु अब नहीं। छाती में झँझरियाँ पड गई है।... तो चलूँ गगा की गोद में। तितली इस उजडे उपवन से उड जाय।" "उसने पागलों की तरह मोहन को प्यार किया, उसे चूम लिया। अचेत मोहन करवट बदल-कर सो रहा। तितली ने किवाड खोला। आकाश का अन्तिम कुसुम दूर गगा की गोद में चू पडा, और सजग होकर सब पक्षी एक साथ कलरव कर उठे। तितली इतने ही से तो नहीं रुकी। उसने और भी देखा, सामने एक चिरपरिचित मूर्ति! जीवन-युद्ध का थका हुआ सैनिक मधुबन विश्राम-शिविर के द्वार खडा था।"

तितली के उपरान्त इस उपन्यास में शैला का भी विशेष महत्व है। शैला के चित्रण में प्रसाद ने कल्पना से अधिक काम लिया है। लन्दन में अनाथों-आवारों के बीच दिन बितानेवाली शैला इन्द्रदेव के साथ भारत आकर बिल्कुल भारतीय बन जाती है और धामपुर के ग्रामीणों के बीच अपने को घुला-मिला लेती है। वह बडी ही सरल, सहृदय, उदार, दयालु एव व्यवहारकुशल है। प्रथम साक्षात्कार में ही उसने इन्द्रदेव की माँ श्यामदुलारी का हृदय अपने प्रति सदय बना लिया। आत्मसम्मान की भावना से प्रेरित होकर उसने अपने पैरों पर खडे होने का उपक्रम किया और बाबा रामनाथ के उपदेशों से प्रभावित होकर हिन्दू-धर्म की दीक्षा ली। ग्राम-सुधार के कार्यों में उसने जिस मनोयोग से कार्य किया वह ईसाई मिश्नरियों की याद दिला देता है। इन्द्रदेव के साथ रहते हुए भी वासना ने कभी उसे अभिभूत नहीं किया और वह बड़े सयम से जीवन मे अग्रसर होती रही। इन्द्रदेव से विवाह के बाद वाटसन की ओर उसका आकर्षण सस्कारजन्य था। यदि वाटसन ने विवेक से काम लेकर उसका पथ-प्रदर्शन न किया होता तो शैला का स्खलन सभव था, किन्तु अन्त में वह भी बिल्कुल भारतीय नारी के समान श्रद्धापूर्ण समर्पण करती है। 'शैला' नाम, उसकी शुद्ध, सस्कृतनिष्ठ भाषा तथा उसकी कार्य-प्रणाली देखकर आश्चर्य अवश्य होता है कि क्या एक अग्रेज महिला में इतना परिवर्तन संभव है? शैला एवं इन्द्रदेव के प्रेम एव विवाह में भी प्रसाद ने एक आदर्श को ही सामने रखा है।

वस्तु-विन्यास की दृष्टि से यह उपन्यास पर्याप्त सुगठित है। दो भिन्न-भिन्न कथाओं को लेकर भी प्रसाद ने उन्हें बड़े दृढ बन्धनो से सम्बद्ध कर दिया है। आद्यन्त हमारा ध्यान तितली तथा शैला पर टिका रहता है और साम्य-वैषम्य के

सहारे हमें इन दोनों पात्रों के चरित्र को समझने में बड़ी सुविधा होती है। इस उपन्यास के कथानक में एक ही बात खटकती है और वह है आकस्मिक घटनाओं एव संयोग-तत्त्व का अत्यधिक उपयोग।

धामपुर गाँव में ही उस 'भुतही कोठी' का होना जो कभी शैला के मामा वार्टली साहब की नील की कोठी थी तथा जहाँ उसकी माता जेन ने शैला को गर्भ में लेकर दिन बिताए थे, एक सयोग ही तो है। इसी प्रकार बारात में हाथी का बिगड़ना और अकस्मात् मैना को लेकर मधुवन का भागना, चुनार में गाड़ी पर चढ़ते समय गार्ड का पैर फिसलना और भगोड़े मधुवन का उसको बचा लेना तथा उसी की कृपा से हबड़ा पहुँचना और नौकरी पाना, मधुवन के रिक्शे पर श्यामलाल और मैना का चढ़ना, तथा हरिहर क्षेत्र के मेले में हाथी का बिगड़कर दुष्ट मैना, चौबे, तहसीलदार आदि को कुचल देना ऐसी घटनाएँ हैं जिनकी योजना लेखक ने सुविधानुसार कर ली हैं।

कथा-वस्तु का चयन, उसकी संघटना तथा निर्वाह की दृष्टि से प्रसाद जी के उपन्यास निर्दोष ठहरते हैं। प्रेमचंद के विशालकाय उपन्यासों—विशेषतया 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि'—में कहीं-कहीं ऐसा लगता है कि अनावश्यक कलेवर-वृद्धि की गई है। 'प्रसाद' में यह निरर्थक भरती की प्रवृत्ति नहीं मिलती। वे उतना ही कहते हैं जितना कहना चाहिए और बड़े ही नाटकीय ढग से उपयुक्त स्थल पर कहानी शेष भी कर देते हैं। कथानक का उत्थान, विकास और उसकी समाप्ति सभी बड़े क्रमिक तथा कलात्मक होते हैं। नाट्यकला के नियमों के पडित प्रसाद ने अपने औपन्यासिक कथानकों का विस्तार भी नाटकीय ढग से किया है। क्या 'कंकाल' क्या 'तितली' दोनों ही का प्रभाव हमारे मन पर बड़ा पूर्ण और स्थायी पड़ता है। 'गोदान' की भाँति कथा के विभिन्न अगों में सामञ्जस्य का अभाव कहीं नहीं खटकता। यह अवश्य है कि 'कंकाल' में गोस्वामी कृष्णशरण तथा 'तितली' में बाबा रामनाथ के द्वारा सस्कृति-प्रतिपादन या धर्म-विषयक लंबे-लंबे उपदेशों के कारण कहानी की गति में थोड़ा व्याघात पहुँचता है। परतु ऐसे स्थल इने-गिने ही हैं।

प्रसाद जी के पात्रों पर जब हमारी दृष्टि जाती है तो हम देखते हैं कि इनके चरित्र प्रेमचदजी के चरित्रों की अपेक्षा एक बड़े समाज से लिये गए हैं और यद्यपि प्रेमचद जैसी चरित्र-विवेचना की सूक्ष्मता नहीं है, परंतु उनको विकास-स्वातन्त्र्य अधिक दिया गया है। फिर भी इनके पात्रों में प्रेमचंद के पात्रों की अपेक्षा स्वाभाविकता कम और काल्पनिकता अधिक मिलती है। यह बात 'तितली' में अधिक लक्षित होती है। इनके 'इन्द्रदेव', 'शैला', 'मधुवन',

'तितली' आदि जितने भी प्रधान पात्र हैं उन सभी में भावुकता की प्रधानता दिखाई पडती है। कवि प्रसाद के पात्रों का ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। प्रेमचन्द और प्रसाद में चरित्र-सबधी जो दूसरा अन्तर स्पष्ट लक्षित होता है वह यह है कि प्रसाद के अधिकतर पात्र व्यक्ति होते हैं और प्रेमचन्द के वर्गों के प्रतीक। जहाँ पर प्रेमचन्द व्यक्तियों का निर्माण करने चलते हैं वहाँ वे कुछ हल्के पड़ जाते है। यद्यपि 'सूरदास' जैसे कुछ महान व्यक्तियों का भी उन्होने निर्माण किया है परन्तु उनकी कल्पना वर्गगत पात्रों के चित्रण में ही अधिक उद्दीप्त हुई है। परतु प्रसाद उतनी सजीवता के साथ वर्गों के प्रतीकों का निर्माण नहीं कर पाए हैं। उनके प्रधान पात्रों में प्रायः अपनी वैयक्तिक विभूतियाँ होती हैं और उन्हीं के द्वारा हम उन्हें (पात्रों को) जानते-पहचानते हैं।

कुछ कला-पारखी 'प्रसाद-स्कूल' और 'प्रेमचंद-स्कूल' की चर्चा किया करते हैं। इस स्कूल-विभाजन का मूल आधार दृष्टिभेद ही हो सकता है, क्योंकि दोनों कलाकारों की कृतियों में कोई विशिष्ट रूपभेद अर्थात् रचना-पद्धति की विभिन्नता नहीं पाई जाती। दोनों की शैली में अवश्य कुछ अंतर है। प्रसाद में प्रेमचद की अपेक्षा कुछ गभीरता और कवित्व का पुट अधिक है परतु इस क्षीण आधार को ही लेकर 'स्कूल' खडा कर देना युक्तियुक्त नहीं लगता। अतएव केवल दृष्टिभेद का आधार ही बच रहता है। संकीर्ण अर्थ में प्रेमचद या प्रसाद कोई भी यथार्थवादी नहीं। दोनों में से एक भी नग्न यथार्थवाद का समर्थक नहीं। दोनों अधिकतर जीवन को उसके वाछित रूप में ही दिखाते हैं। यदि दोनों में कुछ भेद है तो दृष्टि में नहीं केवल मात्रा में। प्रेमचन्द आदर्श की ओर अधिक बढ जाते हैं और सदाचार-प्रतिपादन की तीव्र भावना से प्रेरित होकर कहीं स्पष्ट उपदेशक बन बैठते हैं, परतु प्रसाद में ऐसा आग्रह नहीं मिलता। उनकी कृतियों में केवल आदर्श की ओर सकेत मात्र होता है। इन छोटे-छोटे भेदों के अतिरिक्त हमारे साहित्य के इन दो महान कलाकारों में कोई मौलिक अतर नहीं। दोनों ही मानवता के प्रेमी थे और मानव-मगल के लिए समय की आवश्यकताओं के अनुसार सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे। अतएव एक ही नगर के इन सहचरों को दो अलग-अलग 'स्कूलों' में न बिठाकर इन्हें काशी के सहयोगी कलाकार कहना ही अधिक सगत होगा।

प्रसाद जी के दोनों उपन्यासों को पढ़कर उनकी कुछ विशेषताएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। सबसे पहिली बात जो प्रसाद के उपन्यासों में हमें आकर्षित करती है वह यह है कि इस क्षेत्र में आकर उन्होंने अपने नाटकीय और काव्य-भाषा की कृत्रिमता को बहुत कुछ हटा दिया है। उनके ऐतिहासिक नाटकों की

भाषा बड़ी क्लिष्ट और बोझिल है परंतु 'कंकाल' और 'तितली' दोनों में ही भाषा अजनबीपन हटाकर वास्तविक जीवन के अधिक निकट आ गई है। देखिए—

'गुलेनार कुछ बोला ही चाहती थी कि अम्मा बीच ही में बोल उठी—अपने अपने भाग होते हैं बाबू साहब, एक ही बेटी, इतने दुलार से पाला-पोसा, फिर भी न जाने क्यों रूठी रहती है—कहती हुई बुड्ढी के दो बूँद आँसू भी निकल पड़े। गुलेनार की वाक्शक्ति जैसे बंदी होकर तड़फड़ा रही थी। मंगल ने कुछ-कुछ समझा। कुछ उसे संदेह हुआ, परन्तु वह सम्हलकर बोला, सब आप ही ठीक हो जायगा अभी अल्हड़पन है।"*

"अहा! तुम तो मेम और साहब दोनों ही हो न? अच्छा यह तो बताओ, तुम्हारे ठहरने का प्रबन्ध करूँ? आज रात को तो मोटर से शहर लौट जाने न दूँगी, अभी माँ पूजा कर रही हैं, एक घंटे में खाली होंगी, फिर घंटों उनको देखने में लग जायगा। बजेगा दस, और जाना है तीस मील! आज रात तो तुमको रहना ही होगा।"†

दूसरी विशेषता—जिस पर प्रसाद के उपन्यासों में ध्यान जाना आवश्यक है—उनके मानसिक द्वंद्व के शब्दचित्र। समाज के बन्धनों से उन्मुक्त केवल मानव-हृदय का मर्मस्पर्शी चित्र खींचने में प्रसाद बहुत सफल रहे हैं। वर्तमान युग के साहित्य में घटनाओं की प्रधानता कम होकर मानसिक अंतर्द्वंद्व के चित्रण का प्रभाव बढ़ रहा है। मनोभावों के द्वंद्व से जिस प्रकार हृदय व्याकुल हो उठता है उसी प्रकार उसके व्यक्त प्रभाव से शरीर भी उद्विग्न, अव्यवस्थित और चंचल। तन और मन की उस गूढ़ दशा का सुन्दर चित्रण प्रसाद के उपन्यासों में बहुतायत से मिलता है। 'कंकाल' में हरद्वार की सिकता-भूमि पर जिस समय 'रंजन' नाम का युवक साधु अपनी बाल्य सहेली 'किशोरी' को युवती के रूप में देखता है उस समय उसके हृदय में पुरानी स्मृतियाँ जागरित होकर कोलाहल करने लगती हैं। उस समय का चित्र देखिए—

"परन्तु किशोरी के नाम ने उसे बारह वर्ष की प्रतिज्ञा का स्मरण दिला दिया। उसने हरद्वार आते हुए कहा था—किशोरी तेरे लिए गुड़िया ले आऊँगा, क्या यह वही किशोरी है? अच्छा, यदि है तो इसे खेलने के लिये गुड़िया मिल गई। उसका पति है ही। वह उसे बहलावेगा। मुझ तपस्वी को इससे क्या? जीवन का बुल्ला विलीन हो जावेगा। ऐसी कितनी ही किशोरियाँ अनंत समुद्र में तिरोहित हो जावेंगी।

---

* 'कंकाल', पृष्ठ २६। † 'तितली', पृष्ठ ३४।

"परतु प्रतिज्ञा ! ओह, वह स्वप्न था, खिलवाड था। मैं कौन हूँ किसी को देनेवाला, वही अतर्यामी सबको देता है। मूर्ख निरजन सम्हल ! कहाँ मोह के थपेडे में झूमना चाहता है ? परतु यदि वह कल गई तो।"

तीसरी विशेषता जो 'प्रसाद' के उपन्यासों में देखने योग्य है वह है उनका दृश्य वर्णन। नाटकों में दृश्य वर्णन प्रायः नहीं पाया जाता। नाट्यकला के प्रतिबन्धों के कारण उनमें दृश्यों की सटीक योजना करने का अवकाश नहीं रहता। परन्तु उपन्यासों के क्षेत्र में दृश्यों की सश्लिष्ट योजना द्वारा बिंब-ग्रहण कराने का बडा सुन्दर प्रयत्न किया गया है। दृश्य प्राकृतिक भी हैं, सामाजिक भी, नगर के भी हैं और ग्राम के भी।

"अन्नों को पका देनेवाला पश्चिम पवन सर्राटे से चल रहा था। जौ गेहूँ के कुछ-कुछ पीले बाल उसकी झोंक में लोट-पोट हो रहे थे। वह फागुन की हवा मन में नई उमंग बढानेवाली थी। कुतूहल से भरी ग्रामवधुएँ एक-दूसरे की आलोचना में हँसी करती हुई अपने रग-बिरगे वस्त्रों में ठीक-ठीक शस्यश्यामल खेतों की तरह तरगायित और चचल हो रही थीं। वह जगली पवन वस्त्रों से उलझता था। युवतियाँ उसे समेटती हुई, अनेक प्रकार से अपने अगों को मरोर लेती थीं। गाँव की सीमा मे निर्जनता थी। पीली-पीली धूप तीसी और सरसों के फूलों पर पड रही थी। सिंचाई से मिट्टी की सोंधी महक, वनस्पति की हरियाली और फूलों की गध उस वातावरण में उत्तेजना भरी मादकता ढाल रही थी।"

'तितली' में ग्रामीण जीवन के चित्रण की एक सुन्दर झलक देखिए—

"निर्धन किसानों में किसी ने अपनी चादर को पीले रग से रग लिया, तो किसी की पगडी ही बचे हुए फीके रग से रगी है। आज वसत पचमी है। सबके पास कोई न कोई पीला कपडा है। दरिद्रता में भी पर्व और उत्सव तो मनाए ही जायँगे। मँहगू महतो के अलाव के पास भी ग्रामीणों का एक ऐसा ही झुड बैठा था। जौ की कच्ची बालों को भूनकर गुड मिलाकर लोग 'नवान' कर रहे थे। चिलम ठडी नहीं होने पाती थी। एक लडका जिसका कठ सुरीला था, वसत गा रहा था—

'मदमाती कोयलिया डार डार'

× × × ×

बूढे मँहगू के मन में भी गुदगुदी होने लगी। उसने कहा, दुलरवा, ढोल ले आ, दूसरी जगह तो सुनता हूँ तू बजाता है, अपने घर आज त्योहार के दिन बजाने में लजाता है क्या रे ?"

इसके अतिरिक्त चित्रमय सूक्तियों का प्रयोग, आधुनिक समस्याओं का प्रतिबिंब, कला और संस्कृति विषयक विचार आदि बहुत सी बातें हैं जो इन दोनों उपन्यासों में स्थान स्थान पर बिखरी पड़ी है परंतु जिनका स्थानाभाव से यहाँ पूर्णतया विश्लेषण नहीं किया जा सकता। परन्तु उनके उपन्यासों में जो विशेषता सबसे बड़ी है वह है उनकी भाव-प्रवणता। उपन्यास के क्षेत्र में आकर भी उनका कवि सजग था और इसलिए उनके उपन्यासों में भावों को आंदोलित करने की जो कुशलता है वह अनुपम है। अपने अनुभवों के प्रचुर वैभव में अपनी नवनीत-सी कोमल भावनाओं का मिश्रण करके उनकी कल्पना ने जिन कला कृतियों को जन्म दिया वे संसार की कटुता में भी किनी स्वर्ग-लोक का संदेश लेकर आईं।

प्रसाद जी के निधन के उपरांत उनका अधूरा ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती' निकला। इसका संबंध शुंगकाल (पुष्यमित्र, अग्निमित्र का समय) से है। इसकी वर्णन-प्रणाली अपनी रमणीयता में 'करुणा' और 'शशांक' से भी आगे बढ़ गयी है। यदि यह पूरा हो गया होता तो भारतीय उपन्यासों में अपना प्रमुख स्थान रखता किंतु हमारे दुर्भाग्य से वैसा हो न सका। देखें कादंबरी की तरह इसकी पूर्ति हो भी पाती है या नहीं।

वृन्दावन लाल वर्मा (१८८९)

प्रेमचन्द-युग के उपन्यास-लेखकों में श्री वृन्दावनलाल वर्मा प्राय तीन दशकों से उपन्यास-साहित्य की सृष्टि करते आ रहे हैं और आज भी (१९५८) उनकी लेखनी में वही स्फूर्ति एव गति है। ऐतिहासिक एव सामाजिक उपन्यासों को मिलाकर प्रायः दो दर्जन उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त अनेक नाटक तथा कहानियाँ भी प्रकाश में आई है। वर्मा जी को, उनके ऐतिहासिक उपन्यासों के द्वारा अधिक ख्याति मिली क्योंकि हिन्दी में उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यास, जिनमें अतीतकालीन घटनाओं को जीवन से और जीवन को मनुष्य के मनोरागों से जोड़ा गया हो सर्वप्रथम इन्हीं के द्वारा प्रणीत हुए। वर्मा जी ने बुन्देलखण्ड की रमणीय भूमि का विस्तृत पर्यटन किया है, वहाँ के इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया है, नगर एव ग्रामीण जनता के निकट सम्पर्क में आकर लोक प्रचलित कथा-कहानियों, अनुश्रुतियों, एवं किंवदन्तियों का परिचय प्राप्त किया है और इनमें अपनी अनुभूति एवं रूपविधायिनी कल्पना का मिश्रण करके अपने उपन्यासों में अतीत को सजीव कर दिया है। इनके ऐतिहासिक

उपन्यास हैं—'गढ़कुण्डार' (१६२६), 'विराटा की पद्मिनी' (१६३६), 'झाँसी की रानी' (१६४६), 'मुसाहिब जू' (१६४६), 'कचनार' (१६४७), 'सत्रह सौ उन्नीस', 'माधवजी सिन्धिया' (१६४८-४६), 'मृगनयनी' (१६५०), 'टूटे काँटे' (१६५४), अहल्यावाई (१६५५) तथा 'भुवन विक्रम' (१६५७)। सामाजिक उपन्यासों में 'सगम' (१९२८), 'लगन' (१६२६), 'प्रत्यागत' (१६२६), 'कुण्डलीचक्र' (१६३०), 'प्रेम की भेंट' (१६३०), 'अचल मेरा कोई' (१६४८) तथा अमरवेल (१६५३) अधिक उल्लेखनीय हैं।

गढ़ कुण्डार में चौदहवीं शती के बुदेलखड की राजनीतिक उथल-पुथल का बडा ही हृदयग्राही चित्रण हुआ है। वीरता के वैभव के वे अतिम दिन थे किन्तु सयम के अभाव तथा उद्देश्य की क्षुद्रता के कारण उस अदम्य वीरत्व का दुरुपयोग किया गया और जुझौति के राजपुत्र आपस में ही जूझ मरे। सोहनपाल बुन्देला अपने ही भाई द्वारा प्रवञ्चित होकर सहायता की आशा से सकुटुम्ब इधर-उधर भटक रहा था। स्त्री, पुत्र सहजेन्द्र तथा पुत्री हेमवती के अतिरिक्त उसके साथ मंत्री धीर एव मत्रीपुत्र दिवाकर भी थे। खगार राजा हुरमत सिंह के राज कुमार नागदेव ने हेमवती के रूप की चर्चा सुन रक्खी थी। हरी चदेल की गढ़ी में ठहरे हुए सोहनपाल-परिवार के सपर्क में सयोगवश नागदेव आया और हेमवती की सुदरता पर रीझ उठा। नाग के ही आश्वासन पर सोहनपाल का परिवार कुण्डार पहुँचा और सहायता की आशा में वहीं टिक गया। पाडे विष्णुदत्त कुण्डार राज्य का शुभचिंतक, परामर्शदाता एव ऋणदाता भी था। उसके पुत्र अग्निदत्त तथा नागदेव में वैसी ही अनन्य मित्रता थी जैसी सहजेन्द्र और दिवाकर में। अग्निदत्त और खगार-कुमारी मानवती में भी प्रेम था। इधर अग्निदत्त की बहन तारा एव दिवाकर के हृदय में भी परस्पर पुनीत प्रेम का उदय हुआ। मानवती का विवाह मत्री गोपीचद के पुत्र राजधर से निश्चित हुआ। राजकुमार नाग ने अवसर पाकर हेमवती से प्रणय निवेदन किया किन्तु जातीय श्रेष्ठता के गर्व में डूबी हुई बुन्देला कुमारी के द्वारा वह तिरस्कृत हुआ। अमावस्या की रात्रि को मानवती का मडप था। उसी रात एक ओर तो अग्निदत्त अपनी बहन तारा का वेश बनाकर मानवती को भगाने की चेष्टा में तत्पर हुआ और दूसरी ओर नागदेव राजधर आदि को साथ लेकर हेमवती का हरण करने के लिए गया। दिवाकर की सतर्कता एव वीरता से नाग आदि असफल हुए। कुमारी को लेकर सहजेन्द्र और दिवाकर कुण्डार से निकल भागे। इधर मानवती की दुर्बलता एवं अस्थिरता के कारण अग्निदत्त भी नाग द्वारा पहचान

लिया गया और अपमानित होकर उसे कुण्डार परित्याग करना पड़ा। अग्निदत्त एवं बुन्देले मिलकर प्रतिशोध की तैयारी करने लगे। वल से पूरा पड़ता न देखकर छल से काम लेने का निश्चय हुआ। हुरमत सिंह के पास कहलाया गया कि सोहनपाल सहायता का वचन पाकर पुत्री देने को तैयार है। विवाह की निश्चित तिथि को खंगारों ने खूब मदिरा-पान किया। बुन्देले उनके ऊपर टूट पड़े। सभी प्रमुख खगार मारे गये। मानवती एव उसके सद्यःजात पुत्र की रक्षा में अग्निदत्त भी पुण्यपाल पँवार के हाथों मारा गया। सोहनपाल का मन्त्री धीर भी युद्ध में निहत हुआ। कुण्डार में सोहनपाल का राज्य स्थापित हुआ। दिवाकर इस छल नीति से असहमत था अतएव अपने पिता के द्वारा ही वह एक गढ़ी में बन्दी वना दिया गया था। तारा वहाँ पहुँची, उसका उद्धार किया और दोनों साथ जगल की ओर चले गये।

इस उपन्यास में हुरमतसिंह, नाग, सोहनपाल, धीर, विष्णुदत्त, पुण्यपाल, सहजेन्द्र आदि नाम ऐतिहासिक हैं। अपने भाई वीरपाल के द्वारा प्रवञ्चित होकर सोहनपाल का कुण्डार आना, हुरमत सिंह का विवाह-प्रस्ताव, सोहनपाल की कुमारी के हरण का प्रयत्न, विवाह की निश्चित तिथि पर बुन्देलों द्वारा मदमत्त खगारों का नाश आदि घटनाएँ भी ऐतिहासिक सत्य हैं। कहा जाता है कि खगारों का नाश सवत् १३४५ में हुआ था। इस तरह मूल घटना एक ऐतिहासिक सत्य है, यद्यपि खगारों के विनाश के कारणों में कुछ मत-भेद है।

किन्तु इस ऐतिहासिक सामग्री में कल्पना का भी पर्याप्त मेल है। कल्पना के सहारे ही नीरस ऐतिहासिक तथ्यों को साहित्यिक सरसता एव सजीवता प्रदान की गई है। वास्तव में मानव-चरित्र कुछ सर्वकालीन विशेषताओं से युक्त होता है। विगत युग के पात्रों में इन मानवोचित गुणों की स्थापना में ही ऐतिहासिक उपन्यासकार की कला होती है। कल्पना का निषेध करके केवल ऐतिहासिक तथ्यों के ज्ञानाधार पर ही उपन्यासकार सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। वर्माजी में इतिहास-ज्ञान और विधायक कल्पना दोनों का योग है। अतएव ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए भी वे उच्चकोटि की साहित्यिक कृति का निर्माण कर सके हैं। 'गढ़ कुंडार' का प्रधान विषय है युद्ध और प्रेम। अधिकतर युद्ध इतिहासमूलक है तथा अधिकांश प्रेम कल्पनाजन्य। इसमें तीन प्रेम-कथाएँ हैं। नाग का हेमवती के प्रति प्रेम, अग्निदत्त-मानवती का प्रेम, तथा तारा और दिवाकर का प्रेम। इनमें मुख्य है नाग का प्रेम, क्योंकि उसीको लेकर खगारों और बुंदेलों में विवाद चला और परिणामस्वरूप खंगारों का विनाश हुआ। इसमें ऐतिहासिकता है और यह प्रेम एकपक्षीय है। इसीलिए आकर्षण का प्रधान केन्द्र

नाग का प्रेम नहीं है बल्कि उसके परिणामस्वरूप घटित अन्य घटनाएँ है। अग्निदत्त तथा मानवती का प्रेम दोनों ओर से सम होने पर भी मानवती की ओर से शिथिल है। मानवती मे दृढता का अभाव है। उसका प्रेम सामान्य लौकिक प्रेम है। अग्निदत्त ने जो कुछ किया वह एक उन्माद-सा लगता है। उसमें प्रेम की पुनीत मर्यादा का उल्लघन-सा है यद्यपि है वह अत्यधिक मानवीय। तारा और दिवाकर का प्रेम आदर्श है। दोनों ओर से सम होने के साथ ही साथ वह कर्तव्य-बुद्धि से सयत है। उसका आरम्भ और विकास भी बडा क्रमिक, सगत एव सहज है। तारा के लिए दिवाकर की व्याकुलता एवं दिवाकर के लिये तारा की तरलता दोनों में ही बडी पवित्रता है। पुस्तक समाप्त करने के बहुत दिनों बाद तक तारा का तलघरे से दिवाकर को निकालने वाली घटना स्मृति में सजग रहती है। ये तीनों ही प्रेमकथाएँ परस्पर एव मूलकथा से सम्बद्ध है और पाठकों का आकर्षण भी सर्वाधिक इन्हीं की ओर होता है।

५०० पृष्ठों से अधिक की यह पुस्तक है जिसमें पचासों प्रकरण हैं। प्रकरण का नाम मुख्य घटना, व्यक्ति या स्थान के आधार पर किया गया है जैसे 'कुडार की चौकियाँ', 'भरतपुरा की गढी', 'आक्रमण' इत्यादि। घटनाओं में प्रवाह है तथा ये सयत बुद्धि की पूर्व योजनाएँ हैं अतएव सबकी सार्थकता है। कथा में कुतूहल बनाए रखने का प्रयत्न किया गया है। कहीं-कहीं भावी घटनाओं का बडा सुन्दर एव व्यगपूर्ण सकेत किया गया है। जैसे नाग एव अग्निदत्त की बात में। अग्निदत्त की प्रणय वार्त्ता को सुनकर नाग कहता है—"अर्थात् श्रीमान् अग्निदत्त पाडे किसी अधकारमय रात्रि में अपनी प्रेमिका को घोड़े पर बिठलाकर किसी ऐसी दिशा में रफूचक्कर हो जायँगे कि न उनके माता-पिता को और न उसके माता-पिता के ही लिए किसी विशेष कटक का नित्यनिरन्तर सामना करने का कारण रह जायगा।" मानवती को लेकर सचमुच ही अग्निदत्त रफूचक्कर हो गया होता यदि उसने दुर्बलता न दिखलाई होती और नाग द्वारा अग्निदत्त पकड न लिया गया होता। कथा में प्रवाह है, यद्यपि कहीं-कहीं वर्णन का आधिक्य हो जाने से पाठक उतावला-सा हो जाता है। बुदेलखण्ड की प्रकृति का बडा ही यथातथ्य चित्रण स्थान-स्थान पर मिलता है किन्तु बहुत से शब्द जो उसी प्रदेश के हैं अन्य प्रान्त के पाठकों की कल्पना में कोई चित्र नहीं खडा कर पाते। उदाहरणस्वरूप 'भरका' और 'खुडा' शब्द लिए जा सकते हैं।

इस उपन्यास में दो प्रकार के पात्र हैं एक तो वे जो किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं दूसरे वे जिनमें अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं। वर्ग प्रायः दो हैं। एक तो जातीयता का अभिमान रखनेवाले विभिन्न-वर्गीय बुदेले तथा दूसरी ओर बुदेल-

खण्ड के सबसे प्रबल शासक खंगार। बुंदेलों में जातीय गौरव, उच्चता, साहस, वीरता, मानापमान की भावना आदि प्रबल हैं। विकट से विकट परिस्थिति में भी ये पात्र अपनी मान-हानि सहन नहीं कर सकते। किसी भी दिशा से अपमान के संकेत मात्र से वे उत्तेजित हो उठते हैं और मरने मारने को प्रस्तुत हो जाते हैं। बात-बात में तलवारें खिंच जाती हैं और जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ कुछ परंपरित भावनाओं के पोषण एवं रक्षण में ही समझा जाता है। मानापमान की इसी मिथ्या भावना ने बुंदेलखण्ड में किसी सशक्त शासन की स्थापना न होने दी। इस वर्ग के प्रतीक हैं सोहनपाल, पुण्यपाल, दलपति, सहजेन्द्र आदि। दूसरा वर्ग है खगारों का। उनके भीतर हेयता की कुछ स्वाभाविक भावग्रन्थियाँ हैं जिनकी अभिव्यंजना स्थल स्थल पर हो जाती है। किशुन, हुरमतसिंह आदि बात-बात में अपने को क्षत्रिय घोषित करते फिरते हैं। यद्यपि उनके कार्यों एवं वचनों दोनों से ही हलकेपन का संकेत मिलता है। बुंदेलों द्वारा वे नीच समझे जाते हैं और लेखक ने उनकी रीति-नीति, उनके कार्य-व्यापार आदि को कुछ ऐसा चित्रित किया है जिससे उनकी नीचता प्रमाणित भी हो जाती है। अपने आश्रय में रहने वाले सोहनपाल के घर पर रात्रि में आक्रमण करके नाग ने अपनी तुच्छता का ही परिचय दिया है। प्रेम का स्वांग रचने वाली मानवती अवसर आने पर विचलित हो जाती है और प्रणयी अग्निदत्त की दुर्दशा का कारण बनती है। मदिरा पीकर उन्मत्त प्रलाप एवं कामुक चेष्टाएँ खगारों के हलकेपन का द्योतन करती हैं। यहाँ एक बात तनिक खटकती है। समूहों में भी प्रतिवाद हुआ करते हैं। वर्मा जी ने खंगारों के एक पात्र को भी इस प्रकार का चित्रित नहीं किया है जो उच्चाशय हो और जिसके प्रति पाठकों की सहानुभूति हो। पूर्वनियोजित कल्पना-प्रधान कहानियों में यह त्रुटि प्रायः आ जाया करती है। दूसरे प्रकार के पात्र हैं दिवाकर, तारा, अग्निदत्त आदि। इनका व्यक्तित्व बड़ा प्रबल है। और वे अपने जीवन-मार्ग को स्वयं प्रशस्त करते चलते हैं। ब्राह्मण विष्णुदत्त की कन्या तारा कायस्थ दिवाकर से प्रेम करने के उपरान्त बड़े से बड़े उत्सर्ग करने को तत्पर रहती है। इसी प्रकार दिवाकर भी सिद्धान्तों पर आघात होते देख अपने पूज्य पिता से भी विद्रोह कर बैठता है। इन दोनों ही पात्रों में भावुकता-जन्य आदर्शात्मकता अधिक है। तारा और मानवती के प्रेम की तुलना करने पर तारा के प्रेम की गरिमा का यथार्थ बोध होता है। निराश प्रेमी अग्निदत्त अपमानित होकर अपनी जन्मभूमि कुंडार एवं अन्यतम मित्र नाग के विनाश में प्रवृत्त हो जाता है। उसका यह चरित्र-परिवर्तन अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। प्रायः घोर निराशा एवं अपमान के क्षणों में मनुष्य अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति का

अहित करने पर प्रस्तुत हो जाता है। अर्जुन कुम्हार, हरी चदेल तथा इब्न करीम ये तीन पात्र भी बहुत स्वाभाविक बन पड़े हैं। तीनों की स्वामिभक्ति, स्पष्टवादिता एव वीरता अनुपम है। इस प्रकार इस उपन्यास में विभिन्न प्रकार के पात्रों की मनोवृत्ति का बहुत ही सहज एव स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

'गढ कुडार' जीवन की अहकारजन्य व्यर्थता की कहानी है। जीवन के वास्तविक मूल्यों को हृदयगम न कर सकने के कारण मनुष्य भ्रम में भटकता रहता है। अहं की प्रबलता उसे प्रवचित करती है जिससे ऊँच-नीच, मान-अपमान आदि की भावना का उदय होता है। जातियों के उत्थान-पतन एव विनाशकारी युद्धों को इसी भावना से प्रेरणा मिलती है। जो दुर्बलताएँ हमारे भीतर स्वय रहती हैं उन्हीं को दूसरों के भीतर देखकर हम समवेदना नहीं प्रगट कर पाते। राजकुमार नाग हेमवती के लिए जो उसके जाति की नहीं है, उससे उच्च जाति की है, व्याकुल है। वह उसका चोरों की भाँति हरण करने का भी प्रयत्न करता है किन्तु अग्निदत्त एव मानवती के प्रणय के प्रति सहानुभूति न दिखाकर वह एकदम उबल पडता है और अपने बाल्यबन्धु अग्निदत्त का घोर अपमान करता है। यद्यपि अग्निदत्त को मानवती से प्रेम करने का उतना ही अधिकार था जितना नाग को हेमवती से। अग्निदत्त को तो प्रत्युत्तर भी मिला था। प्रतिहिंसा मनुष्य को पशु से भी भयकर बना देती है अग्निदत्त इस तथ्य का उदाहरण है।

ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि करने के लिए वर्माजी ने दृश्य वर्णन, युद्ध-वर्णन, संवाद, एव रीति-नीति सबमें बडी सतर्कता से काम लिया है। बीच-बीच में बुदेली बोली से भी इसमें सहायता ली गई है। सच बात तो यह है कि बुन्देलखण्ड की प्रकृति एव वहाँ के मनुष्य इतने अधिक लेखक के हृदय के निकट हैं कि आप से आप वर्णनों में एक सजीवता आ जाती है। एक तरह से गढ कुडार को हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासों में सर्वप्रथम समझना चाहिये। इस दृष्टि से यह पर्याप्त सफल रहा है।

'विराटा की पद्मिनी' शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है। यह ऐतिहासिक भूमिका में प्रस्तुत एक रोमास मात्र है। अनेक कालों की घटनाएँ, जैसा कि लेखक ने स्वय स्वीकार किया है, उठाकर एक काल में रख दी गई हैं। लेखक के अनुसार घटनाएँ सत्यमूलक हैं यद्यपि उनमें से कोई इतिहास प्रसिद्ध नहीं हैं। पद्मिनी की कथा अनेक स्थानों पर प्रचलित है। विराटा, रामनगर और मुसावली की दस्तूर देहियों में भी पद्मिनी के बलिदान का सूक्ष्म वर्णन है। पात्रों के नाम काल्पनिक हैं। यह सब होते हुए भी लेखक ने अपनी कहानी का जो समय

लिया है उसी के अनुकूल सभी घटनाएँ एवं पात्र हैं। उस समय मुगल साम्राज्य अस्त-सा हो चुका था। भारत के शासन की बागडोर फर्रुखसियर के निर्बल हाथों में थी। परन्तु यह नाममात्र का राजा था। वास्तविक शासन वे दो मनुष्य करते थे जो इतिहास में सैयद भाई के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे समय में जो अवस्था प्राय उत्पन्न हो जाया करती है वही हो रही थी। भारत के सारे राजा, नवाव और शासक स्वतन्त्र हो जाने की चिन्ता में थे। कालपी में भी मुसलमानों की बहुत बडी फौज रहती थी जिसका सम्बन्ध सैयद भाइयों से था। उत्तर और दक्षिण भारत में एक आग-सी सुलग रही थी जो किसी समय भड़क सकती थी और जिसका बहुत कुछ कारण अन्तिम मुगल सम्राट की नीति थी। अनेक राजा और शासक अपना अपना गुट बनाये हुए थे और अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चिन्ता में थे। कुछ राजा स्वतन्त्र हो भी गए थे और जो नहीं हुए थे वे अपने को राजनीतिक कारणों से नाममात्र का आश्रित समझते थे। इस प्रकार की अराजकता सदैव किसी साम्राज्य के पतन और दृढ़ शासक के अभाव में उत्पन्न हो जाती है। कुछ दिन बाद सैयद भाई अस्त हो गये। इसके बाद ही धडाधड लोग स्वतन्त्र हो गए। पूर्वीय बुन्देलखण्ड में भी महाराज छत्रसाल की हुँकार गूँज रही थी। मुहम्मद खाँ महाराज छत्रसाल का विरोध करता फिर रहा था। किसी राजा या रजवाड़े को दिल्ली का भय नहीं था। केवल आस-पास के सबल राज्यों और शासकों का भय था। जरा-जरा से बहानों पर एक राजा दूसरे से लड बैठता था। ऐसे ही समय में वर्माजी ने अपनी कहानी की स्थापना की है। कोई घटना समय-विरुद्ध नहीं है, यद्यपि वह काल्पनिक हो सकती है। पात्र भी समयानुकूल ही हैं।

कथा इस प्रकार है—पालर में एक ढाँगी के घर 'कुमुद' नामक अनुपम लावण्यमयी कन्या थी। उसके रूप, शील एव स्वभाव में कुछ ऐसी अलौकिकता थी कि पालर वालों ने उसे देवी दुर्गा का अवतार घोषित कर दिया और दूर-दूर से उसकी पूजा के लिए भक्त आने लगे। पालर के समीप ही पहूज के किनारे दिलीप नगर के राजा नायकसिंह का पडाव पडा हुआ था। देवी के अवतार की बात वहाँ भी पहुँची और कामुक राजा की सवारी पालर झील के किनारे आ टिकी। राजा के दासी-पुत्र कुंजर सिंह एव कुमुद का साक्षात्कार हुआ और कुंजर उसके रूप से बहुत प्रभावित हुआ। इसी समय सेनापति लोचन सिंह तथा कालपी के नवाब अलीमर्दान के सैनिकों से झगडा हो गया और इस प्रकार दिलीप नगर राज्य एवं अलीमर्दान के बीच संघर्ष का सूत्रपात हुआ। वहीं पर युद्ध में स्वय राजा भी मरते-मरते बचे। इनको बचाने वाला एक बुंदेला देवी सिंह

संसर्ग में रामदयाल के चरित्र में जो परिवर्त्तन दिखाया गया है वह स्वाभाविक है। जनार्दन शर्मा का काइँयापन, उसकी कार्य-कुशलता एवं स्वार्थ बुद्धि अन्त तक वनी रही। लेखक ने इसके चरित्र का भी सफल निर्वाह किया है। लोचन-सिंह का चरित्र भी अनुपम है। उद्दण्ड वीरता के साथ-साथ स्वामिभक्ति का ऐसा निदर्शन कम देखने को मिलेगा। वात-बात में वह सिर काटने को तैयार रहता है। उसके लिए भय का तो मानो अस्तित्व ही नहीं है।

कुमुद एव कुंजर के प्रेम का विकास इतनी कलात्मकता से किया गया है कि कुंजर के प्रति कुमुद के भाव के सम्बन्ध में पाठक अन्त तक भ्रम में ही पड़ा रह जाता है। कुमुद ने अपने को अन्त तक बड़ा संयत रखा। भीतर एक भावों का तूफान छिपाकर भी वह ऊपर से नितान्त शान्त रही और अपने विषय में अपनी सखी गोमती को भी भ्रम में डाले रही। उसके प्रेम में उद्वेग बिल्कुल नहीं है।

रचना की दृष्टि से 'विराटा की पद्मिनी' 'गढ़कुंडार' की अपेक्षा अधिक कलात्मक है। 'कुमुद' ही आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु है और सभी प्रधान घटनाएँ उसी के चारों तरफ घूमती रहती हैं। जितनी भी प्रासंगिक कथाएँ हैं वह किसी न किसी रूप में इस मूल कथा के विकास में सहायता ही देती हैं और अन्त में सबसे पूर्ण, सबसे स्थायी प्रभाव कुमुद ही पाठक के ऊपर छोड़ जाती है। यह कथा दुःखान्त है और इसीलिए इसमें तीव्रता भी अधिक आ गई है।

'झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई' तीसरा महत्त्वपूर्ण उपन्यास है जिसका साहित्य-जगत ने पर्याप्त स्वागत किया। यह शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें एक ऐसे युग का वर्णन है जो हमसे अभी बहुत दूर नहीं हुआ है। अतएव वर्मा जी को इसके लिए प्रचुर सामग्री भी उपलब्ध हुई है। कुछ इतिहासकारों की जिसमें पारसनीस प्रमुख हैं यह धारणा थी कि झासी की रानी स्वराज्य के लिए नहीं लड़ी वल्कि गदर के समय अङ्गरेजों की ओर से झाँसी का शासन करते हुए उन्हें वाध्य होकर जेनरल रोज से लड़ना पड़ा। किन्तु झासी की रानी के विषय में जो प्रचलित जन-भावना है उससे उपर्युक्त धारणा मेल नहीं खाती। वर्माजी ने बहुत ही प्रामाणिक साक्ष्यों का सहारा लेकर इस उपन्यास में यह चित्रित करने का प्रयास किया है कि महारानी लक्ष्मी वाई के हृदय में बाल्यकाल से ही पराधीनता के प्रति विद्रोह की भावना थी और अवसर पाकर उन्होंने सन् १८५७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रथम प्रयत्न में भरपूर योग दिया। उनकी लड़ाई विवशता की न थी वरन् स्वेच्छा से की गई स्वतन्त्रता की लड़ाई थी। एक तरह से वह उस देशव्यापी

प्रयत्न का अथ था जिसकी इति गान्धीजी के नेतृत्व में सन् १६४७ में हुई। इस प्रकार झाँसी की रानी के विविध सघर्ष राष्ट्रीय चेतना के उद्‌बोधन के स्वरूप हुए।

'गढ़ कुडार' एव 'विराटा की पद्मिनी' के चित्रपट अपेक्षाकृत छोटे हैं। उनमें एक जाति की अन्य उपजातियों के साथ लडाई का वर्णन है। उनकी घटनाएँ बुदेलखण्ड तक ही सीमित हैं। किन्तु 'झाँसी की रानी' का चित्रपट विस्तृत और व्यापक है। उसमें प्रान्त विशेप के नहीं बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र के एक महत्वपूर्ण अनुष्ठान का वर्णन है। अतएव जो विशालता एव महत्ता इस उपन्यास में है वह उपर्युक्त अन्य दोनों उपन्यासों में नहीं आ पाई है। उनमें कहानी कहने की प्रवृत्ति प्रवल हैं, इसमें एक निश्चित धारणा का प्रतिपादन उद्दिष्ट है। उनमें अज्ञान प्रेरित शक्ति-क्षय का वर्णन है, इसमें जाति एवं देश को मुक्त कराने की एक व्यवस्थित योजना है। उनमें नारी का रूप-यौवन युद्ध का कारण बना है; इसमें शक्तिमती नारी ने युद्ध का सचालन किया है।

यह उपन्यास चार भागों में विभक्त है। प्रथम भाग है 'उषा के पूर्व' जो बहुत सक्षेप में भूमिका-स्वरूप है। इसमें रानी के पति गंगाधर राव के पूर्वजों का इतिहास, झाँसी राज्य की स्थापना का वर्णन एव गगाधर राव की रुचि तथा प्रकृति का उल्लेख है। 'उदय' में रानी के शैशव, गगाधर राव से विवाह, पुत्र की उत्पत्ति और मृत्यु, दामोदर राव का गोद लिया जाना, राजा की मृत्यु, अग्रेजों द्वारा दत्तक की अस्वीकृति एव झाँसी राज्य पर उसका अधिकार, रानी की लोकप्रियता एव उनके प्रयत्नों आदि का वर्णन है। 'मध्याह्न' में विभिन्न सैनिक छावनियों के असन्तोष, रानी के सैन्य-सगठन, सिपाही-विद्रोह का आरम्भ, झाँसी की सैनिक छावनी में क्राति, झाँसी पर रानी का पुनः अधिकार तथा शासन व्यवस्था, सागरसिंह डाकू का पकडना, झाँसी पर नत्थे खाँ की चढ़ाई और उसकी पराजय, जेनरल रोज का झाँसी की ओर कूच आदि वर्णित हैं। 'अस्त' में अग्रेजों का झाँसी पर आक्रमण, किले की मोर्चेबन्दी तथा स्त्री-पुरुषों की वीरता, झाँसी की पराजय तथा अग्रेजों द्वारा लूट-मार, रानी का पलायन, कालपी में पेशवा की सेना लेकर अग्रेजों से युद्ध और पराजय, ग्वालियर पर पेशवा का अधिकार, वहाँ पर भी अग्रेजों का आक्रमण, युद्ध करते करते रानी का आहत होना तथा बाबा गगाराम की कुटी में मृत्यु आदि घटनाओं का अंकन किया गया है।

उपर्युक्त कथा की सघटना में भी एक योजना है। 'उदय' वाले भाग में प्रधान पात्र एवं घटनाओं का उत्तरोत्तर उत्कर्ष है, 'मध्याह्न' में कथा सीधी रेखाओं में आगे बढ़ती है तथा 'अस्त' में समाप्ति की ओर अग्रसर हो जाती है।

हमको एक बडा सन्तोष है। जनता हमारे साथ है। जनता सब कुछ है। जनता अमर है। इसको स्वराज्य के सूत्र में बाँधना चाहिए। राजाओं को अंग्रेज भले मिटा दें, परन्तु जनता को नहीं मिटा सकते। एक दिन आवेगा जब इसी जनता के आगे होकर मैं स्वराज्य की पताका फहराऊँगी।" और झाँसी की जनता को उन्होंने खूब तैयार कर लिया था। पुरुषों की तो बात ही क्या स्त्रियों की सेना ने अलौकिक कार्य कर दिखाए। प्रजा और सेना उन्हें देवी के समान पूजती थी क्योंकि उनका व्यवहार ही ऐसा था। अपने सैनिकों के प्रति उनके हृदय में बडा कोमल स्थान था। तोप चलाती हुई बख्शिन की मृत्यु पर निर्भय होकर बख्शी ने कहा—"उससे बढ़कर झाँसी और झाँसी की रानी है। शाम को देखूँगा तब तक दाह न करना।" किन्तु लोगों ने देखा "झाँसी की रानी वहाँ धूल में बैठी बख्शिन के शव से लिपटी हुई थीं।" यद्यपि उनके चरित्र में अनावश्यक हलकी भावुकता कहीं नहीं मिलती किंतु स्थान-स्थान पर उनकी भाव-प्रवणता के ऐसे सुन्दर सकेत दिये गए हैं जो उनके चित्र को और भी उज्ज्वल बना देते हैं। झाँसी से अन्तिम बार विदा होना है। "रानी और सुन्दर महादेव के मन्दिर गईं। वन्दना की, ध्यान किया। समाप्ति पर रानी ने सुन्दर से कहा, 'वह पलाश अब भी फूल रहा है। सिन्दूरोत्सव के दिन की मालाएँ अब भी उनसे लिपटी होंगी।' सुन्दर बोली, 'एक बार उसको भेंट लीजिए बाई साहब।' 'अवश्य' रानी ने कहा, 'वह हर साल फूलेगा और झाँसी हरसाल सिन्दूरोत्सव मनाएगी। झाँसी का सिन्दूर अमर हो।' उन दोनों ने उस पलाश से भेंट की।" इसी तरह "द्वार से निकलते ही उन्होंने किले को नमस्कार किया। इस भय से कि कहीं आँख में आँसू न आ जाय उन्होंने उत्तर दिशा की ओर मुँह मोडा और किले के उतार के नीचे आ गईं"। इस प्रकार लेखक ने सम्पूर्ण मानवोचित गुणों से युक्त करके उन्हें एक अलौकिक व्यक्तित्व प्रदान किया है। उनके जीवन के अन्तिम दृश्य तो बड़े ही आलोकपूर्ण हैं। ग्वालियर से हटते समय जब कि वह शत्रु के सगीन-बरदारों को दोनों हाथों की तलवारों से खटाखट साफ करके आगे बढ़ने लगीं तो एक सगीन बरदार की हूल रानी के सीने के नीचे पडी। "उन्होंने सोचा, स्वराज्य की नींव का पत्थर बनने जा रही हूँ।" जब वह बाबा गगाराम की कुटी में मृतप्राय लाई गईं तो वह पहचान कर बोले, "सीता और सावित्री के देश की लडकियाँ हैं ये।" रानी के मुख से निकले हुए अन्तिम शब्द जो लोगों को सुनाई पड़े वे थे—"द.. ह.. तिन्नै.. यं.. पावकः।" वास्तव में यह रानी साहित्य में सदैव सजीव रहेगी।

जैसा की ऊपर कहा जा चुका है झाँसी की रानी की कथा आधिकारिक है।

राजा गंगाधर राव के पूर्वजों का वर्णन उस कथा की भूमिका है। आधिकारिक कथा को विकसित करने तथा तत्कालीन समाज का चित्र अंकित करने के लिए और बहुत से प्रसंगों का वर्णन किया गया है। अन्य उपन्यासों की भाँति ही रोचकता लाने के लिए कई प्रेम-कहानियों की उद्भावना भी की गई है। इनमें कुछ तो नितान्त काल्पनिक हैं और कुछ जनश्रुति पर आश्रित। ये सभी आदर्श प्रेम के दृष्टान्त हैं। इनमें मोती बाई और खुदाबख्श का प्रेम, जूही और तात्या टोपे का प्रेम, मुन्दर और रघुनाथसिंह का प्रेम तथा नारायण शास्त्री और छोटी भगिन का प्रेम उल्लेखनीय हैं। अन्तिम को छोड़कर अन्य तीनों ही दुःखात्मक हैं। मोती बाई एवं खुदाबख्श परस्पर एक दूसरे को हृदय से प्यार करते थे किन्तु कर्तव्य की कठोरता ने उन्हें वैवाहिक बन्धन में बँधने न दिया। जूही का तात्या के प्रति प्रेम एकपक्षीय सा लगता है। तात्या अपनी धुन में ही इतना मस्त रहता है कि उसे प्रेम का प्रत्युत्तर देने का अवकाश ही नहीं मिलता, फिर भी लेखक ने उसके गम्भीर प्रेम का संकेत बड़ी सतर्कता से स्थान-स्थान पर दिया है। प्रेम ने इनमें से एक को भी कर्तव्यच्युत न किया। ग्वालियर के किले में अपनी तोपों से आग उगलती हुई जूही अपने प्रेम को हृदय में लिए हुए ही सदा को विदा हो गई। मोती अधिक भाग्यशालिनी थी। उसने अपने प्रिय के लिए अपने हाथ से कब्र खोदी और स्वामिनी की सेवा में आहत होकर स्वामिनी ही की गोद में प्राण त्याग दिए। उसकी कब्र भी खुदाबख्श के बगल में खोदी गई। मुन्दर अन्त तक रानी के साथ रही और जब चोट खाकर गिरी तो उसके प्रिय रघुनाथसिंह ने उसे सँभाल लिया। वह रानी के साथ ही जलाई भी गई। इस प्रकार इन तीनों प्रेम-प्रसंगों का उदय युद्ध के वातावरण में ही होता है और युद्ध करते करते ही प्रेमी-प्रेमिका का अंत भी हो जाता है। नारायण शास्त्री का प्रेम दूसरे प्रकार का है। वह छोटी के लिए जाति और धर्म से बहिष्कृत होकर भी आनन्दित रहता है। दाम्पत्य-प्रेम की भी बड़ी सुन्दर झाँकियाँ दिखाई गई हैं। झलकारी और पूरन का प्रेम, बख्शी और बख्शिन का प्रेम इसके निदर्शन हैं।

इस उपन्यास के प्रमुख पात्रों में पर्याप्त सजीवता है। झाँसी की रानी के अतिरिक्त राजा गंगाधर राव, सुन्दर, मुन्दर, मोती, झलकारी, खुदाबख्श आदि पात्रों का चित्रण बड़ी ही कुशलता से किया गया है। यह अवश्य है कि पुरुष पात्रों की अपेक्षा स्त्रियों का चित्रण अधिक विस्तार से हुआ है; किन्तु यह तो अनिवार्य था। रानी के समीप यह स्त्रियाँ ही अधिक रहती थीं। केवल युद्ध के समय पुरुष पात्र सम्पर्क में आये। अतएव स्त्रियों का चित्रण अधिक ब्यौरे से हो पाया है। एक बात और है। अधिकतर स्त्रियों के चरित्र एक से हैं जब कि

पुरुषों में अपेक्षाकृत अधिक विभिन्नता है। राजा गगाधर राव के क्रोध, चिड़चिड़ेपन, कठोर न्याय-व्यवस्था के साथ ही साथ उनकी सहृदयता, दान-प्रियता, उदारता आदि का भी अच्छा चित्रण किया गया है। सुन्दर, मुन्दर और काशी की स्वामिभक्ति निराली है। जूही और मोती जो नाटक में अभिनय किया करती थी रानी के सम्पर्क में बिल्कुल ही परिवर्तित हो जाती हैं। उनका आत्म-सयम, उनकी कार्यनिष्ठा, उनकी व्यवहार-कुशलता एव उनके साहस के जो चित्र दिये गए हैं वे वरबस हमारे विश्वास को आकर्षित कर लेते हैं। कुछ मुसलमानों के चित्र तो अनुपम है। इनमें गुलाम गौस, खुदाबख्श, एव गुलमुहम्मद उल्लेखनीय हैं। स्त्री हो या पुरुष उनके अन्त की जो उज्ज्वल झाँकी दी गई है वह कुछ दिनों तक स्मृति में सुरक्षित रहती है। अंग्रेजों की मनोवृत्ति, उनकी कूटनीति आदि के व्यग चित्र भी सुन्दर बन पड़े हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस उपन्यास के पात्र विकासमान न होते हुए भी सजीव हैं।

इस उपन्यास में वर्मा जी तत्कालीन वातावरण को चित्रित करने में पूर्ण सफल रहे हैं। अंग्रेजों की छावनियो का वातावरण, झाँसी के पर्व और उत्सव, हाट के दिन सामान्य जनता की बुन्देलखण्डी में बातचीत, जनेऊ के लिए शूद्रों का आन्दोलन, छोटी और नारायण शास्त्री के विषय में जनता की उत्तेजना, आदि को बड़े ही स्वाभाविकता से अकित किया गया है। वर्मा जी को किले की मोर्चेबन्दी एवं पुराने ढग के युद्धों का बड़ा अच्छा ज्ञान है। अतएव जहाँ भी कहीं उन्होंने युद्धों का वर्णन किया है वह बिल्कुल सजीव हुआ है। झलकारी, बख्शिन तथा रानी के चरित्रों के द्वारा उन्होंने स्थान-स्थान पर भारतीय सस्कृति की बड़ी सुन्दर झाँकी कराई है। बीच बीच में बुन्देली बोली का प्रयोग वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न कराने में बड़ा सफल सिद्ध हुआ है। रानी के सम्पूर्ण जीवन एव उनकी मृत्यु में एक दार्शनिक सन्देश निहित है और वह वही है जो गीता में कृष्ण द्वारा दिया गया था। सभी दृष्टियो से यह उपन्यास एक उत्कृष्ट रचना है। थोड़े से अवकाश में उसके विविध पक्षों की आलोचना यहाँ सभव नहीं है।

मुसाहिबजू भी ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें अधिकाश पात्र कल्पित हैं और घटनाएँ जनश्रुति पर आधारित किन्तु भूमिका ऐतिहासिक है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अंग्रेजों का पर्याप्त प्रभुत्व जम चुका था। बुन्देलखण्ड के रजवाड़े सन्धियों के बन्धन में जकड़े जा चुके थे, किन्तु बन्धन में अभी शिथिलता थी। दतिया के राजा थे विजय बहादुरसिंह, इन्हीं के मुसाहिब थे दलीपसिंह, जिनको बारह सौ योद्धा रखने का आदेश था। मुसाहिब एव उनकी स्त्री दोनों ही बड़े उदार थे और खिलाने-पिलाने में जी खोलकर खर्च करते थे।

इनके शिकारी दल में मेहतर अधिक थे और बड़े स्वामिभक्त भी थे। मुसाहिबजू बिना अपने आश्रितों को खिलाए स्वय नहीं खाते थे। इसी उदारता में उनकी स्त्री के सम्पूर्ण गहने साहूकारों के घर चले गए। मेहतरों ने स्वामिनी के गहनों के दुख को कम करने के लिए डाका डाला और गहने स्वामिनी को बहाने से दे आए। बात फैल गई। मुसाहिबजू एव उनकी स्त्री को भी बडा सताप हुआ किन्तु वे अपने स्वामिभक्त सिपाहियों पर आँच न आने देना चाहते थे। राजा और मुसाहिबजू दोनों ही तन गए और अत में राजा को ही झुकना पडा। इस उपन्यास में मुसाहिबजू एव उनकी स्त्री का बडा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। रमू, लल्ली आदि की स्वामिभक्ति को भी पराकाष्ठा दिखा दी गई है।

कचनार का कथानक निराला ही है। धामोनी के राजा दलीपसिंह को घोड़े से गिरकर सिर मे बडी चोट लग गई। रिश्ते के भाई मानसिंह ने जाने कौन सी ऐसी जडी खिलाई कि ज्वर बढा और राजा की मृत्यु हो गई, किन्तु आँधी-पानी आ जाने से शव को जलाया न जा सका और उसमें प्राणों का स्पन्दन देखकर गोसाई अचलपुरी उसे उठा ले गए। राजा की चोट तो अच्छी हो गई किन्तु उसे पहले की सभी बातें भूल गईं और वह बच्चों का सा व्यवहार करने लगा। महन्त बच्चों के समान ही उसको शिक्षा देने लगा। इधर मानसिंह ने दलीपसिंह की नवविवाहिता वधू कलावती से स्वय विवाह कर लिया और उसकी दासी कचनार से भी विवाह करने की कामना प्रकट की। किन्तु कचनार दलीपसिंह को प्यार करती थी और उसकी मृत्यु से बड़ी दुखी थी। वह किले से भाग निकली और अचलपुरी के आश्रम में आ गई। उसका नाम कंचनपुरी पडा। वह सुमन्तपुरी (दलीपसिंह का गोसाई द्वारा दिया गया नाम) में दलीप-सिंह की आकृति देख कर उसके प्रति कोमल भाव रखने लगी। सुमतपुरी भी कचनपुरी की ओर बहुत आकृष्ट था। अन्त में धमोनी पर गोसाइयों ने पुन आक्रमण किया। मानसिंह हार गया। युद्ध में दलीपसिंह के सिर में फिर चोट लग गई और वह अच्छा हुआ तो पूर्व स्मृतियाँ लौट आयीं। उसने मानसिंह को क्षमा कर दिया और स्वय कचनार से विवाह कर लिया।

इस उपन्यास में कचनार का चित्रण बडा सफल हुआ है। गोसाई के आश्रम में आने के बाद पूर्व स्मृति पुनः लौटने तक दलीपसिंह के बालोचित स्वभाव का भी अच्छा निर्वाह किया गया है। आकर्षण का प्रधान केन्द्र कचनार ही है। कलावती एव ललिता की तुलना में उसका चरित्र और भी स्पष्ट हो गया है। उसमें गभीरता, संयम, आत्मगौरव, एव हार्दिक स्नेह का अपूर्व सगम हुआ है। कचनार, ललिता एव कलावती तीनों में ही अपनी-अपनी विशेषताएँ है।

पुरुष पात्रों में महंत, मानसिंह, डरू एवं दलीपसिंह के चित्र अच्छे बन पडे हैं। कहानी में पर्याप्त आकर्षण है एव कुतूहल को बनाये रखने की अपूर्व शक्ति है।

'कचनार' में इतिहास और परपरा दोनों का उपयोग किया गया है। वर्मा जी के अनुसार "उपन्यास में वर्णित सब घटनाएँ सच्ची हैं। केवल समय और स्थान का फेर है।" मनोरंजकता एव चरित्र-सृष्टि दोनों ही दृष्टियों से उपन्यास पर्याप्त सफल हुआ है।

मृगनयनी उपन्यास में तोमर शासन-काल के स्वर्ण-युग का कलात्मक अंकन किया गया है। यह उपन्यास शुद्ध ऐतिहासिक है जिसमें प्रमुख पात्र एवं घटनाएँ इतिहासानुमोदित हैं। अंग्रेज इतिहासकारों ने मानसिंह (१४८६–१५१६ ई०) को सर्वश्रेष्ठ तोमर शासक माना है। उस समय ग्वालियर पर दिल्ली के बादशाह सिकन्दर लोदी ने पाँच बार आक्रमण किया किन्तु उसको सफलता न मिली। ग्वालियर-विजय की कामना से ही उसने आगरा बसाया और बहुत प्रयत्नों के बाद ग्वालियर राज्यान्तर्गत नरवर को ले सका। मालवा का विलासी सुल्तान गयासुद्दीन खिलजी तथा गुजरात का महमूद बघर्रा भी ग्वालियर पर दाँत लगाए रहते थे। किन्तु मानसिंह इतना वीर, कर्तव्यनिष्ठ एवं जागरुक था कि उसके शासन-काल में ये मुसलमान प्रतिपक्षी ग्वालियर को एक बार भी पराजित न कर सके। इन ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं घटनाओं को मृगनयनी उपन्यास में बडे कौशल से विन्यस्त किया गया है। मानसिंह, सिकन्दर लोदी, गयासुद्दीन खिलजी, नसीरुद्दीन खिलजी, महमूद बघर्रा, राजसिंह, मृगनयनी आदि प्रमुख पात्र इतिहास के प्रकाश में चित्रित किये गए हैं। ध्रुपद के प्रसिद्ध गायक संगीताचार्य बैजू का प्रामाणिक जीवनवृत्त उपलब्ध नहीं है। कतिपय किंवदन्तियों के आधार पर उनके विषय में कल्पनाएँ की जाती हैं। एक किंवदन्ती तो यह है कि बैजू मानसिंह का दरबारी गायक था और उसके सहयोग से ही मानसिंह ने ध्रुपद शैली का आविष्कार और प्रचार किया था। मानसिंह की गूजरी रानी मृगनयनी के नाम पर बैजू ने 'गूजरी टोड़ी' और 'मंगल गूजरी' रागों का निर्माण किया था।" दूसरी किंवदन्ती के अनुसार "बालक बैजू ने हरिदास स्वामी से संगीत की पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर प्रसिद्ध गायक तानसेन को गायन की प्रतिद्वन्द्विता में परास्त किया था। तीसरी किंवदन्ती के अनुसार बैजू, गोपाल और तानसेन तीनों ही हरिदास स्वामी के शिष्य कहे गए है। वर्मा जी ने प्रथम किंवदन्ती के आधार पर ही 'मृगनयनी' उपन्यास में बैजू का चित्रण किया है और 'परिचय' में बैजू का निश्चयात्मक शब्दों में उल्लेख किया है यद्यपि उसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं दिया है।

इतिहास-तत्त्व के अतिरिक्त इस उपन्यास में जनश्रुतियों एवं किंवदन्तियों का भी पर्याप्त मात्रा में उपयोग किया गया है। मृगनयनी का एक ही बाण में नाहर को मारना तथा अरने भैंसे की सींग उमेठ देना, मृगनयनी के अतिरिक्त राजा मानसिंह के आठ रानियों का होना, नटों का प्रसग एव नरवर गढ़ के बाहर रस्से पर जाने वाली कथा, राई नटी का ग्वालियर के किले तक नहर के द्वारा लाया जाना आदि बातें तोमरों और गूजरों की श्रुति-परम्परा से ली गई हैं। इतिहास एवं लोक-परम्परा की स्थूल रेखाओं में रूप भरने के लिए लेखक ने अनेक कल्पित व्यक्तियों एवं घटनाओं की भी अपनी ओर से उद्भावना की है। अटल और लाखी का प्रेम-प्रसग, निन्नी और लाखी द्वारा माँडू सुलतान के सिपाहियों का वध, विजय, जगम और वैष्णव पडित का विवाद, नटों के साथ अटल और लाखी की नरवर यात्रा, भुवनमोहनी द्वारा मृगनयनी को विष देने के उपाय तथा अनेक अन्य घटनाएँ लेखक की उर्वर कल्पना की देन हैं। इस प्रकार इतिहास, लोक-परम्परा एवं कल्पना तीनों के योग से मृगनयनी उपन्यास की रूप-रचना हुई है। किन्तु कल्पना का प्रयोग इतनी सतर्कता से किया गया है कि कहीं कोई ऐतिहासिक असंगति नहीं आने पाई है और तत्कालीन वातावरण छोटे-छोटे व्यजक ब्यौरों के बीच सजीव हो उठा है।

इस उपन्यास में मूलकथा मृगनयनी तथा मानसिंह की है और प्रासगिक कथाएँ अनेक हैं, जिनमें लाखी और अटल की प्रेमकथा प्रधान है। ये प्रासगिक कथाएँ—जैसे गयासुद्दीन-नसीरुद्दीन का प्रसग, बघर्रा की चढ़ाई एव उसके आसुरी भोजन का वर्णन, राजसिंह-कला-बैजू बावरा का प्रसग, विजय जंगम तथा बोधन पुजारी आदि के प्रसंग—मुख्य कथा के साथ या तो अनिवार्यतः सम्बद्ध हैं और उसके विकास में योग देती हैं अथवा तत्कालीन राजनैतिक एव सामाजिक परिस्थिति-चित्रण में उनका महत्त्व है। छोटे-मोटे अनेक प्रसंगों की अवतरणा करके भी लेखक ने इस कुशलता से उनका निर्वाह किया है कि उपन्यास के गठन में कोई त्रुटि नहीं आने पाई है और तत्कालीन वातावरण पूर्ण रूपेण सजीव हो उठा है। मृगनयनी के भाई अटल तथा उसकी बाल्य सहेली लाखी के प्रेम की कथा अवश्य मानसिंह मृगनयनी की कथा के समानान्तर प्रवाहित होती है किन्तु वह उससे बड़े ही प्रगाढ भाव से आबद्ध है। कथानक का आरम्भ, विकास तथा अन्त सभी पूर्व निश्चित एव सुनियोजित से हैं और लेखक ने पाठक की उत्सुकता को उद्बुद्ध रखते हुए बड़ी ही धीर-गम्भीर गति से कथा को अग्रसर रखा है। कहीं-कहीं वर्णनों में विशेषतया

इतिहास वर्णन में अत्यधिक इतिवृत्तात्मकता के कारण शुष्कता आ गई है किन्तु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं।

इस उपन्यास का प्रमुख आकर्षण-केन्द्र है इसकी नायिका मृगनयनी। वर्मा जी ने मृगनयनी का चरित्र-विकास इतनी सतर्कता से किया है कि कहीं कोई असगति नहीं आने पाई है। राई गाँव की यह गूजर-कन्या रूप, शौर्य एव शक्ति में अनुपम है। मातृ पितृ हीना निन्नी अत्यन्त विपन्न अवस्था में भी अपने भाई अटल की स्नेह-छाया में जगलों-पहाड़ों के बीच निर्भय विचरण करती हुई प्रसन्न है। रात को मचान पर बैठकर खेत रखाना, दिन में घर के काम-काज में व्यस्त रहना तथा शिकार करना ही उसकी दिनचर्या है। समवयस्का लाखी उसे सखी के रूप में मिल गई है। नितान्त अनाथ लाखी को वह अपने स्नेहाचल में भर लेती है और लाखी तथा अटल के प्रेम में उसे हार्दिक प्रसन्नता है। वह लाखी को प्यार भी करती है और कभी-कभी साधारण झगड़ा भी कर लेती है, किन्तु उसे असहाय समझकर बराबर उसका मान रखती है। लाखी तथा निन्नी के स्वभावगत अन्तर को लेखक ने बड़े कौशल से, सूक्ष्म स्पर्शों द्वारा चित्रित किया है। लाखी की अपेक्षा निन्नी में अधिक सलज्जता, सयम, आत्म-गौरव, आत्मविश्वास, गम्भीरता, रुचिपरिष्कार एव सूक्ष्म बूझ है। लाखी जहाँ पिल्ली (नटिनी) के चमकीले वस्त्राभूषणों एव नाच-कूद की कला से आश्चर्य-चकित होती है वहीं निन्नी को छाती उचकाकर निर्लज्जता प्रदर्शन करने वाली इस स्त्री पर ग्लानि होती है, घृणा होती है। उसे अपने 'दाऊ' (अटल) पर स्नेह है, गर्व है और यद्यपि वह अटल से अच्छा निशाना लगा लेती है और बड़े बड़े जगली सूअरों, नाहरों तथा अरने भैंसों को एक ही तीर में मार गिराती है किन्तु उसके भीतर कभी आत्मश्लाघा का भाव नहीं उदित होता। उसका गाँव, उसकी नदी, जगल एव पहाड़ उसे अत्यधिक प्रिय हैं और वह प्रायः सोचा करती है—"जहाँ भी रहूँ इस प्यारी नदी की दमकती हुई कल्लोलिनी धार को अपने पास में रखूँ। बाहर जाऊँ तो क्या इसको बाँधकर समेटकर नहीं ले जाया जा सकता? ऊँघती, लहराती चालों को किसी कागज पर उतार लिया जाय। पहाड़ों की ऊँचाइयों को एक स्थल पर क्यों न इकट्ठा कर लूँ? बड़े बड़े पेड़ों के बन्दनवार बना लिए जायँ और डालियों पत्तों के साजों के झरोखे। उनमें से चाँदी की कड़ियों वाली लहरों को नाचता हुआ देखा जाय और फिर गाऊँ—"जाग परी मैं पिय के जगाए।" आगे चलकर उसकी इस कल्पना को राजा मानसिंह ने मानमन्दिर के शिल्प में तथा राई नदी को नहर द्वारा किले तक ले जाकर साकार कर दिया। अत्यन्त साधारण परिस्थिति में रहते

हुए भी उसके हृदय के किसी कोने में भावी जीवन के उपयुक्त महत्त्वाकांक्षा दबी पड़ी थी और अन्यत्र सगाई की चर्चा होने पर उसने साफ-साफ कह दिया—"भैया से कहना कि सगाई की चर्चा को आगे न बढ़ावें। मैं ब्याह नहीं करूँगी।" मानो ऐसे-वैसे वर के साथ ब्याह करना उसके आत्मगौरव के प्रतिकूल था। राजरानी बनने के पूर्व भी उसका मन कभी-कभी रनिवासों की कल्पना किया करता था—"· क्या उनके हाथ-पैर इतने निकम्मे होते होंगे कि अपने ऊपर आँख और हाथ डालने वाले पुरुष को घूँसे से धरती न सुँघा सकें।" गयास के भेजे हुए सिपाहियों को बर्छी से मारकर उसने नारी शक्ति का परिचय दिया था। मानसिंह एवं मृगनयनी का परस्पर साक्षात्कार, परिचय एवं प्रेमाकर्षण बड़े ही सहज, स्वाभाविक तथा मर्यादित रूप में चित्रित किया गया है। मानसिंह के राजसी वैभव ने नहीं उसके परिपुष्ट एवं सबल शरीर तथा पौरुष ने ही निन्नी को आकर्षित किया—"वीर होगा यह राजा! नाहरों और अरनों को मार देने का बल होगा इसमें!! तुर्कों को मार भगाने की शक्ति होगी इसके कलेजे और हाथों में!!! उसने सोचा और आँखें नीची कर लीं।" इधर राजा भी प्रथम साक्षात्कार में ही विस्मय विमुग्ध हो उठा—"यह कौन? यहाँ कैसे? राख के ढेर में चिनगारी कहाँ से आई? इस सड़ियल गाँव में ऐसा सौन्दर्य।" राजा का यह रूपाकर्षण शिकार के अवसर पर निन्नी के अचूक लक्ष्य-वेध एवं अलौकिक शौर्य-साहस को देखकर और भी प्रबल हो उठा। उसने अपना सोने का रत्न जटित हार उसके गले में डाल दिया और काँपते हुए स्वर में कहा—"सुन्दरी, मृगनयनी साहस नहीं होता, संकोच लगता है, परन्तु कहे बिना नहीं रहा जाता। क्या तुमको ब्याह में पा सकता हूँ? क्या अपनी जन्मसंगिनी बना सकता हूँ?" निन्नी ने नितान्त सहज, भोले एवं ग्रामीण ढंग से ही अपनी स्वीकृति दी और जीवन के इतने बड़े सौभाग्य पर भी अत्यधिक संयत एवं आत्मनियन्त्रित बनी रही। विवाह के उपरान्त विदा होते समय वह साधारण बालिकाओं की तरह ही लाखी से चिपटकर फूट-फूट कर रोई और रास्ते भर भाई, लाखी तथा राई के उन्मुक्त वातावरण की स्मृति उसे व्यथित करती रही।

ग्वालियर के राजमहल में पहुँचकर रानी मृगनयनी के जीवन का नूतन अध्याय आरम्भ होता है। जीवन के इस असम्भावित परिवर्तन को उसने बड़े सहज भाव से ग्रहण किया और राजसी वैभव की दीप्ति ने उसका मानसिक सन्तुलन बिगड़ने न दिया। यहाँ उसकी कलात्मक प्रतिभा को विकास का मार्ग मिला और उसने अत्यधिक तत्परता से लिखने-पढ़ने, चित्रकारी एवं संगीत का

अभ्यास आरम्भ किया और कुछ ही दिनों में प्रसिद्ध आचार्य बैजू ने अनुभव किया कि 'वह पूर्वजन्म में संगीत का अवतार रही होंगी।' शस्त्रकला में तो वह पहले से ही दक्ष थी अब शास्त्र, संगीत एवं चित्रकला में पारगत होकर वह मानसिंह का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत बन बैठी। उसने प्रेम को कभी वासना के निम्न स्तर पर नहीं उतरने दिया और पति के प्रति हार्दिक प्रेम, भक्ति, विश्वास रखते हुए भी वह उन्हें सदैव कर्तव्य का ध्यान दिलाती रही। मानसिंह तथा मृगनयनी के प्रेम-प्रसग का वर्णन लेखक ने अपूर्व सयम से किया है। मानसिंह को उसने, साधारण स्त्रियों की भाँति, कभी भी अपने विलास-विभ्रम में उलझाकर कर्तव्य-च्युत नहीं होने दिया और समय-समय पर उसे सावधान सा करती रही—"नियम सयम के साथ रहिए और मुझको रहने दीजिए। मैं चाहती हूँ कि उन गुणों के साथ मेरी देह में भी वही बल बना रहे जिसको राई से लेकर आई हूँ।" इस आत्मनियन्त्रण एव शास्त्र सगीत के ज्ञान ने उसके सौन्दर्य को स्थायित्व प्रदान कर और भी विकसित किया। उसके प्रति मानसिंह का प्रेमाकर्षण समय के साथ बढता ही गया। उस प्रेम के प्रतीकस्वरूप मानमन्दिर तथा गूजरी महल का निर्माण हुआ। मानमन्दिर की प्रेरणा-कल्पना राजा को अपनी प्राणाधिक रानी से ही प्राप्त हुई थी—"भवन को सौन्दर्य, लालित्य और आस्था का मन्दिर बनाऊँगा। कोमल भावनाओं का सदन, तुम्हारी चाह, भक्ति और बडप्पन का प्रतीक! तुम्हारी कल्पना के बन्दनवार, ऊँचे वृक्ष, पल्लवों के झरोखे, नदी की दमकती हुई लहरें, सबों को उसमें सँजो दूँगा। उस मन्दिर की प्रबल मजुलता आधी रात की चाँदनी में आकाश में गाकर कहेगी—"जाग परी मैं पिय के जगाए।" ग्वालियर पर सिकन्दर लोदी के आक्रमण के समाचार से जब युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं तो रानी मृगनयनी ने प्रस्ताव किया—"समय पड़ने पर मैं भी लड़ूँगी।" जौहर करने की कल्पना उसे उपहासास्पद प्रतीत हुई। तुर्कों को सोना-चाँदी देकर टाल देने की भावना पर वह क्षुब्ध सी हो उठी—"कलाओं की बहुत अधिक पूजा ने ही क्या आपके ध्यान को राजनीति के दाम वाले अंग पर अधिक जा बिठाया है? दण्ड की बात आप क्यों नहीं सोच रहे हैं।" अत्यधिक उत्तेजना में वह बोल पड़ी—"वीणा को बजाते-बजाते, काम पडने पर यदि तुरन्त तलवार न उठ पाई, कोमल सेज पर सोते-सोते, सकट आने पर, यदि तुरन्त ही उछल कर कमर न कसी, ध्रुपद के गाते-गाते शत्रु के सामने आ खड़े होने पर, यदि तुरन्त गरजकर चिनौती न दे पाई, जिन कानों में मीठे स्वरों की रसधार बह-बहकर जा रही थी उन्हीं कानों में यदि रणवाद्यों और कडाखों की धुन न समा पाई तो

ऐसी वीणा, सेल और ध्रुपद की तानों का काम ही क्या।" मानसिंह गद्गद् हो गया--"यही होगा, यही होगा प्राणधन। पहले कर्तव्य, कला की बात पीछे।"

मृगनयनी का सम्पूर्ण जीवन इस कर्तव्य-भावना से सयत रहा। बड़ी रानी सुमन-मोहिनी एव अन्य सातों रानियाँ उससे अत्यधिक ईर्ष्या-द्वेष रखती थीं और यथावसर कटुतम व्यग करने से भी नहीं चूकती थीं। मृगनयनी तिलमिला उठती थी। किन्तु वह शीघ्र अपने को आत्मनियन्त्रित कर लेती और सपत्नी-कलह के निम्न-स्तर तक कभी नहीं उतरी। आगे चलकर तो वह उन्हें नितान्त असभ्य समझ उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगी। सुमनमोहिनी ने विष देकर उसे मार डालने के असफल प्रयत्न भी किए किन्तु मृगनयनी ने न तो इसका उल्लेख मानसिंह से कभी किया और न उसके मन में प्रतिकार की भावना उदित हुई। राजा मानसिंह सुमन-मोहिनी के पुत्र की अपेक्षा मृगनयनी के पुत्रों को अधिक चाहते थे किन्तु गृहकलह बचाने के लिए उसने लिखकर दे दिया कि उसके पुत्र "राजसिंह और बालसिंह गद्दी या जागीर के अधिकारी नहीं होंगे। अपने बड़े भाई की आज्ञा का पालन करते हुए अपने कर्तव्य का निर्वाह करेंगे।" रानी हो जाने पर भी लाखी के प्रति, अपने भाई अटल के प्रति तथा राई गाँव के जगल पहाड़ों के प्रति उसकी ममता पूर्ववत् बनी रही। प्रायः अपने कक्ष की छत पर झरोखे के सहारे खड़ी होकर मृगनयनी राई के पहाड़ों, जगलों तथा साँक नदी की ओर दृष्टि करके पुरानी स्मृतियों में रस लेती। लाखी को उसने अपने पास पूरे सम्मान से रखा और उसे कभी यह आभास न होने दिया कि वह किसी प्रकार रानी से कम है। लाखी के पैर में चाँदी के आभूषण देख मृगनयनी को सकोच हुआ और बोली "मैं चाहे नंगे पैर रहूँ, कल से सोने के गहने नहीं पहिनूँगी। तुम चाँदी के पहिनो और मैं सोने के? यह नहीं हो सकता।" लाखी ने समझाया बुझाया, प्रतिवाद किया—"तुम्हारे गले में चाँदी की हँसुली है, क्यों है?" "मैं अपने राई को, अपने उन दिनों को जब स्वतन्त्र थी, अपनी उस साँझ को जब भैया यहाँ से लौट कर इसे ले आए, कभी नहीं भूल सकती। महाराज ने उतार डालने के लिए कहा पर, मैंने नहीं माना।" सुमन-मोहिनी आदि के व्यग पर भी वह अपने भाई के स्नेह के प्रतीक उस चाँदी की हँसुली को गले से नहीं उतारती। मानसिंह से अनुरोध करके उसने युद्धों के बीच भी लाखी का अटल के साथ विधि-पूर्वक पाणिग्रहण कराया क्योंकि उसके विचार से 'स्त्री तब तक अपने को दरिद्र समझती है जब तक उसके सम्बन्ध में समान मान्यता न दे।" इतना ही नहीं

हुए भी रागरंग एवं कला-साधना में रत मानसिंह का व्यक्तित्व अपनी सम्पूर्ण मनुष्यता में उद्भासित हो उठा है।

मृगनयनी की सखी तथा भावज लाखी के चित्रण में भी लेखक ने अत्यधिक कौशल का परिचय दिया है। विपत्ति की मारी दूसरे गाँव से राई में आकर बस जाने वाली यह अहीर कन्या सहज ही में समवयस्का निन्नी की स्नेहभाजन बन गई और अटल के प्रति उसका आकर्षण बढ़ता गया। निन्नी की अपेक्षा लाखी अधिक प्रगल्भ, चंचल एवं निर्भीक है। लाखी निन्नी से तीर चलाना सीखने लगी, अटल ने भी सिखाया और कुछ ही महीनों के अभ्यास से वह भी अच्छा निशाना लगाने लगी। एक दिन एकान्त पाकर अटल कह उठा—"मैं तुमको बहुत चाहता हूँ। बहुत प्यार करता हूँ।" 'मैं जानती हूँ।' कहकर लाखी ने आँखें नीची कर लीं। अटल ने उसके कन्धे को एक बाँह में भर लिया। उन्हें क्या मालूम था कि आगे चलकर जाँत-पाँत का भूत उन्हें कितना तंग करेगा। निन्नी और लाखी प्रायः झगड़ भी जाती हैं किन्तु मनमुटाव देर तक नहीं रहता और सहज स्नेह जोर मार कर ऊपर आ जाता है। निन्नी और लाखी के परस्पर सम्बन्ध के बड़े ही सरस एवं स्वाभाविक वर्णन उपन्यास में अंकित हैं। लाखी और अटल के प्रेम को लेकर निन्नी प्रायः छेड़ा करती है और दोनों ही उसमें रस लेती हैं। बुढ़िया माँ के मर जाने पर अटल तथा निन्नी के आग्रह से लाखी अटल के ही घर में रहने लगी और वह इसी घर का एक अंग बन गई। निन्नी के साथ लाखी के रूप तथा शौर्य की चर्चा भी फैल चली। और उन दोनों को बहका कर ले जाने के लिए माँडू सुल्तान गयासुद्दीन की ओर से नट-नटिनी भेजे गए। पिल्ली के चमकीले वस्त्रों, रहस्य संकेतों, छाती उचका मटकने-नाचने तथा खेल दिखाने के ढंग और बेढंगी चाटुकारिता का निन्नी के सहज, संस्कृत मन पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता और वह ग्लानि, विरक्ति एवं घृणा से भर उठती है किन्तु सामान्य अहीर कन्या लाखी का मन आकर्षित होता है और वह रस्सी पर चलने का अभ्यास भी करने लगती है। (निन्नी और लाखी का यह अन्तर सम्भवतः इसलिए दिखाया गया है कि आगे चलकर लाखी का समय बहुत दिनों तक नट नटिनियों के साथ ही बीता और नरवर के किले के बाहर रस्से के सहारे चढ़कर जाने की योजना में योग देना था।) निन्नी के विवाह के अवसर पर ग्रामीण स्त्रियों की कुत्सित चर्चा—"निन्नी रानी बनकर पान चबाएगी और लाखी चेरी बनकर निन्नी की पीक को गदेली पर लेगी और राजा की सेज को बिछाया उठाया करेगी, सुन्दर सलोनी है न"—उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाती

है और वह कितनी ही विपत्ति में हो ग्वालियर न जाने का सङ्कल्प कर लेती है। हठी बोधन पुजारी के लाखी-अटल के अन्तर्जातीय विवाह की अनुमति न देने पर अटल ने भावावेश में लाखी को अपने बगल में बिठाया और भगवान को साक्षी बनाकर, गंगाजी की सौगन्ध खाकर, लाखी का बाँया हाथ अपने हाथ में लेकर स्वयं ही विवाह कर लिया और गाँव में इसकी घोषणा भी कर दी। इस अदम्य साहस पर गाँव का लोकमत इतना उग्र हो उठा कि इस नव दम्पति को गाँव छोड़ना पड़ा और नटों के साथ इधर-उधर भटकते हुए नरवरगढ़ में पहुँचना पड़ा। इस बीच पिल्ली और नायकिन बराबर लाखी को बहकाने का प्रयास करती रहीं और उसे अनुकूल समझ एक दिन पिल्ली ने बता दिया कि मॉडू का सुल्तान उसे अपनी गोद में बिठाने के लिए पलक-पाँवड़े बिछाए हुए है और सोने-मोतियों के ढेर और मखमली पलंग उसकी बाट जोह रहे हैं। सुल्तान लाखी को हस्तगत करने के लिए ही नरवर का घेरा डाले पड़ा था। लाखी, जिसके मन में यह सन्देह घर कर गया था कि अटल पिल्ली को चाहता है, नटिनी की, किले के बाहर जाने की योजना स्वीकार कर लेती है और उस समय ऐसा लगता है कि सचमुच ही वह सुल्तान की अङ्कशायिनी बनने को उत्सुक है। उसने ऐसी कुशलता से अपने वास्तविक मनोभाव को नियन्त्रित कर रखा है कि पाठक थोड़ी देर के लिए भ्रम में पड़ जाता है किन्तु जब वह रस्सी को काट कर बाहर जाती हुई पिल्ली को खाई में गिरा देती है और भर्राए हुए स्वर में बोल उठती है—"डायन! चुड़ैल!! सुल्तान की गोद में बिठलाना चाहती थी!! अब ले ले नरवर का आधा गज!!!" तब हमें इस मनस्विनी स्त्री के विकट सङ्कल्प एवं सूझ बूझ का वास्तविक परिज्ञान होता है। वह अटल को प्रोत्साहित करती है—"उतर पड़ो ससार में कमर कसकर और सिर उठाकर निन्देचारे का सामना करो।" राजा मानसिंह नरवर को बचाने वाली इस देवी को पति के साथ हाथी पर बिठाकर ग्वालियर ले गया और वहाँ पहुँच कर लाखी को मृगनयनी से जो प्यार, स्वागत और आह्लाद मिला उससे वह अपनी सब व्यथाओं को भूल गई। लाखी के जीवन का अन्तिम दृश्य बड़ा ही आलोकपूर्ण है। माँडू सुल्तान का ग्वालियर पर आक्रमण हुआ है। राव अटल सिंह लाखी रानी के साथ राई की नवनिर्मित गढ़ी में (जो उन्हीं के लिए बनी है) आ गए हैं। गढ़ी पर घेरा पड़ा हुआ है। रात को पहरे की देखभाल के लिए शस्त्र सज्जित होकर लाखी चल पड़ी एक चौकी पर किसान ऊँघ रहे थे। उसने उन्हें घर भेज दिया और स्वयं पहरे पर आ डटी। उसी समय कुछ तुर्क सिपाही कँगूरों पर चढ़ आए और अकेले

इस जीवन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान और भक्ति, काम और कार्य, कला और कर्तव्य, शारीरिक स्वास्थ्य, पौरुष, सौन्दर्य तथा मानसिक सौन्दर्य का समन्वय ही मानव-जीवन की सार्थकता है और इसी में सच्चा सुख है। इस जीवन-दृष्टि को अभिव्यक्त करने में यह उपन्यास पूर्णतया सफल रहा है।

'मृगनयनी' के उपरान्त 'अहिल्याबाई' 'भुवन विक्रम' तथा 'माधव जी सिन्धिया' आदि अनेक ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

'अहिल्या बाई' केवल १६० पृष्ठों का छोटा-सा उपन्यास है जिसका प्रधान उद्देश्य अहिल्या बाई के जीवन-चरित को उपन्यास के रूप में प्रस्तुत करना है। अहिल्या बाई इतिहास प्रसिद्ध सूबेदार मल्हार राव होल्कर के पुत्र खण्डेराव की पत्नी थी। दस-बारह वर्ष की आयु में उनका विवाह हुआ। २६ वर्ष की अवस्था में विधवा हो गईं। इसके बाद एक-एक करके पुत्र, दौहित्र, दामाद, पुत्री सभी का देहान्त हो गया। दूर के सम्बन्धी तुकोजी का पुत्र मल्हार राव, जिसपर उनका स्नेह था एव आशाएँ टिकी थीं भी अन्त तक उन्हें दुख देता रहा। चारों ओर गडबडी मची हुई थी। शासन और व्यवस्था के नाम पर घोर अत्याचार हो रहे थे। उस विकट परिस्थिति में अहिल्या बाई ने जिस धैर्य, सयम, दृढ़ता से राज्य-सचालन किया, प्रजा के कल्याण के कार्य किए, तथा भारत भर के प्रसिद्ध तीर्थों और स्थानों में मन्दिर, घाट, कूओं बावड़ियों आदि के निर्माण कराये उससे उनके जीवन काल में ही जनता उन्हें 'देवी' कहने और समझने लगी थी। वर्मा जी ने अनेक ऐतिहासिक एव काल्पनिक प्रसगों के माध्यम से अहल्या बाई के सशक्त व्यक्तित्व को रूप देने का सफल प्रयास किया है।

'भुवन विक्रम' नामक उपन्यास में वर्मा जी की कल्पना की एक नवीन सचरण भूमि दृष्टिगोचर होती है। यह उपन्यास न तो समसामयिक जीवन को लेकर चला है और न ऐतिहासिक। इसमें उत्तर वैदिक युग की जीवन-रीति, समाज-व्यवस्था, आचार-विचार एव जीवन-दर्शन का चित्रण अभिप्रेत है। लेखक को रोमपाद नामक अयोध्या-नरेश के राज्य में भयानक अकाल पड़ने का वृत्तान्त किसी प्राचीन भारतीय इतिहास में मिला। इसी को आधार बनाकर इनकी कल्पना अग्रसर हुई और तत्कालीन सभ्यता-सस्कृति के लिए अनेक ग्रन्थों से तथ्य सचय करके इस उपन्यास की रचना हुई। उत्तर वैदिक काल में अनेक पणि (फिनीशियन) आर्यावर्त में व्यापार करते थे और इनके यहाँ दास प्रथा प्रचलित थी। अयोध्या में भी रोमक के शासनकाल में नील नामक एक समृद्ध एव प्रभुतासम्पन्न पणि था। अकाल पड़ने पर नील ने राजा के

विरुद्ध षडयन्त्र करके उसे कुछ काल के लिए सिंहासन से हटवा दिया। रोमक का पुत्र भुवन विक्रम नैमिषारण्य में धौम्य ऋषि के आश्रम में विद्याध्ययन के लिए आता है। नील का कपिंजल नामक दास भी भागकर ऋषि आश्रम में शरण पाता है और उसे तपस्या का अधिकार मिलता है। नैमिषारण्य में ही भुवन का गौरी नामक एक कन्या से प्रेम हो जाता है। अयोध्या लौटते समय नदी की बाढ़ में गौरी तथा उसके माता पिता बह जाते हैं, किन्तु गौरी किसी प्रकार बचकर नील की दुहिता हिमानी की परिचारिका बन जाती है। हिमानी बड़ी ही क्रूर, कुटिल एवं वाचाल लड़की है जो भुवन से एक बार कोड़ा खाकर मन ही मन बहुत घृणा करती है। रोमक तथा भुवन आदि की हत्या का एक जाल रचा जाता है। हिमानी तथा भुवन के ब्याह की बात पक्की होती है और हिमानी ब्याह के दिन ही भुवन की हत्या कर प्रतिशोध चुकाना चाहती है। किन्तु कपिंजल तथा गौरी की सहायता से सारा भेद खुल जाता है। सभी षडयन्त्रकारी बन्दी बनाए जाते हैं। गौरी तथा भुवन का विवाह होता है और रोमक पुनः सिंहासन प्राप्त करता है।

जहाँ तक शुद्ध कथा का प्रश्न है वह पर्याप्त आकर्षक तथा मानव-स्वभाव पर प्रकाश डालने वाली है। किन्तु जहाँ तक उत्तर वैदिक कालीन वातावरण-निर्माण का प्रश्न है लेखक अधिक सफल नहीं हो सका है। सम्भवतः इसका प्रधान कारण भाषा की असमर्थता है।

'माधवजी सिन्धिया' नामक उपन्यास सन् १९४८ की रामनवमी को ही लिखा जा चुका था किन्तु यह प्रकाश में आया अगस्त १९५७ में। यह उपन्यास पूर्णतः ऐतिहासिक है और इसमें जिन प्रमुख व्यक्तियों तथा घटनाओं का वर्णन आया है वे सब इतिहास-सम्मत हैं। वास्तव में अठारहवीं शताब्दी के अस्थिर, अव्यवस्थित राजनीतिक परिस्थिति के चित्रण में यह उपन्यास पर्याप्त सफल रहा है और वर्मा जी ने अत्यधिक परिश्रम से ऐतिहासिक तथ्यों का संग्रह करके उन्हें उपन्यास रूप में व्यक्त किया है। ऐतिहासिक पात्रों को सजीवता वैयक्तिकता प्रदान करने में अन्य उपन्यासों की भाँति इसमें भी वर्मा जी पर्याप्त सफल रहे हैं। निर्वाणोन्मुख मुगल साम्राज्य के बादशाहों की गतिविधि, उनके वजीरों की कूटचालों, रुहेलों, अफगानों, मराठों, सिक्खों, जाटों के युद्ध तथा लूट-पाट आदि का बड़ा विस्तृत वर्णन इस उपन्यास में उपलब्ध है। माधवजी सिन्धिया के चरित्र निर्माण में लेखक ने बड़ी कुशलता का परिचय दिया है। जाट राजकुमार जवाहर सिंह तथा गन्ना बेगम के प्रेम की कथा बड़ी ही व्यथापूर्ण है। अन्य

उपन्यासों की अपेक्षा इसमें इतिहास तत्व की प्रमुखता हो जाने के कारण कहीं-कहीं बडी इतिवृत्तात्मकता एव रूक्षता आ गई है। अन्यथा उपन्यास पर्याप्त सफल है।

वर्मा जी के अधिकाश सामाजिक उपन्यास प्रेम-प्रधान हैं। पहले की रचनाओं में 'प्रेम की भेंट' तथा 'कुंडली चक्र' उल्लेखनीय हैं। 'प्रेम की भेंट' में धरिख-सरस्वती का प्रेम बडा ही आदर्श एव उच्चकोटि का है। 'कुडली चक्र' में आदर्श एव आधुनिक दोनों ही ढग के प्रेम का वर्णन है। रतन और अजित का प्रेम आधुनिक ढग का है किन्तु अजित के प्रति पूना का प्रेम आदर्श एव उच्चकोटि का है।

'अचल मेरा कोई' में आधुनिक ढंग के प्रेम एव उसकी समस्याओं का वर्णन है। कुन्ती जो बराबर अचल से संगीत की शिक्षा लेती रही और जिसे अचल स्नेह भी करता था सुधाकर से विवाह कर लेती है। कुछ दिन तो रँगरेलियों में कटे किन्तु धीरे-धीरे कुती अपनी स्वतन्त्रता ढूढने लगी। अचल के यहाँ आना जाना आरम्भ हुआ और उसी के कहने से अचल ने विधवा निशा से विवाह भी कर लिया। सुधाकर के मन में सन्देह ने घर कर लिया और प्रायः दोनों में मन-मुटाव सा रहने लगा। एक दिन सुधाकर की कटूक्तियों को न सह सकने के कारण कुन्ती ने बन्दूक से आतमहत्या कर ली और एक कागज पर लिख गई 'अचल मेरा कोई ⋯ ⋯।'

इस प्रकार इम उपन्यास में पत्नीत्व की भारतीय भावना और स्त्री स्वातन्त्र्य की आधुनिक धारणा से उद्‌भूत समस्या का वर्णन है। अपवादों को छोड दें तो हम देखेंगे कि कितना ही पढा लिखा व्यक्ति क्यों न हो वह स्त्री से सम्पूर्ण समर्पण की आशा करता है। इधर नवीन शिक्षा-प्राप्त स्त्री अपने को समानाधिकारिणी समझने लगी है। वह भी उसी तरह घूमना-फिरना, मिलना जुलना चाहती है जिस तरह पुरुष। किन्तु पुरुष को यह सह्य नहीं। परिणाम स्वरूप कितने ही हृदयों में असन्तोष की उत्पत्ति होती है और कभी-कभी असन्तुष्ट स्त्री या पुरुष प्राणों पर खेल जाते हैं। इस समस्या का समाधान क्या है? आपस का विश्वास एव संतोष वृत्ति। इस उपन्यास में समस्या भी है और समाधान भी। कुती और सुधाकर यदि समस्या है तो अचल और निशा समाधान। ये चारों पात्र विभिन्न मनोवृत्ति के है। चारों में अपनी वैयक्तिकता है और उनके अकन में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है। प्रेम की मुख्य कथा के साथ-साथ गौण रूप से सत्याग्रह आन्दोलन के विषय में विभिन्न वर्ग के लोगों की भिन्न-

भिन्न धारणाओं का भी चित्रण किया गया है। गिरधारी और पंचम के प्रसंग यद्यपि मूल कथा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते किन्तु उनके समावेश से ग्रामीणों के कुछ अच्छे चित्र प्रस्तुत हो गए हैं।

'अमरबेल' वर्तमान ग्राम्य समस्याओं को आधार बनाकर लिखा गया उत्कृष्ट कोटि का उपन्यास है। ग्रामीण-समाज एवं उसकी अनेकमुखी समस्याओं की सर्वाधिक जानकारी एवं वर्णन-क्षमता श्री प्रेमचन्द में थी। किन्तु प्रेमचन्द के गाँव स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व के हैं। इधर, जब से हम स्वतन्त्र हुए हैं जमींदारी-उन्मूलन, सहकारिता-आन्दोलन, ग्राम-पंचायतों के संगठन, नलकूपों तथा बिजली की व्यवस्था आदि के कारण गाँवों का वातावरण परिवर्तित हो गया है और नई समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। 'अनीति से रुपया कमाने की धुन गाँवों तक में व्यापक रूप में फैली हुई है—साहूकारी, खेती, किसानी सब में। समाज में यह घुन की तरह लगी हुई है। जैसे हरे-भरे पेड़ पर अमरबेल।' उपन्यास की घटनाओं में "अधिकांश को गाँवों के जीवन से जुटाया गया है। सब सच्ची हैं और पात्र भी सच्चे हैं। उनके और तत्सम्बन्धी स्थानों के नाम अवश्य बदल दिए गए हैं।" वास्तव में इस उपन्यास में बुन्देलखण्ड का ग्रामीण जीवन अपनी सम्पूर्ण विविधता में सजीव हो उठा है। सरकारी अफसरों एवं कर्मचारियों की यन्त्रवत् कार्यविधि, नए सुधारों के प्रति ग्रामीणों की सन्देह एवं अविश्वास पूर्ण दृष्टि, गाँवों की फूट, अफीम के अवैध रोजगार, डाकुओं के आक्रमण आदि विविध विषयों को विन्यस्त करके एक सम्पूर्ण चित्र देने का प्रयास किया गया है। व्यक्ति एवं समाज के प्रति स्थान-स्थान पर बड़ा सुन्दर व्यंग भी मिलता है। "वह (देशराज) स्वाधीनता की हलचल में दो बार जेल जा चुका था। यह ठीक है कि इनके पहले वह एक बार चोरी के मुकदमे और दूसरी बार डकैती का माल छिपाने के अपराधों में भी सजा भोग आया था, परन्तु उसका विश्वास था कि स्वाधीनता के लिए दो बार जेल जाने से पिछली सारी कालिमा धुल-पुछ गई है।" प्रेमचन्द के उपरान्त ग्राम्य जीवन का ऐसा यथार्थ एवं विश्वसनीय चित्र देने वाला यह उपन्यास पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है।

वर्मा जी की कुछ विशेषताएँ :

प्रायः तीस वर्षों से अनवरत साहित्य-साधना में मग्न वर्मा जी ने हिन्दी उपन्यास भण्डार को समृद्ध करने में अनुपम योग दिया है। उनके उपन्यासों में उनका मानसिक स्वास्थ्य एवं सन्तुलन प्रतिबिम्बित हुआ है। उनमें जीवन को समग्र रूप में देखने का प्रयास है और इसीलिए उनमें एक व्यापकता एवं विशालता

मिलती है। इनके सामाजिक उपन्यास भी यथार्थ जीवनानुभूति से प्रेरित हैं किन्तु ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रकाश में वे धूमिल से हो गए हैं और लोग उन्हें ऐतिहासिक उपन्यासकार के नाते ही अधिक स्मरण करते हैं किन्तु वर्तमान समाज की जीवन-रीति एवं समस्याओं के अंकन की दृष्टि से उनके उपन्यासों का कम महत्व नहीं है। इन सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों में वर्मा जी ने लोकसत्य पर अधिक बल दिया है और वास्तविक घटनाओं का अधिकाधिक प्रयोग किया है। अधिकाश उपन्यासों में जनश्रुतियों के आधार पर प्रसगों की योजना हुई है। कुछ घटनाएँ सच्ची होती हैं कुछ कल्पित, किन्तु मुख्य घटना अधिक्तर किसी ख्यात घटना को ही पकड़ कर चलती है, चाहे वह इतिहास सम्मत हो, वास्तविक हो, अथवा बुन्देलखण्ड की जनता में प्रचलित कोई कहानी हो। वर्मा जी में भावुकता है, सहृदयता है, ग्रहणशक्ति है और है उच्चकोटि की कल्पना-विधान की शक्ति जिसके कारण वे कथा के मार्मिक स्थलों को पहचानते हैं और निश्चित ध्येय की ओर सीधे अग्रसर हो जाते हैं।

एक बात और जिस पर वर्माजी के उपन्यासों में ध्यान जाना आवश्यक है, उनकी रोमाटिक प्रवृत्ति है। उनकी सभी कहानियाँ एक रोमांस हैं, यदि हम रोमास को उसके प्रकृत रूप में लें। आजकल के पढ़े-लिखे नवयुवकों का रोमास तो अधिकतर लडकियों को घूरने, तॉगे, मोटर या साइकिल पर बैठकर उनका पीछा करने, पत्रों में प्रियतमे, प्रिये, आदि शब्दों की झडी लगा देने, गद्देदार बिस्तरों पर विरह-व्यथा से तडपने और कुछ न हुआ तो जहर खाकर जान दे देने तक ही परिमित है। परंतु यह रोमास नहीं, छिछोरापन है। पाश्चात्य-साहित्य में रोमास कभी ऐसे हीन अर्थ में व्यवहृत नहीं हुआ है। रोमास शब्द से ही वहाँ साहस, सदाशयता, वीरता, त्याग, कर्मशीलता तथा कर्तव्यपालन आदि का बोध होता है। इन कहानियों में प्रेम की शक्ति का वर्णन रहता है, अकर्मण्यता का नहीं। जीवन-समर में सान्नित कदम रहकर प्रेम करते रहना, बड़े से बड़े कष्टों के सामने भी सिर न झुकाना, हार न मानना यही वास्तविक रोमास है। वर्माजी के रोमास इसी कोटि के हैं, केवल साधारण प्रेम-कहानियाँ नहीं। उनके प्रेमी और प्रेमिकाएँ कॉखने-कराहनेवाली नहीं, वरन् प्रकाश-पुञ्ज की भाँति चमक कर एक दूसरे में विलीन हो जानेवाली हैं। यह प्रकाश ऐसा है कि प्रकाश केन्द्र के मिट जाने पर भी जगत को प्रकाशित करता रहता है। इन अमर प्रेम कहानियों के सामने आधुनिक प्रेम-कहानियाँ बच्चों के खेल-सी लगती हैं, गुड्डे गुड़ियों के ब्याह से अधिक हम उन्हें समझ ही नहीं पाते। 'गढ़ कुडार' में तारा-दिवाकर का प्रेम, 'विराटा की पद्मिनी' में कुमुद-कुञ्जर का प्रेम, 'झासी की रानी' में मुन्दर-रघुनाथ

सिंह का प्रेम, 'प्रेम की भेंट' में धीरज-सरस्वती का प्रेम, 'कुण्डली चक्र' में पूना-अजित का प्रेम 'मृगनयनी' में लाखी-अटल का प्रेम, 'माधव जी सिन्धिया' में जवाहर-गन्ना बेगम का प्रेम सब वास्तविक रोमास हैं। 'गढ़-कुंडार' ऐतिहासिक उपन्यास होने पर भी प्रेमकहानियों से पूर्ण है। अग्निदत्त, दिवाकर और नागदेव तीनों की कथाएँ रोमास के भिन्न-भिन्न रूप हैं, जिनमें उच्च और आदर्श रोमांस तारा-दिवाकर वाला ही है। 'प्रेम की भेंट' आद्योपांत एक रोमास ही है। 'कुण्डली चक्र' में दोनों प्रकार के रोमास मिलेंगे—आधुनिक भी और शुद्ध भी। रतन और अजित का प्रेम बहुत कुछ आधुनिक ढग का है, यद्यपि उन परिस्थितियों में वह स्वाभाविक है। पूना का प्रेम शुद्ध रोमास है। रतन के प्रेम में असफल होने के अनन्तर अजित की जो भावनाएँ एव जीवन का कार्यक्रम हो जाता है वह बहुत-कुछ 'आशिकों' सा लगता है। परतु 'पूना' की कहानी से इसकी तुलना करके देखिए। रतन की कथा उसके सामने हीनप्रभ हो जाती है। पूना की कथा मानवता से दीप्त है, 'रतन' की नहीं। 'विराटा की पद्मिनी' तो वर्माजी की रोमास-रचनात्मक प्रतिभा का उत्कृष्ट नमूना है। यह ससार के किसी भी साहित्य की शोभा बढ़ाने में समर्थ होगा। 'झाँसी की रानी' में भी कितने ही प्रेम-प्रसंग हैं जो बड़े ही प्रभाव पूर्ण हैं।

यदि हम ससार के रोमास-साहित्य को देखें तो पता चलेगा कि रोमास में घटनाओं की प्रधानता होती है। ड्यूमा और स्कॉट ससार के सर्वश्रेष्ठ रोमांस-लेखकों में है। इनके सभी उपन्यास घटना-प्रधान हैं। ठीक यही बात वर्माजी के उपन्यासों में भी है। वे सभी घटना-प्रधान हैं। यह नहीं कि उनमें चरित्र-चित्रण नहीं है। नहीं, उनमें उच्चकोटि का भावुकतापूर्ण चरित्र-चित्रण है, परतु इनका चरित्र-निर्माण घटनाओं द्वारा ही होता है। घटनाओं की योजना ही वर्माजी की विधायक कल्पना की विशेषता है। प्रत्येक घटना चारित्रिक विशेषता का दिग्दर्शन कराने में सफल होती है। प्रसिद्ध लेखक स्टीवेंसन ने रोमास को परिस्थितियों का काव्य (पोयट्री आव सरकमस्टान्सेज़) कहा है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि रोमास में परिस्थितियों की प्रधानता रहती है। जीवन में बहुत सी बातें ऐसी होती है जो मानवेच्छा का बिलकुल ध्यान ही नहीं करतीं। वे अपने आप हो जाती हैं, चाहे हम उनकी कामना करें या न करें। ऐसे अवसरों पर हमें यह नहीं सोचना पडता कि क्या करें, बस यह कि हम कैसे करें। परिस्थितियाँ बराबर बनती चली जाती हैं, उन्हें बनाना नहीं पडता। हमारे लिये कार्य पहले से ही निर्धारित रहता है, ढूँढना पडता है केवल उन्हें करने का उपाय। इसीसे रोमास की सृष्टि होती है। 'विराटा की पद्मिनी' को ही लीजिये।

परिस्थितियाँ अपने आप बनती चली जाती हैं। कोई पात्र उन्हें बनाता नहीं, कभी कभी तो वे पात्रों की इच्छा के विरुद्ध भी उपस्थित हो जाती हैं, जिनके कारण एक साहस-भावना (स्पिरिट आव एडवेंचर) की सृष्टि होती है। यही साहस-भावना अथवा अनिश्चय की भावना किसी कहानी को रोमास बनाने और तीव्रता प्रदान करने में सफल होती है। ठीक यही बात अन्य उपन्यासों के सबध में भी है। 'कुण्डली चक्र' को देखिए। 'अजित' और 'पूना' के सबध की घटनाएँ सब अपने आप होती चली गईं। उनका सचालन-सूत्र किसी अदृश्य शक्ति के हाथ में था। उन घटनाओं के सपादन का उपाय अवश्य उसके अभिनेताओं को सोचना पड़ता था, परतु घटनाएँ या परिस्थितियाँ तो पहले से ही बनी बनाई उपस्थित थीं। संभव है, 'अजित' उन परिस्थितियों को न चाहता रहा हो परतु वे वहाँ थीं और वह उनसे बच नहीं सकता था। परिस्थिति की तरंगों द्वारा भविष्य में फेंक दिया जाना ही उसे रोमास की पदवी प्रदान करता है। यदि यह साहस-भावना न होती तो शायद हम उसे रोमास कहने में सकोच करते। 'गढ़-कुण्डार' और 'प्रेम की भेंट' में भी यही बात मिलेगी।

किसी कहानी को पढ़ते समय हमारी दो प्रकार की भावनाएँ होती हैं। कभी तो हम पात्रों के अभिनय की प्रशसा करते हैं और कभी-कभी कल्पना में स्वय उन पात्रों का रूप धारण करके कहानी में भाग लेने लगते हैं। जिस कहानी में हम स्वय पात्रों का रूप धारण कर लें वही उच्चकोटि की कहानी है। रोमाटिक कहानी की यही विजय है। जब पाठक जान-बूझकर नायक बन जाता है तब समझना चाहिए कि कहानी का यह दृश्य सुदर है। जिन उपन्यासों में केवल चरित्र का अध्ययन या मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होता है उन्हें हम आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ते हैं, या यों कहें कि उनमें हमारी प्रसन्नता आलोचनात्मक होती है। उनके पात्रों को हम दर्शकों की भाँति देखते हैं, उनकी असबद्धताओं पर हँसते हैं और साहस, सहनशीलता, कष्ट, दुःख, गुणों आदि पर रीझते हैं, परतु फिर भी पात्र भिन्न हो रहते हैं। हम और वे एक प्राण नहीं हो पाते। उनका अध्ययन अथवा विश्लेषण जितना ही स्पष्ट होगा हमसे वे उतने ही दूर होंगे। हम अपने को 'सुनीता' के पात्रों के रूप में नहीं देख सकते, परतु धीरज, दिवाकर, कुजर सिंह, अजित, जवाहर-सिंह आदि के रूप में देख सकते हैं। चरित्र नहीं, घटना हमें अपने एकात और व्यक्तित्व से फुसलाकर बाहर लाने में समर्थ होती है। कोई ऐसी घटना हो जाती है जैसी हम चाहते हैं कि हमारे ऊपर बीते अथवा कोई ऐसी परिस्थिति किसी कहानी में आकर्षक विवरण के साथ वर्णित होती है जिसे हम चिरकाल से अपनी भावना में पोषित करते चले आ रहे हैं और तब हम नायक को एक किनारे

ढकेल देते हैं, अपना निजी व्यक्तित्व लेकर कहानी में कूद पड़ते हैं और नवीन अनुभवों में अवगाहन करने लगते हैं। तभी, उसके पहले नहीं, हम कहते हैं कि हम रोमास पढ़ रहे थे। अपने दिवा-स्वप्नों में हम केवल सुख-ऐश्वर्य ही नहीं सोचते, वरन् कभी कभी ऐसे क्षण भी आते हैं जिनमें स्वय अपनी मृत्यु-कल्पना हमें प्रिय हो जाती है। अतएव ऐसी कहानियों की सृष्टि भी सभव है जो दुःखात हों परतु फिर भी जिनकी प्रत्येक घटना का पाठक हृदय से स्वागत करे। वर्माजी के उपन्यास भी इसी प्रकार के हैं। वे प्राय दु खात ही है। जिनका अत सुख में होता है वे भी दु ख की एक अमिट छाप छोड जाते हैं और हमें उस दुःख से भी आनद आता है। 'गढ़ कुडार' और 'मृगनयनी' सुखात हैं फिर भी अत में एक अवसाद सा छाया रहता है। 'विराटा की पद्मिनी' और 'प्रेम की भेंट' दुखात हैं परंतु हमें 'कुजर सिंह' अथवा 'धीरज' बनने में कोई आपत्ति नहीं। हम उनकी मृत्यु अपने ऊपर लेने को प्रस्तुत हो जायँगे। उच्च कोटि की रोमांटिक कहानी की यही विजय है, यही रोमास है। राबर्ट लुइस स्टीवेन्सन का कहना है कि 'मनुष्य के लिए कथा-वाङ्मय का वही स्थान होता है जो लडकों के लिए खेल का। यहीं पर वह अपने जीवन के वातावरण और कशमकश को परिवर्तित कर देता है। जब वह उसकी कल्पना से इतना मेल रखता है कि वह हृदय से उसमें सम्मिलित हो सके, जब उसकी प्रत्येक घटना उसे प्रसन्न करनेवाली होती है, जब उसकी संस्मृति आनदप्रद होती है और जब वह पूर्ण प्रसन्नता से उस स्मृति में लीन होता है तब वह कथा-वाङ्मय रोमास कहलाता है।'[1] हम देखेंगे कि यह बात वर्माजी के उपन्यासों के सबंध में अक्षरशः सत्य है। विशेषकर 'विराटा की पद्मिनी' के विषय में।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वर्माजी के पास कहने के लिए सदैव एक कहानी होती है। आजकल उपन्यासों में कहानी का होना उतना आवश्यक नहीं समझा जाता, परन्तु वर्माजी इसे नहीं मानते। जब तक कहानी नहीं है तब तक

---

१ "फिक्शन इज टु दी ग्रोन अप मैन व्हाट प्ले इज टु दी चाइल्ड, इट इज़ देयर दैट ही चेंजेज दी ऐटमॉस्फियर एड टेनर आव् हिज लाइफ, एड व्हेन दी सेम सो चाइम्स विद हिज फेन्सी दैट ही कैन ज्वाइन इन इट विद आल हिज़ हार्ट, व्हेन इट प्लीजेज हिम विद एवरी टर्न, व्हेन ही लव्ज़ टु रिकाल इट एड ड्वेल्स अपौन इट्स रिफ्लेक्शन विद एटायर डिलाइट, फिक्शन इज कॉल्ड रोमास।"

—गासिप आन रोमास।

आप कहेंगे क्या ? अतएव वर्माजी का सर्वप्रथम उद्देश्य होता है कहानी कहना। यदि उनके उपन्यासों में से चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि निकाल दिए जायँ तब भी स्वय कहानी ही इतनी आकर्षक, हृदयस्पर्शी तथा प्रभावोत्पादक होती है कि हम उसे भूल नहीं सकते। इनके प्रत्येक उपन्यास में कुछ ऐसी हृदय को छूनेवाली स्थितियाँ एव घटनाएँ मिलती हैं, उनकी योजना ही इस प्रकार की होती है कि वे सदैव मन में मँडराया करती हैं। 'गढ कुण्डार' में निर्जन मदिर के सामने तारा का दिवाकर के गले में माला डालना और फिर अतिम दृश्य में अर्धनग्न होकर मूर्छित दिवाकर के पास साडी लटकाकर पहुँचना, 'विराटा की पद्मिनी' में कुमुद का माँ वेतवा की गोद में विश्राम लेना, दाँगियों का जीर्ण-शीर्ण पीले वस्त्र पहने हुए रणोन्माद एव उल्लास, 'प्रेम की भेंट' में सरस्वती के हाथ में प्रेम की भेंट वाला टुकडा तथा 'कुण्डली चक्र' में अजित और पूना का चकरई की पहाडियों में मिलन, ये सब घटनाएँ ऐसी हैं कि हमारे मानस-पटल पर सदैव के लिए अकित हो जाती हैं। हम और सब भूल सकते हैं—हम शब्दावली भूल सकते हैं, यद्यपि वह अत्यत कोमलकात हो, हम लेखक की टीका-टिप्पणी भूल सकते हैं, यद्यपि वह कदाचित् अत्यंत चातुर्यपूर्ण, बुद्धिसगत और उपयुक्त हो, किन्तु इन घटनाओं एव दृश्यों को नहीं भूल सकते। इन चित्रों को मानस-पटल से मिटा देने की सामर्थ्य समय में भी नहीं है। एक यही चित्र देखिए—

"कुमुद शात गति से ढालू चट्टान के छोर तक पहुँच गई। अपने विशाल नेत्रों की पलकों को उसने ऊपर उठाया। उँगली में पहनी हुई अँगूठी पर किरणें फिसल पडी। दोनों हाथ जोडकर उसने धीमें स्वर में गाया—

"मलिनिया, फुलवा ल्याओ नँदन-वन के।
बिन बिन फुलवा लगाई बडी रास
उड गए फुलवा रह गई बास।"

"उधर तान समाप्त हुई, उधर उस अथाह जल राशि में पैजनी का छुम्म से शब्द हुआ। धार ने अपने वक्ष को खोल दिया और तान-समेत उस कोमल कठ को सावधानी से अपने कोष में ले लिया।"

"ठीक उसी समय वहाँ अलीमर्दान भी आ गया। घुटना नवा कर उसने कुमुद के वस्त्र को पकडना चाहा, परन्तु वेतवा की लहर ने मानो उसे फटकार दिया। मुट्ठी बाँधे खड़ा रह गया।"[१]

---

१ विराट की पद्मिनी, पृष्ठ ३६४।

कितना सुन्दर चित्र है। इसके चित्रण के लिए शब्द पर्याप्त नहीं, वे समर्थ भी नहीं। इसके लिए चित्रकार की आवश्यकता है। स्टीवेन्सन का कहना है—"किसी वस्तु को पठनीय तभी कहा जा सकता है जब उसकी रीति ही लीन कर देनेवाली एव आकर्षक हो। हम उत्सुकतापूर्वक पृष्ठ पर पृष्ठ उलट जायँ, अपने को छोड़कर एक दूसरी ही दुनिया में पहुँच जायँ और जब पढ़कर उठें तो हमारा मस्तिष्क अनेकानेक रंग-बिरंगे नाचते हुए चित्रों से भरा हो। हम में निद्रा अथवा अविरल चिंतन की शक्ति ही न रह जाय। शब्द, यदि वे समर्थ हैं, सुन्दर हैं तो उस समय से हमारे कानों में तरगों के कलकल नाद की भाँति गूँजा करें और कहानी, यदि वह कहानी है तो सहस्रों रंग-बिरंगी तसवीरों के रूप में नेत्रों के संमुख नाचा करे।"* वर्माजी की कहानियाँ ऐसी ही होती हैं। उनकी कहानियों में रग-बिरगे चित्र होते हैं। एक बार यदि आप उन्हें आरम्भ कर देंगे तो उन्हें बिना समाप्त किए उठने का जी ही न चाहेगा, भूख-प्यास सब भूल जायगी। दृश्य आँखों के सामने नाचा करेंगे। 'विराटा की पद्मिनी' का अतिम दृश्य ही लीजिए। पुस्तक बद करने के अनंतर भी यह जान पड़ता है मानों अभी-अभी थोड़ी देर पहले किसी की उँगली की अंगूठी ने सूर्य की किरणों से होड़ लगाई थी, अभी अभी थोड़ी देर पहले उस जल-राशि पर छम्म से कुछ हुआ था। पुस्तक बन्द करने पर भी मानों लहरों पर पवन में वह गीत गूँजा करता है—'उड़ गए फुलवा रह गई बास' मानों उस पर्वतीय वनखण्ड में एक कोयल अपने पञ्चम स्वर से हृदय को स्पंदित और आन्दोलित कर, उसे अकथनीय व्यथा एवं आर्द्रता से भर कर न जाने कहाँ अदृश्य हो गई हो।

वर्माजी के उपन्यासों के अध्ययन के अनन्तर एक और बात, जो हमें स्पष्ट लक्षित होती है, वह उनका बुन्देलखण्ड का भौगोलिक ज्ञान है। उनका बुन्देलखण्ड-

---

* "इन एनी थिंग फिट टु बी कॉल्ड बाइ दी नेम आव् रीडिंग, दी प्रोसेस इटसेल्फ शुड बी ऐब्जार्बिंग ऐण्ड वालप्चुअस ; वी शुड ग्लोट ओवर दी बुक, वी रैप्ट क्लीन आउट आव् अवरसेल्ज, ऐण्ड राइज़ फ्राम दी पेरूजल, अवर माइंड फिल्ड विद् दी बिजिएस्ट कैलीडास्कोपिक डास आव् इमेजेज़, इन्केपेबुल आव् स्लीप आर आव् काटीनूअस थाट। दी वर्डस् इफ दी बुक बी एलोक्वेंट शुड रन देंस फारवर्ड इन अवर इयर्स लाइक दी नॉयेज़ आव् ब्रेकर्स, एण्ड दी स्टोरी, इफ् इट बी ए स्टोरी, रिपीट इटसेल्फ इन ए थाउजैंड कलर्ड पिक्चर्स टु दी आई।"

—ए गासिप आन रोमास।

बलिदान द्वारा हमें अभिभूत कर लेता है। ऐसा जान पड़ता है, मानों वे इस पृथ्वीतल को छोड़कर ऊपर उठ गई हैं और वायु में तैर रही हैं। हमारे स्पर्श मात्र से उनमें धब्बा लग जायगा, इतनी शुभ्र, उज्ज्वल एवं पवित्र है वे। वर्माजी की सभी नायिकाएँ अनुपम हैं परतु 'विराटा की पद्मिनी' की कुमुद उनकी चरित्र-सृष्टि का उत्कृष्टतम उदाहरण है। पुस्तक के अन्त में हम स्वय सोचनेलगते हैं कि वह देवी थी या मानवी? पालर वाले उसे देवी समझते हैं, दाँगी उसे देवी समझते हैं, कुजरसिंह उसे देवी समझता है, सारी जनता उसे देवी समझती है, यहाँ तक कि बात-बात में सर काटने और कटानेवाला लोचनसिंह भी उसे देवी समझता है। जो भी हो, वह देवी रही हो या न रही हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह मानवता के उच्चतम गुणों से विभूषित थी; और श्रेष्ठतम मनुष्यत्व ही देवत्व है। वह एक साथ ही कितनी शात, सयत, धीर, गम्भीर, आत्मनिमज्जित, दृढ, दयालु एव प्रेममयी है। ऐसे संयम के साथ उसने कुजर का प्रेम अपने हृदय में छिपा रखा था कि उसका आभास विरले पाठक ही पा सकते हैं। पाठक क्या, स्वय कुजरसिंह बहुत देर में उसे जानने में समर्थ हुआ, फिर भी अपने मन से 'देवीत्व' की भावना को दूर नहीं कर सका। पुस्तक के अन्तिम कुछ पृष्ठो में ही पाठक उसके प्रेम की तीव्रता का अनुभव करने में सफल होते हैं। अन्त में उसके सयम का बाँध टूट जाता है। प्राण-प्रिय अन्तिम विदा माँगने के लिए उपस्थित है। तोपें आग उगल रही है। परिस्थति विकट है। तो फिर संयम कब तक रह सकता है? आँखे तरल हो जाती हैं। पहले कपित स्वर में और फिर दृढतापूर्वक कहती है, 'मैं भी चलूँगी।' और जब कहती है कि 'अभी मत जाओ, जरा ठहर जाओ, गोला-बारी थोड़ा कम हो जाने दो' तो हम उसकी अनुनयपूर्ण तरल आँखों और असीम स्नेहमय स्वर का अनुभव करते हैं। वह आज लड़ाई में कुंजर के साथ रहना चाहती है। उत्तर के स्थान पर 'पानी' 'बानी' का काम करता है। और अत में नहीं रहा जाता, वह कुजर के हृदय से लग ही जाती है। कुजर से अतिम साक्षात्कार के समय वह अत्यत दृढ़ है। उसने एक निश्चय कर लिया है और अब अविचलित है। आँचल के छोर से जगली फूलों की एक माला निकालकर कुञ्जर के गले में डाल देती है। मानों परिणय हो गया। फूल अधखिले और सूखे थे। और अतिम दृश्य तो कभी भुलाया ही नहीं जा सकता। वह धीर-गभीर गति, वह कोकिलागान, बेतवा पर छुम्म की ध्वनि आदि स्मृति-पट पर सदैव के लिए अकित हो जाते हैं। हमने जब उसे पहले पहल देखा था तब भी देवी सी और इस समय भी वैसी ही देवी। सचमुच कुमुद का चित्र अद्वितीय है।

यही नहीं, 'विराटा की पद्मिनी' 'गढ़ कुडार,' 'झाँसी की रानी, ''मृगनयनी' आदि उपन्यासों में जितने चित्र हैं सब सुन्दर हैं। कुंजरसिंह, राजा नायकसिंह, देवीसिंह, जनार्दन शर्मा, छोटी रानी, बड़ी रानी, गोमती, सोहनपाल, सहजेंद्र, दिवाकर, धीर प्रधान, तारा, मानवती झाँसी की रानी, मृगनयमी, लाखी, मानसिंह, अटल, बैजूबावरा, गन्ना बेगम आदि सबके चित्र एक से एक बढ़कर हैं। इन ऐतिहासिक कृतियों में चरित्रों का जमघट सा हो गया है, फिर भी वर्माजी सबको अलग-अलग रखने में समर्थ हुए हैं। सबका अपना-अपना व्यक्तित्व है। कथोपकथन सुनकर ही हम कह सकते हैं कि यह अमुक पात्र है और यह अमुक। यही चरित्र चित्रण की उत्तमता है। 'विराटा की पद्मिनी' में कुंजर और कुमुद के मिलन के अंतिम दो दृश्य वर्माजी ने जिन परिस्थितियों में रखे हैं वे उनकी कुशलता के परिचायक हैं। चारों ओर मार-काट मची है, धायँ-धायँ, सायँ-सायँ हो रहा है, उसके बीच यह रसमयी धारा! ऐसी परिस्थति में उस दृश्य का प्रभाव न जाने कै गुना बढ़ जाता है। 'गढ कुडार' में तारा और दिवाकर का मिलन ठीक ऐसी ही परिस्थिति में होता है। यही रोमास है। जीवन-मृत्यु के बीच किया हुआ प्रेम ही शुद्ध रोमास कहला सकता है। यह प्रेम बैठे-ठाले का दिल-बहलाव नहीं, वरन् जीवन की कठोर वास्तविकताओं के बीच बहती हुई पीयूषधारा है, जो मृत्यु को भी सुखद बना देती है। 'गढ़ कुण्डार' और 'विराटा की पद्मिनी' दोनों ही उपन्यासों की गति बडी क्षिप्र है मानों पहाडी नदी हो। और होना भी यही चाहिए था। ऐतिहासिक उपन्यासों की गति यदि क्षिप्र न हो तो वे कुछ नहीं रह जाते। कहानी के उपयुक्त वातावरण उपस्थित करने मे वर्माजी अत्यत कुशल हैं। राजा नायकसिंह की मृत्यु के समय वातावरण कितना तीव्र है। ऐसा जान पडता है मानों अब कुछ हुआ, अब कुछ हुआ। घटनाओं की गति अत्यंत वेगवती है। जिसके कारण उत्सुकता बनी रहती है। शृङ्गार और वीर का सुदर मेल वर्माजी के ऐतिहासिक उपन्यासों की विशेषता है। वर्माजी के पात्र जीते-जागते होते हैं, कठपुतली नहीं। और उनके उपन्यासों में घटनाएँ भी सभी सप्रयोजन होता हैं। प्रत्येक घटना का कुछ न कुछ तात्पर्य होता है और वे एक दूसरी से सबद्ध होती हैं। 'कुण्डली चक्र' में अवश्य कुछ दोष हैं। संभवतः वह वर्माजी की प्रारभिक रचना है, यद्यपि प्रकाशित वह उनके कई उपन्यासों के बाद हुई है। उसमें कई घटनाएँ निरर्थक एव अनावश्यक हैं, जैसे भुजबल का रास्ते में पड़ा रुपया उठा लेनेवाली घटना और प्रेतवाली घटना। उस उपन्यास में अवश्य जान पडता है कि लेखक घटनाओं को तोड़-मरोड़ रहा है, पात्रों को

चला रहा है। और ललितसेन तो पात्र ही विचित्र है। ऐसे मनुष्य समाज में असंभव नहीं, परंतु दिखाई नहीं देते।

वर्माजी की भाषा और शैली के विषय में कुछ जान लेना आवश्यक है। जैसा पहले कहा चुका है वर्माजी के पास कहने के लिए एक कहानी होती है चाहे वह ऐतिहासिक हो अथवा कल्पित। वह कहानी स्वयं होती मनोरंजक है। इसके अतिरिक्त वे कहानी के मार्मिक स्थलों को पहचानते हैं और उन्हें उपयुक्त स्थान एवं उपयुक्त वातावरण में उपस्थित करते हैं, जिनके कारण उनका प्रभाव बढ़ जाता है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि वे सर्वप्रथम एक कहानी कहने वाले हैं। कहानी कहने की कला में वे अद्वितीय हैं। वे अपनी कहानी सीधे कहते चलते हैं। इधर-उधर भटकते नहीं। निरर्थक वाग्जाल एवं घटनाएँ उनमें बहुत कम हैं। उनकी कहानियों का आरंभ सीधी सादी रीति से होता है। 'विराटा की पद्मिनी' का ही आरंभ लीजिए। प्रथम पैराग्राफ में ही वे सीधे कहानी में घुस पड़ते हैं। यह बात प्रत्येक उपन्यास में मिलेगी। अनेक उपन्यासकारों की भाँति वे अपने पात्रों का परिचय देने के लिए रुकते नहीं। उनका परिचय यथासमय मिलता चलता है। एक विशेषता वर्माजी की यह भी है कि वे चरित्र-विश्लेषण स्वयं नहीं करते। वे अपने को अधिक से अधिक तटस्थ रखते हैं। पात्र अपने चरित्र का परिचय स्वयं घटनाओं, परिस्थितियों और अपनी बातचीत द्वारा दे देते हैं। किसी घटना एवं पात्र की आलोचना स्वयं लेखक के शब्दों में आपको न मिलेगी। एकाध स्थान पर एकाध वाक्य चाहे मिल जाय। जैसे 'धीरज भाव मूलक युवक था', 'हकीम आगा हैदर एक सावधान दरबारी था'। परंतु ऐसा कम होता है और जहाँ होता है वहाँ सूत्रवत्।

प्रायः वर्माजी इतनी सुंदर उपमा दे जाते हैं कि उपमेय का चित्र बड़ी मार्मिकता से संमुख उपस्थित हो जाता है। उदाहरणार्थ, 'कुण्डली चक्र', पृष्ठ १५३ पर देखिए—"फिर (रतन ने) मुसकिराकर कहा—जैसे सूखा फूल खिलने का प्रयास करे।" इस उपमा से रतन का उदास मुख और व्यथापूर्ण मुस्किराहट साकार होकर सामने आ जाती है। अथवा पृष्ठ २३२ पर—"सामने सूर्य की कोमल किरणें झुंड बाँधे चली आ रही थीं। पूना नीचा सिर किए मुँह मोड़े दूसरी ओर खड़ी था। आँखों से आँसू टपक रहे थे—रश्मि-रचित मार्ग पर मोती से।" "कुमुद की आँखें तरल हो गईं, ऐसी शायद ही कभी पहले हुई हों। जैसे गुलाब की पखुड़ी पर ओस-कण ढलक आए हों।" (विराटा की पद्मिनी, ३४६)। इसी प्रकार "कुमुद ने अंगूठीवाले हाथ में गेंदे का फूल ले लिया। हाथ, सोने, हीरे और गेंदे के फूल के रंगों में आधे क्षण के लिए स्पर्धा

सी हो उठी।" इससे हमारे सामने एक चकाचौंध उत्पन्न करनेवाला चित्र उपस्थित होता है और कवियों के 'मीलित' का भी आभास मिलता है। परतु यह उपमाप्रियता कहीं कहीं इतनी बढ़ गई है कि उसका प्रभाव ही नष्ट हो गया है। एक के बाद दूसरी उपमाओं का ढेर लगा दिया गया है, जैसे—"वीरज ने यह सब एक क्षण में देख लिया, जैसा जीवन में पहले कभी न देखा था। जैसे नदनकानन की अधिष्ठात्री हो। मानों अर्ध विकसित कुसुम की अक्षय सुगंधि हो। जैसे प्रभातकालीन नक्षत्र का चिर प्रकाश हो। जैसे स्वर्गीय सगीत के मनोमुग्धकारी स्वरों ने नील आकाश में दूसरी चद्रिका खडी कर दी हो। जैसे अनंत प्रकाश पुज से अखड धारा बह निकली हो।" एक या दो उपमाओं से जो प्रभाव उत्पन्न होता वह इतनी अधिक से नष्ट हो गया है।

वर्माजी की भाषा में बड़ी सरलता एवं सादगी है। वे सीधी बात को सीधे ढग से कह देना जानते हैं। कहीं कोई तोड मरोड, कोई उलझन नहीं रहती। किन्तु सरल और स्पष्ट होते हुए भी उनकी भाषा वैसी मुहावरेदार और चलती हुई नहीं होती जैसी प्रेमचन्द जी की होती थी। इसका बहुत कुछ कारण वर्माजी के उपन्यासों का कथानक भी हो सकता है। उनकी आरम्भिक कृतियों में भाषा सम्बन्धी बहुत सी त्रुटियाँ मिलती हैं जिनका धीरे धीरे परिष्कार होता गया है।

चंडीप्रसाद 'हृदयेश'

बीसवीं शती के कथा-साहित्य के लिए प्रेमचन्द ने जिस कलेवर को अपनाया वह सर्वथा पाश्चात्य है इसका उल्लेख किया जा चुका है। कृत्रिमता को छोड़ अधिक से अधिक स्वाभाविकता लाना ही इस आधुनिक ढाँचे की विशेषता है। क्या घटना, क्या चरित्र-चित्रण, क्या कथोपकथन, क्या दृश्यवर्णन सभी में यह ध्यान रखा जाता है कि वे अधिक से अधिक स्वाभाविक एव जन जीवन के निकट हों। हमारे प्राचीन संस्कृत-साहित्य में गद्यबद्ध साहित्यिक आख्यायिकाएँ भी अधिकतर पद्य-बद्ध रचनाओं का ही अनुसरण करती रहीं। उनके परिच्छेदों के आरम्भ में अच्छे अलंकृत दृश्य-वर्णन होते थे, पात्रों की बातचीत भी रसात्मक होती थी जिससे कविता का सा ही आनन्द मिलता था। हिन्दी-कथा-साहित्य के प्रारम्भिक दिनों में कुछ कुछ इसी ढग की रचनाएँ होती रहीं यह कहा जा चुका है। परन्तु उपन्यास के नवीन कलेवर के गृहीत हो जाने पर ऐसी प्राचीन ढग की रचनाएँ कृत्रिम और हास्यास्पद समझी जाने लगी हैं। हमारे साहित्य में चडीप्रसाद 'हृदयेश' एक ऐसे कलेवर का विकास कर रहे थे जिसमें आधुनिक ढग का चरित्र-चित्रण आदि तो रहे ही, साथ-साथ भारतीय वर्णन-प्रणाली का भी निर्वाह होता

चले। उनमें प्रतिभा थी, पाडित्य था और था अपनी सस्कृति एव आदर्शों के प्रति असीम अनुराग। अतएव इसमें सदेह नहीं कि प्राच्य एवं पाश्चात्य के मेल से वे हम लोगो को एक नवीन कलेवर दे जाते जिसे गर्व के साथ हम अपना कह सकते। परन्तु उनकी असामयिक मृत्यु ने यह होने न दिया।

अपने जीवन के थोडे से वर्षों में ही 'हृदयेश' जी हमें बहुत-कुछ दे गए। 'नदन-निकुन' इनकी सरस, भावपूर्ण कहानियों का सग्रह है; 'मनोरमा' (१९२४), तथा 'मंगल प्रभात' (१९२६) दो उपन्यास हैं।

'मनोरमा' एक भाव प्रधान उपन्यास है। इसकी नायिका मनोरमा एक सती-साध्वी स्त्री है, किन्तु उसका पुरुष बडा ही सदेहशील है। वह मनोरमा का विश्वास नही करता और उसके प्रत्येक क्रिया-कलाप पर दृष्टि रखता है। ऐसी परिस्थिति में मनोरमा पति से कुछ खिंची-खिंची-सी रहती है। मन की इसी अस्वस्थ अवस्था में वह एक दिन जब कि प्रकृति भी बडी प्रलोभनपूर्ण हो रही थी एक सुन्दर, ऐश्वर्यशाली एव युवक प्रोफेसर की प्रेम भरी, कवित्वपूर्ण बातों से भ्रमित होकर उसके साथ भाग जाती है। एक ओर तो यह मनोरमा है जो प्रलोभनों को न झेल सकने के कारण निम्नाभिमुखी हो जाती है और दूसरी ओर है शान्ता। वह विधवा है, अतीव रूपवती है और चारों तरफ प्रलोभनों से घिरी हुई है। किन्तु उसमें इतनी दृढता है कि वह इन प्रलोभनों के सामने झुकती नहीं और अपने धर्म का निर्वाह करती जाती है। इन दो प्रकार के पात्रों को साथ-साथ चित्रित करके हृदयेशजी ने समता एव विषमता के सहारे एक की शक्ति, सबलता तथा दूसरी की अशक्ति एवं दुर्बलता को बड़ी ही सुन्दरता से स्पष्ट कर दिया है।

'मगलप्रभात' एक बृहद्काय उपन्यास है। इसे सामाजिक उपन्यास न कहकर धार्मिक या नैतिक कहना ही अधिक उपयुक्त लगता है। यह एक आदर्शवादी उपन्यास है जिसमें सेवा, त्याग, आत्मशुद्धि आदि की 'महिमा' का वर्णन है, परन्तु यह न समझना चाहिए कि इसके पात्र सब देवता ही हैं। यदि इसमें महिमामयी विधवा 'सुभद्रा', प्रेममयी 'अन्नपूर्णा', साक्षात् तप-स्वरूप 'आनन्द स्वामी' एवं 'बाबूजी' और कर्तव्यशील 'राजेन्द्र' एवं 'वसत' का उज्ज्वल चित्रण किया गया है तो साथ ही साथ प्रवंचक 'प्रेमतीर्थ', दुष्ट 'संग्रामसिंह', पिशाच 'यदुनन्दनसिंह' एव वासना की दासी 'राधा' तथा कुटनी 'चंपा' का भी यथेष्ट सजीव चित्रण मिलता है। 'मगलप्रभात' से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि 'हृदयेश' जी को चरित्र-चित्रण की कला ज्ञात थी।

परन्तु 'मगल-प्रभात' की सबसे बडी विशेषता है इसकी वर्णन-प्रणाली। ऐसा लगता है मानों 'हृदयेश' जी बात को सीधे ढग से कह देना कहना ही नहीं समझते थे। इनका एक वाक्य भी बिना अलंकारों की सहायता के आगे नहीं बढ़ता। उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं की भरमार सी है। प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ में लम्बे-लम्बे अलकृत वर्णन हैं। कहानी के बीच-बीच में दार्शनिक, धार्मिक एव नैतिक उद्गार भरे पड़े हैं। कहीं-कही तो ये उद्गार इतने बड़े हो गए हैं कि जी ऊब जाता है। यदि इस उपन्यास में से अनावश्यक वाक्य निकाल दिए जायँ, धार्मिक उपदेश छाँट दिए जायँ, शब्दों को अनलंकृत कर दिया जाय तो ७५० पृष्ठों से कम होकर इसका आवरण लगभग २०० पृष्ठ रह जाय। यह सब होते हुए भी 'मगल-प्रभात' अपने ढग का अच्छा उपन्यास है।

हृदयेश जी के उपर्युक्त दोनों ही उपन्यास भाव-प्रधान हैं। इनके कथानक बहुत ही सीधे-सादे एव सरल हैं। घटनाएँ बहुत थोडी हैं और उनका अपना कोई आकर्षण नहीं। लेखक की दृष्टि पात्रों की भावनाओं की कवित्वपूर्ण व्यजना की ओर अधिक रहती है। फिर भी हृदयेश जी उपन्यास के क्षेत्र में एक शैलीविशेष के प्रवर्तक के रूप में सदैव स्मरण किए जायँगे।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (१८६१-१६४५)

यद्यपि दो साहित्यिकों की तुलना करना एक असाहित्यिक सी बात है तो भी हम कौशिक को 'प्रेमचन्द स्कूल' का कहने का लोभ नहीं सवरण कर सकते। वास्तव में कौशिक ही ऐसे लेखक हैं जो कहानी तथा उपन्यास-लेखन-कला दोनों में ही प्रेमचन्द के सबसे निकट हैं। कौशिक के वर्णन का ढग, कथोपकथन की सजीवता तथा चरित्रों को रूप देने की प्रतिभा प्रेमचन्द की ही अनुगामिनी है। प्रेमचन्द की ही भाँति कौशिक भी उर्दू से हिन्दी में आए और इनकी भाषा बहुत चलती, व्यावहारिक तथा उपन्यास-लेखन के उपयुक्त हैं। सामयिक जीवन का यथार्थ अंकन करते हुए आदर्श की ओर उन्मुख होनेवाली प्रेमचन्दी प्रवृत्ति इनमें भी मिलती है। प्रेमचन्द का अनुभव, उनकी पर्यवेक्षण शक्ति अवश्य अनुपम थी और उसमें वे अपना जोड नहीं रखते परन्तु कौशिक में प्रेमचन्द की अपेक्षा भावप्रवणता अधिक है और इस दृष्टि से वे बगाली उपन्यासकारों के निकट हैं। प्रेमचन्द की भाँति विस्तृत भूमिका में समाज, देश एव जीवन की अनेकमुखी समस्याओं के चित्रण का प्रयास इनमें नहीं है। किन्तु जीवन के जिस विशिष्ट अग को ये चित्रित करते हैं वह बहुत ही पूर्ण, स्पष्ट तथा जनमनमोहक होता है।

'माँ' (१९२९) और 'भिखारिणी' (१९२९ ?) कौशिक के दो प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इनमें प्रथम तो पारिवारिक-सामाजिक जीवन के चित्रण को ध्येय बनाकर चला है और दूसरे में एक प्रेमकथा वर्णित है। कौशिक जी स्वयं गोद लिये गए थे और इस प्रथा की बुराई-भलाई से परिचित थे। 'माँ' उपन्यास में एक गोद लिये गए पुत्र तथा उसके सम्बन्धियों की कथा वर्णित है और यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि अपनी जननी का जो अकृत्रिम, स्वय-प्रवाही स्नेह एवं मंगल-भावना पुत्र के प्रति होती है वह गोद लेनेवाली माँ में नहीं हो सकती। साथ ही पुत्र का भावी जीवन माँ की योग्यता पर बहुत कुछ निर्भर करता है इसका चित्रण भी उपन्यास का लक्ष्य है। बाबू वृजमोहन लाल के पास सम्पत्ति है किन्तु सतान नहीं। अपनी स्त्री सावित्री के आग्रह पर, छोटे भाइयों के होते हुए भी वह पुत्र गोद लेने का निश्चय करते हैं। पैसों के लोभ एवं भावी जीवन की सुखद सभावना से अभिभूत लाला घासीराम अपने सबसे छोटे पुत्र श्यामू को गोद देन को तैयार हो जाते हैं। उनकी पत्नी सुलोचना इस प्रस्ताव का भरसक विरोध करती है, किन्तु वह सावित्री के कपट-जाल में फँस जाती है और अपने हृदय पर पत्थर रखकर यह प्रस्ताव स्वीकार करती है। व्रजमोहन लाल की कृपा से घासीराम की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी हो जाती है किन्तु अपने हृदय के टुकड़े को खोकर सुलोचना बहुत दुखी रहा करती है और सावित्री के रूखे व्यवहार से क्षुब्ध होकर वह उसके घर जाना भी छोड़ देती है। पूरी तत्परता से वह अपने बड़े लड़के शम्भूनाथ के चरित्र-निर्माण में लग जाती है और वह प्रथम श्रेणी में बी० ए० पास करके डिप्टी कलक्टर हो जाता है। इधर श्यामू अत्यधिक लाड-प्यार में बिल्कुल निकम्मा हो जाता है और लम्पट मित्रों की सगति में वेश्यागामी बन जाता है। इससे व्रजमोहनलाल बड़े दुखी रहते हैं, किन्तु पत्नी के सामने उनकी कुछ चल नहीं पाती और वे श्यामू पर उपयुक्त अकुश नहीं रख पाते। शभूनाथ तथा उसके मित्र राधाकृष्ण के प्रयत्नों से श्यामू वेश्यागमन से विरत होता है और अपनी नवविवाहिता पत्नी में अनुरक्त होता है। घासीराम का दामाद गोकुल भी श्यामू के साथ वेश्या-गमन किया करता था जिसके कारण घुल-घुलकर उसकी पत्नी चुन्नी क्षयरोग में प्राण त्याग देती है। गोकुल तथा शम्भू की आखें खोलने और उन्हें सुमार्ग पर लाने में इस दुखद घटना का भी बड़ा हाथ था।

यह उपन्यास स्पष्टत सोद्देश्य है और नवयुवकों को लक्ष्य करके लिखा गया है। कथा तीन खण्डों में विभक्त है और आरम्भ, प्रसार एव अन्त सभी क्रमिक, सतुलित एव स्वाभाविक हैं। अधिकाश कथा सवादों के सहारे ही

अग्रसर होती है किन्तु बीच-बीच में लेखक भी व्यक्तियों एव सामाजिक रीतियों आदि के सम्बन्ध में अपने मत व्यक्त करने का अवसर निकाल लेता है। पाठक की जिज्ञासा सदैव उद्‌बुद्ध रहती है और अनेक स्थल तो बड़े रमणीय हैं। अधिकाश पात्र वर्ग हैं किन्तु प्राय सभी में भेदक व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं जिनसे हम उन्हें सहज ही में पहचान लेते हैं। मध्यवित्त परिवार की विभिन्न प्रकार की स्त्रियों एव नवयुवकों की मनोदशा और बातचीत के वर्णन में लेखक को बड़ी सफलता मिली है। विपन्नता में भी अपने बच्चों को देखकर सन्तुष्ट रहनेवाली आदर्श माँ सुलोचना की मनोव्यथा एवं ममत्व का चित्रण मर्मस्पर्शी है। उसकी तुलना में अभिमानिनी, सन्देहशील, कलहपटु, स्वार्थपरायण तथा मूर्ख सावित्री का चरित्र भी स्पष्टता से उभर आया है। दुनिया का ऊँच-नीच समझने वाले सहृदय एव उदार बृजमोहनलाल पूर्णरूपेण पत्नी के अनुगामी हैं। दूसरी ओर भग की तरंग में आत्मलीन, अपनी सुख-सुविधा को ही सर्वोपरि समझने वाले लाला घासीराम स्त्री की भावनाओं की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। पुरुष-पात्रों में घासीराम का चरित्र अत्यधिक सहज, स्वाभाविक तथा सजीव है। वात्सल्य आदि कोमल भावनाओं से असम्पृक्त, बच्चों से तू-तकार और गालियों के बिना बात न करनेवाले, घर के भीतर सदैव खिजलाए हुए घासीराम अपने काम में दक्ष तथा ईमानदार है। जिस श्यामूनाथ की पढ़ाई उन्हें बोझ हो रही थी, और मैट्रिक के बाद जिसे छुड़ा देना चाहते थे उसी के डिप्टी कलक्टर हो जाने पर उनकी प्रतिक्रिया दर्शनीय है। शभूनाथ, श्यामूनाथ, गोकुल, विश्वनाथ, राधाकृष्ण आदि अन्य पुरुषपात्रों के चरित्र-चित्रण में भी बड़ी यथार्थता है।

मध्यवर्गीय कुटुम्ब की जीवन-रीति तथा उनकी कतिपय समस्याओं और वेश्यालयों के वातावरण का चित्रण इस उपन्यास का प्रतिपाद्य है। चौक की गलियों, पान की दूकानों, कोठे पर बैठने वाली वेश्याओं, उनके पीछे फिरने वाले मदमस्त नवयुवक लम्पटों, उनका मार्गदर्शन करने वाले दलालों, साजिन्दों आदि का सूक्ष्म ब्योरों के साथ ऐसा चित्रण किया गया है कि वहाँ का सम्पूर्ण वातावरण हमारे नेत्रों के समक्ष प्रत्यक्ष हो उठता है। रुपयों के लोभ से अपनी हसीन लड़कियों से कमाई कराने की इच्छा रखनेवाली बेगम, उनकी चाल-ढाल, एव बातचीत तथा उनके दलाल छुट्टन मियाँ की कार्यप्रणाली का वर्णन यथार्थ एव विश्वसनीय है। वातावरण को यथार्थता का पुट देने में कौशिक की पात्रोपयोगी एव व्यावहारिक भाषा बड़ी सहायक होती है। कुछ विशेष वर्गों की जीवन-रीति, बातचीत के ढंग आदि का कौशिक को इतना अच्छा

परिचय है और उनकी स्वाभाविक बातचीत को उन्होंने इतना हृदयगम कर लिया है कि उपन्यासों में उनके प्रयोग से अद्‌भुत सजीवता आ गई है। वेश्यालय का चित्रण करते हुए भी लेखक ने अत्यधिक सयम एव कलात्मक तटस्थता का परिचय दिया है और कहीं भी कुरुचिपूर्ण एव अश्लील दृश्यो का चित्रण नहीं मिलता। 'माँ' उपन्यास जैसा ऊपर कहा जा चुका है आदर्शोन्मुख यथार्थवादी है। मानव का भावी जीवन किस प्रकार माँ की योग्यता का आश्रित है इसका इस उपन्यास में बड़े अच्छे ढग से वर्णन किया गया है। सुलोचना आदर्श माता है तथा शभूनाथ आदर्श पुत्र। उपन्यास के अन्त में सभी कुपथगामी पात्रों का सुधार हो जाता है और सच्चरित्र पात्र सुखी होते हैं। गोकुल के सुधारने के लिए उसकी पत्नी की क्षय रोग मे मृत्यु कराकर इस पूर्णत सुखान्त उपन्यास पर लेखक ने दुख की छाया-सी डाल दी है।

'भिखारिणी' में एक दुखान्त प्रेमकथा वर्णित है। एक सम्पन्न तथा सहृदय युवक रामनाथ भिखारी नन्दू की किशोरी कन्या जस्सो के रूप से आकर्षित होकर उसे अपने यहाँ आश्रय देता है, उन्हें नौकर रख लेता है। जस्सो और रामनाथ का परस्पर प्रेम प्रगाढ़ होता जाता है। बाद में पता चलता है कि नन्दराम एक समृद्ध ठाकुर जमींदार का पुत्र है जो गाँव की ही एक सजातीय लड़की को लेकर कलकत्ते भाग गया था और उससे विवाह कर लिया था। पत्नी की मृत्यु से अत्यधिक दुखी होकर अपनी एक मात्र कन्या जस्सो के साथ उसने भिक्षा-वृत्ति ग्रहण की थी। उसकी सूचना पाकर उसके पिता ठाकुर अर्जुन सिंह, पत्नी सहित आकर नन्दराम तथा जस्सो को गाँव ले जाते हैं। इस अप्रत्याशित विछोह से रामनाथ तथा जस्सो दोनों ही अत्यधिक दुखी हुए। रामनाथ अपनी मनोव्यथा अपने मित्र वृजकिशोर से बतलाता है और उसी के द्वारा नन्दराम के पास विवाह का प्रस्ताव भेजता है। नन्दराम जो पिता होकर सामाजिक मर्यादा का अधिक आदर करने लगा है, अपने वृद्ध पिता का ध्यान करके इस अन्तर्जातीय विवाह-सम्बन्ध को अस्वीकार कर देता है। वह नहीं चाहता कि उसके जीवन की घटनाओं की पुनरावृत्ति हो और रामनाथ अपने पिता से छिपाकर विवाह करे। जस्सो भी गुप्त विवाह के पक्ष में नहीं है। पिता के आग्रह तथा मित्र के परामर्श से रामनाथ बड़ी कठिनाई एवं भारी मन से अन्यत्र विवाह करने को तैयार होता है। विवाह में पिता के साथ जस्सो भी आती है और सुहागरात वाले दिन अपने हाथ नववधू का शृंगार करके बोल उठती है—"आज तुम्हें देखकर छोटेबाबू सब कुछ भूल जायँगे।" उसी रात उसके पास लेटी हुई रामनाथ की बहन चम्पा ने जब उससे पूछा:

"जस्सो तेरा व्याह कब होगा ?" तो उसने एक दीर्घ निश्वास छोड़कर कहा—"मेरा व्याह तो इस जन्म में हो चुका।" रामनाथ जस्सो का साक्षात्कार बचाता रहा और पहुँचाने स्टेशन तक न गया। ठाकुर अर्जुन सिंह के बहुत प्रयत्न करने पर भी नन्दराम के पूर्व जीवन की कहानी के कारण किसी उपयुक्त स्थान पर जस्सो का विवाह ठीक न हो सका और वृद्ध ठाकुर-ठकुराइन इस दुख एव चिन्ता में परलोक सिधार गए। नन्दराम तथा जस्सो के लिए गाँव का एकाकी जीवन दुस्सह सा हो उठा और वे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान करके पुनः भिखारी रूप में इस विस्तृत जगत में निकल पड़ते हैं।

इस उपन्यास में हृदय के स्वाभाविक आकर्षण तथा सामाजिक रूढ़ियों के संघर्ष से उद्भूत व्यक्ति-पीड़ा का मार्मिक चित्रण किया गया है। यद्यपि आज के उद्बुद्ध युग में भी हमारे समाज में जात-पाँत-सम्बन्धी कट्टरता पूर्ववत् बनी हुई है परन्तु जिस समय इस उपन्यास की रचना हुई उस समय तो यह समस्या अपनी सम्पूर्ण विषमता में वर्त्तमान थी। उस युग का लेखक इस समस्या का कोई समाधान नहीं दे सकता था, अतएव अधिकाश अन्तर्जातीय प्रेमसम्बन्धों का अवसान चिरवियोग में अथवा सामाजिक बहिष्कार में ही होता था। नन्दराम तथा जस्सो दोनों के जीवनव्यापी दुख का कारण सामाजिक बन्धनों की कठोरता ही रही है। रामनाथ ने तो रो-धोकर विवाह कर लिया और सुन्दर पत्नी को पाकर जस्सो के प्रेम को भूल-सा गया, किन्तु जस्सो ने चिर कुमारिका रहने का व्रत लेकर एक आदर्श प्रस्तुत किया। वैसे साधारणतः विवाह हो जाने पर स्त्रियाँ भी पूर्व-प्रेम को नई गृहस्थी की झंझटों में भूल ही जाती हैं किन्तु बेचारी जस्सो के भाग्य में तो वह भी नहीं बदा था। जस्सो के स्वाभाविक प्रेमाकर्षण तथा मनोव्यथा का चित्रण करने में लेखक को अपूर्व सफलता मिली हैं। पुराने जमीन्दार ठाकुर अर्जुनसिंह, नन्दराम, रामनाथ, उसके मित्र ब्रजकिशोर आदि के चित्रण में पर्याप्त स्वाभाविकता है। 'भिखारिणी' के भी अधिकाश पात्र वर्गों के प्रतीक है। पात्रों की बातचीत में भी यथार्थता का पर्याप्त पुट है।

कौशिक के उपर्युक्त दोनों उपन्यासो की कथावस्तु सीधी-सादी और सुलझी हुई है। उसमें जटिलता या दुरूहता का नाम भी नहीं, क्योंकि जीवन की विविधता-व्यापकता के चित्रण का प्रयास वे नहीं करते। थोड़े से पात्रों और साधारण घटनाओं के द्वारा समाज के किसी यथार्थ रूप का हृदयस्पर्शी एव पूर्ण चित्रण करके ही वे सन्तुष्ट हो जाते है। वे जो कुछ जानते हैं, अच्छी तरह जानते हैं, जो नहीं जानते उसमें हाथ ही नहीं लगाते। कथा-प्रवाह में

स्वाभाविक गति होती है और पात्रों के द्वारा ही अधिकतर कथा अग्रसर होती है। लेखक द्वारा वर्णन का सहारा कम लिया गया है और कथा को अवरुद्ध करनेवाले लम्बे-चौड़े वर्णन प्रायः नहीं से हैं। कथानक में सरलता होते हुए भी मार्मिक स्थलों की पहिचान तथा भावानुभूति की तीव्रता के कारण उपन्यास में रमणीयता होती है। यद्यपि दोनों उपन्यासों में संयोग तथा आकस्मिकता का भी यत्र-तत्र सहारा लिया गया है किन्तु घटनाएँ इस कौशल से सघटित की गई हैं कि उनकी सभी बातों को देखने पर कोई बात छूटी हुई, असम्बद्ध अथवा अस्वाभाविक जान ही नहीं पड़ती, सभी अगों में साम्य एव समीचीनता रहती है। इनके उपन्यासों में घटनाओं की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ नहीं होती। एक ही मूल में अकुरित होकर एक घटना सीधे विकसित होती चली जाती है और यदि उसमें दो-चार शाखाएँ भी हुईं तो वे सब परस्पर इतनी सम्बद्ध रहती हैं कि कथा का एक पूर्ण प्रभाव पड़ता है। चरित्रों को रूप देने में कौशिक अपने व्यक्तित्व को अधिकतर अलग ही रखते हैं। पात्रों की बातचीत, रहन सहन और आचरण से ही उनके चरित्र का अच्छा आभास मिल जाता है। पात्रों की मनोवृत्ति का जितना हृदयग्राही प्रभाव उनकी बातचीत, आचार-विचार, क्रिया-कलाप के द्वारा हम पर पड़ता है उतना लेखक के बताने से नहीं कौशिक की सबसे बडी विशेषता उनके कथोपकथन की चुस्ती है।

चतुरसेन शास्त्री (१८८८ ई०)

वय तथा लेखन-काल की दृष्टि से शास्त्री जी का स्थान प्रसाद तथा वृन्दावन लाल वर्मा के भी पहले आना चाहिए। किन्तु रचना के महत्त्व की दृष्टि से उस युग में इन्हें अधिक ख्याति नहीं मिल सकी थी। आप एक सरस-हृदय साहित्यकार तो हैं ही, प्रसिद्ध वैद्य भी हैं। उपन्यास के क्षेत्र में इधर आपकी लेखनी अधिक गतिशील हुई है और अनेक उपन्यास—जिनमें अधिकाश ऐतिहासिक हैं—प्रकाशित हो चुके हैं। सन् १९३६ के पूर्व आप 'हृदय की परख', (१९१८), 'व्यभिचार' (१९२४), 'हृदय की प्यास (१९३२), 'अमर अभिलाषा' (१९३३) तथा 'आत्मदाह' (१९३६) नामक उपन्यास लिखकर प्रकाशित करा चुके थे। इनमें 'हृदय की परख' में काल्पनिकता का पुट अधिक है। 'व्यभिचार' में विकृत प्रेम का रसमय ढग से वर्णन है। 'हृदय की प्यास' साधारणतया अच्छा उपन्यास है। इसमें आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न सौन्दर्योपासना, अविवेक और मतिभ्रम तथा पूर्वसस्कार के कारण कर्तव्यपरायणता और पश्चात्ताप का चित्रण हुआ है।

पुस्तक सोद्देश्य है और लिखने का तर्ज पुराना। 'अमर अभिलाषा' का नाम यदि लेखक 'विधवा-तत्व-दर्शन' अथवा 'विधवा-विवाह-मीमासा' रखता तो अधिक उपयुक्त होता। इसमें भगवती, नारायणी, सुशीला, कुमुद, मालती और वसंती नामक छः विधवाओं की कहानियाँ हैं। इस उपन्यास में इन विधवाओं की यत्रणाओं का चित्रण करके समस्या के सुलझाव की ओर भी इगित किया गया है। हिंदू-विधवा अबला का तप-रूप है। यदि वह अपनी वासनाओं का दमन और इद्रियों का निग्रह करके पवित्र जीवन व्यतीत कर सकती है तो अत्युत्तम है। परन्तु यदि वासनाएँ प्रबल हैं तो उसका विवाह उचित ही नहीं आवश्यक भी है। पुस्तक के अन्तिम परिच्छेद के उपदेशात्मक वाद-विवाद में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। गाँव की बडी-बूढ़ियों और उनके अन्धविश्वासों आदि का चित्रण बहुत अच्छा है।

उपन्यास की भिन्न-भिन्न कहानियों में कोई नैसर्गिक सम्बन्ध नहीं है। वे अलग-अलग भी लिखी जा सकती थीं। प्रत्येक कहानी स्वतत्र है। लेखक ने सबध स्थापित करने का प्रयत्न किया अवश्य है परन्तु वह सूत्र बडा क्षीण है। भगवती और नारायणी बहने हैं और कुमुद एवं मालती सखियाँ। एक स्थान पर कह दिया गया है कि प्रकाश कुमुद का ममेरा भाई है। प्रकाश सुशीला की कहानी का मुख्य पात्र है। यही सुशीला और कुमुद की कहानियों का सम्बन्ध है। हरगोविंद वसती को भगा लाया था और उसीने भगवती का भी सर्वनाश किया। वसंती और सुशीला परिचित हैं। यही भिन्न-भिन्न कहानियों का सम्बन्ध है। स्पष्ट है कि सारे सबंध बाह्य हैं आतरिक नहीं और इससे प्रभाव की पूर्णता नष्ट हो जाती है।

उपन्यास यथार्थवाद के उग्र रूप की ओर झुकता हुआ-सा है। विधवाओं की दुर्दशा का जो खाका शास्त्रीजी ने खींचा है वह यथातथ्य है। परन्तु कहीं-कहीं उसमें अस्वाभाविकता और अश्लीलता आ गई है। यद्यपि प्रकाशक महोदय के अनुसार 'चीज अधिक सुंदर, अधिक स्वाभाविक और अधिक सुरुचिवर्धक बन गई है'। छुनिया ने जब भगवती को हरगोविन्द के कमरे में पहुँचाकर बाहर से दरवाजा बन्द कर लिया तो वहाँ पर लेखक को विवरण का मोह छोड़ संकेत का सहारा लेना चाहिए था। पुस्तक प्रथमतः स्त्रियों के लिए लिखी गई है। एकाध स्थान पर तो पाठिकाओं को ही संबोधित किया गया है। स्त्रियों की पुस्तक में ऐसी अश्लीलता सुरुचि का परिचय तो किसी प्रकार नहीं देती।

प्रकाश, श्यामा बाबू, कुमुद, सुशील और मालती के रूप में लेखक ने युवक-युवतियों के सामने आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। प्रकाश

गए थे। वर्षकार भी गोविन्दस्वामी का ही अवैध पुत्र था किन्तु यह रहस्य किसी को ज्ञात न था। युवती मातगी के साथ बिम्बसार एव वर्षकार दोनों का ही अवैध सम्बन्ध था। सोम वर्षकार का पुत्र था या बिम्बसार का यह मातगी ही जानती थी। किन्तु वैशाली की अम्बापाली वर्षकार के औरस से उत्पन्न मातगी की पुत्री थी इसे वर्षकार भी जानता था। सोम और कुडनी के ही कौशल से चम्पा पर विजय मिली और चम्पा राजकुमारी की इन्हीं के द्वारा रक्षा हुई।

कोशल-सम्राट प्रसेनजित वृद्धावस्था में भी भोग-लिप्सु थे। उनका पुत्र विदूडभ दासीजाया नन्दिनी से उत्पन्न था। उसका ननिहाल के शाक्यों ने अपमान किया था और उच्च कुलोद्भव आर्यों के प्रति उसके भीतर घोर प्रतिहिंसा थी। पिता से भी वह असन्तुष्ट था किन्तु सेनापति बन्धुल मल्ल की स्वामिभक्ति के कारण कुछ कर सकने में असमर्थ था। इधर सम्राट गान्धारकुमारी कलिंगसेना को भी माँगकर विवाह रचाने की तैयारी कर रहे थे। संयोगवश चम्पा राजकुमारी की दासी बनकर श्रावस्ती के महालय में पहुँच गई। किन्तु कुडनी एव सोम उनके उद्धार में प्रयत्न-शील थे। अर्हंत महावीर के आदेश से कुमार विदूडभ ने राजनन्दिनी को मुक्त किया। आचार्य अजितकेसम्बल की कूटनीति एव सोम की सहायता से पिता को राज्य की सीमा से निकाल कर विदूडभ राजा बन बैठा। बधुलमल्ल ने बाधा दी किन्तु वह मारा गया। यद्यपि चम्पा की राजकुमारी एव सोम में हार्दिक स्नेह था किंतु अर्हंत महावीर के उपदेश से हृदय पर वज्र रखकर राजनन्दिनी को कोशल की राजमहिषी बनने के लिए छोड़कर सोम और कुंडनी चल देते हैं। यहीं पर पूर्वार्ध की समाप्ति होती है।

उत्तरार्ध में मुख्यत वैशाली की नगरवधू को केन्द्र बनाकर ही कथा अग्रसर हुई है। वैशाली गणराज्य में प्रतिवर्ष अत्यधिक उत्साह-उल्लास से मधुपर्व का उत्सव मनाने की परिपाटी थी। उस दिन लोग आखेट को जाते थे और उस उत्सव की रानी होती थी नगरवधू। युवराज अश्वसेन के साथ नगरवधू आखेट के लिए जाती है किन्तु वहाँ सिंह की दहाड सुन कर युवराज का अश्व भाग खडा होता है और भागते हुए युवराज को आभासित होता है कि सिंह नगरवधू के घोड़े पर झपटा। नगरवधू की मृत्यु का निश्चित विश्वास लेकर युवराज राजधानी लौटते हैं। इधर सोमप्रभ, जो षड्यन्त्र करने के उद्देश्य से अपने सैनिकों के साथ वैशाली आया हुआ है, ठीक अवसर पर उपस्थित होकर नगर-

वधू की रक्षा करता है और उसे अपनी कुटी में ले जाता है। महाराज उदयन के उपरान्त सोमप्रभ द्वितीय व्यक्ति था जिसके सामने नगरवधू नारी-जनोचित आकर्षण का अनुभव करती है और उसका मन किंचित् ढीला होता है। महर्षि बादरायण के आश्रम में 'अम्बापाली' तथा महाराज बिम्बसार का साक्षात्कार हुआ था और उसने अम्बाली को यह वचन दिया था कि वैशाली गणराज्य का विनाश करके उसे मगध की राजमहिषी बनाएगा। कामार्त्त सम्राट शीघ्रातिशीघ्र वैशाली पर आक्रमण कर देना चाहता था किन्तु अमात्य वर्षकार की सम्मति न थी। राजा द्वारा निष्कासित वर्षकार भी वैशाली पहुँच कर अपनी योजना कार्यान्वित करने में लग जाता है। सोमप्रभ के सेनापतित्व में बिम्बसार ने भीषण वेग से वैशाली पर आक्रमण किया। उतावलेपन में वह गुप्तरूप से नगरवधू के महल में पहुँच गया। सैनिकों ने समझा सम्राट मारे गए और सेनापति सोमप्रभ प्रचण्ड पराक्रम से वैशाली के विनाश में जुट गया। बाद में, यह सूचना पाकर कि सम्राट अम्बापाली के विलास-गृह में स्वेच्छा से निवास कर रहे हैं, सोम ने युद्ध बन्द कर दिया। सोम का यह विश्वासघात सम्राट को असह्य था। सम्राट और सेनापति का द्वन्द्व युद्ध होता है किन्तु अम्बापाली बीच में पड़ कर सोम से बूढे सम्राट की प्राण भिक्षा माँग लेती है। सोम सम्राट को बन्दीगृह में डाल देता है। किन्तु आर्यामातगी से यह जान कर कि बिम्बसार ही उसके पिता हैं वह भावातिरेक में कारागृह में पहुँच उनसे क्षमा-याचना करता है। सन्धि के उपरान्त वर्षकार भी वैशाली के बन्दीगृह से मुक्त होता है और पुनः मगध का अमात्य पद प्राप्त करता है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सम्राट बिम्बसार नगरवधू के गर्भ से उत्पन्न अपने पुत्र को, जिसको अम्बापाली ने प्रसव के उपरान्त ही गुप्त रूप से सम्राट के पास भेज दिया था, भावी मगध सम्राट उद्घोषित करता है। भगवान बुद्ध वैशाली में पदार्पण करते हैं और नगरवधू के भोज में सम्मिलित होते हैं। अपने सम्पूर्ण वैभव को त्याग कर नगरवधू तथागत की अनुगत बन जाती है और नगर छोड़ते समय वह देखती है कि सोमप्रभ भी भिक्षुक के रूप में अनुगमन कर रहा है।

यद्यपि मूल कथा इतनी ही है किन्तु बीच में अनेकों प्रसग बिखरे पड़े हैं। महाराज उदयन आकाश-मार्ग से अम्बापाली से मिलने आते हैं और अपनी वीणा पर जो एक ही काल में तीन ग्रामों में बज रही थी अम्बापाली को नृत्य कराते हैं। अम्बापाला एव बिम्बसार का मिलन भगवान् बादरायण व्यास के गर्भगृह में होता है और अम्बापाली बिम्बसार के प्रणय का प्रत्युत्तर इस शर्त पर देने को तैयार होती है कि राजा की औरस से उत्पन्न

उसका पुत्र ही सम्राट हो। गौतमबुद्ध के धर्मचक्र-प्रवर्तन एवं महावीर के उपदेश आदि के लिए भी प्रसग ढूँढ निकाले गए हैं। असफल प्रेमी हर्ष वीतीभय नगरी में बुढ़िया का नियुक्त पुत्र बनकर उसकी विधवा पुत्र-वधुओं से सन्तान उत्पन्न करता है। चम्पारण्य में कुन्डनी शम्बरासुर के अन्य असुरों का मृत्यु-चुम्बन लेकर संहार करती है। पाचाल में विद्वान ऋषियों की गोष्ठी बैठती है जो समाज-विधान पर अपने निर्णय देते हैं। इसी प्रकार के बहुत से प्रसग इस उपन्यास में आए हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों में मनोरजन के साथ-साथ काल-विशेष का पुनर्निर्माण भी अभिप्रेत होता है। भारतीय इतिहास की बहुत-सी सामग्री वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों एव पुराणों आदि प्राचीन ग्रन्थों में बिखरी पड़ी है। इनमें देव, दानव, मानव, आदि अनेक जातियों के उल्लेख हैं किन्तु अभी तक उनकी बुद्धि-सगत व्याख्या नहीं हो सकी है। शास्त्री जी ने सभी उपलब्ध सामग्री का उपयोग करके आर्यों के सास्कृतिक इतिहास की समन्वित व्याख्या का प्रयत्न किया है। देव किस प्रदेश के रहनेवाले थे, असुरों का निवास कहाँ था, आर्यों का अधिकार-क्षेत्र कहाँ तक था, वैदिकधर्म की क्या त्रुटियाँ थीं, अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए नियामक ब्राह्मण किन उपायों का अवलम्ब लिया करते थे, सकरों की किस प्रकार वृद्धि हो रही थी, स्त्रियों के क्या अधिकार थे, दासों की कैसी दुर्दशा थी, प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध और जैनधर्मों का किस प्रकार प्रचार और प्रसार हुआ आदि बातों पर इस उपन्यास में प्रकाश डाला गया है; किन्तु प्रसग इतने अधिक हो गए हैं कि कहीं-कहीं उनका मूलकथा से अत्यन्त क्षीण सम्बन्ध-सूत्र रह गया है। बहुत से व्यक्ति एव घटनाएँ जिनका समय अभी प्रामाणिक रूप से निर्धारित नहीं हो पाया है एक ही काल में रख दिये गए हैं। बिम्बसार, प्रसेनजित, उदयन, प्रद्योत, गौतमबुद्ध, अर्हत महावीर, बन्धुलमल्ल, अम्बपाली, आदि ऐतिहासिक पात्र तो हैं ही, बादरायण व्यास, श्रोत्रीय भारद्वाज, कात्यायन, शौनक, बौधायन, गौतम, आपस्तम्ब, शाम्बव्य, जैमिनी, कणाद, औलूक, वासिष्ठ, साख्यायन, हारीत, पाणिनि और वैशम्पायन, ...ल आदि दर्शनाचार्य एव धर्माचार्य आदि भी हैं। साथ ही साथ शम्बरासुर, ...श्वग्रीव, हिरणकश्यप और पर्शुपुरी के देवराज इन्द्र का भी उल्लेख है। ये सभी ...त्र एक ही काल के हैं या नहीं इसका निर्णय तो इतिहास ही कर सकता है। ...ह अवश्य है कि इन पात्रों के क्रिया-कलापों का कथात्मक ढग से जो वर्णन ...कया गया है उससे तत्कालीन आर्यों की विभिन्न सस्थाओं का बड़ा ही सजीव ...चत्रण हो गया है।

आर्यों ने वर्ण-व्यवस्था को महत्त्व दिया था। चार वर्णों में ब्राह्मण और क्षत्रिय तो प्रमुख हो उठे और इतर दो वर्णों की दशा दयनीय हो गई। ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने इतर जाति की युवतियों को अपने उपभोग में लेकर उनकी सन्तानों को अपने कुल, गोत्र एव सम्पत्ति से च्युत करके उनकी जो नवीन सकर जाति बना दी थी उसने शीघ्र ही आर्य राजवशों को हतप्रभ कर दिया। मगध का राज्य-कुल स्वय संकर था। प्रसेनजित के रनिवास में अधिकतर निम्नकुल की स्त्रियाँ थीं। प्रसेनजित के दासीपुत्र विदूडभ ने ही उसे सिंहासनच्युत किया। वैश्य केवल अपनी और शूद्रों की स्त्रियों से ही विवाह कर सकते थे। शूद्रों को उच्चवर्ण की स्त्री लेने का अधिकार नहीं था। उनकी युवती और सुन्दरी कन्याओं का उपभोग तो आर्य करते थे और स्वय शूद्र, द्रविड़ों, दस्युओं तथा असुरों से स्त्रियाँ जैसे-तैसे जुटा पाते थे। आर्यों से उत्पन्न सभी संकर मेधावी, परिश्रमी, सहिष्णु एव उद्योगी थे। आर्य अधिकतर मद्यप, आलसी, घमण्डी और अकर्मण्य होते गए। इसी से सम्पूर्ण भरत-खण्ड में आर्यों में प्रसेनजित जैसे सड़े-गले राजा ही रह गए और राजसत्ता अधिकतर सकरों के हाथ में चली गई। ब्राह्मणों ने यज्ञों को प्रधानता दे रखी थी। बछड़े, बैल, मेढ़ आदि पशुओं से गवालम्भन अनुष्ठान किया जाता था। मास एव मदिरा का प्रचार था। दास-प्रथा जोरों पर थी। दासों का क्रय-विक्रय बिलकुल पशुओं के समान किया जाता था। उपन्यास में एक स्थान पर दासों के हाट का बड़ा सजीव वर्णन किया गया है। दासों के हाट में एक बूढे ब्राह्मण ने आकर कहा—"एक दासी मुझे चाहिए।" "देखिए, इतनी दासियाँ हैं। यवनी चाहिए या दास?" "दास।" "तब यह देखिए।" उसने एक तरुणी की ओर संकेत किया। वह चुपचाप अधोमुखी बैठी रही। व्यापारी ने कहा "चार भाषा बोल सकती है आर्य, रसोई बनाती और चरणसेवा भी जानती है, अभी युवती है।" यह कहकर उसने उसे खड़ा किया। युवती सकुचाती हुई उठ खड़ी हुई। ब्राह्मण ने साथ के दास से कहा—"देख काक, दाँत देख, सब ठीक ठाक है!" ब्राह्मण के क्रीतदास ने मुँह मे उँगली डाल कर दाँत देखे और निश्शंक वक्षस्थल में हाथ डालकर वक्ष टटोल, कमर और शरीर को जगह जगह से टटोल कर, दबाकर देखा और फिर हँसकर कहा—"काम लायक है मालिक, खूब मजबूत है।" इस वर्णन को पढ़कर आजकल के पशु-विक्रय का दृश्य सामने आ जाता है।

मानव की यह स्वाभाविक वृत्ति होती है कि वह वर्तमान की अपेक्षा विगत को अधिक आकर्षक मानता है, किन्तु मानव स्वभाव में मौलिक अन्तर काल का प्रवाह भी नहीं डाल पाता। मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता है नारी और इस

दृष्टि से हिन्दू सभ्यता का स्वर्ण युग वर्तमान युग से कुछ बढ़कर न था। धर्म-शास्त्रों के पण्डित, शिशुनाग वंश को आर्य धर्म में प्रतिष्ठित करने वाले गोविन्द स्वामी ने अन्य व्यक्ति की स्त्री से जार करके वर्षकार को जन्म दिया था। इस प्रकार मातंगी और वर्षकार एक ही पिता के औरस से उत्पन्न भाई-बहन थे। अज्ञात में वर्षकार ने मातंगी का उपभोग किया और आम्रपाली की उत्पत्ति हुई। उधर सम्राट बिम्बसार के वीर्य को गर्भस्थ करके मातंगी ने ही सोम को भी जन्म दिया था। आम्रपाली की माँ का उपभोग करने वाले सम्राट बिम्बसार नगरवधू आम्रपाली पर भी लुब्ध हुए। आर्यों के एक मात्र सम्राट प्रसेनजित के महालय में भेड़-बकरियों की भाँति सभी जाति की पत्नियों का मेला लगा रहता था। वैशाली जनपद के रूप-लोलुप सदस्यों ने यह नियम ही बना दिया था कि जनपद की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी बाध्य होकर 'नगरवधू' बने। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक धर्म की प्रभुता का युग विलासिता का युग था। मेधावी विद्वानों ने विवाह आदि के जो नियम बनाए थे, उनसे भी यही प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। इस प्रकार वह युग एक दृष्टि से मानव के पतन का था। स्त्री, शूद्र, सकर, दास आदि वर्गों की बड़ी ही हेय स्थिति थी। यज्ञों की ओट में धनसचय, रसनातृप्ति, प्रभुत्त्व-वृद्धि आदि की जा रही थी। ऐसी ही परिस्थिति में बौद्ध और जैन धर्म फलफूल उठे।

इस उपन्यास में घटनाओं की प्रधानता है। इनकी योजना बड़ी सतर्कता से की गई है। कुछ घटनाएँ तो बड़ी ही चमत्कारपूर्ण हैं। जैसे कुडनी का सर्प-दंशन, असुरों के भोज में कुण्डनी का मृत्यु-चुम्बन, महाराज उदयन का वैशाली नगरवधू के पास आकाशमार्ग से आगमन, विदूडभ की मुक्ति के प्रयत्न आदि। इनमें बिल्कुल घटनाप्रधान उपन्यासों जैसा आनन्द आता है, किन्तु ये नितान्त काल्पनिक ही नहीं हैं। इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध है और बुद्धि उन्हें स्वीकार भी करती है। यह अवश्य है कि गौण कथाएँ इतनी हो गई हैं कि उनका आपस में निसर्ग सम्बन्ध कहीं कहीं नहीं सा रह गया है। पुस्तक का नाम है 'वैशाली की नगरवधू' किन्तु उससे सम्बन्धित कथा बहुत थोड़ी है। मुख्य कथा कौन सी है इसका पता पूर्वार्ध से तो लगाया नहीं जा सकता। कई कथाएँ समानान्तर चलती हैं, जिनमें सम्बन्ध-सूत्र होते हुए भी प्रधान अप्रधान का भेद स्पष्ट नहीं हो पाता। हो सकता है कि उत्तरार्ध में इन बिखरी हुई कथाओं को समन्वित कर दिया जाय। कई स्थानों पर वर्णनों की ही प्रधानता हो गई है और वहाँ प्रवाह शिथिल हो गया है। किन्तु सम्पूर्ण उपन्यास में पर्याप्त रजनशक्ति है।

इस उपन्यास में विभिन्न प्रकार के बड़े ही सबल पात्रों की अवतारणा की

गई है और लेखक ने बड़े ही कौशलपूर्वक इनकी वैयक्तिकता की रक्षा की है। अम्बपाली, वर्षकार, बिम्बसार, सोम, कुण्डनी, प्रसेनजित, विदूडभ, गौतम बुद्ध एव सर्वजित महावीर, जितने भी प्रमुख पात्र हैं, उनसे हमारा पूर्ण परिचय हो जाता है। मानव की दुर्बलता-सबलता से युक्त ये पात्र अतीत कालीन होते हुए भी हमारे बहुत निकट हैं। प्रधान पात्र अम्बपाली का चरित्र बहुत ही सशक्त है। उसके मन में अपने भावी जीवन की कल्पना से कैसी भावतरगें उठती हैं, गणसभा में किस निर्भीकता के साथ वह वैशाली के 'विकृत कानून' की निन्दा करती है, नगरवधू बन जाने के उपरान्त विलासी युवकों की विलास-वासना को उद्दीप्त करती हुई भी किस प्रकार वह अपने शरीर को अछूता ही रखती है, आदि के सजीव वर्णन में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है।

ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि में उच्चकोटि की कल्पना अपेक्षित होती है। शास्त्रीजी स्थानों के वर्णन, वेशविन्यास, रीति-नीति, एव सवादों के द्वारा वास्तव में ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण में सफल हुए हैं। बहुत से शब्द पुराकालीन हैं। इससे जहाँ एक ओर वातावरण-निर्माण में सहायता मिलती है, दूसरी ओर अर्थ-बोध में कठिनता भी उत्पन्न हो जाती है। अच्छा होता यदि लेखक ने 'दिव्या' के निर्माता की भाँति अन्त में ऐतिहासिक स्थानों एव प्राचीन शब्दों की व्याख्या भी कर दी होती। कुछ शब्द ऐसे भी प्रयुक्त हुए हैं, जिनका उस समय बिल्कुल ही प्रचलन न रहा होगा जैसे 'कानून'।

'वैशाली की नगरवधू' के उपरान्त शास्त्रीजी प्रायः एक दर्जन उपन्यास प्रकाशित करा चुके हैं। इनमें कुछ ये हैं—'पूर्णाहुति', 'रक्त की प्यास', 'बहते आँसू', 'नरमेघ' (१६५०), 'अपराजिता' (१६५२), 'मन्दिर की नर्तकी', 'दो किनारे', 'वय रक्षामः', (दो भाग) 'सोमनाथ' (१६५४), 'आलमगीर' (१६५४)। इनमें 'वय रक्षामः', 'सोमनाथ' तथा 'आलमगीर' बड़े उपन्यास हैं। मनोरंजन की दृष्टि से ये तीनों ही उपन्यास उत्कृष्ट कोटि के हैं। वय के साथ-साथ शास्त्रीजी की लेखनी में भी अधिक बल आ गया है, उनकी सरसता प्रगाढ हो गई है। अध्ययन, कल्पना एव सहृदयता के सम्मिश्रण से इनके उपन्यासों में ऐतिहासिक तथा मन को रमा लेने वाले कल्पनाप्रसूत प्रसग तथा जीती जागती मानव मूर्तियों की उपलब्धि साथ-साथ होती है। आश्चर्यजनक घटनाओं एव सरस यौन-सम्बन्धों के आकर्षक वर्णन से इनके उपन्यास विशेष मनोमुग्धकर हो गए हैं। 'सोमनाथ' का पाठक "तेरहवीं शताब्दी में ध्वस्त सोमनाथ महालय को अपने मानस नेत्रों से एक बार स्वर्णरत्न और नर मुण्डों

से परिपूर्ण, रूप यौवन से मत्त देवदासियों के नूपुर ध्वनि से गुंजित, सोलकी भीमदेव की शमशेर से चमत्कृत और नवनीत कोमलांगी देवदासी चौला की सुषमा से भरपूर, कौल, अघोरी, कापालिक और तान्त्रिकों के जटिल भयानक प्रयोगों से व्याप्त देखेगा।"

पांडेय वेचन शर्मा 'उग्र' (१९०१ ई०)

अभीतक जिन उपन्यास-लेखकों का उल्लेख हो चुका है, उनमें चतुरसेन शास्त्री ही ऐसे हैं जिन्होंने स्त्री शृंगार तथा यौन-सम्बन्धों का रस-पूर्वक वर्णन किया है। उन दिनों पश्चिम के जोला जैसे नग्न यथार्थवादियों की पर्याप्त चर्चा थी और उनके नग्न-चित्रण में जिसे प्रकृतिवाद भी कहा जाता है काफी रस-सामग्री थी। अतएव हिन्दी के भी कुछ नवयुवक उपन्यास-लेखक इस नग्न पश्चिमी यथार्थवाद की वाह्य रूपाकृति की नकल पर महल तैयार करने को कमर कसकर खड़े हो गए। यथार्थ का बिल्कुल एकांगी अर्थ लगा कर उसे निम्न जीवन की नग्न वास्तविकता, अश्लीलता आदि का पर्याय समझा गया और इसके फलस्वरूप हिन्दी में जिस वासनोत्तेजक साहित्य की सृष्टि हुई, उसने साधारण जनता, विशेषतया नवयुवकों को खूब रिझाया। कालेज और स्कूल के मनचले विद्यार्थियों की अटैची में "चन्द हसीनों के खुतूत" देखे जाने लगे। उपन्यास साहित्य के इस प्रकार के सबसे प्रतिभासम्पन्न कलाकार, पांडेय वेचन शर्मा 'उग्र' ही रहे।

उग्र जी में उच्च कोटि की विधायिनी प्रतिभा है, परख है, अनुभूति है और सरस व्यंजना-शक्ति है, इसे सभी सहृदय स्वीकार करते हैं और करेंगे। पाठकों के मन को मुट्ठी में कर लेने का इनका कौशल निराला है। इस 'उग्र'-वाणी की संमोहन-शक्ति अद्वितीय है। परंतु ऐसा लगता है मानो इतनी सारी विभूतियों का वरदान पाकर भी 'उग्र'जी वह न हो सके जो उन्हें होना था। अपने समाज के जिस गलित-दलित दलदल ने उन्हें फाँस रखा, वेश्यालय, गुंडालय और मदिरालय की जिस मोहिनी माया ने उन्हें भुला रखा, उसी के भीतर उनकी प्रतिभा उछल-कूद करती रही। जीवन के छाया-प्रकाशवाले उभय पक्षों में से उन्होंने अधिकतर उसकी छाया को ही पसंद किया और उसी में रंग भरने में मस्त रहे। कला की उपयोगिता की ओर से बिलकुल आँख मूँद लेने के कारण ही उन्होंने अनुकरण पर अधिक जोर दिया और जो जैसा है उसे उघाड़ कर आँखों के सामने बिछा देने में ही कलाकार का कर्तव्य समझा और इसीलिए बड़े दावे के साथ सबको चैलेंज दिया—"है कोई माई का लाल जो हमारे समाज

को नीचे से ऊपर तक देखकर, कलेजे पर हाथ धरकर, सत्य के तेज से मस्तक तानकर इस पुस्तक के अकिंचन लेखक से यह कहने का दावा करे कि तुमने जो कुछ लिखा है गलत लिखा है। समाज में ऐसी घृणित, रोमाचकारिणी, काजल-काली तस्वीरें नहीं हैं। अगर कोई हो तो सोत्साह सामने आवे, मेरे कान उमेठे और छोटे मुँह पर थप्पड मारे, मेरे होश ठिकाने करे। मैं उसके प्रहारों के चरणों के नीचे हृदय-पाँवड़े डालूँगा, मैं उसके अभिशापों को सिर-माथे पर धारण करूँगा—सँभाल लूँगा। अपने पथ में कतर ब्योंत करूँगा। सच कहता हूँ, विश्वास मानिए 'सौगंध और गवाह की हाजत नहीं मुझे।"*

इस विषय में 'उग्र' जी से नम्र निवेदन है कि उन पर, उनके पात्रों पर लोगों को पूर्ण विश्वास है। समाज में ऐसी घृणित, रोमाचकारिणी, काजल-काली तस्वीरें हैं और बहुत हैं। परतु उनका वर्णन करते समय लेखक को यह न भूल जाना चाहिए कि उनके पाठक ईश्वर नहीं हैं। "दुनिया में भला-बुरा सब कुछ है। ईश्वर सबको देखता है, फिर भी वह अलिप्त रहता है। क्योंकि वह अलिप्त रह सकता है और रह रहा है। उसी की यह सामर्थ्य है कि वह इस विशाल विश्व के सब पाप और सब पुण्य देखता रहे। परतु हम मानवों में वैसी ईश्वरीय अलिप्तता कहाँ? इसलिए हम सब कुछ नहीं देख सकते। यदि हठ करके सब कुछ देखने का प्रयत्न करेंगे तो हमारी आँखें फूट जायँगी और सिर फिर जायगा। ऐसा ही सिर फिरानेवाला साहित्य अश्लील कहलाता है। जहाँ पर स्त्री को घृणापूर्वक अथवा रसपूर्वक वेश्या, व्यभिचारिणी आदि कहकर उसकी लज्जा को अनावृत किया जाता है, वहाँ पर मानवों में आसक्ति आ ही जाती है, चाहे कितनी ही चतुराई से काम लिया गया हो। अतएव किसी साहित्य को श्लीलता-अश्लीलता का मापक यह आसक्ति-अनासक्ति ही है। जहाँ स्त्री में माता-भगिनी की बुद्धि है वहाँ अश्लीलता नहीं है, क्योंकि वहाँ अनासक्ति है।"† हमारे यहाँ अश्लीलता को सदैव से ही काव्य का दोष गिना जाता रहा है। कलाकार का यह एक बहुत बडा कर्तव्य है कि वह जन-रुचि का ध्यान करके चले। उसकी कृतियों का समाज पर कैसा प्रभाव पडता है उसे इसका भी ध्यान रखना चाहिए। अश्लील और कुरुचिपूर्ण प्रसगों को भी जन-मन के समक्ष लाने के पूर्व शिष्ट आवरण में ढककर उपस्थित करना चाहिए। अन्यथा किसी घृणित तथ्य का उद्घाटन करनेवाले काव्य का वही मूल्य होगा जो किसी सामान्य चित्रकार के यहाँ लगी हुई रमणी की बाजारू तसवीरों का।

---

* दिल्ली का दलाल—'भूमिका'। † जैनेन्द्र के विचार।

'दिल्ली का दलाल' (१९२७) उपन्यास में जिस नग्न वास्तविकता का जिन ब्योरों के साथ उद्घाटन हुआ है वह किसी समुन्नत साहित्य के लिए वाछनीय नहीं, इस उपन्यास में स्त्रियों का कुत्सित व्यापार करनेवाले नरपिशाचों का बड़ा ही यथातथ्य चित्रण हुआ है। भले घर की भोली युवतियाँ और बालिकाएँ किस तरह बहकाई, फँसाई, उड़ाई और सताई जाती हैं, इसका इतना विशद एव रोमाचकारी चित्रण शायद ही कहीं मिले। परन्तु यह चित्रण शिष्टता की सीमा लाँघ गया। अपने प्रारभिक जोश में लिखे गए इस उपन्यास में 'उग्र' जी ने नारी-जाति की जो दुर्गति दिखाई उसे देख शर्म से आँखें झुक जाती हैं। इस चटपटे उपन्यास का पाठकों ने जितना आदर किया उससे कहीं अधिक 'उग्र' जी पर बौछारें भी पड़ीं—गुरुजनों की, साहित्यिक महारथियों की। यद्यपि उनकी प्रकृति अपवादों के आगे सिर झुकानेवाली नहीं तो भी उन्होंने अपनी भूल न मानकर भी कुछ कुछ मानी। इसके उपरात 'चद हसीनों के खुतूत, (१९२७) उपन्यास बहुत सयत होकर आया। इस बार 'उग्र' जी के हृदय की क्रातिधारा दूसरी ही दिशा में प्रवाहित हुई। सामाजिक बधनों में जकड़े हुए युवक-हृदय की चीत्कार में 'उग्र' जी ने योग दिया और उसे ऊँचा उठाया। मनुष्य सबसे पहले मनुष्य है और इसके उपरात हिंदू, मुसलमान या अन्य कोई। प्रेम पर मर मिटनेवाले अमर शहीद 'मुरारी' और उस प्रेम की प्रतिमा यवन-बाला 'नर्गिस' की प्रेम-कहानी चित्रित करके 'उग्र' जी ने उच्चकोटि के आधुनिक रोमास का दिग्दर्शन कराया। वास्तव में 'उग्र' जी यदि ऐसे उपन्यास भी लिखते तो गनीमत थी, 'बुधुआ की बेटी' (१९२८) भी दलालों के चंगुल में फँसी हुई बेचारी स्त्रियों की अपेक्षा कुछ अधिक ढकी-तुपी आई यद्यपि इसका आवरण भी झीना ही झीना रहा। पुत्र पैदा करनेवाले शेखजी की दरगाह, मनुष्यानद की पत्नी का व्यभिचार, मिसेज यग का रग-रहस्य तथा घनश्याम-राधा के प्रसग का चित्रण पर्याप्त वासनामय हुआ है। 'शराबी' (१९३०) में वे एक बार पुनः वेश्यालय और मदिरालय को सामने लाए। उस विषाक्त वायु में ससार बसाकर भी 'उग्र' जी ने इस उपन्यास में घृणित दृश्यों को बचाने का प्रयत्न किया है। चरित्र-चित्रण, वस्तुवर्णन आदि की दृष्टि से यह उपन्यास बहुत सफल रहा। 'सरकार तुम्हारी आँखों में' (१९३६) भी अच्छा उपन्यास है। महाराज 'मदनसिंह' की सहृदयता, कामुकता एव पाशविकता का सुन्दर चित्रण करके लेखक ने अपने अनुभव का अच्छा परिचय दिया है।

'उग्र' जी का 'जीजी जी' १९४३ में प्रकाशित हुआ। इसमें 'उग्र' जी में

आश्चर्यजनक परिवर्तन लक्षित होता है। यह उपन्यास स्पष्टतः आदर्शवादी है यद्यपि इसमें वर्णित कहानी कोरा यथार्थ है। मगलाप्रसाद ने अपनी दूसरी स्त्री के हठ से अपनी सुशीला मातृहीना कन्या (जिसे सारा परिवार 'जीजी जी' कहता था) का विवाह दीनानाथ नामक एक दुश्चरित्र युवक से, जिसकी पहली स्त्री की मृत्यु हो चुकी थी, कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पतिगृह में जाकर जीजी जी को पति के भयंकर अत्याचारों को जीवनभर मूक भाव से सहन करना पड़ा। गाली-गलौज, मारपीट आदि, क्या क्या उन्हें नहीं भुगतने पड़े। अत में तन और मन से जर्जर जीजी जी बरसात में पुरानी दीवार की तरह एक दिन जो काम करते ही करते लडखडा कर गिरीं तो फिर उठीं नहीं। स्नेहशील पिता एव अपरिमेय प्यार करनेवाले मुरली भाई के रहते हुए भी उन्होंने सारी विपत्ति स्वयं झेल ली किन्तु कभी सहायता की याचना न की।

इस उपन्यास के लबे चौड़े 'दीबाचा' में आधुनिक कम्युनिस्टों की दलीलों का खडन करते हुए 'उग्र' जी ने यह प्रतिपादित किया है कि नारी का क्षेत्र, उसका आदर्श सदैव ही अलग रहेगा। वह पुरुष की सी स्वतत्र कभी नहीं हो सकेगी। यदि होने का प्रयत्न करेगी तो समाज में अशाति ही फैलेगी। जीजी जी का विचार है कि नारी का मगल इसी में है कि उसे जो कुछ मिले—मीठा, कड़ुवा—भोगती जाय, बिना चूँ तक किए हुए। वह मुरली से कहती है "जिंदगी सुलगने ही के लिए है—धीरे-धीरे, फिर वह जलना बावन के साथ हो या तिरपन के।" इस तरह उपन्यास में पत्नी विषयक प्राचीन भारतीय भावनाओं का ही पोषण है। इसके जितने भी चरित्र हैं बड़े सजीव हैं। विशेष कर 'नरकू' वामन का चित्रण तो बहुत ही अच्छा है।

'उग्र' जी के उपन्यासों में समाज, व्यक्ति और नियति के प्रति आदि से अत तक व्यग्य छिपा रहता है। यह उनके नवीन युग के क्रांतिकारी हृदय का प्रसाद है। 'उग्र' जी ऐसे लेखक नहीं जो समाज या जाति को किसी आदर्श पथ की ओर सकेत करके उसकी गति-विधि को उसी ओर मोड दें। समाज-सुधार का सबसे बडा साधन वे उसकी दुर्बलताओं की विवृति और उस पर व्यग्य को ही समझते हैं। परतु व्यग्य के द्वारा सुधार का काम प्रायः असफल ही रहा। मानव के साथ सहानुभूति और समवेदना दिखलाकर ही उसके हृदय पर विजय प्राप्त की जा सकती है। परतु 'उग्र' जी ने वैसा नहीं किया।

'उग्र' जी की चरित्र-सृष्टि को देखने से पता चलता है कि वे पात्रों के बाह्य चित्रण में जितने सफल रहे उतने मानसिक चित्रण में नहीं। चरित्रों के भीतर पैठकर उनके मनोराज्य के ऊहापोह का, विचारों के सघर्ष का चित्रण

करने की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया। इनके चरित्रों में प्रायः व्यक्तिगत विशेषताओं की अपेक्षा वर्गगत विशेषताएँ ही अधिक मिलती हैं। इनके उपन्यास शुद्ध चरित्र-कोटि में आते हैं। परतु इन वर्गगत पात्रों का चित्रण 'उग्र' जी ने पर्याप्त सफलता से किया है। समाज के जिस अग को वे अपने चित्रण का विषय बनाते हैं उससे पूर्ण परिचित होते हैं।

परतु 'उग्र' जी की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी भाषा की शक्ति एव सजीवता। किसी बात को प्लैटफार्मी ढग पर जोरदार बनाकर कहने की इनकी शक्ति अद्भुत है। एक उदाहरण देखिए—

"चारों ओर डडाशाही, ईंटाशाही, छुराशाही, तलवारशाही, औरंगशाही और नादिरशाही का बोलबाला था। धूर्त नौकरशाही, अपवित्र नौकरशाही और इन सब खुराफातों की जड नौकरशाही इस समय घूँघट में मुँह छिपाए है।*"

इस तरह की व्यजना-प्रणाली में अशतः भाव-व्यजना की प्रगल्भता और अशतः भावावेश का प्राबल्य पाया जाता है, जिसके कारण कथा-वस्तु की मनोरजकता के अतिरिक्त एक विशेष मोहकता आ जाती है जो उनके उपन्यासों की रजनशक्ति की वृद्धि कर देती है। इस भाषा में काव्य-भाषा की सी अलकार-रमणीयता होती है और यह रमणीयता प्रतिदिन के परिचित उपमानों द्वारा ही लाई जाती है। उसके लिए काल्पनिक उन्माद अथवा अनुभूति की आवश्यकता नहीं होती। निम्नाकित पक्तियों में 'शराबी' उपन्यास की 'जवाहर' के नृत्य-सौंदर्य का कितना मोहक चित्रण हुआ है—

"वह इस तरह नाचती है जैसे भोरहरी की हवा में अलसी का फूल। जैसे राजा रामरूप के ऐश बाग में, उस बड़े तालाब में रिमझिम बरसते सावन में छोटी-बडी लहरों पर हसिनी नाचा करती है।"

एक और नमूना 'दोजख की आग' से देखिए—

"मेरी एक बीबी थी। गुलाब की तरह खूबसूरत, मोती की तरह आबदार, कोहेनूर की तरह बेशकीमत, नेकी की तरह नेक, चाँद की तरह सादी, लडकपन की हँसी की तरह भोली और जान की तरह प्यारी।"

"मेरे एक बच्चा था। चाँदनी सा गोरा, नए चाँद सा प्यारा, युवती के कपोलों सा कोमल, प्रेम सा सुदर, चुम्बन सा मधुर, आशा सा आकर्षक और प्रसन्न हँसी सा सुखद।

---

* देखिए 'चद हसीनों के खुतूत'।

"मेरी एक माँ थी। मसजिद की तरह बूढी, आम की तरह पकी, दया की तरह उदार, दुआ की तरह मददगार, प्रकृति की तरह करुणामयी, खुदा की तरह प्यारी और कुरान-पाक की तरह पाक।"

यदि सच पूछा जाय तो 'उग्र' जी की भाषा ही उन्हें साहित्य-क्षेत्र मे अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। इस युगातकारी लेखक ने यदि अपनी प्रतिभा का सयम के साथ उपयोग किया होता तो साहित्य के उच्चतम आसन पर आसीन होता।

ऋषभचरण जैन (१६११ ई०)

ऋषभचरण जैन ने छोटी उम्र में ही उपन्यास लिखना आरम्भ किया और दर्जनों उपन्यास लिख डाले। इनमें उच्चकोटि की विधायक प्रतिभा है और कतिपय सामाजिक समस्याओं का इन्होने अपने उपन्यासों में अच्छा चित्रण भी किया है।

इनका 'भाई' (१६३१) उपन्यास तो बिलकुल ही प्रेमचंद जी के ढर्रे पर लिखा गया था। इसमें वर्णित ग्रामीण जीवन, ग्रामीणों की मनोवृत्ति, उनका रहन-सहन देखकर ऐसा लगता है मानों लेखक पर प्रेमचद का पूरा पूरा रग चढ़ चुका था। यदि ऋषभचरण जी उसी रास्ते पर चले चलते तो आज उपन्यास-क्षेत्र में उनका विशिष्ट स्थान होता। परतु यथार्थवाद के 'उग्र' झोंके ने उन्हें भी पथच्युत कर दिया और उनकी प्रतिभा भी श्रड्डों और अखाड़ा में ही घर करके बैठ गई। फिर तो उन्होंने दूसरी ओर आँख उठाने की तकलीफ ही नहीं की। उस मायामय रंगस्थल में कुछ ऐसा जादू था कि उसने इनकी नजरों को बाँध लिया। पाठकों द्वारा ऐसे उपन्यासकारों को जो प्रोत्साहन मिलता है उसके कारण और भी ये लोग उसी दलदल में पड़े रहते हैं। स्वयं ऋषभ-चरणजी ने स्वीकार किया है कि "सिर्फ सदाचार-सबंधी अनर्गल पुस्तकें छापकर कोई प्रकाशक आर्थिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता और व्यापारिक कार्य के लिए चदा माँगकर गुजर करना भी किसी प्रकाशक की गैरत गवारा नहीं कर सकती"। परंतु आर्थिक लाभ के लिए सामाजिक मस्तिष्क विकृत करना कहाँ तक शोभा देता है कहा नहीं जा सकता।

ऋषभचरणजी ने 'मास्टर साहिब' (१६२७), 'वेश्यापुत्र' (१६२६), 'गदर' (१६३०), 'सत्याग्रह' (१६३०), 'बुर्केवाली' (१६३०), 'भाग्य' (१६३१), 'भाई' (१६३१), 'रहस्यमयी' (१६३१), 'चाँदनी रात' (१६३१), 'मधुकरी' (१६३३), 'मन्दिर दीप' (१६३६), 'खुरदा फरोश' (१६३७) 'चम्पाकली'

(१६३७), 'मयखाना' (१६३८), 'दिल्ली का व्यभिचार' (१६३८), 'हर हाइनेस' (१६३६), 'तीन इक्के' (१६३६), 'दुराचार के अड्डे' (१६४०), आदि अनेक उपन्यास लिखे है।

ऊपर गिनाए हुए अधिकतर उपन्यास 'दिल्ली का दलाल' के ही अनुगामी हैं। 'दिल्ली का दलाल' लिख चुकने के उपरान्त 'उग्र' जी की लेखनी तो कुछ सयत भी हुई परन्तु ऋषभचरण जी के उपन्यास तो नग्न वास्तविकता के पूर्ण प्रदर्शन हैं। जैसा कि 'चम्पाकली' की भूमिका से पता चलता है—"पाठक इस चीज को पढकर कसक और गुदगुदी का एक साथ अनुभव करेगा, और शायद यह कसक और गुदगुदी उसे बहुत दिन तक परेशान रखेगी।" लेखक ने अपने अधिकाश उपन्यासों में 'कसक' और 'गुदगुदी' पर ही अधिक ध्यान रखा है जिसके कारण इनके अधिकतर उपन्यास बाजारू होकर रह गए हैं। यद्यपि पात्रों का बाह्य चित्रण ऋषभचरणजी बडी सजीवता के साथ करते हैं परन्तु वह इतना नग्न है कि साहित्य-ससार उसे अपनाने में सदैव संकोच करेगा। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं 'भाई' आदि कुछ उपन्यास इस दलदल के बाहर भी हैं, किन्तु इनकी प्रतिभा अधिकतर चटक-मटक की ओर ही दौडी है। ऋषभचरणजी की भाषा बडी ही भावपूर्ण और सजीव होती है। कथोपकथन में 'कौशिक' जी के कथोपकथन सी चुस्ती रहती है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी (१८६६)

पुरानी पीढ़ी के लेखकों में वाजपेयी जी का एक विशेष स्थान है। प्रेमचन्द की भाँति सामाजिक आशय को ग्रहण करके भी इन्होंने व्यक्तिवादी उपन्यासों की परम्परा का प्रवर्त्तन तथा पोषण किया। आप सन् १६२७ से बराबर लिखते आ रहे हैं और प्राय एक दर्जन उपन्यास प्रकाशित करा चुके हैं। कुछ उपन्यासों के नाम हैं—'मीठी चुटकी' (१६२७), 'अनाथपत्नी' (१६२८), 'प्रेमपथ', 'लालिमा' (१६३४), 'पतिता की साधना' (१६३६), 'पिपासा' (१६३७), 'दो बहनें' (१९४०), 'त्यागमयी' (१६४०), 'निमन्त्रण' (१६४२), 'गुप्त-धन' (१६४६), 'चलते चलते' (१६५१), 'पतवार' (१६५२) 'यथार्थ से आगे' (१६५५), 'सूनी राह' (१६५६)।

प्रथम उपन्यास 'मीठी चुटकी', आदर्शवादी है और इसमें हिन्दू-विवाह-व्यवस्था का समर्थन किया गया है। 'अनाथ पत्नी' में भारतीय पत्नी का जीवन कितना परमुखापेक्षी होता है, यह दिखाने का प्रयास है। 'प्रेमपथ' में वासना और कर्तव्य का बडा सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व दिखाया गया है। इसमें वासना

नाना प्रकार के कपट रूप धारण करती है—कभी दार्शनिक बन जाती है, कभी भक्ति के रूप में नजर आती है परन्तु है वह वासना ही। अन्त में कर्तव्य की विजय होती है। पतन के किनारे पर पहुँच कर सहसा तारा का विवेक जाग पड़ता है और वह अपने 'जीजाजी' रमेश को अच्छी फटकार बतलाती है। रमेश की आँखें खुल जाती हैं और वह तारा के चरणों पर गिर पड़ता है।

'पतिता की साधना' नामक उपन्यास पर्याप्त सफल है। ननद के विवाह की भीड़-भाड़ में बालविधवा युवती नन्दा का परिचय फुफेरे देवर हरी से होता है और दोनों परस्पर प्रेमाकर्षित होते हैं। विवाहोपरान्त नन्दा अपने भाई के पास चली जाती है और हरी अपने घर, किन्तु प्रेम भीतर ही भीतर परिपुष्ट होता रहता है। एक शाम अकस्मात् हरी नन्दा के गाँव पहुँचता है और थोड़ा सा एकान्त पाते ही दोनों की लालसा प्रबल हो उठती है, कौमार्य खण्डित होता है। गर्भवती नन्दा को उसके भाई-भौजाई काफी रुपए देकर माघ-मेले में कानपुर छोड़ आते हैं और यह प्रचारित कर देते हैं कि वह गगा में डूब मरी। नन्दा को अस्पताल में पुत्र उत्पन्न होता है जिसे बड़ा होने पर वह गुरुकुल में भेज देती है और अपनी जीविका के लिए वेश्यालय में आ बैठती है। इस पाप पक में रहकर भी वह अपने को कमल पत्र के समान निर्लिप्त रखती है और अपने गाने एव सुसंस्कृत व्यवहार से ही लोगों को आकृष्ट कर अपनी जीविका चलाती है। इधर चचेरे भाई कृष्ण गोपाल के षडयन्त्र से हरी पर मान-हानि का मुकदमा चलता है और उसे आठ महीने की सजा हो जाती है। जेल से छूटने पर जब उसे नन्दा की मृत्यु का समाचार मिलता है, तो वह घर न जाकर दूसरी ही ओर चल देता है। एक दिन नन्दा ने हरी को एक अन्धे भिखारी के रूप में पाया। दूसरी बार आने पर उसने हरी को अपना परिचय दिया और दोनों वियुक्त प्रिय-प्रेमिका का सम्मिलन हुआ। इसी समय हरी के मित्रों को उसकी सूचना मिलती है और सब पहुँचकर हरी, नन्दा, तथा उसके पुत्र अशोक को (जो तार द्वारा बुलवा लिया गया था) लेकर गाँव पहुँचते है। वृद्धा माँ इन्हें देख आनन्दातिरेक में गद्गद् हो उठती है।

इस उपन्यास के कथानक-वर्णन में यह विशेषता है कि नन्दा तथा हरी का प्रेम-प्रसंग और माया (वेश्यालय की नन्दा) तथा सूरदास (भीख माँगने वाला हरी) की कथा समानान्तर चलती है और पाठक को यह भान नहीं होता कि माया ही नन्दा है और उसकी उत्सुकता दोनों कथाओं के सम्बन्ध

को जानने के लिए उत्सुक रहती है। कथा को विकसित करने में वर्णन, संवाद, तथा पात्रों की भावाभिव्यक्ति का सहारा लिया गया है। आरम्भ में कथा की गति किंचित् मन्द है किन्तु अन्त तक पहुँचते-पहुँचते लेखक जैसे आधीर-सा होकर सभी बिखरे हुए सूत्रों को शीघ्रता से समेट लेता है और इस दुखान्त कथा का आदर्शवाद एव सुख में पर्यवसान कर देता है। कहीं कहीं छोटी सी बात का अप्रत्याशित एव अस्वाभाविक परिणाम दिखाया गया है। विवाह के अवसर पर गोकुल को बोबी कहकर उपहास करने की घटना को लेकर ही हरी को कारावास दिला दिया जाता है। हरी तथा नन्दा की विवेक बुद्धि को देखते हुए यह थोडा अस्वाभाविक सा लगता है कि भाई-भाभी के घर में उपस्थित रहते हुए थोड़े से ही अवकाश में हरी और नन्दा जल्दी-जल्दी सभोग कर बैठते हैं। यह नहीं कि ऐसा हो नहीं सकता किन्तु नायक-नायिका कर्तव्य-बुद्धि से संयत हैं, समझदार हैं वहाँ इतने असम्भावित रूप से, इतनी जल्दी में स्त्री का समर्पण कुछ अच्छा सा नहीं लगता। हरी, सूरदास कैसे हो गए इसका भी सकेत नहीं दिया गया है। पिछली पीढ़ी के लेखकों के समान इस उपन्यास में भी सयोग-मिलन को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। नन्दा के नन्दोई रमेश का वेश्या बनी हुई नन्दा पर आकृष्ट होना, सूरदास का भीख माँगते हुए उसके द्वार पर पहुँचना, रमेश के पास पड़ी हुई पुस्तक में नन्दा का नाम देख वीरेन्द्र आदि का उसके पास पहुँचना आदि अनेक घटनाओं में केवल सयोग का हाथ है।

इन त्रुटियों के होते हुए भी इस उपन्यास के पात्रों में पर्याप्त सजीवता है और सामाजिक परिपार्श्व में उनके हृदय-द्वन्द्वों के चित्रण में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है। कथानायिका नन्दा की उक्तियों में यत्र तत्र बँगला उपन्यासों की नारी की प्रतिच्छाया मिलती है। जीवन-सुमन के उत्फुल्ल होने के पूर्व ही वैधव्य तुषारावृता यह रमणी हरी की प्रणय-रश्मियों से आकर्षित होकर ज्यों ही जीवन का कुछ रस अनुभव करने लगती है त्यों ही वासना-उत्तेजना के कुछ अप्रत्याशित क्षणों ने उसे अपनी ही आँखों में सदैव के लिए पतिता बना दिया। वेश्यालय के पकिल वातावरण में अपने को कमल-पत्र के समान निर्लिप्त रखती हुई वह भगवान् में अटूट विश्वास लेकर जीती रही। भावुक युवक रमेश के—"ज्यों ही मुझे स्वतन्त्र रहने का अवसर मिला, त्यों ही मैं आपके अलग रहने का प्रबन्ध कर दूँगा"—प्रस्ताव पर वह बोल उठती है—"अब ऐसी जरूरत नहीं देख पड़ती रमेश बाबू। जिन्दगी के दिन ही कितने होते हैं! जो स्त्री अपनी इतनी उमर ऐसी जगह में रहकर बिता चुकी हो,

इसके लिए जरूरत ही क्या है कि वह खुले सिर, खुले मस्तक से चलने और समाज में प्रतिष्ठा की जिन्दगी व्यतीत करने के मोह में पड़े। इस तरह की जिन्दगी में मुझ जैसी नारी को इतनी आसानी के साथ डाल देना जिन्होंने उचित और आवश्यक समझा है, उनकी किसी व्यवस्था में दखल देने वाली मै होती कौन हूँ।" यहाँ पर नन्दा हमें 'त्यागपत्र' के मृणाल की याद दिला देती है। लेखक ने उसकी मानवीय दुर्बलताओं का स्वाभाविक चित्रण करते हुए भी अन्त में उसे परम पुनीत साधनामयी नारी के रूप में चित्रित किया है। हरी की सहृदयता एव त्याग-भावना के वर्णन में लेखक को सफलता मिली है। पात्र जितने भी हैं स्वाभाविक है तथा अपनी व्यक्तिगत विशेषता से समन्वित हैं। हरी, वीरेन्द्र, केदार आदि नवयुवकों की, तथा कृष्ण गोपाल एवं उनके मुसाहबों की बातचीत में स्वाभाविकता के साथ-साथ मनोरञ्जकता भी है। घर तथा गाँव के वातावरण का चित्रण भी सफल है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द के सामाजिक यथार्थ तथा जैनेन्द्र के वैयक्तिक आन्तरिक संघर्ष का अच्छा समन्वय किया गया है। जहाँ भावनाओं की कोमल अभिव्यक्ति हुई है उन स्थलों में पर्याप्त रंजकता है। संकेत और संयम से काम लेकर शृंगारिक प्रसंगों का मर्यादित ढंग से निर्वाह किया गया है। विधवा को पत्नी रूप में अपनाने का हरी का साहस नये युग की सूचना देता है।

'दो बहनें' नामक उपन्यास का विज्ञापन सर्वाधिक हुआ है—सम्भवत लीडर प्रेस से निकलने के कारण। इसमें एक ही व्यक्ति की दो प्रेमिकाएँ है और दोनों बहनें हैं। लता और आशा दोनों ही ज्ञानप्रकाश को प्रेम करती हैं। लेखक ने इन दोनों के अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण का सफल प्रयास किया है। यह उपन्यास फिल्म के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है। "निमन्त्रण" में वाजपेयी जी नवीन भूमि पर आते हुए दिखाई पडते हैं। पुस्तक की भूमिका में बड़े आत्मविश्वास के साथ आपने घोषणा की है कि अपने इस दसवें उपन्यास में जो कुछ लिखा है वह सब सच्चा और यथार्थ है। दसवें उपन्यास मे आप यथार्थ भूमि पर आ सके इसके लिए बधाई! किन्तु इस उपन्यास में अनेक प्रकार के पात्रों, परिस्थितियों एवं समस्याओं के चित्रण की महात्वाकांक्षा के कारण कथावस्तु में अन्विति का सर्वथा अभाव हो गया है। इसमें घटनाएँ भी अधिक हैं और पात्र भी। किन्तु दोनों का आपस में सामञ्जस्य नहीं हो पाया है। एक भी पात्र ऐसा नहीं जिसे विकास-स्वातन्त्र्य मिला हो। यहाँ तक कि उपन्यास-नायिका मिस मालती का चरित्र भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

'निमन्त्रण' में परम्परागत नैतिक एव सामाजिक भावनाओं तथा पाश्चात्य

सभ्यताजनित नवीन भावनाओं का संघर्ष चित्रित किया गया है और यौन-सम्बन्धी नाना सिद्धान्त जो नवीन मनोविश्लेषण के फलस्वरूप योरप में फैले हैं उनके प्रतिपादन का असफल प्रयास मिलता है। लेखक क्या चाहता है यह स्पष्ट नहीं हो पाता। कला के माध्यम से किसी सिद्धान्त को व्यक्त करने के पूर्व लेखक को उसे पूर्ण रूपेण आयत्त कर लेना चाहिए। जहाँ कथा की योजना सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए की जाती है वहाँ कला दब जाती है।

वाजपेयी जी के उपन्यासों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि उनके चित्रण का सबसे प्रिय विषय प्रेम है। स्त्री एवं पुरुष का रूपाकर्षण, संमिलन की उत्कट अभिलाषा, अतृप्ति का ताप आदि के वर्णन में वाजपेयी जी की वृत्ति अधिक रमती है। स्त्री के अंगों का ब्योरेवार मनमोहक चित्रण भी इनके उपन्यासों में स्थल-स्थल पर मिलता है। आरम्भ के उपन्यासों में प्रेमचन्द का किंचित् अनुगमन मिलता है। वर्णनात्मकता के सहारे समाज का चित्रण, तथा समस्याओं का आदर्शात्मक समाधान देने की प्रवृत्ति प्रेमचन्द के समान इनमें भी मिलती है। किन्तु आगे चलकर इनके चरित्रों में वैयक्तिकता की प्रधानता हो चली और उनके अन्तर्जगत् के ऊहापोह के मनोवैज्ञानिक चित्रण को अधिक महत्त्व मिला।

जैनेन्द्र कुमार (१६०५)

प्रेमचन्द की युग-सीमा के भीतर ही जैनेन्द्रकुमार उपन्यासकार-रूप में प्रकाशित हो उठे थे ('परख' १६३०), किन्तु इस क्षेत्र में इन्होंने एक नितान्त नूतन मार्ग का प्रवर्तन किया और अपनी कतिपय विशेषताओं के कारण बेजोड़ से बने रहे। कथावस्तु के चयन एवं विन्यास, पात्र-कल्पना एवं चरित्रांकन, जीवन-दृष्टि तथा रचना-शिल्प प्रायः सभी दृष्टियों से उनमें नवीनता है। विशालकाय एवं प्रसंगबहुल घटना-व्यापारों, अनेकमुखी समस्याओं तथा विभिन्न वर्गीय व्यक्तियों के व्यावहारिक वर्णन के स्थान पर परिस्थिति-विशेष में कतिपय पात्रों को रख कर उनके मनोद्वेगों, विचार-सरणियों एवं कार्य-व्यापारों के चित्रण को ही इन्होंने अपनी कला का लक्ष्य बनाया। कथा-कथन की स्थूल प्रवृत्ति के स्थान पर इनकी वस्तु-योजना सूक्ष्म हो चली और आकर्षण का मुख्य बिन्दु चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व का वर्णन-कौशल हो उठा। परम्परा-प्राप्त सामाजिक नैतिकता के स्थान पर मानव-भावनाओं एवं आचरणों को इन्होंने अधिक उदार तथा मानवीय दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया और अपने अनुपम वर्णन-कौशल से सामाजिक दृष्टि से पतित पात्रों को भी एक अनोखी गरिमा

प्रदान कर पाठक की स्नेह-सहानुभूति का अधिकारी बनाया। साहित्य के लक्ष्य* के सम्बन्ध में एक नितान्त आदर्शवादी दृष्टिकोण रखने एव उसे अपनी कृतियों में चरितार्थ करने के सकल्प के कारण उनकी वस्तु-योजना तथा पात्र-कल्पना दोनों ही में केवल लौकिक-व्यावहारिक धरातल पर ही न रहकर आदर्श एवं सभाव्य धरातल तक उठने की आकाक्षा स्पष्ट परिलक्षित होती है और प्राय. सभी उपन्यासों में उच्चकोटि के स्नेह, समर्पण, आत्मत्याग आदि की प्रतिष्ठा है। इनकी कृतियाँ नितान्त बौद्धिक धरातल से उठकर चेतना के धरातल तक पहुँचीं और प्रेरणा के मूल स्रोतों को समझने का प्रयास किया गया और इस दृष्टि से इन्होंने प्रेमचन्द द्वारा प्रवर्तित बाह्य वर्णन-प्रधान शैली के विपरीत अन्तर्भाव-व्यनक शैली का प्रवर्तन किया। इनकी कृतियों में मनःतर्क तथा भावुकता का, यथार्थ और आदर्श का, लौकिकता तथा आध्यात्मिकता का अपूर्व सम्मिलन है। नारी-पुरुष-सम्बन्धों को ही अपनी कला का विषय बनाने के कारण इनकी कृतियों का अनुरजनकारी मूल्य भी सुधार-जागरणवादी लेखकों की अपेक्षा अधिक हो गया है। यद्यपि जैनेन्द्र का क्षेत्र अत्यधिक सकुचित है और उन्होंने शिक्षित वर्ग के पात्रों के प्रेमाचरणों का एक विशेष दृष्टि से चित्रण ही अपने उपन्यासों का विषय बनाया है, किन्तु उनमें पर्याप्त गम्भीरता एव जीवन-रस है। उनके सभी प्रमुख पात्र वैयक्तिक विशेषताओं से समन्वित हैं और पाठक के ऊपर स्थायी छाप छोड़ जाते है। उनके भीतर बुद्धि और अन्तस् का एक अविराम सघर्ष छिडा रहता है, जिसके ही प्रकाश में उनके व्यवहारों की व्याख्या की जा सकती है। अभीतक जैनेन्द्र के 'परख' (१६३०) 'तपोभूमि' (१६३६), 'सुनीता' (१६३६), 'त्यागपत्र' (१६३७) 'कल्याणी' (१६४०), 'सुखदा' (१६५२), 'विवर्त' (१६५३), 'व्यतीत' (१६५३) ये आठ उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

'परख' में मानवीय प्रवृत्ति तथा सामाजिक नियमों की विषमता से उद्भूत विधवा की समस्या है। बुद्धिविधान से विधवा ठहराई गई एक नटखट, हठाड,

---

* "जो हमारे भीतर की रुद्ध वेदना को, पिंजरबद्ध भावनाओं को, रूप देकर आकाश के प्रकाश में मुक्त नहीं करता, जिसमें अपने 'स्व' का सेवन है और दान नहीं, वह भी साहित्य नहीं है। साहित्य का लक्षण रस है, रस प्रेम है। प्रेम अहकार का उत्सर्ग है। × × × हृदय का उत्सर्ग अधिक स्थाई है। इससे भी ऊपर है अपने सर्वस्व का उत्सर्ग, जहाँ अपने प्रिय को पाने की कामना का भी उत्सर्ग है, जहाँ सर्व-स्व-समर्पण है वहीं सर्वाधिक स्थाई तत्व है।"

देहातिन लड़की 'कट्टो' ने प्राकृतिक नियम के आग्रह से अनायास अपने हृदय की सारी श्रद्धा, सारा विश्वास, समस्त अनुराग अपने एक मास्टर के चरणों में निछावर कर दिया। वह विधवा सधवा बन बैठी और खरीद लाई—"दो चूड़ियाँ लाल, एक बिन्दी टिकियों की डिबिया" और लिख दिया उन्हें "मुझे अब से कट्टो न कहना, लाज आती है ××× तुम्हें मेरी कसम।" अपने आत्म-समर्पण में तथा उन मास्टर में उसका अडिग विश्वास था। कितने निश्चल भाव से वह सत्यधन के मित्र बिहारी से कहती है, "विवाह की बात पक्की हो गई है, तुम वृथा आए हो। विवाह की बात पक्की नहीं कर सकोगे।" और जब बिहारी ने सत्यधन की वास्तविक मनोभावना, उसकी कठिनाइयों तथा परिस्थितियों को अनावृत करके उसके सामने रख दिया तो वह बेहोश होकर भी होश में आ जाती है। हृदय के तीव्र वेग पर बुद्धि का अनुशासन हो जाता है और वह कह उठती है—"बिहारी बाबू, आप जाओ। उनसे कह देना कि अपने कामों में कट्टो की गिनती न करें। मेरे पीछे उन्हें थोड़ी भी चिन्ता भुगतनी पड़ी तो मैं अपने को क्षमा न कर सकूँगी। मैं क्या रही जो मेरे पीछे उन्होंने दुख भुगता। ××× बड़ा सौभाग्य है कि आखिर मैं उनके किसी काम तो आऊँगी।" 'सत्य' के पास जाकर भी वह भक्ति-भाव से निवेदन करती है, "मैं तो तुम्हारी ही हूँ, मुझसे बोलते मुझसे माँगते डरते हो? जैसे पराए से कुछ माँग रहे हो? छिः, सो नहीं। तुम्हारे काम नहीं आई तो हुई ही क्या? ××× जो कुछ भी तुम चाहते हो उसमें कट्टो की खूब राय है? कट्टो उसे खूब चाहती है। उसका पूरा-पूरा विश्वास रखो। तुम्हारी खुशी में उसकी खुशी है। अपने कामों में कट्टो की गिनती न करो वह गिनने लायक नहीं। उसकी खुशी तुममें शामिल है। बस। तुम ब्याह करना चाहते हो तो कट्टो तुम्हारी सबसे पहले तुम्हारा ब्याह चाहती है। इतना कहकर, भावी 'जीजी' से प्रथम दिन भोजन कराने की स्वीकृति लेकर, अपने देवता की चरण-रज लेकर, आँखों में आँसू लेकर, हृदय में विश्वास लेकर, हार में जीत लेकर वह चली जाती है और अपनी वेदना को, उसी पीर को, उसी उत्सर्ग-भावना को बिहारी में पढ़कर वह बँध जाती है उसके साथ। "दूर—फिर भी बिल्कुल पास। अलग—फिर भी बिल्कुल एक। एक ही उद्देश्य, एक ही जीवन-लक्ष्य।" और दोनों ही प्रतिज्ञा करते हैं, "हम वैधव्य-यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं। हम एक होंगे—एक प्राण दो तन होंगे। कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा।" "उसी देन कट्टो का विवाह पूर्ण हुआ, वैधव्य सार्थक हुआ।" और उसी दिन उसने

अपना सारा सुहाग एक पोटली में लपेट कर गरिमा को भेज दिया। ऐसी है वह कट्टो।

और इस कट्टो नारी का पुरुष-संस्करण 'विहारी' सम्पूर्ण मानवीय गुणो से परिपूर्ण है। उसने अपने जीवन का आदर्श कुछ बहुत ही स्पष्ट धारणाओ पर टिका रखा है। सत्यधन की भाँति उसमें द्वैत नही है। इसीलिए वह हल्का-हल्का बना रह सकता है—क्योंकि वास्तव मे वह खूब भारी है। सत्यधन की भाँति उसमें वितर्क-बुद्धि, आत्म-प्रवचना तथा थोथी दार्शनिकता नहीं है। उसके व्यक्तित्व का लगर खूब गहराई में बडी मजबूती के साथ, कुछ सिद्धान्तों में गड़ा हुआ है, और इसीलिए चाहे वह दुनियाँ के पानी पर कितना भी लहराता क्यो न रहे, डिग नहीं सकता। वह हँसना भी जानता है और रोना भी, परन्तु रोकर रोने से हँस कर रोना ही अच्छा समझता है। इसीलिए वह अपने विषय मे दुनियाँ को धोखा भी दे सकता है। सत्यधन जैसे व्यवहार-बुद्धि वाले व्यक्ति उसकी गहराई को नहीं पा सकते। कट्टो में स्वय वही गहराई है, इसीलिए तो वह उस तक पहुँच सकी। कट्टो के लिए विहारी के हृदय में असीम प्रेम तो है ही घोर करुणा भी है। सत्यधन की हृदय-हीनता पर वह बार-बार रो उठता है। कट्टो और विहारी के परिणय मे लेखक ने एक नवीन भावना, नूतन आदर्श चित्रित किया है। उनका मिलन शारीरिक नहीं, केवल आत्मिक है।

सत्यधन सामान्य शिक्षित युवको का वास्तविक प्रतिनिधि है। वह वकालत पास कर गाँव मे आया है और अपनी भावुकताजन्य आदर्शवादिता मे विधवा कट्टो से प्रेम करता है, और विवाह की भी, सुधारवादी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर, चर्चा करता है। किन्तु समय आने पर उसकी व्यवहार-बुद्धि जोर मारती है। माँ की अप्रसन्नता एव समाज की निन्दा का भय और साथ ही एक समृद्ध व्यक्ति का दामाद बनकर आर्थिक, सामाजिक स्थिति के सुधार का प्रलोभन उसे विहारी की बहिन गरिमा से विवाह करने को प्रेरित करते है और वह बेचारी कट्टो की मनोभावना की उपेक्षा करके गरिमा से व्याह कर लेता है। इस प्रकार उसके प्रेम की वास्तविक परख हो जाती है। वह खोटा सिद्ध होता है और कट्टो तथा विहारी खरे निकलते है।

इन छोटे से उपन्यास में लेखक ने घरेलू वातावरण का तथा कट्टो, गरिमा, सत्यधन आदि पात्रो का बडा सरस, सजीव चित्रण किया है। केवल विहारी और कट्टो के आत्मिक मिलन में थोडी रहस्यात्मकता आ गई है। विधवा-जीवन का यह समाधान न तो मानव-प्रवृत्ति के अनुकूल है और न व्यवहारसाध्य। हाँ,

इसमें 'पर' के लिए 'स्व' के बलिदान से लेखक अपने साहित्यिक आदर्श को चरितार्थ करने में अवश्य सफल हुआ है।

'परख' के सम्बन्ध में पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है—"उनके सबसे पहले उपन्यास 'परख' में सत्यधन और बिहारी की चारित्रिक विशेषताओं को बडी मृदुल तूलिका से अंकित किया गया है और वहाँ ये चरित्र अपनी स्वाभाविक मानवीय भूमिका पर आये हैं। इसलिए इस उपन्यास का प्रभाव असंदिग्ध है। इसमें नायिका द्वारा किया गया नायक का चुनाव भी अतिशय नैसर्गिक और विश्वासप्रद है। उपन्यास की प्रेम-भूमिका भी सहज स्पृहणीय है। इस उपन्यास के निर्माण में लेखक की स्वच्छ भावना अभिव्यक्त हुई है।"[1]

'परख' के उपरात जैनेंद्र तथा ऋषभचरण जैन की सम्मिलित कृति 'तपो-भूमि' के दर्शन हुए। अलग-अलग चार व्यक्तियों—नवीन, धरणी, सतीश तथा शशि ने अपनी-अपनी जीवन-कहानी कह कर इसे उपन्यास बना दिया है। नवीन और धरणी की कहानी परखकार की कहानी है जिसने पुस्तक के दो-तिहाई पृष्ठ घेर लिये है। यदि अपने 'भाई की आज्ञा मान कर' ऋषभचरण जैन ने सतीश की कहानी लिखकर पुस्तक पूरी न की होती तो भी वह अधूरी न रहती। जो कुछ जैनेंद्र ने लिखा है वह अपने आपमें पूर्ण है और उनकी भावनाओं तथा आदर्शों को पूरी-पूरी तरह व्यक्त कर सका है। परन्तु जिज्ञासु पाठकों के लिए कहानी बड़ी चीज होती है। इसलिए 'तपोभूमि' को पूरा करके ऋषभचरण जैन ने इस उद्देश्य की पूर्ति तो कर ही दी। उपन्यास के इन दोनों अगों में उतना ही अंतर है जितना जैनेंद्रकुमार और ऋषभचरण जैन में। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि ऋषभ-चरणजी अपनी कहानी कहने में सफल नहीं रहे। केवल इतना ही निवेदन है कि वे अपने को अपने 'भइया' में एकाकार नहीं रह सके। न जाने जैनेंद्रजी इस उपन्यास का अंत किस प्रकार करते, किंतु हमें तो ऋषभचरणजी द्वारा किया हुआ अंत कुछ अधिक भाया नहीं। अपनी-अपनी रुचि।

'परख' की भाँति आत्म-विश्लेषण और आत्म-निवेदन ही 'तपोभूमि' की भी कसौटी है। नवीन, धरणी, शशि तीनों में 'पर' के लिए 'स्व' का बलिदान ही अधिक लक्षित होता है। नवीन बचपन के दिनों से ही शशि को अपने हृदय के स्तर-स्तर से प्यार करता था, परन्तु जिस समय शशि के साथ अभिन्न-जीवन होने की कल्पना चुटकियाँ ले रही थी, परिणय का द्वार उन्मुक्त था, उसी समय उसको कर्तव्य का आवाहन मिला। उसने देखा 'धरणी' उसके बालबन्धु 'सतीश' की भगिनी, स्वयं उसकी बाल-सहेली, विधवा 'धरणी' को चीरफाड डालने के लिए

१— नया साहित्य : नये प्रश्न।

समाज का दानव अपने नख-दंत की समस्त भीषणता लेकर खड़ा है। और यह धरणी भी विचित्र है, महान् है। उसने भूल की, पामर पुरुष के प्रलोभनों को समझ न सकी, यौवन के दुर्दम्य आग्रह को झेल न सकी। उसने पाप किया, उससे पाप कराया गया। और प्राकृतिक प्रेरणा से जब यह पाप अपने परिणाम का विस्तार करने लगा तो भीरु पुरुष अपने ही बनाए हुए नियमों की भीषणता से सिहर उठा। हम स्वार्थ के कीड़े, पाप पर पाप लादकर हृदय की पवित्रता की आवाज को दबा देना चाहते हैं। विवाह के दामन में जो चाहे कुकर्म किये जायँ, सब क्षम्य। पर प्राकृतिक प्रेरणा की तनिक भी दुर्दम्य स्वीकृति बर्दाश्त नहीं। उसे हम पाप से धोना चाहते हैं। परन्तु मातृवेदनासंयुक्त धरणी ने पुरुष के इस पाप-प्रस्ताव को स्वीकार न किया। पाप को पाप से छिपाकर उसकी भीषणता को और भी बढ़ाकर समाज में सुर्ख रुई लूटने से उसने साफ़ नकार दिया। समाज के अहं पर एक अबला के द्वारा यह भयंकर चोट थी। समाज ने किटकिटा कर कहा 'या करो, या मरो', तुम्हारे लिए तीसरा रास्ता नहीं। 'धरणी' ने मृत्यु को ही वरण किया। आत्म-प्रवंचना उसे स्वीकार न हुई। अंत:प्रेरणा और मानसिक संघर्ष में पड़े हुए अपने देवता 'नवीन' के देखते-देखते वह छम्म से गंगा में विसर्जित हो गई। 'नवीन' का वितर्क शिथिल पड़ा, अंतस् का वेग उमड़ चला, अपने हृदय की चिरसंचित लालसाओं को—'शशि' के पाने की कामना को—उत्सर्ग करके, व्यक्ति को पैरों से कुचलता हुआ वह बढ़ चला 'धरणी' के उद्धार के लिए, समाज के प्रायश्चित्त के लिए। और उसने पाया 'धरणी' को इलाहाबाद की प्रसिद्ध वारविलासिनी के रूप में। वह सिहर उठा, आँखें मींच लीं, पागल हो गया। परन्तु पास जाने पर उसने देखा चारों ओर पाप से घिरे रहने पर भी वह ऐसे ही निर्लिप्त है जैसे जल पर कमल-पत्र। पानी में रहते हुए कमल की तरह पानी में तैरते रहना ही तो महत्ता का लक्षण है? पाप-पंक में से खिलकर फूट निकलना ही तो पुण्यश्लोक महात्माओं की विशेषता है। और फिर, इस पाप-पंकिल-पद्म-पीठ में अपनी सब कामनाओं को चढ़ाकर 'नवीन' समाज के गुरु दायित्व को अपने कंधों पर झेल लेता है। 'शशि' की याद आती है, बुलाती है, दिल कहता है 'जाओ ही', परन्तु उस दिल को दबाकर उस याद को भुलाकर वह अटल-अचल खड़ा रहता है। 'धरणी' का 'शशि' के पास जाने के लिए अनुरोध सुनकर वह कहता है—"मैं व्यक्तिगत कर्तव्य को जानता हूँ। वह मेरे हृदय की लालसाओं से सना हुआ है। मैं उससे डरता हूँ क्योंकि वहाँ मुझे अपने हृदय की भूख की तृप्ति दिखाई पड़ती है। समाज के जिस गुरु प्रायश्चित्त को मैं सम्पन्न करने की चेष्टा कर रहा हूँ वह इन लालसाओं से अछूता है। मैं उससे

आह्वान करता हूँ—क्योंकि वह मेरी भूख को और धधकाता है, शात नहीं करता। यह समष्टि के लिए व्यक्ति का समर्पण ही जैनेंद्र के उपन्यासों का रहस्य है। 'तपोभूमि' की 'शशि' भी इसी उत्सर्ग की उज्ज्वल कहानी है। वह कितनी कोमल, कितनी सहनशील है! वह सब तरह का अत्याचार और सब तरह की वेदना को दिल की तह में छिपाए रह सकती है। 'नवीन' को भूलना उसके वश की बात नहीं। फिर भी कर्तव्य तो करना ही होगा। इसीलिए भीतर रोती हुई भी बाहर हँसती है। जिसे ससार ने, समाज ने, धर्म ने पति कहकर उसके ऊपर बिठा दिया उसका मान तो रखना ही होगा। 'सतीश' तथा 'शशि' का संयोग केवल लौकिक था, आत्मिक नहीं। फिर भी इस लौकिक अत्याचार को, इस सामाजिक कर्तव्य को उसने बड़े ही मूक भाव से ग्रहण किया। यह आत्म-निवेदन ही उसे अलौकिक बना देता है। 'सतीश' के द्वारा 'नवीन' की हत्या के उपरात जब हम उसे देखते हैं तो अकस्मात् रोना आ जाता है। एक उज्ज्वल स्वर्गीय तारिका मानों पार्थिव धूल में बिखरकर खो गई हो।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में सुनीता का एक विशेष स्थान है। कहानी का 'हरिप्रसन्न' एक राष्ट्रीय कार्यकर्ता है। वह अपने मित्र'श्रीकात' के यहाँ रहने लगता है। 'श्रीकात' उसके निरुद्देश्य बहते हुए जीवन-प्रवाह को अधिक सयमित देखना चाहता है। उसकी स्त्री 'सुनीता' 'हरि' को समझने का प्रयत्न करती है। 'हरिप्रसन्न' जिसका जीवन बड़े सकुचित दायरे में पला था, अपनी इस 'भाभी' की ओर आकर्षित होने लगता है और धीरे धीरे यह आकर्षण आसक्ति का रूप धारण करता जाता है। श्रीकात' 'सुनीता' के द्वारा 'हरि' को बाँधने के लिए, अधिक उपयोगी बनाने के लिए कुछ दिन दोनों को अकेले छोड जाता है। उसकी इस अनुपस्थिति में 'हरिप्रसन्न' 'सुनीता' को अपने क्रातिकारी दल की नेत्री बनाने का प्रस्ताव करता है। वह उसे 'एक नारी, चिरतन माता, एक देवी'—जहाँ से दलवाले स्फूति लें और जिसके समक्ष वे शपथ लेकर आगे बढें—के रूप मे देखना चाहता है। बहुत तर्क वितर्क के उपरात 'सुनीता' सहमत हो जाती है और 'दल' का सगठन देखने के लिए 'हरि' के साथ अकेली चली जाती है। 'हरि' की कामुकता भभक उठती है और वह 'सुनीता' को समूची पाना चाहता है। इस मोहमुग्ध पुरुष के सामने बिलकुल नग्न होकर 'सुनीता' उसके मोह को करुणा की तरलता में घुला देने का प्रयत्न करती है। 'हरि' का मोह टूटता है। 'सुनीता' को घर लौटाकर वह सदैव के लिए चला जाता है और 'सुनीता' जिसने पति के आदेश से ही आत्म-समर्पण किया था, पति के प्रेम में अपने को छिपा लेती है।

यह है 'सुनीता' की कहानी। वास्तव में इसमें कहानी का आकर्षण अत्यत नगण्य है। 'श्रीकांत', 'सुनीता' या 'हरिप्रसन्न' जैसे पात्र इन ससार में विरले ही होते हैं। 'हरिप्रसन्न' का चरित्र किन अवयवों से संघटित हुआ है यह भी पता नहीं चलता। उसमें हमें एक साथ ही शिल्पी, कलाकार, दार्शनिक तथा क्रांतिकारी की झलक मिलती है। परंतु वास्तव में वह क्या है, क्या होकर रहना चाहता है इसका पता अंत तक नहीं लगता। सारी पुस्तक समाप्त कर हम खोये हुए से अनुभव करते हैं कि 'हरिप्रसन्न' को हमने बिलकुल नहीं जाना। अपने चारों ओर उसने ऐसी भूलभुलैया का जाल बुन रखा है कि हम उसे सुलझा नहीं पाते। इसी तरह इस 'हरि' का मित्र श्रीकांत' भी विचित्र है। 'हरि' के लिए उसके हृदय में बड़ी ममता है। वह जानता है कि 'हरि' में प्रतिभा है, कला है, साहस है, सूझ है और इसीलिए वह चाहता है कि यह व्यक्ति भटकता न रहे, उद्भ्रांत न रहे, किसी प्रयोजन में नियोजित कर दिया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अपनी प्रिय पत्नी को ही साधन बनाता है। उसी के द्वारा 'हरि' को बाँधना चाहता है। 'श्रीकांत' की पत्नी 'सुनीता' भी असाधारण है, अलौकिक है! अपने विषय में हमें भुलावा देने में वह पटु है। वह 'चौका-बासन' करनेवाली भोली सुनीता कितनी रहस्यमयी है इसका अनुभव हमें पुस्तक के अन्तिम कुछ पृष्ठों में ही होता है।

इस तरह इस उपन्यास की घटनाएँ तथा पात्र सभी एक दृष्टि से असाधारण हैं। इनकी स्थिति व्यावहारिक जगत में न होकर कलाकार के कल्पना लोक में ही है किन्तु वे जैसे हैं, अपने आप में पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। कथानक का निर्माण अत्यन्त सूक्ष्म उपादानों से किया गया है और कहानी की अपेक्षा एक विशेष उद्देश्य के प्रकाश में चरित्र का अध्ययन ही इसका ध्येय है। इस उद्देश्य को जैनेन्द्र ने अपने 'विचार' में स्वयं स्पष्ट करने का प्रयास किया है। रवि बाबू के 'घर-बाहर' नामक उपन्यास से प्रेरणा लेकर एक अमूर्त्त समस्या को 'सुनीता' में मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न है। कवि रवीन्द्र ने 'घर (पति-पत्नी) में 'बाहर' का प्रवेश कराया है जिससे 'घर' विक्षुब्ध हो उठा है और यदि 'संदीप' (बाहर का प्रतीक) पलायन न कर जाता तो घर के टूट जाने की आशंका थी। किन्तु 'सुनीता उपन्यास में न तो 'घर' टूटा है और न 'बाहर' के प्रति उसे बन्द ही किया गया है। 'घर' (सुनीता श्रीकान्त) और 'बाहर' (हरिप्रसन्न) दोनों परस्परापेक्षाशील हैं। यह एक उच्च आदर्श है जिसे प्राप्त करने में लेखक सफल रहा है किन्तु 'श्रीकान्त' जैसे मनुष्य जो अपनी पत्नी के द्वारा दूसरे को बाँधने

का प्रयत्न करते हों ससार में विरले ही मिलेंगे। श्रीकान्त, सुनीता, हरिप्रसन्न तीनों ही के चित्रण में बडी सजग एव सतर्क कला है।

'कल्याणी' की नायिका श्रीमती असरानी डाक्टरनी है, उनके पति मिस्टर असरानी डाक्टर। किंतु गृहस्थी की आर्थिक गति श्रीमती असरानी के परिश्रम की ही अपेक्षा करती है। श्रीमती असरानी बुद्धिमती हैं, सहृदया है, उदार है और हैं अत्यधिक भावप्रवण। उन्होंने स्वतन्त्र जीवन का स्वाद लिया है और लगता है उसका मूल्य भी महँगा पडा है कितु अब वैवाहिक बधन में बँधकर वे उसकी मर्यादा मानकर चलने का प्रयत्न करती हैं। स्वामी तथा पत्नी के मनोभावो में पर्याप्त अंतर होने के कारण एक विषम समस्या अपने आप ही उठ खडी हुई है। डाक्टर असरानी में पुराने सस्कार बडी मजबूती से जड जमाए हुए है। पत्नी के प्रति वे बड़े सतर्क, बडे सदेहशील हैं। एक बार पत्नी पर दुश्चरित्रता का आरोप करके उन्होंने उन्हें बेतरह पीटा भी था। किन्तु कल्याणी उसे बडे ही मूक भाव से सहन कर ले गई थी क्योंकि वे अपने कर्तव्य से अवगत हैं। डाक्टर चाहते हैं कि उनकी पत्नी गृहिणी बने। कल्याणी को इसमें आपत्ति भी नहीं। किन्तु गृहिणी बनते ही आय पर आघात पडता है। यहीं पर समस्या उठ खडी होती है—शादी और डाक्टरी, पत्नीत्व और निजत्व ये परस्पर कैसे निभें? इन्हीं का परस्पर संघर्ष कल्याणी की कहानी है। निजत्व को बरबस दबाने के प्रयत्न ने कल्याणी को बडा ही दयनीय बना दिया है। जीवन के अत तक वे अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को पति की इच्छा पर निछावर करती रहीं। इस प्रयत्न में वे स्वय शून्य होती गईं और एक दिन असतोष की ज्वाला को हृदय में धधकाए हुए सदा के लिए अकस्मात् मूक हो गईं।

'त्यागपत्र' नामक उपन्यास के दो प्रधान पात्र हैं विनोद तथा उनकी बुआ मृणाल। वास्तव में विनोद तो केवल द्रष्टा एव कथाकार मात्र है। कहानी जो कुछ है बुआ की ही है। ये बुआ विनोद के माता-पिता द्वारा पाली गई थीं। अंग्रेजी स्कूल में पढते समय ही इन्हें अपनी सहेली के भाई से प्रेम हो गया था। इस भेद के प्रकट होते ही विनोद की माता ने मृणाल को निर्दयतापूर्वक पीटा भी और यथाशीघ्र एक वयस्क आदमी के साथ विवाह करके उसे पतिगृह में भेज दिया। अपनी सरलता में मृणाल एक दिन अपने प्रणयी के पत्र की चर्चा पति से कर देती है जिसके बाद पति का अत्याचार बढ जाता है और वह एक दिन पत्नी को घर से निकाल देता है। परिस्थितियो से बाध्य होकर मृणाल को एक साधारण कोयले के व्यापारी का आश्रय लेना पडता है और वह गर्भवती हो जाती है। कुछ दिनों बाद वह व्यापारी भी उसे छोडकर चला जाता है।

नौ महीने की होकर उसकी बच्ची भी मर जाती है। तदुपरांत संसार के कष्टों को प्रायः बीस वर्ष तक झेलती हुई वह इस दूषित जगत से छुटकारा पा जाती है। विनोद अपनी इस बुआ को प्राणों से भी अधिक प्यार करता था और उनसे जब भी मिला उसे पाप-पंक के ऊपर लहराते हुए कमल के रूप में ही पाया। बुआ के मृत्यु-समाचार का विनोद पर इतना असर पड़ा कि वह जजी से त्यागपत्र देकर दुनियाँ से विरक्त हो गया।

यह उपन्यास नारी की सामाजिक स्थिति, और उससे उद्भूत समस्याओं को ध्येय बनाकर चला है। बेचारी मृणाल जब तक मायके में रही भाभी द्वारा प्रपीड़ित रही। उसके सहज एवं स्वाभाविक प्रेम का तिरस्कार करके उसकी इच्छा के विपरीत उसका एक अधेड़ वय वाले व्यक्ति से विवाह हो जाता है जहाँ वह पूरी पतिनिष्ठा से जीवन-निर्वाह करना चाहती है। किन्तु पति द्वारा भी वह निकाल दी जाती है, मानो स्त्री का कोई अधिकार ही न हो। हिन्दू-समाज में स्त्री की जो नगण्य स्थिति होती है उसका बड़ा यथार्थ एवं करुण चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। मृणाल की सम्पूर्ण दुर्गति सामाजिक विषमता का परिणाम है। अपनी ओर से वह बिल्कुल निरीह-निरपराध है। किशोरावस्था के स्वाभाविक प्रेमाकर्षण को छोड़कर मृणाल के चरित्र में कहीं भी हल्की भावुकता अथवा यौन आसक्ति का संकेत नहीं मिलता। अपने जीवन-निर्वाह के लिए इतने अनासक्त भाव से वह एक के उपरान्त दूसरे पुरुष के आश्रय में जाती है कि उसके प्रति हमें तनिक भी घृणा नहीं हो पाती। इसके विपरीत वह हमारी सम्पूर्ण सम वेदना सहज ही प्राप्त कर लेती है। इसे जैनेन्द्र की कुशल लेखनी का चमत्कार ही समझना चाहिए। अपने चारों ओर के पापपंकिल वातावरण से अनासक्त मृणाल अपनी हीनतम स्थिति में भी महिमान्वित हो उठी है। जैनेन्द्र ने यहाँ पर नैतिकता को शारीरिक सम्बन्धों से ऊपर उठाकर उसे एक नवीन मानवीय मूल्य प्रदान किया है।

जहाँ तक लौकिक दृष्टि से हीन व्यक्ति को महत्ता प्रदान करने का, वेदना के आधिक्य से पाठक की सहानुभूति जाग्रत करने का प्रश्न है जैनेन्द्र इस उपन्यास में अत्यधिक सफल रहे हैं, किन्तु हमारी बुद्धि में इस उपन्यास को लेकर अनेक शंकाएँ उठ खड़ी होती हैं। हम अनायास सोचने लगते हैं कि इतनी बुद्धिमती होकर भी मृणाल इतनी निष्क्रिय क्यों है? एक कुलीन वंश की बालिका होकर भी उसका मन अपनी हीन परिस्थिति से विद्रोह क्यों नहीं करता? प्रमोद के आग्रह पर भी वह अपने नारकीय जीवन से बाहर क्यों नहीं आ जाती? जैनेन्द्र ने इन प्रश्नों का समाधान भी अपने ढंग पर देने का प्रयास किया है। उनके

अनुसार प्रश्न केवल मृणाल का ही नहीं है वरन् उस जैसी पीडित असख्य नारियों का है। मृणाल तो मानो प्रतीक है। जैनेन्द्र ने मृणाल के निरीह, निरपराध जीवन की वेदना का एक दार्शनिक समाधान भी दिया है—"पूछता हूँ, मानव के जीवन की गति क्या अन्धी है? वह अप्रतिरोध्य है, पर अन्धी है यह तो मैं नहीं मानूँगा। मानव चलता जाता है और बूँद-बूँद दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है। वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है। उसीके प्रकाश में मानव का गति-पथ उज्ज्वल होगा। नहीं तो चारों ओर गहन वन है, किसी ओर मार्ग सूझता नहीं है और मानव अपनी क्षुधा-तृषा, राग-द्वेष, मान-मोह में भटकता फिरता है। यहाँ जाता है, वहाँ जाता है। पर असल में वह कहीं भी नहीं जाता, एक ही जगह पर अपने ही जूए में बँधा हुआ कोल्हू के बैल की तरह चक्कर मारता रहता है।" इस दृष्टि से मानवात्मा को प्रकाशित करने का एक मात्र साधन वेदना ही है। परिस्थितियाँ मिथ्या हैं, भ्रम हैं। जीवन के प्रति अपने इस दृष्टिकोण को कला-माध्यम से अभिव्यक्त करने में जैनेन्द्र पूर्ण सफल रहे हैं।

पूरे बारह वर्षों के उपरान्त जैनेन्द्र का 'सुखदा' नामक उपन्यास निकला। यह आत्म-चरितात्मक है, जिसकी नायिका सुखदा ने स्वय अपनी कहानी लिखी है। वह बड़े आदमी की बेटी है और लाड-प्यार में पली है। विवाह के पूर्व उसने पति की आर्थिक स्थिति के विषय में ऊँची ऊँची कल्पनाएँ की थीं—सात-आठ सौ वेतन, मोटर, बँगला आदि—किन्तु अठारह वर्ष की अवस्था में जिन पति के साथ ब्याह कर आई उनका वेतन कुल था डेढ़ सौ रुपया, जिसका कुछ भाग गाँव में श्वसुर, जेठ, ननद आदि के लिए भेज दिया जाता था। पति ने इस परम रूपवती नारी को अपने हृदय का सम्पूर्ण स्नेह, आदर एव विश्वास निश्छल भाव से समर्पित कर दिया। वह आनन्दमग्न हो उठी। किन्तु धीरे-धीरे इस प्रेम और आदर को वह अनायास भाव से स्वीकार करने लगी। उसमें से फिर उसे कुछ रस नहीं मिलने लगा और तब अपनी स्थिति में तरह-तरह के अभाव नजर आने लगे। रूप का गर्व था ही, उस गर्व ने और पहलू लिये, योग्यता का गर्व भी मन में उठा। विवाह के कोई डेढ वर्ष बाद पहला बालक हुआ। अब वह गृहस्थिन ही थी फिर भी मन अतृप्त था। इस अतृप्ति की प्रतिक्रिया आचरण में प्रतिबिम्बित होती, बात-बात पर झल्ला उठती, रुपयों का बटुआ झन्न से स्वामी के सामने फेंक देती किन्तु स्वामी मूक भाव से सब सहन करते हुए स्नेह की वृष्टि ही करते रहे। कभी-कभी उसका मन किसी की ओर स्नेह-चचल भी हो उठता किन्तु पति का अडिग विश्वास कवच की भाँति उसे सुरक्षित

रखे रहा और इस प्रकार के सम्बन्धों को लेकर विषमता गृहस्थी में नहीं पैदा हुई।

वह जमाना राष्ट्र के लिए प्राणोद्बोधन का था। राष्ट्र-जागरण का नेता अपने में से मार्ग खोज रहा था—दाढी-कूच होने मे अभी समय था। युवक लोग अधीर थे, दस यहाँ, बीस वहाँ मिल कर कुछ न कुछ करने का प्रयत्न कर रहे थे जिसके परिणामस्वरूप क्रान्तिकारी दल सगठित हुआ। सुखदा भी अपनी भावुकता, महत्त्वाकाक्षा, पारिवारिक स्थिति से असन्तोष एवं अन्तर की उत्कट प्रेरणा से बाहर सार्वजनिक आन्दोलन की ओर आकृष्ट हुई। गृहस्थी का सयुक्त जीवन अनायास दुर्बल होने लगा। सुखदा के पति कान्त अपने काम में और अपने निज के मित्रों में अधिक रहने लगे और सुखदा का भी दायरा बना और फैला। वह क्रान्ति-सघ की उपाध्यक्षा बना दी गई। इधर पत्नीत्व का सस्कार-जन्य सकोच और उधर स्वतन्त्र अस्तित्व की अहकारजनित कामना इन दोनो के सघर्ष से सुखदा के अन्तर्मन मे विचित्र ग्रन्थियाँ पडने लगीं। अपने को अपराधिनी मानते हुए भी प्रायः पति के सामने आते ही उसकी खिजलाहट बढ जाती और वह उन्हें ही खरी-खोटी सुना उठती। क्रान्ति-दल का नेता हरीश हरीदा, कान्त के बचपन का साथी था और उसके चरित्र एव उद्देश्य के विषय में कान्त की बडी उच्च धारणा थी। अतएव सुखदा द्वारा अपनाए मार्ग को सही न मानकर भी उसने न तो विरोध किया और न उसके चरित्र के विषय में उसे सन्देह हुआ। बल्कि वह सुखदा की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने का भरसक प्रयास करता रहा।

इसी बीच एक अपूर्व-कल्पित एव नाटकीय परिस्थिति में सुखदा का परिचय दल के एक अन्य सदस्य लालसाहब से हुआ। अपने असाधारण व्यक्तित्व, परम निर्भीक, निःसकोच एव अनौपचारिक व्यवहार, देश और समाज की समस्याओं के सम्बन्ध मे यथार्थ दृष्टि, अलौकिक साहसिकता आदि गुणों के कारण लाल ने अनायास ही सुखदा को अपनी ओर आकर्षित किया और स्वय भी उसके प्रबल आकर्षण में खिंच आये। लाल की कार्य-प्रणाली एव उसके चरित्र पर दल के कुछ सदस्य असन्तुष्ट थे। उस पर आचरण-भ्रष्टता का अभियोग लगा कर उसे मृत्यु-दण्ड देने की योजना बनी। सुखदा के प्रति लाल की आसक्ति (यद्यपि वह अधिकतर मानसिक ही थी) से हरिदा भी दुखी थे किन्तु लाल के प्रति उनके मन में ममत्वपूर्ण पक्षपात था। अत्यधिक विचार-मन्थन के बाद उन्होंने दल को भंग करने की घोषणा कर दी। हरीश को पकडवाने के लिए ५०००) रु० का पुरस्कार सरकार की ओर से घोषित था। उन्होंने अपने बाल्य-बन्धु कान्त को अपने ओजस्वी तर्कों द्वारा अभिभूत कर इस बात के लिए बाध्य किया कि वह पुलिस

को उनकी सूचना देकर पकडवा दे और रुपया अवश्य ले ले। उनके आदेशानुसार कान्त को करते ही बना। घर आकर अत्यधिक परिताप में वह फूट-फूट कर रोया। हरिदा को छुडाने का प्रयत्न करता हुआ लाल प्रभात की गोली का शिकार बना। प्रभात दल का एक कट्टर अनुयायी बन गया था। वह लाल को चरित्रभ्रष्ट एव अनुशासनहीन समझता था और उसे भ्रम था कि लाल ने ही हरीश को पकडवाया। उस परिस्थिति में कान्त और सुखदा का साथ रहना दोनों के लिए किंचित् असमजसपूर्ण हो उठा। सुखदा माँ के घर चली गई। बाद में क्षयरोग से ग्रस्त होकर पहाड पर अस्पताल में पडी हुई ३५ वर्ष की इस युवती ने अपने ही हाथों अपने सोने जैसी गृहस्थी के उजड जाने पर पश्चात्ताप-सा करती हुई अपनी कहानी लिखी है।

इस कहानी में विश्वसनीयता लाने के लिए, यथार्थता का भ्रम उत्पन्न कराने के लिए लेखक ने प्रारम्भ में लिखा है—"सुखदा देवी हाल तक तो थी हीं। उनके परिचित और सम्बन्धी जन अनेक हैं। स्मृति उनकी ठडी नहीं हुई है। ऐसे में उनकी कथा को जीवित करना जोखम का काम है। लेकिन कहानी अत्यन्त निष्कपटता से लिखी गई है और अन्याय उसमें किसी के प्रति नहीं है। ·· कहानी के ये पृष्ठ जैसे-तैसे हाथ आये थे, अतः उत्तरार्ध हुआ तो उसे पाने में उद्यम लगेगा।" यदि जैनेन्द्रजी इस कहानी के उत्तरार्ध की उपलब्धि में सफल रहे तो सम्भव है इसका कोई दूसरा रूप सामने आए। किन्तु वर्त्तमान रूप में तो ऐसा लगता है मानो 'सुनीता' के लेखक का विश्वास डिग उठा है। 'सुनीता' की रचना 'घर' और 'बाहर' की शाश्वत रूप मे परस्परापेक्षा एव सम्मुखता के सिद्धान्त को स्वीकार करके हुई थी। 'सुखदा' मे लाल के रूप में बाहर के प्रवेश से 'घर विक्षुब्ध ही नहीं हो उठा है अन्त में टूट-सा गया है। वास्तव में यथार्थ की दुनिया मे यही अधिक सही है। इसी लिए 'सुनीता' की अपेक्षा 'सुखदा' अधिक विश्वसनीय, मानवोचित, सहज और स्वाभाविक है। हरिप्रसन्न के प्रति सुनीता के आकर्षण, उस मोहमुग्ध पुरुष के सामने नारी-शरीर को अनावृत कर देने की क्रिया आदि को एक आदर्शात्मक स्वरूप देकर वास्तविकता को झुठलाने का प्रयास किया गया है। किन्तु 'सुखदा' में लाल एव सुखदा के परस्पर तीव्र तथा परम मानवोचित प्रेमाकर्षण को मन.कल्पित आदर्शवाद से ढकने का प्रयास नहीं किया गया है। सासारिक दृष्टि से उस सम्बन्ध के—यद्यपि उसमें यान आसक्ति का कहीं सकेत नहीं है—अनौचित्य को सुखदा पूरी तरह स्वीकार करती है, "बच्चे हैं, स्वामी है, पर वे सब दूर है। उनकी याद करते डर होता है। किस मुँह से याद करूँ? उन्हें अपने ही हाथों मैंने हटाकर

दूर कर दिया है, अपने ही हाथो मैंने अपना अभाग्य बनाया है।" 'सुनीता' के श्रीकान्त के समान ही 'सुखदा' के कान्त भी पत्नी को अत्यधिक स्नेह करते है और उसमे अत्यधिक विश्वास रखकर चलते हैं। किन्तु कान्त अधिक सवेदनशील तथा मानव-भावनाओ से ओतप्रोत है। लाल और सुखदा के प्रेम को जानते हुए भी एक 'असह्य सहिष्णुता' की सामर्थ्य एव अपने अडिग स्नेह की शक्ति के कारण ही वह सुखदा की स्वतन्त्रता को सहन कर सका।

जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासो की भाँति 'सुखदा' भी शुद्ध चरित्र-प्रधान है। अतएव इसमे भी कथानक का, घटना-प्रसगों का आकर्षण कम है। पात्रों की बातचीत, विचार-तरग एवं मनोविकारों के वर्णन द्वारा उनके व्यक्तित्व की व्यजना एव चरित्र के चित्रण मे ही रजकता लाने का सफल प्रयास किया गया है। चरित्राकन मे अन्तर्भाव-व्यजना पर अधिक आग्रह है। पात्र प्रधानतया चार हैं—सुखदा, उसके पति कान्त, क्रान्तिकारी दल का नेता हरीश तथा दल का एक प्रमुख सदस्य लालसाहब। ये चारों ही वैयक्तिक विशेषताओं से सम्पन्न है और इन विशेषताओ की झलक दिखाने के लिये परिस्थितियों का निर्माण किया गया है। आत्मकथात्मक होने के कारण उपन्यास स्थान-स्थान पर प्रगाढ स्वानुभूति से सरस हो उठा है। आन्तरिक स्पर्शों से सिक्त होने के कारण संवादो में अनुपम प्रवाह एव दीप्ति है। घटना-चमत्कार से नितान्त रहित होकर भी उपन्यास मे पर्याप्त रमणीयता है।

कथानायिका सुखदा के चरित्र-वर्णन मे, उसके स्वभाव-संस्कारजन्य चित्तवृत्ति के विश्लेषण में, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के परिणामस्वरूप अकल्पित एवं असगत आचरण तथा कथन में मानव-स्वभाव-सम्बन्धी सूक्ष्म अ तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। सुखदा के जीवन की सम्पूर्ण विडम्बना यह है कि कान्त उसके पति है, स्वामी है किन्तु प्रिय नहीं है। कान्त को उसने इच्छानुसार वरण नहीं किया है वरन माता पिता द्वारा धर्म की साक्षी दिलाकर उसके साथ बाँध दी गई है। वह समर्पित है, अपने हृदय से नहीं दूसरो के द्वारा। पति-गृह में आकर उसके रंगीन स्वप्न छिन्न-भिन्न हो गए हैं। परिणामस्वरूप उसका अतृप्त, असन्तुष्ट मन आत्म-प्रदर्शन एव अह की अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढने लगता है। पति भी वह मिले जिन्होने मूक आत्म-समर्पण द्वारा उसे भटकने में बढ़ावा ही दिया। यदि कान्त सुखदा की मानसिक स्थिति के अनुसार थोडी व्यवहार-कुशलता से काम लेते तो सम्भव है उनके जीवन की धारा दूसरी होती। स्वभाव-सस्कार से ही नारी किंचित् अकुश की अपेक्षा रखती है। यदि सुखदा पर बाल-बच्चों की जिम्मेदारी आ पड़ती जिसमें उसके मन बहलाव का उपयुक्त

साधन मिलता तो वह इस प्रकार न भटकती। सुखदा का पति कान्त भी असाधारण है। सुखदा के प्रति उसके अटूट स्नेह ने उसे अद्भुत सहिष्णुता दे रखी है। अपनी आर्थिक स्थिति के कारण भी उसमें कुछ ग्रन्थियाँ पड गई हैं। और वह अपने को सुखदा जैसी नारी के उपयुक्त नहीं समझता। सम्भवतः यही कारण है कि वह सुखदा पर नियन्त्रण नहीं रख पाता और गृहस्थी का बन्धन शिथिल होता जाता। किन्तु कान्त दुनिया से अनभिज्ञ नहीं है। उसे अच्छे-बुरे का बोध है और मनुष्य की परख। वह मित्रता की मर्यादा को भी निभाना जानता है। हरि के प्रति आद्यन्त उसका आचरण बडा ही स्नेहपूर्ण रहा और जब हरि के ओजस्वी तर्कों से अभिभूत होकर उसने उसकी सूचना पुलिस को दे दी उस समय उसकी मनोवेदना को चित्रित करने में लेखक ने कुछ उठा नहीं रखा है। हरिदा और लाल के चित्रण में भी लेखक ने उनके मानवीय पक्ष को अधिकाधिक उभाडने का प्रयत्न किया है। हरिदा क्रान्तिकारी दल के नेता होते हुए भी स्नेह-सहानुभूति से इतने अधिक पूर्ण हैं कि दल के सम्पूर्ण सदस्यों के विरोधी हो जाने पर भी वह लाल को अपराधी नहीं मानते। लाल को बचाने के प्रयत्न में ही उन्होंने दल को भंग कर स्वयं को पुलिस के हवाले कर दिया। नैतिकता को अत्यधिक महत्व देते हुए भी उन्हें मानव की कमजोरियों के प्रति पर्याप्त सहानुभूति है। उनका व्यक्तित्व बडा ही सबल है और उसका अमिट प्रभाव पाठकों पर स्थायी रूप से पडता है। इसी प्रकार लाल के तेजस्वी, चरित्र के निर्माण में भी लेखक को खूब सफलता मिली है। वर्त्तमान लक्षणों को अधिकाधिक अपना बनाकर चलने वाला यह व्यक्ति देश के लिए मस्तक को हथेली पर लिये फिरता है। एक ऊँचे उद्देश्य के लिए गर्हित साधनों का उपयोग उसकी दृष्टि में वर्जित नहीं है। जान ले लेना और दे देना जिसके लिए खिलवाड सा है वह व्यक्ति भीतर से इतना कोमल है यह देख हम आश्चर्य चकित से रह जाते हैं। उसके व्यवहार की अनौपचारिकता, उसकी निर्भीकता, विषम परिस्थितियों में भी उसकी दृढता तथा स्नेह की गम्भीरता सब मिलकर उसके चरित्र को विशेष आकर्षण प्रदान करते हैं।

'सुखदा' उपन्यास के माध्यम से जैनेन्द्र जी ने क्रान्तिकारियों की दृष्टि, उनकी कार्य-प्रणाली, जीवन-रीति, सबलता-दुर्बलता आदि को भी चित्रित करने का अच्छा प्रयास किया है। चरित्र-शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास उत्कृष्ट है।

'विवर्त्त' में समस्या वही है जो 'सुनीता' में है और उसका समाधान भी कुछ-कुछ उसी प्रकार का है। भुवनमोहनी के पति नरेश भी श्रीकान्त के

समान वकील हैं। अन्तर इतना है कि वह अधिक आय-वाले एवं समृद्ध हैं। अपनी पत्नी भुवनमोहनी पर उनका श्रीकान्त के समान ही अटूट प्रेम एव विश्वास है और यही कारण है कि उसके असगत आचरणों पर भी उन्होंने कभी सन्देह नहीं किया। जितेन से प्रेम करती हुई भी भुवनमोहनी पत्नी-धर्म का पूरी-पूरी तरह निर्वाह करती है। इस उपन्यास में 'सुनीता' के विपरीत समस्या पर उतना आग्रह नहीं है जितना मनोग्रन्थि पर। अपनी प्रेमिका मोहिनी का दूसरे पुरुष से विवाह कर लेने पर नायक जितेन के मन मे वडी प्रबल ग्रन्थि पड जाती है और वह अपराध की राह पर चल पडता है। "अपराध उसका स्वभाव नहीं है। मानो कहीं दबाव है, ग्रन्थि है, विवर्त्त है जिसके कारण स्वभाव विभाव को अपना उठा है। विवर्त्त के अन्त में विभाव का शमन होता है और नायक जितेन के चित्त का यह परिष्कार कथा की भुवनमोहनी के असदिग्ध पर मर्यादाशील स्नेह के प्रभाव से ही निष्पन्न होता है।"[1] इस उपन्यास में भुवनमोहिनी, उसके पति नरेश तथा जितेन तीनों के चरित्र के कुछ विशेष पक्षों को बड़ी कलात्मकता के साथ उभारने का प्रयत्न किया गया है।

'व्यतीत' भी सुखदा' के समान आत्मचरितात्मक है। इसमे नायक जयन्त ने जो प्रेम में असफल होने पर जीवन से विरक्त होकर इधर-उधर भटकता रहा अपने व्यतीत जीवन की कहानी लिखी है। बी० ए० में उसकी पोजीशन आ गई थी। सबको निश्चय था कि वह सिविल सर्विस मे आयेगा किन्तु अपनी बाल सहेली अनिता के विवाहोपरान्त, पढने, प्रगति करने की सम्पूर्ण उमग ही मानो समाप्त हो गई और उसने सोचा कि क्या करूँगा सिविल सर्विस मे जाकर या कि एम० ए० करने से क्या हो जायगा। तब कविता मन में फूटी और कागज पर उतरी और नये नाम को ओढ़ कर वह जयन्त बना। अनिता जो उसे हृदय के स्तर-स्तर से प्यार करती थी अपने कारण उसके होनहार जीवन को व्यर्थ नहीं होने देना चाहती थी। वह एक सम्पन्न पति की पत्नी थी और पत्नी की मर्यादा का निर्वाह करते हुए भी अवसर निकाल कर जयन्त से मिलती रही और उसे आत्मघाती वैराग्य से विमुख करती रही। जयन्त के जीवन-क्रम में तीन अन्य लडकियाँ भी आईं जो उसे प्यार करती थीं किन्तु वे भी उसे अनुरक्ति के मार्ग पर ले जाने मे असमर्थ रहीं। चन्द्री से विवाह करके उसके साथ एकान्त जीवन बिता कर भी वह हिम शीतल बना रहा और उसका पुरुषत्व तनिक भी चंचल न हुआ। अन्त

---

१. विवर्त्त की भूमिका

में अनिता के सारे प्रयत्नों को विफल कर, चन्द्री की उपेक्षा कर वह कमीशन लेकर युद्ध मे चला जाता है। वहाँ उसे कैप्टन का पद मिलता है और जापानियो के विरुद्ध युद्ध में अत्यधिक शौर्य प्रदर्शित कर वह जख्मी होकर अस्पताल में पहुँचता है। समाचार-पत्रों मे इसकी सूचना पाकर चन्द्री और अनिता दोनो ही व्यग्र हो उठती हैं। जयन्त के बिना जताये ही चन्द्री उसकी सेवा-सुश्रुषा की व्यवस्था भो करती है किन्तु उसे सामने देखते ही जयन्त पुनः खीझ का अनुभव करता है। निराश चन्द्री उसे सदैव के लिए छोड जाती है और कुमार से विवाह कर लेती है। पुरी और अनिता भी आसाम के उस नगर में पहुँचते हैं और पुरी अनिता तथा जयन्त को दूसरे दिन प्लेन से आने के लिए सहेज कर आवश्यक कार्य होने के कारण उसी दिन लौट जाता है। उसके साथ जाने में जयन्त ने असमर्थता प्रकट की। इस पर अनिता एक बार आपे से वाहर होकर उन्मादिनी-सी हो उठी। शान्त होकर दूसरे दिन उसने कहा—'जयन्त रात की बात भूल जाना। मैं सुध में न थी। अब सुध में हूँ। कहती हूँ मैं यह सामने हूँ। मुझको तुम ले सकते हो। × × × जयन्त स्त्री देह को तुमने नही जाना है तो यह मैं हूँ। व्याहता हूँ, पति की भक्ति करती हूँ फिर भी हूँ। × × × × चन्द्री मूर्ख थी। शायद कामना ने उसे मूर्ख बनाया। मैं चन्द्री नही हूँ। कामना का दश भी मुझे इस समय नही है। इसीसे कहती हूँ अपने पुरुषत्व को चुरा कर तुम मुझसे जा नहीं सकोगे . . . . ।" जयन्त रात को अनिता को छोडने गया। स्टेशन पर उस समय वता दिया कि अब सब निश्चित हैं। उसे गैरिक वस्त्र ले लेना है। गाडी समय पर चली गई और उसकी इस इह-लीला में से अपने समय पर अनिता भी चली गई। तब से वह परिव्राजक बना घूमता-फिरता है और पैंतालीस वर्ष की अवस्था मे अपनी जीवन-कथा लिख कर जैसे अन्तिम रूप से गत जीवन को अलग उतार-सा दिया।

इस उपन्यास मे भी प्रेम को एक बहुत ही ऊँचे धरातल पर रख कर उसके निर्वाह का प्रयत्न किया गया है। पात्रो में अपना व्यक्तित्व तो है किन्तु अधिकाश परिस्थितियाँ मिथ्या हैं। नायक जितेन नितान्त निष्क्रिय एवं अव्यावहारिक पात्र होने के कारण हमारी सहानुभूति का अधिकारी नहीं बन पाता। अनेक अवसरों पर तो उसके पुरुषत्व पर भी सदेह होने लगता है। चन्द्री से विवाह हो जाने पर पाठक को आशा होती है कि अब वह सामान्य मनुष्य की भाँति व्यवहार कर सकेगा किन्तु जब परम सुन्दरी नव परिणीता युवती पत्नी के साथ अकेले अनेक दिनो तक काश्मीर की रोमानी घाटी मे रहने पर भी उसका पुरुषत्व-जाग्रत न हुआ और स्त्री की ओर से आमन्त्रित होने पर भी उसके तन की भूख न जगी

तो वह हमारे लिए किञ्चित् अप्राकृत एव अविश्वसनीय सा हो उठता है। अन्य स्त्री से प्रेम करते हुए भी शरीर-धर्मों का पालन किया जा सकता है। अनिता अधिक सयत, समझदार एव व्यवहारपटु है। उसने पत्नीत्व एवं सतीत्व दोनों की साथ-साथ रक्षा की। अनिता की मार्मिक वेदना को, जयन्त के साथ अन्तिम साक्षात्कार के अवसर पर, चित्रित करने में लेखक ने पर्याप्त कौशल का परिचय दिया है। उसके भीतर वर्षों की निरुद्ध वेदना मानो क्रोधावेश के रूप में यका-यक फूट पडी है—"बोलो जयन्त ! बस आज का दिन है और वह खुद दे गए हैं, फिर कुछ मेरे पास नहीं बचेगा ' मैं तुमसे पूछती हूँ स्त्री डायन है ? खा जायेगी ? लूट लेगी ? भ्रष्ट कर डालेगी ? ' चन्द्री मुझे मिली थी। वह रोती थी।...मैं पूछती हूँ तुम क्या चाहते हो ?" कहते-कहते आवेश में वह उठ आई। कन्धे के पास बाहो से पकड कर झकझोरते हुए बोली, "निर्दयी, राक्षस, तुम क्या चाहते हो 'कोई अनिता नहीं है। तुम नहीं चाहते अनिता को। तुम पापिष्ठा को चाहते हो। तुम अधम, पापी, राक्षस।" इसके उपरान्त विक्षिप्त की भाँति जयन्त को नोचना, खसोटना, काटना आदि व्यवहार उसकी मर्मान्तक पीड़ा को जैसे प्रत्यक्ष कर देते हैं। यह अनिता जैनेन्द्र के अन्य नारी-पात्रों की कोटि में ही है।

जैनेन्द्र की कतिपय विशेषताएँ :

जैनेन्द्र की कला का क्षेत्र परिमित है। उन्होंने व्यापक जीवनानुभूतियों के विस्तृत वर्णन की अपेक्षा कतिपय वैयक्तिक समस्याओं एव जीवन स्थितियो के चित्रण को ही अपनी कला का ध्येय बनाया। सम्भवतः यही कारण है कि उनके अधिकाश उपन्यास लघुकाय हैं जो घटना-बहुल न होकर समवेदना-प्रधान हैं। उन्होंने शिक्षित एव सुसस्कृत मध्यम वर्ग की विशिष्ट प्रेम-समस्या को अतिरिक्त भावुकता एव आदर्शात्मकता से समन्वित करके चित्रित किया। उनके उपन्यासो में घटना का आकर्षण अत्यल्प है, विभिन्न उपन्यासों में कथा-वैविध्य भी नही है। 'सुनीता', 'सुखदा', 'विवर्त्त' और 'व्यतीत' की कथा-वस्तु प्रायः एक सी है। चारों उपन्यासो में पत्नीत्व तथा प्रेम (जिसे जैनेन्द्रजी ने सतीत्व नाम दिया है) के साथ-साथ निर्वाह का आग्रह है। इनमें तीन प्रमुख पात्र है—एक नारी और दो पुरुष। पुरुषो में एक प्रेमी है और एक पति। पति अत्यधिक स्नेहशील, सहानुभूतिशील, विश्वासी एव पत्नी की भावनाओ के अनुसार चलनेवाले हैं। अपनी पत्नी का परपुरुष से प्रेम-सम्बन्ध सामान्य व्यक्तियो के लिए असह्य एवं व्यथा का कारण होता है। किन्तु श्रीकान्त हरि को बाँधने के लिए सुनीता को बढावा देते है, अवसर देते है। कान्त भी लाल तथा सुखदा के परस्पर आकर्षण

को जानता हुआ भी अपने स्नेह में अडिग रहकर सुखदा की कल्याण-कामना में उसके मनोनुकूल ही आचरण करता है। नरेश भुवनमोहिनी के प्रेमी जितेन की पैरवी करते हैं, उसे पुलिस के चगुल से बचाने का प्रयास करते हैं और पुरी भी अनिता के प्रेमी जयन्त के लिए जहाँ-तहाँ चले जाते हैं और उसे परम आत्मीय मानते हैं। ये सभी पात्र एक प्रकार से निष्क्रिय द्रष्टा मात्र है और प्रेम तथा सहानुभूति के द्वारा हृदय-परिवर्त्तन के गान्धीवादी आदर्श को चरितार्थ से करते हैं। उनके अडिग स्नेह, सौजन्य, सहिष्णुता, विश्वास, अह-बलिदान आदि गुणों के कारण उनकी पत्नियों की स्थिति बडी सघर्षमय एव व्यथामय हो उठती है। एक ओर तो देव-स्वरूप पति के प्रति स्वयप्रेरित, संस्कारजन्य भक्ति एव कर्तव्यनिष्ठा की प्रबल भावना और दूसरी ओर प्रेम का आकर्षण। इस द्वैत का सघर्ष ही जैनेन्द्र के उपन्यासों को नाटकीय आकर्षण प्रदान करता है। नायिका का जीवन प्रेम और पत्नीत्व के बीच बडा ही दयनीय एव व्यथामय हो उठता है। एक ओर तो वह देखती है कि उसके कारण एक व्यक्ति (प्रेमी) का जीवन व्यर्थ हुआ जा रहा है और दूसरी ओर नितान्त आज्ञानुवर्ती निरीह पति के प्रति दुराव एव अन्तर के भार से वह दबी-सी रहती है। इस विषम परिस्थिति में उसका जीवन बडा ही वेदनापूर्ण हो उठता है। सघर्षरत उसके मन की यह व्यथा ही कथा को एक विशेष मोहकता प्रदान करती है। तीसरा पात्र जो प्रेमी है वह 'सुनीता', 'सुखदा' तथा 'विवर्त्त' में विद्रोही, उच्छृ खल एव निर्बन्ध है। जीवनोद्देश्य के विषय में उसे स्वयं पता नहीं। बुद्धि की प्रखरता, अल्हडन, जीवन के प्रति निरपेक्षता आदि उसके गुण हैं। व्यतीत का जयन्त क्रान्तिकारी नहीं है। किन्तु उसमें भी उपर्युक्त गुण हैं। इन चारो प्रेमियो में किंचित् व्यक्तिगत विभिन्नता भी है। 'सुनीता' तथा 'सुखदा' के 'हरिप्रसन्न' एव 'लाल' विवाहोपरान्त कथा-नायिकाओं के जीवन में आए हैं। हरिप्रसन्न पति की ओर से आमन्त्रित है, लाल अनामन्त्रित। 'विवर्त्त' और 'व्यतीत' के प्रेमी बचपन के साथी हैं। अपनी प्रेमिका को खोकर ये दोनों ही भटकते रहे है। इन्ही तीन पात्रो के मानसिक उतार-चढ़ाव एव आचरणों से कथा का विकास होता है। मानसिक प्रतिक्रिया की विवृति ही कुतूहल का आधार बनती है। 'परख' और 'तपोभूमि' की कथावस्तु मे भी यही त्रिकोण सघर्ष है। 'कल्याणी' की समस्या पत्नीत्व एव सतीत्व की नहीं बल्कि पत्नीत्व एव निजत्व की है। वहाँ सघर्ष केवल पति-पत्नी के बीच है। 'त्यागपत्र' की मृणाल सामाजिक विकृति का शिकार है और उसके अन्तर्द्वन्द्व से कथा अग्रसर होती है। इन सभी उपन्यासो में प्रासगिक घटनाओं तथा पात्रो के अभाव में कथा बडी सुगठित एव सुनियोजित सी लगती है।

प्रायः सभी उपन्यास नायिका-प्रधान हैं और आकर्षण का प्रधान केन्द्र नायिका ही रहती है।

थोड़े से पात्रों का चरित्र-अध्ययन ही जैनेन्द्र की कला का लक्ष्य है। ये पात्र जीवन की विस्तृत भूमिका में नहीं स्थापित किये गये हैं। उनका संसार अत्यधिक सकीर्ण है और उनके मनःसञ्चरण की भूमि भी नितान्त परिमित है। चरित्र-वर्णन में मनोविश्लेषण की ओर हिन्दी में सर्वप्रथम जैनेन्द्र ही अग्रसर हुए किन्तु इनका टेकनिक आधुनिक मनोवैज्ञानिक-सा नहीं है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार व्यक्तियों का मनोविश्लेषण उसी प्रकार करता है जिस प्रकार वैज्ञानिक किसी वस्तु का। वह मनोविज्ञान को वस्तुगत पदार्थ मानता है। किन्तु जैनेन्द्र के पात्र अधिकाधिक व्यक्तिमुखी है। इन्हें हम आत्मलीन पात्र कह सकते हैं जिनकी समस्याएँ, जिनके हृदय का संघर्ष उनकी अत्यधिक सवेदनात्मकता के परिणाम हैं। ऐसा लगता है मानो लेखक ने अपने कल्पना-लोक मे कतिपय पात्रों की सृष्टि कर रखी है जो उसे अत्यधिक प्रिय हैं। इन्हें स्वरूप देने के लिए विभिन्न स्थितियों का निर्माण करके और उनमें उन्हें रखकर उनके चरित्र के उन विशेष पक्षों को प्रकाशित करने का प्रयास किया गया है। त्याग, कष्टसहिष्णुता, विरक्ति के साथ-साथ सामाजिक नैतिकता के प्रति विद्रोह की भावना इनके पात्रो की विशेषता है। ऐसा लगता है जैसे ये पात्र चिर अतृप्त हैं और यह अतृप्ति अधिकतर मानसिक है। उनके व्यवहारों में किंचित् असाधारणता है। सामान्य ससारी की भाँति बहुधा उनके आचरण नही हैं। विहारी और कट्टो का आत्मिक विवाह, श्रीकान्त का पत्नी के द्वारा मित्र को बाँधने का प्रयत्न, मृणाल का अपने भतीजे के ऊँचे पद पर पहुँच जाने के बाद भी नर्क मे पड़े रहने की वैराग्य-वृत्ति, सुखदा के पति कान्त की सहिष्णुता, गृहिणी धर्म को जानते हुए भी प्रेमी जितेन के लिए भुवनमोहिनी के प्रयत्न तथा जितेन का आचरण एव नरेश का व्यवहार, एकान्त में रूपवती युवती पत्नी के साथ रह कर भी जयन्त का आत्म-निग्रह आदि साधारण मानवीय व्यवहार से किंचित् भिन्न है। पुरुष-पात्रों मे पति एक प्रकार से निष्क्रिय पात्र हैं, जो पत्नी के मनोनुकूल आचरण करते चले जाते है, जैसे उनका कोई व्यक्तित्व ही न हो और वे नारी के हाथों की कठपुतली मात्र हों। यह नितान्त नकारात्मकता इन्हें अत्यधिक प्रभावहीन, पुसत्वहीन-सा बना देती है। इसके विपरीत इनके प्रतिद्वन्द्वी जो प्रेमी हैं वे अपेक्षाकृत सक्रिय हैं। अतृप्त वासना से उनके मन कुंठाग्रस्त है और बाहर से आदर्शप्रेमी तथा देश-सेवक आदि प्रतीत होने पर भी उनकी आन्तरिक दुर्बलता उनको ग्रसे रहती है और सर्वसमर्थ होने पर भी वे व्यर्थता के प्रतीक बन कर रह जाते हैं। जैनेन्द्र

के उपन्यासों का प्रधान आकर्षण-केन्द्र उनकी नारी है। इनके चरित्र का निर्वाह अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक है। सामाजिक विधान से एक व्यक्ति की पत्नी बनाई जाकर सस्कारवश वह गृहिणी धर्म की मर्यादा का पूर्णरूपेण पालन करती हुई भी पति को भक्ति ही दे पाती है प्रेम नहीं। पति की अत्यधिक नकारात्मकता, पुरुषत्व की दीप्ति की कमी एव निराग्रही वृत्ति ही इसके लिए उत्तरदायी हैं। उसका स्वाभाविक आकर्षण ऐसे व्यक्ति की ओर हो जाता है जिसमें अधिक तेज, पुसत्व, प्रखरता आदि गुण हैं। नारी के इस भावद्वन्द्व के कारण उसका व्यक्तित्व किंचित् रहस्यमय हो उठता है। अत्यधिक पीडा, वेदना एवं मानसिक संघर्ष के बीच भी सासारिक कर्तव्य तथा हार्दिक प्रेम का निर्वाह करती हुई यह नारी सहज ही पाठक की करुणा प्राप्त कर लेती है। वास्तव में जैनेन्द्र के नारी पात्र बड़े ही प्रभावपूर्ण एव स्मृति में बहुत दिनों तक सजीव रहनेवाले हैं। कट्टो, सुनीता, कल्याणी, मृणाल, सुखदा, मोहिनी तथा अनिता बाहर से जो भी लगें किन्तु उनके अन्तरतर में जब हम प्रवेश करते है तो वहाँ एक ज्वाला-सी जलती हुई पाते हैं। यह ऐसी ज्वाला है जो अपने को जलाकर दूसरों को शीतल रखने का प्रयास करती है। सामाजिक एव परिस्थितिजन्य विषमता को मूक भाव से सहन करती हुई ये स्त्रियाँ स्वय शून्य होती हुई चली जाती है।

जैनेन्द्र ने अपने युग की व्यापक सामाजिक समस्याओं के चित्रण का प्रयास नहीं किया यह कहा जा चुका है। उन्होंने समाज के जिस अंग को लिया है उसका क्षेत्र परिमित है। किन्तु युगीन सामाजिक स्थितियों के विषय में उनकी धारणा निर्भ्रान्त रूप में व्यक्त हुई है। जैनेन्द्र सामाजिक व्यवस्था की विषमता को स्वीकार करते हैं और इनके अधिकाश नारी-पात्र उस विषमता के शिकार रहे हैं। 'परख' की कट्टो, 'तपोभूमि' की धरणी, 'कल्याणी' की श्रीमती असरानी, 'त्याग-पत्र' की मृणाल तो प्रत्यक्ष रूप से पीडित नारी का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये चारों ही नारियाँ एक प्रकार से समस्या-स्वरूप उपस्थित की गई हैं। 'कट्टो' युवती विधवा है और विधवा होने के कारण ही उसका प्रेमी उससे विवाह नहीं करता, धरणी विवाह के पूर्व ही गर्भवती होती है, श्रीमती असरानी डाक्टरनी होते हुए भी पति द्वारा निरन्तर उत्पीडित है और मृणाल अनमेल विवाह से उद्भूत सदेह एव अत्याचार का शिकार बनकर नारकीय यातना भोगती रहीं। जैनेन्द्र ने नारी की इन विविध समस्याओं का प्रेमचन्द की भाँति आदर्शवादी समाधान देने का प्रयास नहीं किया है। समस्या ज्यों की त्यों बनी है। जैनेन्द्र ने एक दूसरा ही आदर्श रखा है। वह आदर्श है मूक भाव से अत्याचार अन्याय को सहते हुए आत्म-बलिदान का। इन चारों स्त्रियों की पीडाएँ-यातनाएँ सामाजिक

विषमता का परिणाम हैं किन्तु इनके मन में समाज के प्रति कटुता नहीं है। वे समाज को तोडना नहीं चाहतीं। मृणाल कहती है—"मैं समाज को तोडना-फोडना नहीं चाहती। समाज टूटा कि फिर हम किसके भीतर बनेंगे ? या किसके भीतर बिगड़ेंगे ? इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकाक्षा में स्वयं ही टूटती रहूँ।" यह परम अहिंसक वृत्ति जैनेन्द्र के नारी-पात्रों की विशेषता है। अपनी ओर से नितान्त निरपराध होने पर भी उपर्युक्त नारियाँ वेदना-विकलता में आजीवन घुलती रहीं। यही कारण है कि पाठक की सम्पूर्ण सम्वेदना इन्हें सहज ही प्राप्त हो जाती है। जैनेन्द्र की नायिकाओं के दूसरे वर्ग में सुनीता, सुखदा, भुवनमोहिनी तथा अनिता आती हैं। सुनीता और सुखदा पत्नी होते हुए भी प्रच्छन्न रूप से पर पुरुष के प्रति आकृष्ट होती हैं। मोहिनी तथा अनिता अपने बचपन के साथियों—या प्रेमियों—से न ब्याही जाकर अन्य पुरुष से ब्याही जाती हैं। पति की ओर से परम सन्तुष्ट इन नायिकाओं में प्रेम की पीडा उतनी नहीं है जितनी प्रेमी के लिए पीड़ा। साधारण जीवन में तो विवाह के उपरान्त अपनी सुखमय गृहस्थी में अधिकाश स्त्रियाँ पहले के प्रेमियों को भूल ही नहीं जातीं बल्कि यह कामना करती हैं कि उनका प्रेमी उनके मार्ग में आवे ही नहीं। अथवा जहाँ प्रेम का वेग अति तीव्र रहा वहाँ पति-पत्नी के बीच दरार पड जाती है और जीवन कटकाकीर्ण हो उठता है। किन्तु जैनेन्द्र ने एक असाधारण ही स्थिति रखी है। यहाँ पत्नी-धर्म का निर्वाह करते हुए प्रेम के निर्वाह का प्रयास है। यह मनःकल्पित आदर्श जैनेन्द्र के अपने मानववाद तथा अद्वैत प्रेम-दर्शन का परिणाम है। तात्पर्य यह है कि समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए भी लेखक ने मनस्तर्क से उद्भूत एक नवीन आदर्श समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

जैनेन्द्र एक बड़े सजग एवं सतर्क कलाकार हैं और मानव-मन में उनकी गम्भीर पैठ है। उनके जीवन-दर्शन के मूल में भेद के भीतर अभेद का शाश्वत भारतीय भाव है। साथ ही गान्धी की अहिंसा या मानव-प्रेम से भी उन्होंने प्रेरणा ली है और निजत्व से ऊपर उठकर अन्य के लिए सर्वस्व समर्पण के आदर्श पर ही उनकी सम्पूर्ण कृतियाँ निर्मित हैं। अपने सूक्ष्म जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति में उन्होंने सूक्ष्म उपादानों का सहारा भी लिया है। उनके सवादो में, उनकी चरित्र-रेखाओं में, उनके वातावरण निर्माण में स्थूलता का नितान्त अभाव है। पात्रों और उनकी मनोदशाओ के वर्णन मे अत्यधिक मार्मिकता है। भाव-तरगों का इतना गम्भीर चित्रण जैनेन्द्र के पहले हमें नहीं मिलता। प्रेमचन्द की दृष्टि बहिर्मुखी थी, जैनेन्द्र प्रथम बार अन्तर्मुख चित्रण की कला को लेकर सामने

आये। प्रेमचन्द में व्यापकता है, विस्तार है। उन्होंने अपने युग की बाह्य परिस्थितियों का बडा ही सजीव एवं विश्वसनीय वर्णन किया। जैनेन्द्र ने वैयक्तिक समस्या एव व्यक्ति-जीवन को लेकर विशेष स्थितियों की उद्भावना की तथा उन स्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गति का अकन किया। परिमित वस्तु-सीमा के भीतर उन्होंने पात्रो के मनोद्वेगों का इस रूप मे वर्णन किया है कि वे पात्र हमारे ऊपर स्थाई प्रभाव छोड जाते है। इनके उपन्यासों में प्रेमचन्द की अपेक्षा रमणीयता अधिक है। इस रमणीयता को लाने में पात्र, प्रसंग एव सवाद तीनों ही का योग है। कहानी में प्रभावान्विति का अभाव कहीं नहीं खटकता। कथा बडी ही सुगठित, सुनियोजित एव प्रभावोत्पादक होती है। सवादों की भाषा में एक विचित्र भगिमा है। यह भगिमा कुछ तो शब्द चयन पर निर्भर है और कुछ उनकी ध्वन्यात्मकता पर। एक शब्द भी व्यर्थ नहीं होता और सबका सम्मिलित प्रभाव विशेष आकर्षण का हेतु बन जाता है। पारिवारिक एवं प्रेम-प्रसंगों के यथार्थ चित्रण में इनकी भाषा बडी समर्थ रही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द की युग-सीमा में रहते हुए भी जैनेन्द्र ने एक नवीन मार्ग का प्रवर्त्तन किया। उनकी कृतियों का विशेष कलात्मक मूल्य है और अनेक दृष्टियों से जैनेन्द्रजी आज भी बेजोड हैं।

भगवतीचरण वर्मा (१९०३)

कविवर भगवती-चरण वर्मा ने भी अनेक उपन्यासो की रचना की है। इनका प्रथम उपन्यास 'पतन' (१९२७) ऐतिहासिक है जिसमें नवाब वाजिदअलीशाह की विलासिता का वर्णन है। यह उपन्यास अधिक प्रसिद्ध नहीं हो सका। सन् १९३४ में वर्मा जी का 'चित्रलेखा' नामक उपन्यास निकला जिसने हिंदी जगत में बडी प्रसिद्धि प्राप्त की तथा इसका सवाक् चित्र भी बन गया। लेखक के अनुसार इस उपन्यास मे एक समस्या है और है मानव-जीवन को तथा उसकी अच्छाइयों और बुराइयों को देखने का लेखक का निजी दृष्टिकोण। "पाप क्या है और उसका निवास कहाँ है?"—यही समस्या है। इसका हल पाने के लिये लेखक ने दो विरुद्ध प्रकृति के बड़े ही सबल पात्रो की अवतारणा की है। बीजगुप्त मूर्तिमान अनुराग है, कुमारगिरि विराग। एक भोग है दूसरा त्याग। "सयम कुमारगिरि का साधन है और स्वर्ग उसका लक्ष्य। किंतु आमोद-प्रमोद ही बीजगुप्त के जीवन का साधन है तथा लक्ष्य भी है।" इन्हीं दो पात्रो के जीवन मे लेखक ने अपनी समस्या का समाधान ढूँढा है। परिस्थितियों के आवर्त्त में कुमारगिरि का सयम-स्खलित होता है, उसका गर्व खर्व

होता है। इधर परिस्थितियो के प्रवाह में ही भोगी बीजगुप्त एक महान त्यागी बन जाता है। जगत इन दोनों पात्रों को दो दृष्टियो से देख सकता है। एक दृष्टि से "बीजगुप्त देवता हैं। ससार में वे त्याग की प्रतिमूर्ति हैं, उनका हृदय विशाल है। और कुमारगिरि पशु है। वह अपने लिए जीवित है, ससार में उसका जीवन व्यर्थ है। वह जीवन के नियमों के प्रतिकूल चल रहा है, अपने सुख के लिए उसने ससार की बाधाओ से मुख मोड लिया है।" दूसरी दृष्टि से "योगी कुमारगिरि अजित है। उन्होंने ममत्व को वशीभूत कर लिया है, वह ससार से बहुत ऊपर उठ चुके है। उनकी साधना, उनका ज्ञान और उनकी शक्ति पूर्ण है। और बीजगुप्त वासना का दास है—उसका जीवन ससार के भोग-विलास में है। वह पापी है—पापमय ससार का वह एक मुख्य भाग है।" इन दोनों दृष्टियो से ऊपर उठकर लेखक अपनी दृष्टि से महाप्रभु रत्नाम्बर के द्वारा पाप-पुण्य की समस्या का समाधान करता है—"ससार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है × × × × × × जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है, और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नही है वह परिस्थितियो का दास है—विवश है। वह कर्त्ता नही है केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा ? × × × × × ससार में इसीलिए पाप की एक परिभाषा नहीं हो सकी—और न हो सकती है। हम न पाप करते है और न पुण्य करते हैं हम केवल वही करते है जो हमें करना पडता है।"

किंतु यह तो समस्या का केवल एक पक्ष हुआ उसका समाधान नहीं। इसमे तो व्यक्ति के आत्मपक्ष की पूर्णतया अवहेलना है और है अकर्मण्यता एव नैराश्य का परोक्ष आह्वान। व्यक्ति की सीमा को स्वीकार करते हुए भी हम उसकी कर्म-स्वतन्त्रता को पूर्णतया नकार नही सकते। हम मानते है कि जो कुछ मनुष्य करता है वह उसके स्वभाव के पूर्णतया अनुकूल होता है और स्वभाव पूर्वनिश्चित है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर कृष्ण ने कहा था—

"स्वभावजेन कौन्तेय, निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् (गीता अ० १८)।

अर्थात् 'हे अर्जुन, जिस कर्म को तू मोह से नहीं करना चाहता है उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा।" किन्तु उसी गीता में इस यन्त्रवत् परिचालित इच्छाशक्ति के ऊपर आत्मशक्ति की सत्ता भी स्वीकार की गई है। स्वभाव के बन्धन से विमुक्त हुई आत्मा की अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी रहती है जो सदैव प्रकृति की अनुगामिनी ही नहीं कही जा

सकती। स्वभावज मोहविमुक्त आत्मा स्वपथ-निर्देशिका होती है। अतएव 'हम केवल वही करते हैं जो करना पडता है' में केवल आंशिक सत्य ही स्वीकार किया जा सकता है।

इस तथ्य की पूर्णता को स्वीकार करके ही लेखक ने पाप को मनुष्य की दृष्टिगत विषमता का परिणाम कहा है। अतएव इस कथन में भी एकांगिता का दोष आ गया है। पाप और पुण्य का ग्रहण भी दो भिन्न अर्थों में किया जा सकता है। साधारण अर्थ में सामाजिक सदाचार ही पुण्य और उसके विपरीत आचरण पाप है। सामाजिक व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए मानव ने अपने अनुभव से सुकर्म तथा कुकर्म का भेदभाव किया है। समाज द्वारा वर्जित एव हेय कर्मों की परिगणना ही पाप में की जाती है। समाज के इन आदेशों में विषमता भी है और अतिरञ्जना भी। सामाजिक दृष्टि से जो व्यक्ति पापी है वह दूसरी दृष्टि से देखने में महात्मा भी दिखलाई पड सकता है किन्तु पाप-पुण्य का वास्तविक अर्थ इससे ऊपर होना चाहिये। यदि पुण्य का अर्थ उन कर्मों से लिया जाय जो मनुष्य शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए करता है तो इसके अन्तर्गत वे ही कर्म आयेंगे जिनके द्वारा ब्रह्म, जगत एव मानव की एकात्मकता सजग एव सचेत हो अर्थात् जिनके द्वारा व्यक्ति-जीवन का लोकजीवन में लय हो। इसके विपरीत कर्म ही पुण्यरहित अथवा पापपूर्ण होंगे। यहाँ पाप शब्द नकारात्मक होगा।

आत्मतत्त्व की अवहेलना को छोडकर वास्तविकता की दृष्टि से श्री वर्मा का प्रयत्न बहुत ही ठीक-ठिकाने का, अनुभवजनित एव तर्कसगत है। अधिकाश देखने में यही आता है कि बेचारा मानव निरुपाय सा परिस्थितियों की लहरों में उठता-गिरता रहता है और कला इसी उठते-गिरते मानव का भावात्मक इतिहास है। मानव के इस भावात्मक इतिहास का वर्माजी ने पूर्ण सचाई के साथ चित्रण किया है। किसी हद तक 'चित्रलेखा' हिंदी में अपने ढग का प्रथम उपन्यास है। सस्कारों के बधन में जकड़ी हुई भावनाओं को नवीन दृष्टि से देखना, उनके वास्तविक मूल्य को परखना तथा विचार एव ज्ञान के प्रकाश में उनकी नवीन कलात्मक व्याख्या करना भी आज के कलाकार का एक कर्त्तव्य है।

'चित्रलेखा' स्पष्टत· सोद्देश्य है अतएव इसकी घटनाएँ एव उनकी सघटना एक पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार है। कथा का आरम्भ, उसका विकास एव अन्त सभी पहले से निश्चित करके ही लेखक ने लेखनी उठाई होगी। इस प्रकार के उपन्यासों में कृत्रिमता आ जाने की सम्भावना रहती है। जीवन की गति किसी निश्चित योजना पर अवलम्बित नहीं है। कुछ परिस्थितियो के बीच

अपने जन्मजात संस्कारों को लिये मनुष्य अवतरित होता है। इन परिस्थितियों का प्रभाव उसके स्वभाव पर पड़ता है और स्वभाव के अनुसार वह नवीन परिस्थितियों की उद्भावना करता है। इस प्रकार चरित्र और परिस्थिति के घात-प्रतिघात से ही जीवन की धारा प्रवाहित होती है और उसका अवसान भी अतर्कित एवं अनिश्चित ही होता है। आजकल साहित्य के क्षेत्र में भी अधिक से अधिक अनुकृति पर जोर देने के कारण घटना-चरित्र-सापेक्ष उपन्यासों की ओर अधिक झुकाव रहता है। यह यथार्थ के मोह का ही परिणाम कहा जा सकता है। 'चित्रलेखा' की सभी घटनाएँ पूर्वनिश्चित हैं सही, किन्तु कलाकार के कौशल ने उन्हें इस प्रकार नियोजित किया है कि उनमें यन्त्रवत शुष्कता अथवा कृत्रिमता नहीं आने पायी है। महाप्रभु रत्नाम्बर ने ही जैसे श्वेतांक एवं विशालदेव के द्वारा कथा को दो धाराओं में विभाजित कर दिया है। इन दोनों कथाओं के केन्द्र क्रमशः बीजगुप्त एवं कुमारगिरि हैं और दोनों का सम्बन्ध-सूत्र नर्तकी चित्रलेखा है। अतएव इन दोनों प्रधान पात्रों की कहानी चित्रलेखा के द्वारा दूध-पानी की तरह आपस में मिल गई है। यशोधरा की कहानी प्रासंगिक है, उसका मूल-समस्या के साथ घना सम्बन्ध है। उपन्यास में घटनाओं की बहुलता नहीं है। योगी कुमारगिरि का राजसभा में अपने आत्मबल के द्वारा सबको अभिभूत करनेवाली घटना को छोड़ सभी घटनाएँ ऐसी हैं जिन्हें बुद्धि स्वीकार करे। आत्मबल का वह चमत्कार भी असम्भव नहीं कहा जा सकता। कथा में एक धारा है जो पर्याप्त संयत है। यद्यपि घटनाएँ पूर्वनिश्चित हैं किन्तु उनका प्रवाह स्वाभाविक है।

सच बात तो यह है कि यह उपन्यास शुद्ध चरित्र-प्रधान है जिसमें कुछ चरित्रों की विचित्रता का ही दिग्दर्शन है। इस प्रकार के उपन्यासों में घटनाएँ उसी परिमाण में संघटित की जाती हैं जितनी चरित्र की विवृति के लिए आवश्यक हों। यह उपन्यास एक तरह से बीजगुप्त, योगी कुमारगिरि तथा चित्रलेखा के जीवन का इतिहास है। ये पात्र विकासमान नहीं हैं। अथ से इति तक वे एक तरह के ही हैं। परिस्थितियों का आघात उन्हें विचलित करता है जिसमें उनका व्यक्तित्व अस्थिर हो उठता है किंतु उनका मनोबल प्रबल है। चित्रलेखा के लिए योगी कुमारगिरि का स्खलन अथवा यशोधरा की ओर बीजगुप्त का आकर्षण उनके चरित्र के किसी नवीन पक्ष को अनावृत नहीं करता। ये स्खलन तथा आकर्षण भी शक्तिशाली व्यक्तित्व के ही अंग हैं। कुमारगिरि का चित्रलेखा के लिए मोह, उसके हृदय का द्वन्द्व, उसका स्खलन दिखला कर लेखक ने उसे अतिमानव होने से बचा लिया है। वह वही है जो उसे होना चाहिए। इस

अंधकार पक्ष को छोड उसके चरित्र का केवल एक ही पहलू है जो प्रकाश से पूर्ण है। किंतु कुमारगिरि की तपोपूत काया में अह की मात्रा थोडी न थी। उसके योग ने उसे शरीर पर विजय प्राप्त करना भले ही सिखाया हो किंतु वह सहिष्णुता और हृदय की उदारता उसे न मिली थी जिसके द्वारा वह विश्व के दोनों पक्षों को समभाव से देख सकता। उसका अहकार महाप्रभु रत्नाबर की अवहेलना करने से भी नहीं हिचका था। विशालदेव से वह कह उठा था—"भ्रम में पड़े हुए गुरु के शिष्यों में भ्रमों का होना स्वाभाविक है।"

कुमारगिरि की अपेक्षा बीजगुप्त में अधिक मानवता है और इसीलिए जिस तत्व की उपलब्धि कुमारगिरि को कठिन साधनों में न हो सकी थी वही बीजगुप्त ने हृदय की साधना से उपलब्ध कर लिया था। उसका हृदय इतना विशाल था, उसमें इतनी उदारता थी कि वैभव के रस में डूबे रहने पर भी कमल पत्र के समान वह अछूता था। जिस विलासिता में वह जीवन भर आकठ डूबा रहा समय आने पर उसे बिलकुल ही त्याग देने में उसे तनिक भी हिचकिचाहट न हुई। भोग करते हुए भी वह भोगों में बँधा नहीं है। वास्तव में मृत्युलोक ऐसे ही मनुष्यों की स्पृहा करता है।

चित्रलेखा का व्यक्तित्व भी बडा सबल है। नर्तकी होते हुए भी वह विदुषी है। जीवन के कठोर अनुभवों ने उसे ससार को परखने की सूक्ष्मदर्शिता दी है। वह पाटलीपुत्र के युवक-हृदयों की गति है किंतु ये युवक उसके समक्ष शिशु के समान हैं। गुप्तसाम्राज्य में उसका एक स्थान है और यदि वह कहीं झुक सकती है तो अपने से सबल व्यक्ति के सामने ही। बीजगुप्त की महत्ता को, उसके रूप एव गुणों को वह एक ही दिन मे परख लेती है और इसीलिए प्रार्थी बीजगुप्त के समक्ष वह स्वय प्रार्थिनी हो उठती है। फिर तो इन दोनों में दाम्पत्य-प्रेम सा हो जाता है और जीवन की धारा मृत्युलोक की समस्त मिठास लिए हुए बडे वेग से बह चलती है। पाटलीपुत्र जानता है कि नर्तकी चित्रलेखा बीजगुप्त की है और बीजगुप्त नर्तकी चित्रलेखा का। सामाजिक दृष्टि से इससे दोनों का आदर कुछ बढ ही गया। किंतु राजसभा मे जिस दिन चित्रलेखा ने कुमारगिरि को पराजित किया उस दिन दुनिया की दृष्टि मे विजयिनी होकर भी उसके हृदय ने हार स्वीकार की। कुमारगिरि के लिए उसका कुतूहल बढा और बीजगुप्त के सौजन्य, उदारता एवं आत्मसमर्पण की उपेक्षा सी करती हुई वह बढ़ चलती है योगी कुमारगिरि की ओर। योगी कुमारगिरि को उसने महिमा में अचल हिमालय की भाँति पाया और यद्यपि उसने 'प्रकाश पर लुब्ध पतिंगे को अध कार का प्रणाम' कह कर उसका उपहास करने का प्रयत्न किया फिर भी उसके

रूप का दर्प उस इंद्रियजित के आगे जैसे आहत-सा हो उठा। यह उस रूप-गर्विता के हृदय पर जैसे एक ठेस-सी थी। उसके रूप-वैभव की उपेक्षा कोई भी मनुष्य इस तरह कर सकेगा यह मानो चित्रलेखा की कल्पना से परे था। अतएव योगी कुमारगिरि को डिगाने की भावना के भीतर एक अभिमानिनी नारी की प्रतिहिंसा ही प्रबल थी। जैसे ही यह योगी महिमा के शृङ्ग से पतित हुआ वैसे ही नारी का समस्त आकर्षण एकाएक तिरोहित हो गया। उसने पाया कि मैंने उस योगी को ही नहीं गिराया वरन् अपने को भी गिरा लिया। इस अनुभूति ने उसे अपनी ही दृष्टि मे अपने को तुच्छ एव दयनीय बना लिया। यदि कुमारगिरि इसके रूप के प्रलोभन को झेल ले जाता तो सम्भव है चित्रलेखा के लिए उसका आकर्षण पूर्ववत् बना रहता। बीजगुप्त के प्रति वह समभाव से इसलिए आकर्षित रही कि बीजगुप्त उसके सामने कभी कम नहीं हुआ। कुमारगिरि की कुटी से विदा होते समय विदुषी चित्रलेखा का हतप्रभ चित्र बड़ा दयनीय हो उठता है। उसी दिन उसके हृदय ने बीजगुप्त की महत्ता को पूर्ण रूप से आयत्त किया और कृतकृत्य हो उठी तब जब उसी के लिए सब कुछ त्याग कर जाता हुआ बीजगुप्त पैरो पर पडी चित्रलेखा को बिना किसी दुविधा के पुन. ग्रहण कर लेता है। चित्रलेखा के चरित्र में सबलताएँ भी है और दुर्बलताएँ भी। वह विदुषी है, दुनिया के विषय में उसका अनुभव खरा है। जीवन के प्रति वह जागरूक है। आत्मसम्मान उसमें पूर्ण है। जगत को देखने का उसका अपना दृष्टिकोण है और उसमें इतनी तर्क शक्ति भी है कि वह अपने पक्ष का सफलतापूर्वक समर्थन कर सके। उसमे वचन-चातुरी भी है और हँसते-हँसते तीव्र व्यग करने की शक्ति भी। महाराज चन्द्रगुप्त की सभा मे उसने अलौकिक आत्म शक्ति का परिचय दिया था। किंतु इन सब गुणो के होते हुए भी उसमे अहकार की मात्रा कम नहीं। उसे अपने रूप की शक्ति का बोध है और वह यह सहन नहीं कर सकती कि उस शक्ति के सामने कोई तन कर खडा रह सके। उसके इसी अभिमान ने उसे भी प्रवञ्चित किया और कुमारगिरि को भी।

'चित्रलेखा' की वर्णन-प्रणाली उत्कृष्ट कोटि की है। सवादो मे बड़ी सजीवता एवं चुस्ती है। भाषा पात्रानुकूल एव सरस है। उसमें नाटकीय रसमयता है।

'विराटा की पद्मिनी' की भाँति 'चित्रलेखा' की पृष्ठभूमि भी ऐतिहासिक है यद्यपि कहानी बिलकुल कल्पित है। चंद्रगुप्त एवं चाणक्य ये दो पात्र ऐतिहासिक हैं किंतु उनका बहुत ही थोडा वर्णन आ पाया है। जहाँ तक समसामयिक

वातावरण का सबंध है वर्माजी पूर्ण सफल रहे हैं। नागरिकों की वेशभूषा, उनका रहन-सहन, उनकी बातचीत, गुप्तराज्य-सभा की मर्यादा आदि के चित्रण में बडी सतर्कता से काम लिया गया है। इस तरह 'चित्रलेखा' इस युग की एक अनुपम काव्य-कृति है।)

'चित्रलेखा' के उपरान्त वर्माजी का 'तीन वर्ष' (१६३६) उपन्यास निकला जिसकी भूमिका मे इन्होने लिखा—"इस उपन्यास के सबध में मुझे कुछ नही कहना है। यह आपके सामने है और आपके सामने विश्व साहित्य के अच्छे से अच्छे उपन्यास भी है। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि यह कहकर कि हिंदी का उपन्यास है, इसमे होगा ही क्या इसको रख न दीजिएगा—पढ़िएगा अवश्य। हिन्दी साहित्य इतना गिरा हुआ नही है जितना लोगो ने समझ रखा है।" इससे ऐसा लगता है कि वर्माजी में यह भावना जोर पकडती जान पडती है कि उन्होने कोई नई चीज, ऐसी चीज जिसके लिये लोगो ने प्रयास नही किया था, उपस्थित की है। यह भावना इनकी सभी कृतियों मे लक्षित होती है। 'तीन वर्ष' एक आदर्शवादी विद्यार्थी 'रमेश' की कहानी है, जिसने युनिवर्सिटी में प्रविष्ट होने के पूर्व अपना सारा समय पुस्तकों में ही बिताया है। उसका परिचय 'अजित' से होता है जो एक राजा का पुत्र है और जो जीवन की वास्तविकता को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। परतु उसके इस बाह्य आवरण के भीतर एक दार्शनिक बैठा है जो जीवन के विषय मे चिंतनशील है। यही नहीं, उसके जीने में भी एक कला है। उसकी उपेक्षा बुद्धि की कमी अथवा दुर्बलता के कारण नहीं है बल्कि एक विचित्र नैतिक जटिलता के कारण है, जो उसके रहन-सहन के ढग द्वारा उपस्थित हो गई है। उसने जीवन मे अत्यधिक अनुभव प्राप्त किये है और उन्हें यो ही जाने दिया है। 'अजित' की कल्पना जिस रूप में लेखक ने की है वह प्रशसनीय है। दोष केवल यह है कि कहानी समाप्त होते-होते वह रमेश का भाग्य-निर्माता सा बन बैठता है और साधु एवं सुधारक बनने की आकस्मिक प्रवृत्ति प्रदर्शित करता है। रमेश को उसके विरुद्ध जो शिकायत है वही हम लोगों को भी होती है। एकाएक उसे परोपकार के देव के रूप मे देखकर हमारा विश्वास अस्थिर हो उठता है। जीवन भर की पोषित आदतें जब जी चाहे तभी एकाएक छोड नहीं दी जा सकती और यदि वे किसी नैतिक दबाव के कारण जैसा कि रमेश के सग ने अवश्य उसके ऊपर डाला होगा, शायद भी दो जाती है, तो भी अपना चिह्न तो छोड ही जाती है। इसके विपरीत रमेश की आचार-शिथिलता कोई आश्चर्य की बात नही है। आदर्शवादियों की रीति ही यही है। वे एक सीमा से बिलकुल दूसरी सीमा पर आ

पहुँचते हैं। रोकने के लिए वास्तविकता की भावना नहीं उपस्थित होती। परतु वह इतनी आसानी से नवीन वातावरण एवं समाज की आधुनिक रीति-नीति में अभ्यस्त हो जाता है कि अस्वाभाविक जान पड़ने लगता है। फिर भी यह उतना बड़ा दोष नहीं। परतु दूसरे भाग में तो वह विलकुल केंचुल बदल देता है। लज्जाशील, अध्ययनशील, किताबी कीड़ा रमेश एकदम दानव बन बैठता है। मद्यपान में कोई उसकी समता नहीं कर सकता, वह अकेले ही बदमाशों के पूरे समूह को भयभीत कर सकता है। जो कोई भी उसे देखता है उसका मुरीद बन जाता है। अजित की छत्र-छाया से निकलकर वह एक प्रतारक के पास चला जाता है। पहले एक वेश्या की नजरों पर वह चढ जाता है और अनतर दूसरी की। दूसरी उससे प्रेम करने लगती है, केवल उसका पेशा उसके रास्ते का रोग है। वह मर जाती है और तब रमेश की आँखें खुलती हैं। 'प्रभा' का प्रेम मिथ्या था और इसलिए सामाजिक बाला होने पर भी वह वेश्या थी। परतु 'सरोज' का प्रेम एक उच्च वस्तु था, यद्यपि वह वेश्या का होने के कलक से कलुषित था—ससार की दृष्टि में। विचार होता था कि अब वह शाति और सात्वना प्राप्त करेगा—परतु नहीं, वह अब भी उद्विग्न और अशात है और 'प्रभा' को धनलुब्ध होने के कारण भला-बुरा कहने का लोभ सवरण नहीं कर सकता।

'तीन वर्ष' को देखकर ऐसा लगता है कि लेखक को कुछ वस्तुओं की अस्पष्ट परतु उत्तेजनापूर्ण भावना थी और उसने सोचा कि एक उपन्यास-रचना के लिए इतना ही पर्याप्त होगा। इस उपन्यास की रचना और उपादान-विधान में पर्याप्त कौशल का आभास मिलता है, परन्तु पात्र मिथ्या हैं, स्थितियाँ मिथ्या हैं, भावनाएँ मिथ्या हैं। यहाँ घटनाएँ, एक पूर्वनिश्चित उद्देश्य अथवा विधान की पूर्ति के लिए पात्रों पर जबरदस्ती डाली गई हैं। यह और भी आश्चर्य की बात है कि उन्होंने एक वेश्या देवी को हमारे सामने इस प्रकार उपस्थित किया है मानो वे कोई नई चीज पेश कर रहे हों। हिन्दी-साहित्य में तो इसकी कमी नहीं है।

एक प्रकार से 'तीन वर्ष' अत्यधिक आधुनिक उपन्यास है। उसका विषय भारतीय समाज का एक ऐसा अग है जो अभी अस्तित्व मे आ ही रहा है। इतना ही नहीं वह एक ऐसा अग है जिस पर पाश्चात्य सभ्यता का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है और जो फलस्वरूप थोड़ा बहुत, उन सब शकाओं, अनिश्चयों और नैतिक दुर्बलताओं को प्रतिबिंबित करता है जो पाश्चात्य ससार की विशेषताएँ है। अभी तक हिन्दी-लेखकों ने इस पर यथोचित ध्यान नहीं दिया था यद्यपि अनेक कहानियाँ और उपन्यास भी ऐसे थे जिनका विषय भारतीय विश्वविद्यालयों का जीवन था। परन्तु उनमें से अधिकाश हमारे ध्यान देने योग्य नहीं थे। उनमे भारतीय

विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी की वास्तविक परिस्थिति समझने का यथार्थ प्रयत्न नहीं मिलता। वे अधिकतर पाश्चात्य सभ्यता पर प्रहार की भावना ही उत्पन्न करने में समर्थ होते थे। यह कार्य करने का भार वर्माजी ने अपने ऊपर लिया और अपने हिसाब से पूरा कर भी लिया। यही उनकी आत्मतुष्टि की भावना का कारण है। उन्होंने न तो बुरा कहने का प्रयत्न किया न भला। केवल चित्रित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जिन दो प्रकार के चरित्रों के चित्रण को ध्येय बनाया है वे अपने आपमे पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं और उनका अकन भी बड़े कौशल से हुआ। शेष के लिए उन्होंने विश्वविद्यालय के वातावरण को जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया, एक तो छोटे से छोटे विवरण पर ध्यान देकर और दूसरे विद्यार्थियो के आपस के लम्बे-लम्बे सवादो द्वारा। परन्तु इन सवादों मे जीवन नही है, वे नाटकीय नहीं हैं, और पुस्तक से बिना मुख्य विषय को हानि पहुँचाए अलग किये जा सकते हैं। जिन पात्रों के बीच ये सवाद या विवाद होते है उनमें वैयक्तिकता नहीं है।

भगवतीचरण वर्मा का तीसरा उपन्यास 'टेढेमेढे रास्ते' सन् १६४६ में प्रकाशित हुआ। यह एक परिवार के विफलता की कहानी है। पडित रामनाथ तिवारी अवध के राजभक्त ताल्लुकेदार एव आनरेरी मजिस्ट्रेट हैं। बृटिश शासन में उनकी निष्ठा है क्योंकि वह उनके वर्ग के हितों का पोषण करता है। वे शक्ति मे विश्वास करते है और उनका अहकार इतना प्रबल है कि वे किसी भी अवस्था मे किसीके सम्मुख विनत होने को अपनी पराजय समझते हैं। विधि की विडम्बना से इनके तीनों पुत्रों ने टेढे मेढे मार्गों को ही अपनाया। बड़े लडके दयानाथ को काग्रेस का सक्रिय सदस्य होने के कारण उन्होंने सदा के लिये त्याग दिया। छोटा लडका प्रभानाथ क्रातिकारी बन बैठा और डाके तथा हत्या के अभियोग मे गिरफ्तार हुआ। आत्माभिमानी तिवारी जी को यह सह्य न हुआ कि उनका पुत्र मुखबिर बने और उन्होंने जेल में जाकर उसे कर्त्तव्य-बुद्धि दी। अपनी प्रेमिका एव सहकारिणी वीणा से विष प्राप्त कर प्रभानाथ ने जेल में ही आत्महत्या कर ली। मझला लडका उमानाथ कम्युनिस्ट है और उसके ऊपर भयकर अभियोग हैं। वह रात्रि के अधकार में पिता से मिल कर दस हजार रुपये की याचना करता है जिसे लेकर वह बाहर जा सके किंतु रामनाथ तिवारी उसे डाँटकर हटा देते है। अत मे रामनाथ तिवारी अपने आप ही कह उठते है—"सब कुछ समाप्त हो गया, कोई नहीं—सब गये। अकेले तुम प्रेत की तरह मौजूद हो रामनाथ! प्रभा को मृत्यु से रोक सकता था – अगर जेल में जाकर तुम उससे मिले न होते! उमानाथ को रुपया देकर तुम बचा सकते थे—लेकिन तुमने उसे अधकार और निराशा में ढकेल कर हमेशा के लिये अपना शत्रु बना

लिया। और दया--वह तुम्हारे पास आया, अपनी पत्नी और बच्चों के साथ! लेकिन तुमने उसे निकाल बाहर किया! अपने ही हाथों तुमने अपना विनाश किया! तुम्हारी समर्थता--तुम्हारी अहम्मन्यता--यह सब निर्माण नही कर सके--इन्होंने भयानक विनाश किया--तुम अधम हो--तुम पापी हो!" उमानाथ के बच्चे अवधेश को छाती से चिपकाते हुए उन्होने कहा--बेटा बेटा--इस बूढे का साथ मत छोडना।"

रामनाथ तिवारी के व्यक्तित्व का निर्माण बडी सतर्कता से किया गया है। एक वर्ग के गुणों के साथ-साथ व्यक्तिगत विशेषताओं ने मिल कर उनके चरित्र को बडा ही प्रभावशाली बना दिया है। हम आरम्भ में उन्हें जैसा देखते हैं वैसा ही अन्त में भी पाते हैं। उनमें मानवीय कमजोरियाँ भी है किंतु अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी वे उनपर अनुशासन रखते हैं। विचारशील मनुष्य में अहंभाव की प्रबलता उसे हठवादी बना देती है। और वह अपनी कुछ गलत-सही धारणाओं पर इतना विश्वास कर उठता है कि उसमें परिस्थितियो के अनुकूल अपने को मोड लेने की क्षमता ही नहीं रह जाती। और चूँकि परिस्थितियाँ परिवर्तन की अपेक्षा रखती हैं अतएव वे ऐसे व्यक्ति को अन्त में तोड डालती हैं। रामनाथ तिवारी के साथ यही हुआ। इनके बिल्कुल विपरीत चरित्र है इनके छोटे भाई श्यामनाथ तिवारी का। स्वभावतः इनके कठोर अनुशासन में उसका व्यक्तित्व विकसित ही न हो सका और वह नितान्त भावुक, अस्थिर एव निर्बल हो गये। इसलिए रामनाथ तिवारी के साथ उनका समझौता और निर्वाह भी हो सका क्योकि तिवारी जी के साथ निभाने के लिये उनका अनुगामी होना आवश्यक है। किन्तु उनके तीनों पुत्रो मे उन्हीं की सी आत्मनिर्भरता एव दृढता कुछ हद तक थी। यही कारण था कि एक भी पुत्र पिता का स्वामित्व मानकर नही चला। अन्य पात्रों में विश्वम्भरनाथ, झगडू मिश्र तथा वीणा के चरित्र पर्याप्त सफल बन सके हैं। कवियों और लेखको के जो व्यग-चित्र दिये गये है उनमें बडी स्वाभाविक्ता है। इनके चरित्र को देख-कर ऐसा लगता है कि वर्मा जी यदि व्यग का अधिकाधिक उपयोग करें तो उनकी कृतियाँ और भी सजीव हो उठेंगी। व्यग के लिये एक विशेष प्रकार की प्रतिभा अपेक्षित है और वर्मा जी मे वह प्रतिभा है।

किंतु तीन वर्ष की भाँति इस उपन्यास के अधिकाश पात्र भी अयथार्थ से ही लगते हैं और इसके लिये वर्मा जी को दोष भी नहीं दिया जा सकता। हिन्दी के कलाकारों में अभी वह कलात्मक निःसंगता नहीं आ सकी है जो उच्चकोटि की कृति के लिये अपेक्षित हैं। आज भी हिन्दी का लेखक कहानी कहता है। अत-

आधिकारिक तथा 'माथुर परिवार' और 'केट-देवदत्त' की कथा' प्रासंगिक है। 'माथुर-परिवार' का सन्निवेश पताका और 'केट-देवदत्त-प्रसग' प्रकरी के रूप में है। इस तरह हम देखते हैं कि 'विदा' में कई भिन्न-भिन्न कहानियों का योग है, परतु ये कहानियाँ एक-दूसरे से दूध पानी की तरह मिली हैं। 'केट' की कहानी अवश्य कुछ अनावश्यक सी जान पडती है परतु वह भी मूलकथा से दृढ बधनों में बँधी है। अँगरेजी समाज की एक झलक दिखाने के उद्देश्य से ही 'केट' का प्रसग उपस्थित किया गया है। 'विदा' में कुतूहल तत्त्व का भी, जो उपन्यास और नाटक दोनों का आवश्यक अग है, अच्छा निर्वाह किया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि विषय की योजना, घटनाओं का सघटन, कथा का स्वाभाविक प्रवाह तथा कुतूहल के निर्वाह में श्रीवास्तवजी पूर्ण सफल हुए हैं।

दूसरी विशेषता जो इस उपन्यास में लक्षित होती है वह है इसमें प्रवाहित होनेवाली भारतीय आदर्श की भाव-धारा। इस योरोपीय सभ्यता का अनुसरण करनेवाले समाज के भीतर भी श्रीवास्तवजी ने भारतीय कुटुम्ब की धर्म व्यवस्था के सौंदर्य की स्थापना करके प्राचीन और नवीन का बडा सुदर योग दिखाया है। यद्यपि यह उपन्यास उसी तरह का है जिसे गुरुवर पडित रामचद्र शुक्ल "मिस्टर, मिसेज, मिस, ड्राइगरूम, टेनिस, मोटर पर हवाखोरी, सिनेमा"* आदि का ही वर्णन करनेवाला कहते हैं। परतु 'विदा' में यह 'योरोपीय सभ्यता का साँचा' केवल बाहरी आवरण मात्र है। इस वातावरण के भीतर भारत की आत्मा पूर्ण रूप से सुरक्षित है। बल्कि यह तो एक स्पष्ट आदर्शवादी उपन्यास है। इसमें आदर्श माता, आदर्श पिता, आदर्श पुत्र, आदर्श दंपति, आदर्श प्रेमिका का चित्रण ही प्रधान उद्देश्य लक्षित होता है। 'शाता' आदर्श माता है, 'लज्जा' आदर्श हिन्दू-रमणी एव पति-प्राणा पत्नी है, 'मुरारी' आदर्श पति है, 'चपला' और 'केट' आदर्श प्रेमिकाएँ है, मिस्टर 'माथुर' आदर्श पिता हैं और यदि 'माधव बाबू' में से उनका मिथ्याभिमान निकाल दिया जाय तो वे भी आदर्श पिता हैं। इस भारतीय आदर्श मर्यादा का उल्लघन करने से जो विषमता उत्पन्न हो जाती है वही इस उपन्यास का प्रधान विषय है। पति तथा सास के प्रति दुर्व्यवहार के कारण 'कुमुदिनी' के जीवन में जो विषमता एव अशाति आ गई थी वह पति के चरणों में जाकर ही शात हुई। मिस्टर 'वर्मा' शरीफ बदमाश (पोलिश्ड

---

* इदौर में चौबीसवें हिंदी-साहित्य सम्मेलन के 'साहित्य-विभाग' के सभापति के पद से दिया हुआ अभिभाषण।

न) के अच्छे उदाहरण हैं। उनकी अगति दिखाकर लेखक ने भारतीय कर्म-वाद के स्वर को ऊँचा उठाया है।

'विदा' का चरित्र-चित्रण उत्तम है। श्रीवास्तवजी ने मानव-स्वभाव की अच्छी परख पाई है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इनके अधिकतर पात्र आदर्शोन्मुख हैं परंतु उनमें यथेष्ट सजीवता है। 'चपला' और 'निर्मल' को आदर्श चित्रित करते हुए भी उनके चुंबन और आलिंगन की क्षणिक दुर्बलता दिखाकर श्रीवास्तवजी ने उन्हें देवता होने से बचा लिया है। 'चपला' के उस छोटे हृदय में प्रेम और कर्तव्य मूर्तिमान होकर उतर आये हैं। गौण चरित्रों में 'लज्जा' और 'केट' के चरित्र बहुत सुदर हैं। 'लज्जा' पति-परायणा आदर्श हिंदू-रमणी है। लेखक ने जान-बूझकर इस चरित्र का सर्जन किया है। 'कुमुदिनी' को उसके साथ तुलना के लिए ला रखा है। 'लज्जा' के समकक्ष रखने से 'कुमुदिनी' के चरित्र के गुण-दोष बहुत ही स्पष्ट हो जाते हैं। 'केट' एक सच्ची अंगरेज-बालिका है। उसकी प्रतिशोध-भावना उसकी जाति के उपयुक्त ही है। किंतु उसके प्रेम का आदर्श नितात भारतीय है। प्राच्य और पाश्चात्य का यह सुंदर मेल है।

'माधव बाबू' के मिथ्याभिमानी चरित्र के अकन मे भी लेखक को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। केवल एक स्थान पर अस्वाभाविकता आ गई है। जब 'प्यारी' के साथ 'कुमुद' बिना 'माधव बाबू' को सूचित किये, 'निर्मल' के पास चली गई और 'माधव बाबू' को पता चला तो उनका खून उबलने लगा। उस स्थान पर उन्होंने कहा है—

"मैं इसका प्रतिशोध लूँगा। प्रतिशोध घोर होगा कि ससार भय से मेरी ओर देखेगा और सिहरकर पीछे हट जायगा। जो पिता अपनी पुत्री को उसके रक्त में स्नान करावेगा, उसको अनंत वैधव्य के गहरे गड्ढे में डुबो देगा। उसके सामने पति के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करेगा और छोटी-छोटी बोटियाँ करके चील-कौओं को खिला देगा क्या ससार उसको देखकर भय न खावेगा—ससार में भूकंप न फैल जायगा? ससार थर्रा उठेगा।'* यह नितात अस्वाभाविक है। प्रतिशोध लेने की भावना तक तो ठीक है। परतु उसके अनतर रक्त में स्नान कराना, शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके छोटी छोटी बोटियाँ करके चील-कौओं को खिलाना आदि बीभत्स होने के अतिरिक्त अस्वाभाविक भी है। कोई पिता अपनी पुत्री एव दामाद के लिए ऐसा न सोचेगा।

---

* विदा पृष्ठ ३१८।

प्रतापनारायणजी की आदर्शप्रियता का उल्लेख ऊपर हो चुका है। दूसरी बात जो 'विदा' में विशेष रूप से लक्षित होती है वह है स्वदेशाभिमान और भारतीयता। अपने देश की कोई भी वस्तु हो ये उसकी प्रशसा करने और कराने में नहीं चूकते। अन्य देशों की तुलना मे वे बातें श्रेष्ठ या कम से कम समकक्ष है इसका आभास उन्होने 'विदा' मे कई स्थानों पर दिया है और विदेशियो के मुख से उनकी प्रशंसा कराई है।

'विदा' के उपरात 'विजय' निकला। 'विदा' में लेखक के सामने कोई निश्चित ध्येय नहीं था। यदि था तो कहानी कहना और समाज का चित्रण। परंतु 'विजय' में लेखक एक ध्येय, एक लक्ष्य और एक उद्देश्य लेकर अग्रसर होता है। वह है 'विधवा-विवाह'। यह समस्या उसने साधारण मध्यम वर्ग के समाज मे नही उपस्थित की है वरन् एक सुशिक्षित, धनवान, उच्चवर्गीय समाज के समक्ष रखी है। समस्या वही रहती है किन्तु दृष्टि बदल जाती है। मध्यम वर्ग को लेकर यदि यह समस्या उपस्थित की जाती तो अधिकतर परिस्थितियो की आश्रित रहती। उसमें विधवा या तो आत्महत्या कर लेती या वेश्यावृत्ति ग्रहण कर लेती, चाहे अत में उसका उद्धार ही हो जाता। परतु श्रीवास्तवजी ने इस समस्या को कुछ ऊँची सतह पर उठाकर रख दिया है। 'विजय' में वह बुद्धि के आश्रित है परिस्थिति के आश्रित नहीं। इसमें परिस्थितियाँ जान-बूझकर उपस्थित की जाती हैं, अपने आप नही आती। 'विदा' और 'विजय' मे यही सबसे बडा अतर है कि एक निरुद्देश्य है, दूसरा सोद्देश्य। यह सोद्देश्य होना और बुद्धि के आश्रित अथवा बुद्धिग्रस्त होना ही इस उपन्यास की विशेषता भी है और सबसे बडा दोष भी। लेखक को प्रत्येक समय इसका ध्यान रहता है और फलस्वरूप इसमे विधवा-विवाह के ऊपर न जाने कितने लेक्चर भरे पडे है। पुस्तक एक थीसिस जान पडती है जिसको कहानी का आवरण पहना दिया गया है। यदि इसमे आये हुए लबे-लबे स्वकथन (सौलीलोकीज), वाद-विवाद और लेक्चर निकाल दिए जायँ तो कहानी मनोरजक हो जाय। परतु अत्यधिक भारतीयता के चक्कर में उन्होंने इसपर ध्यान ही नही दिया। 'विजय मे भी वे भारतीयता की भावना को भुला नही सके हैं। इसमे उन्होंने विधवाओ के लिए विधवा होना ही उचित माना है, क्योंकि हिन्दू-विधवा ईश्वर का तप रूप है। उसकी तपस्या 'निर्गुण उपासना' है। परतु लेखक चित्र के दूसरे पक्ष से भी अपरिचित नही है। सभी विधवाएँ इस विराट तप की साधना नही कर सकती। उनके लिए उसने वैवाहिक जीवन ही श्रेयस्कर निश्चित किया है। विधवाओ का नियमित और सयमित जीवन अवश्य उच्चतम है परंतु वह सबके लिए सभव नही। परतु जिसके लिए सभव

नहीं उसे लेखक हिन्दू-विधवा कहने के लिए प्रस्तुत नहीं। पाश्चात्य दृष्टि से भी उन्होंने इस समस्या पर विचार किया है परंतु भारतीय दृष्टि को ही ठीक ठहराया है। 'मनोरमा' के द्वारा ही उन्होंने अधिकतर अपने इस प्रकार के विचार प्रकट कराये हैं। इस पुस्तक के प्रथम भाग के सवा तीन सौ पृष्ठों में अधिकतर स्वकथनों या भाषणों द्वारा अपने धर्म, अपने समाज, अपनी जाति, अपनी सभ्यता आदि पर अनेक उद्‌गार भर दिये गये है। इसी कारण मुख्य कथानक बहुत आगे न बढ पाया है।

'विजय' का समाज भी 'विदा' के समाज का-सा ही है। सभी बड़े आदमी है। किसी को पेट की चिन्ता नहीं है। यह फिक्र नहीं है कि कमाएँगे नहीं तो खाएँगे क्या ? उनकी चिन्ताएँ जीवन की वास्तविकताओ, और आवश्यकताओं से सबध नहीं रखती। समय की कोई कमी उनके पास नहीं है। मोटर है, सुविशाल अट्टालिकाएँ है, रुपया है, आधुनिक सभ्यता का पूर्ण वातावरण है और आधुनिक समाज का उच्चतम रूप। इनका समाज बिलकुल अँगरेजी उपन्यास लेखिका जेन आस्टिन के समाज का-सा है।

श्रीवास्तवजी का तीसरा उपन्यास है 'विकास' जो सन् १९४१ ई० में प्रकाशित हुआ। इसकी कथा इस प्रकार है :—पण्डित मनमोहन नाथ एक कुली होकर फिजी गये थे किन्तु अपने पौरुष से बहुत सी सम्पत्ति एकत्र कर ली। उनके विचार साम्यवादी है। वे अपने धन को अपने मजदूरों में बॉट देते हैं और दक्षिण अमेरिका में एक आश्रम की स्थापना करते हैं। उनका अपना जलयान है जिसका कप्तान है जेकब्स। उसकी कन्या अमीलिया के कौमार्य को खण्डित करके मनमोहन नाथ के सुपुत्र भारतेन्दु लखनऊ विश्वविद्यालय में रिसर्च कर रहे हैं। प्रोफेसर डाक्टर नीलकठ उनसे अपनी आभा का विवाह करना चाहते है। भारतेन्दु उसके प्रेमपाश मे बॅध जाते हैं किन्तु अमीलिया के पत्र से उन्हें बडी ग्लानि होती है और वे अस्थिर हो उठते है। अमीलिया इनको क्षमा कर देती है और अपने प्रेमी हुसेन भाई से विवाह कर लेती है। भारतेन्दु का विवाह आभा से हो जाता है। माधवी डोपोवालो द्वारा बहकाई एक बाल-विधवा है। मस्तिष्क मे चोट लग जाने के कारण उसे पूर्वजन्म की बातें याद आ जाती है। वह उस जन्म की नीलकठ की पत्नी है। लेकिन पुनः उसी स्थान पर चोट लगने के कारण वह सब बातें भूल जाती है। उसको बहकाने वाली राधा का पिता स्वामी गिरजानन्द एक ब्राह्मण है जिसका पहला नाम गिरजाशंकर वाजपेयी है। इन्होंने अपनी पहली गर्भवती स्त्री को घर से निकाल दिया था। राधा उसी की कन्या है। गौरीशंकर की दूसरी स्त्री कौशिलिया थी जो पहले से

ही सहेली के पति द्वारा भ्रष्ट हो चुकी थी। बाद में बाबू मातादीन से उसका अवैध सम्बन्ध हो गया जिन्होंने बाजपेयी को जहर दिलवा दिया। मातादीन उसे अपनी बहिन घोषित करके अनूपगढ के राजा सूरजबख्श की रखेली बना देता है। मातादीन बडा काइयाँ है जो नामर्दगी तथा पुरुषत्व दोनों की दवाइयाँ बना लेता है। अनूपकुमारी बनी हुई कौशिलिया राजा पर ऐसी मोहिनी डालती है कि वह अपनी पत्नी श्यामकुमारी की उपेक्षा करने लगते है। मातादीन ने दवा खिलाकर राजा के बड़े लडके कुँवर कामेश्वर को नपुसक बना दिया। कामेश्वर का विवाह सर रामकृष्ण, होम मेम्बर की पुत्री मालती से होता है जो आभा की सहेली है। मालती कामेश्वर से सम्बन्ध विच्छेद की बात सोचने लगती है। इतने ही में मातादीन दीवान पद से हटाया जाकर अनूपकुमारी का शत्रु बन जाता है और सर रामकृष्ण से आ मिलता है। रानी श्यामकुमारी अनूपकुमारी के कमरे से पुसत्व वाली दवा चुरा लाई जिसे पीकर कुँवर कामेश्वर फिर अपनी असली हालत में आ जाते हैं। जिस दिन राजा तथा अनूपकुमारी का विवाह निश्चित हुआ था उसी रात मे मातादीन स्वामी गिरजानन्द के साथ कौशिलिया की गिरफ्तारी का वारण्ट लेकर पहुँच जाता है। वह मातादीन के कलेजे में कटार घुसेड देती है जिससे वह मर जाता है। जेल मे यह स्त्री पागल हो जाती है। राजा की आँखें खुलती हैं और फिर परिवार में सुख शान्ति आ जाती है।

इस उपन्यास मे स्पष्टत' दो कहानियाँ है जिनका आपस में कोई सहज सम्बन्ध नहीं है। दोनों पास पास चिपका कर रखी हुई हैं। अमीलिया तथा आभा दोनो की प्रेम समस्या खडी करके लेखक ने आधुनिक जीवन की जटिलता का आभास दिया है। अमीलिया का चरित्र बडा उज्ज्वल है। दोनो का विवाह सम्बन्ध न कराने का कारण आदर्शवादिता है। पूर्वजन्म की कहानी का भी मूलकथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह शायद पुनर्जन्म के विश्वास को दृढ करने के लिए ही कल्पित की गई है। प्रवासी भारतीयों के जीवन की भी एक झलक मिल जाती है। मातादीन की दवाएँ भी इस युग में एक चमत्कार की ही वस्तु है। उपन्यास चरित्रप्रधान है और घटनाओं का निर्देश लेखक स्वयं करता है। घटनाएँ अनेक हैं जो लेखक के सन्केत पर घटित होती रहती है। एक ही घटना का उल्लेख अनेक बार किया गया है। पाठक को जिस बात की जानकारी हो गई हो उसे फिर पात्रो के मुँह से कहलाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु श्रीवास्तवजी को इन सब बातो की चिन्ता नहीं रहती। इनके अन्य उपन्यासो की भाँति बीच बीच मे लम्बे स्वगत कथन भी है। दृश्य-वर्णन का विशेष शौक दिखाया गया है। ये वर्णन अलकृत है। अधिकाश आकाश, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि के वर्णन जो है

परिच्छेदों के आरम में हैं। सवाद इतने लम्बे-लम्बे हो गये हैं कि कथा के प्रवाह में गतिरोध हो जाता है। आदर्शवाद से ही यह उपन्यास प्रेरित हुआ है। कहीं-कहीं पात्रों मे कृत्रिमता आ गई है किन्तु कथा मनोरञ्जक है।

'विदा', 'विजय' और 'विकास' के पात्र बहुत कुछ एक प्रकार के हैं। जो अंतर दोनों के पात्रों में मिलता है वह बहुत कुछ उद्देश्य-भेद के कारण। यदि कहें तो कह सकते है कि ध्येय का भेद ही इन उपन्यासों का भेद है अन्यथा अन्य बातों में ये एक-से हैं। 'विदा' में चरित्र-चित्रण ही लेखक का ध्येय था परन्तु 'विजय' में समस्या को सुलझाना भी एक ध्येय हो गया। फलतः 'विदा' के प्रायः सभी पात्रों के प्रतिरूप 'विजय' में उपस्थित हैं। सर 'रामप्रसाद', सर 'माधवचन्द्र' के स्थानापन्न है परन्तु उनमें 'माधव बाबू' वाला मिथ्या अभिमान नही है। वे आदर्श पिता हैं। बाबू 'राधारमण' की तुलना 'मिस्टर माथुर' से की जा सकती है। 'विजय' की 'राजेश्वरी' सौतेली माँ होते हुए भी आदर्श माता है और 'विदा' की 'शाता' के समकक्ष है। 'मनोरमा' यद्यपि 'कुमुदिनी' के स्थान पर रखी गई है परन्तु दोनों में बहुत अतर है। 'मनोरमा' के गुण बहुत कुछ 'चपला' के समान हैं। 'कुसुमलता' में 'चपला' और 'कुमुद' दोनों के गुण हैं। 'राजेंद्रप्रसाद' 'निर्मल' के स्थानापन्न हैं परन्तु अतर यह है कि एक पूरा फिलासफर है और दूसरा फिलासफी का एम० ए० होते हुए भी कालेज का आधुनिक युवक है—हँसमुख, प्रसन्नचित्त, सरल। 'निर्मल' बहुत कुछ डाक्टर आनंदीप्रसाद से मिलते-जुलते है। 'राजा प्रकाशेन्द्र' की तुलना 'मिस्टर वर्मा' से की तो जा सकती है परंतु दूर तक नही। हाँ 'ट्रैवीलियन' और 'केट' बिलकुल एक दूसरे के विपरीत हैं। 'केट' आदर्श प्रेमिका है उसका चरित्र सर्वथा निर्दोष, शुभ्र और निष्कलंक है। वह बहुत-कुछ भारतीय आदर्श के निकट है परतु 'ट्रैवीलियन' एक सीमा तक इस उपन्यास की दुष्टा (विलेनेस) है। वह टट्टी की ओट में शिकार खेलने-वाली है। स्वार्थी, बनावटी, वेश्या है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपन्यास के पात्र 'विदा' के पात्रों के आवश्यकतानुसार नवीन संस्करण हैं। नवीन पात्रो की सृष्टि भी है, जैसे 'रानी मानवती'।

अब थोडा प्रतापनारायणजी की शैली और भाषा का भी विचार कर लेना आवश्यक है। अपने उपन्यासों में पात्रों के चरित्र का परिचय प्रायः लेखक ने स्वकथन या आत्मकथन (सौलीलोकीज़) द्वारा दिया है। कुछ घटनाओं के अनंतर कोई-न-कोई पात्र स्वगत कथन करने लगता है और अपनी दृष्टि से जो कुछ अब तक हो चुका है सबका सिंहावलोकन कर जाता है। इसके द्वारा उस पात्र के चरित्र का पता चल जाता है। यह रीति ग्रहण करने के कारण हो सकते

हैं। या तो लेखक को पाठकों के ऊपर विश्वास नहीं है कि वे घटनाओं द्वारा किसी पात्र का चरित्र-निर्णय कर सकते हैं अथवा उसका अपने ऊपर ही विश्वास नहीं है कि वह जैसा चाहता था वैसा दिखा सका है। अधिकतर ऐसे स्वगत कथन में लेखक किसी समस्या पर विचार करता है। इस बात का लेखक को मर्ज-सा है। दार्शनिक विचारों को प्रकट करने के लिए ही लेखक इनका सहारा लेता है। परंतु प्राय ऐसे उद्‌गार अनुचित एव अनावश्यक हैं।' सबसे बडा दोष तो इसमें यह है कि इससे उपन्यास की गति में बाधा पडती है। 'विदा' और 'विजय' दोनों में ही स्वगत कथनों की भरमार है। 'विजय' में से यदि इन्हें निकाल दिया जाता तो उपन्यास का कलेवर आधा हो जाता। लेखक को दार्शनिक वाद-विवाद एवं व्याख्या ही करना था तो वह अलग एक थीसिस' अथवा प्रबध लिख सकता था। उपन्यासो में यह बात प्राय' अस्वाभाविक और निरर्थक होती है जिससे उपन्यास के सौंदर्य में क्षति आ जाती है।

श्रीवास्तवजी के कथोपकथन साधारणतः अच्छे हुए हैं। सखियो के, पति-पत्नी के और इसी प्रकार के अन्य हँसी-मजाक वाले कथोपकथनो में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है, परतु एक बहुत बडा दोष इसमें भी आ गया है। वह यह कि लेखक कथन के शब्द लिखने के पहले यह लिख देता है कि 'उसने क्रोधपूर्वक कहा', 'हँसते हुए कहा' 'इस प्रकार कहा, उस प्रकार कहा'। यह बात नितात अनुपयुक्त है और लेखक की अनभिज्ञता प्रकट करती है। उदाहरणार्थ 'विदा' के द्वितीय खड के ९६ पृष्ठ पर देखिए। नौ बार ऐसा प्रयोग हुआ है। 'लज्जा ने हँसकर कहा , 'मुरारी ने हँसते हुए कहा , 'लज्जा ने उत्तेजित स्वर में कहा' 'मुरारी ने शात भाव से उत्तर दिया , 'लज्जा ने उत्तेजित स्वर में कहा', 'मुरारी ने हँसकर कहा', 'लज्जा ने उत्तर दिया', 'मुरारी ने हँसकर कहा', 'लज्जा ने प्रसन्न होकर कहा । फिर भी 'विदा में यह दोष कम है परंतु 'विजय' में तो इनकी बाढ़-सी आ गई है। कदाचित् ही कोई पृष्ठ इससे खाली मिले। इससे शैली में एक प्रकार की शिथिलता (मौनोटोनी) आ जाती है। ऐसी शैली का अर्थ यही हो सकता है कि लेखक को अपने पर या पाठकों पर विश्वास नहीं है। उसे इस बात का विश्वास नहीं है कि जो बात वह अपने पात्रों के मुख से कहला रहा है उससे वही भाव व्यजित होगा अथवा उस समय अवश्यंभावी रूप से वही मुखाकृति हो जायगी जो वह चाहता है। इसी विश्वास की कमी के कारण वह उस भाव को लिख देता है। अथवा लेखक पाठक को बुद्धिहीन एव मूर्ख समझता है कि वे उन कथोपकथन से वह भाव अथवा मुखाकृति न समझ पायेंगे। लेखक को चाहिए कि कथोपकथन के शब्द ही ऐसे हों जिनसे पाठक स्वयं उस

समय के भावानुकूल मुखाकृति तत्क्षण कल्पित कर लें। मेरे विचार से तो उसने पूछा, उसने कहा, उसने उत्तर दिया आदि भी निरर्थक हैं। कथोपकथन का तात्पर्य यही है कि कोई पूछेगा, कोई कहेगा, कोई उत्तर देगा।

कथोपकथन के संबंध में कुछ बातें और ध्यान देने की हैं। कुछ स्थानों पर लंबी-लंबी स्पीचें हैं, कहीं-कहीं वार्तालाप वाद-विवाद का रूप धारण कर लेता है और कहीं कहीं संवाद में दार्शनिकता और उपदेशात्मकता आ गई है जिसके कारण कथोपकथन अस्वाभाविक हो जाता है।* एक और मर्ज लेखक में है, आवश्यक विवरण देने और अनावश्यक शब्दावली व्यवहृत करने का। वे प्रायः पात्रों का पारिवारिक इतिहास और वंशावली देने लगते हैं। जो कथानक की दृष्टि से नितांत अनावश्यक है। इससे केवल कलेवर वृद्धि होती है सौंदर्य-वृद्धि नहीं। उदाहरणार्थ 'विदा' के पृष्ठ २३ पर 'निर्मल' के दिवंगत पिता का परिचय। जिस विवरण के साथ उन्होंने वह परिचय दिया है वह मेरे निकट कागज और रोशनाई के व्यय के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसी तरह 'विजय' में २६ से ३८ पृष्ठों तक और २०५ से २१० पृष्ठों का अपव्यय है। निरर्थक वाक्यों का प्रयोग तो बहुत मिलेगा।

इनकी शैली के विषय में दो-एक बातें और हैं। श्रीवास्तवजी के पात्र कभी कभी रूपकों और उपमाओं में बात करने लगते हैं। दैनिक संभाषण में एकाध उपमा अथवा रूपक अपने आप समाविष्ट हो जाते हैं। परंतु रूपक में ही कुछ देर बात करना प्राय. देखने में नहीं आता और बातचीत का साधारण नियम तो यह किसी प्रकार नहीं हो सकता। परंतु श्रीवास्तवजी एक रूपक को पकड़कर उसी को बढ़ाने लगते हैं, जो स्वाभाविक नहीं लगता। 'विदा' के पृष्ठ ४ पर 'शांता' और 'निर्मल' की बातचीत काटें और फूलों का रूपक लेकर होने लगती है। पृष्ठ ३४४-३४५ पर 'लज्जा' और 'कुमुदिनी' की बातचीत चोर और धन का रूपक लेकर चलती है। परतु इस प्रकार की बातचीत तो तार्किकों के लिए है जो एक दूसरे को नीचा दिखाने पर तुले हों। इसके अतिरिक्त श्रीवास्तवजी की शैली में पुनरुक्ति दोष बहुत अधिक मिलता है, जिनके कारण कहीं-कहीं तो जी ऊब जाता है। 'विदा' के पृष्ठ २१ का प्रथम प्रवह्नक देखिए। आठ बार भूतकाल की क्रिया की पुनरुक्ति है। यदि लेखक का भाषा पर अधिकार हो तो वह इने बचा सकता था। पृष्ठ ३२ और ३३ में भी यही दोष कुछ अधिक मात्रा में है। डेढ़ पृष्ठ में

---

* देखिए विदा, पृष्ठ १२०-१२१, १६८-१६१, १७८-१७६, विजय, पृष्ठ १४०-१४६, १७८-१८४।

कम से कम चालीस बार था, थी, थे आदि की माला जपी गई है। ठीक यही दोष पृष्ठ २८३ के दूसरे प्रघट्टक में भी है। प्रेमचदजी की भाँति श्रीवास्तवजी ने भी सूक्तियाँ लिखने का प्रयत्न किया है, परंतु सभी सूक्तियाँ प्रायः एक ही प्रकार की शब्दावली में कही गई हैं। उदाहरण के लिए देखिए 'विदा' पृष्ठ ७, १५, २७, ४३, २१६, २६०, ३०२, ३३६, ३३७।

श्रीवास्तवजी ने साहित्यिक हिन्दी लिखने का प्रयत्न किया है और एक सीमा तक सफल भी रहे हैं, परतु यह कहना ही पडता है कि इनकी भाषा में वह चलतापन और उपयुक्तता नहीं है जो प्रेमचद की भाषा में मिलती है। कहीं कहो शुद्ध हिंदी लिखने के प्रयास में उन्होने साधारण बोलचाल के उर्दू शब्दों को भी बेढगा संस्कृत रूप दे दिया है जिससे कथोपकथन की सजीवता नष्ट हो गई है। कहीं-कहीं उर्दू और हिंदी का विचित्र मिश्रण करके ऐसे वाक्य बनाये हैं जो हास्यास्पद से लगते है। जैसे 'विजय' के पृष्ठ ३१ पर यह वाक्य देखिए—"जिस मानसिक रोग से यह 'आक्रान्त' होकर जर्जरित हो गये हैं, वह आप से पोशीदा नहीं।" एक ओर 'आक्रात' और 'मानसिक' देखिए और दूसरी ओर 'पोशीदा'। जर्जर के स्थान पर 'जर्जरित' को देखिए। इस तरह की बेढगी भाषा या तो 'हिंदुस्तानी' के हिमायतियों के मुखारविंद से प्रस्फुटित होती है अथवा कभी कभी 'हिंदुस्तानी एकेडमी' की तिमाही पत्रिका मे ऐसी विचित्र भाषा के दर्शन ह जाते हैं। प्रतापनारायणजी उर्दू के विद्यार्थी जान पडते हैं, उसपर शुद्ध सस्कृत लिखने का नया शौक होने के कारण ऐसी गडबडी स्वाभाविक ही है। परतु शब्दो और मुहावरों की विचित्र तोड मरोड, अँगरेजी के मुहावरो का बेढगा अनुवाद, व्याकरण की अशुद्धियाँ इन सबने मिलकर इनकी भाषा को बिलकुल शिथिल बना दिया है। यहाँ पर कुछ अशुद्ध शब्दों और वाक्यों को हम भूल नहीं सकते—

कालिमा धीरे-धीरे प्रसरित होकर ससार को ढकती जा रही थी—('विदा', पृष्ठ १११)।

माधव बाबू ने संतुष्टपूर्ण हँसी हँसकर कहा—('विदा')।

प्रेम-पाठशाला में सब नहीं प्रवेश हो सकते—('विदा' पृष्ठ २१६)।

मंडलीकृत कपोलों में लालिमा छा गई—('विदा', पृष्ठ २५६)।

मैं बहुत अधैर्य स्वभाव का हूँ—('विदा', पृष्ठ २६६)।

वह मेरी बात नहीं माने—('विजय, पृष्ठ १५३)।

'नेता' शब्द का स्त्रीलिंग 'नेत्री' होता है परतु श्रीवास्तवजी ने उसके लिए 'अभिनेत्री' शब्द का प्रयोग किया है ('विजय', पृष्ठ १६१)। इसी तरह 'विजय' के पृष्ठ २५ पर आया है 'श्यामली सध्या'। यह शब्द स्वय

श्रीवास्तवजी के कारखाने मे बना है। 'विरोधी' के स्थान पर 'विरोधक' शब्द का प्रयोग किया गया है ('विजय', पृष्ठ ३११)। 'हताश' की जगह 'हताशा' बिलकुल 'बताशा' का हमवजन है। 'गुड मार्निङ्ग (Good morning) के लिए 'सुप्रभात' तथा 'शेकहैंड' (Shake hand) के लिए 'करमर्दन' भी बहुत अच्छे नहीं लगते। अब कुछ व्याकरण की अशुद्धियों के नमूने देखिए—

(१) हास्य भी मुख पर नृत्य कर रही थी—('विदा', पृष्ठ १३०)।

(२) मोहिनीक्याच्च—('विजय', पृष्ठ ८३)।

(३) हास्यमयी समीरण—('विदा', पृष्ठ १५०)।

(४) हर बात में (मनोरमा) मेरी प्रतिद्वंदी है—('विजय' पृष्ठ, १०६)।

इस प्रकार की अशुद्धियों से 'विदा' और 'विजय' भरे पड़े हैं।

भाषा-संबंधी इन दोषों को दिखलाने से मेरा तात्पर्य श्रीवास्तवजी का मूल्य कम करना नहीं है। औपन्यासिक के नाते उनमें गुण भी पर्याप्त हैं। भाषा के संबंध में भी उन्हें थोडा सतर्क रहना चाहिए। उपन्यास और कहानियाँ ही हमारे साहित्य के वे अंग हैं जिनसे सर्व-साधारण परिचित होते हैं। कुछ मनुष्य उपन्यासो के द्वारा ही भाषा सीखते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि उपन्यासों की भाषा शुद्ध और ठिकाने की हो, अन्यथा ऐसे मनुष्यों को हमारी भाषा का शुद्ध एवं यथार्थ ज्ञान न हो सकेगा।

उपर्युक्त तीन उपन्यासों के अतिरिक्त श्रीवास्तवजी ने 'बयालिस', 'विसर्जन' 'आशिर्वाद', 'नवयुग' आदि अन्य उपन्यास भी लिखे है। इधर के उपन्यासों में सन् १९५६ मे प्रकाशित 'बेकसी का मजार' उल्लेखनीय है। यह ऐतिहासिक उपन्यास है जो सन् १८५७ की भारतीय क्रान्ति की घटनाओं को आधार बनाकर लिखा गया है। श्रीवास्तवजी ने बड़े परिश्रम से सामग्री एकत्र की है और अंग्रेजों की दासता से स्वतन्त्र होने के लिए किये गये इस प्रथम भारतीय विद्रोह को एक राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप दिया है। इस उपन्यास के केन्द्रबिन्दु मुगलवंश के अंतिम सम्राट बहादुरशाह हैं। यह वृद्ध सम्राट सूफी विचार के उदारहृदय, धार्मिक व्यक्ति हैं जिन्हें फिरंगियों द्वारा देश की पराधीनता सदैव खटकती हैं। उनके भीतर धार्मिक-संकीर्णता का नाम भी नहीं है और हिन्दू-मुसलमान सभी के प्रति उनका समान स्नेह है। अपनी वर्त्तमान स्थिति को खुदा की मर्जी समझ कर दिल्ली के किले में अंग्रेजों से पेंशन पाते हुए बादशाह अपने जीवन के अंतिम दिन बिता रहे हैं। किन्तु उनकी बेगम जीनत महल तथा शाहहसन अस्करी फिरंगियों के विरुद्ध देशव्यापी मोरचेबन्दी करते हैं, फारस, योरप तथा रूस तक अपने आदमी भेजते हैं, सैनिक छावनियो में अपने जासूसों द्वारा विद्रोहाग्नि

मन ही मन अपने को कुमार पर अर्पित कर दिया। बाद में हैमिल्टन ने जो पुलिस कप्तान था कुमार को सजा दिलानी चाही किन्तु कनक के कौशल से वह विफल प्रयत्न ही नहीं हुआ अपमानित भी हुआ।' दोनों के बीच अनेक बाधाएँ आई किन्तु कुमार के मित्र चन्दन की सहायता से जो कुमार के बदले स्वय जेल चला गया इन दो हृदयों का अन्ततः मिलन सम्भव हुआ।

निराला जी का यह प्रारम्भिक उपन्यास काव्यत्व के भार से दबा हुआ है। रूप वर्णन में उपमा-उत्प्रेक्षा के बिना एक चरण भी आगे नहीं पडता। सयोग तत्त्व का अधिक सहारा लिया गया है और अधिकाश घटनाएँ कल्पित हैं। वेश्या-पुत्री भी हृदय रखती है और उपयुक्त अवसर मिलने पर पत्नीत्व की मर्यादा मानकर चलने में उसे अधिक सुख होता है। यही तथ्य इस उपन्यास में व्यञ्जित है। स्थान-स्थान पर पुलिस कर्मचारियों की धाँधली, पुराने नरेशों की विलास-प्रियता, ग्रामीण समाज की सबलता-दुर्बलता, स्नेहमयी नारी की सरलता-तरलता अदि के रमणीय चित्र अकित हुए हैं। चरित्र-चर्णन में प्रासगिक काव्य, दर्शन, समाजनीति, राजनीति आदि ने मिलकर इस सामान्य कथा-वस्तु वाले उपन्यास को एक गरिमा दे रखी है। निराला जी का कथन है कि उन्होंने किसी विचार से अप्सरा नहीं लिखी, किसी उद्देश्य की पुष्टि इसमें नहीं। अप्सरा उन्हें जिस ओर ले ग, वे दीपक पतग की तरह उसके साथ रहे। अपनी ही इच्छा से अपने मुक्त जीवन प्रसग का प्रागण छोड, प्रेम की सीमित दृढ़ बाहों में सुरक्षित कैद रखना उसने पद किया। पुस्तक के 'समर्पण' में कवि ने लिखा है—"अप्सरा को साहि में सबसे पहले मद गति से सुन्दर-सुकुमार कवि-मित्र श्री सुमित्रानन्दन पत ी ओर बढते हुए देख मैंने रोका नहीं। मैंने देखा, पत जी की तरफ एक स्न कटाक्ष कर, सहज फिर कर उसने मुझसे कहा, इन्हीं के पास बैठ कर इन्हीं से अपना जीवन रहस्य कहूँगी, फिर चली गई।" इस उपन्यास मे एक सामान्य था को कवि ने अपनी सम्पूर्ण काव्य प्रतिभा से बडी रमणीयता, मधुरता प्रदान की है। रूप एव भावनाओं के वर्णन में बडी ही अलंकृत, साकेतिक एव ध्वनिपूर्ण भाषा का प्रयोग हुआ है।

इसके बाद निराला जी 'अलका' को यह कहते हुए लेकर आये कि जिन्होंने 'अप्सरा' को देख कर मुझ पर आवाजें कसी थीं वे एक बार देखें कि उनके सम्राटों द्वारा अनधिकृत साहित्य 'स्वर्गभूमि से मैंने कितने हीरे-मोती उन्हें दान मे दिये।'' अलका की अलकों में कितने हीरे मोती हैं, इसका जौहर तो साहित्यिक जौहरियों द्वारा ही खुलेगा पर यह अवश्य है कि अपनी त्रुटियों के होते हुए भी यह उपन्यास अच्छा बन पडा। यह शुद्ध चरित्र-प्रधान उपन्यास है।

'शोभा' जो बाद में 'अलका' के नाम से विख्यात हुई इसकी नायिका है। पतिगृह जाने के पूर्व ही विवाहित शोभा के माता-पिता का देहात हो गया और तालुकेदार मुरलीधर ने उसे अपनी वासना का शिकार बनाना चाहा किन्तु वह भाग निकली और एक बड़े सज्जन एव शिक्षित वृद्ध के यहाँ उसे आश्रय मिला। वृद्ध उसे शिक्षा देकर आत्मनिर्भरता के पथ पर अग्रसर करने लगे। इधर जब उसके पति विजय को उसका पता नहीं लगा तो वह एक गाँव में रहकर गाँव-वालों को नि.शुल्क शिक्षा देने एव जाग्रति भरने लगा। किंतु इसी कारण से जमींदार ने उसे झूठी गवाही दिलवाकर जेल भिजवा दिया। जेल से निकलने पर वह कानपुर के मजदूरों के बीच सेवाकार्य करने लगा। इसी बीच उसका परिचय अलका से हो गया और दोनों एक दूसरे की ओर आकर्षित से जान पड़े। मुरलीधर यहाँ भी अलका के पीछे पडा और एक दिन जब वह मजदूरों की बस्ती से लौट रही थी उसे पकडवा कर ले चला। अलका ने जो पहले से ही सतर्क थी उसे गोली का शिकार बना दिया। सयोग से यह पिस्तौल मुरलीधर की ही थी जिसे छल से एक लडकी ने उसी को दड देने के लिये ले लिया था। अतएव पुलिस ने यह निश्चय किया कि मुरलीधर ने आत्महत्या की। विजय और शोभा का इस तरह फिर मिलन हो गया। इस उपन्यास में गाँव की जनता एव उन पर किये गये अत्याचारों का वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। उपन्यास की भाषा बडी ही काव्यमय है। विशेष कर जहाँ स्त्रियों के रूप का वर्णन है वह बडा आकर्षक है। अलका के पात्रों में कोई विचित्रता नहीं है। विजय, अजित आदि एक से हैं। अलका, सावित्री एव वीणा सभी मे समान शील एव सहृदयता है। इस उपन्यास मे भी सयोग मिलन आदि का सहारा लिया गया है। प्रभाकर तथा अलका का भेद एक नाटकीय ढंग से अनावृत होता है। उपन्यास स्पष्टतः आदर्शवादी है। स्थान-स्थान पर व्यग के मार्मिक छींटे हैं।

कथा-सौष्ठव, भावानुभूति, सामाजिक यथार्थ तथा रमणीयता की दृष्टि से निराला जी का 'निरुपमा' नामक उपन्यास श्रेष्ठ है। इसे पढ़ कर बँगला के श्रेष्ठ उपन्यासों का-सा रस मिलता है। वही प्रेम की गम्भीरता, भावप्रवणता, एव नाटकीय स्थितियाँ इस उपन्यास में भी परिलक्षित होती हैं। कथा नायिका निरुपमा एक सम्पन्न जमीन्दार की एक मात्र बालिका है। माता-पिता की मृत्यु हो चुकी है और मामा योगेश बाबू तथा ममेरे भाई सुरेश बाबू के सरक्षण में बढ़ी है। प्रायः यह बंगाली परिवार अब स्थायी रूप से लखनऊ मे ही बस गया है। कानपुर-उन्नाव में निरुपमा की जमीन्दारी है। मामा और भाई इस अबोध बालिका की सम्पत्ति से अधिकाधिक लाभ उठाते हैं। सुरेश ने निरू का विवाह अपने एक

सम्बन्धी यामिनी बाबू से जो लन्दन के पी-एच० डी हैं और लखनऊ विश्वविद्यालय के अध्यापक, ठीक कर रखा है और निरन्तर इस प्रयास में हैं कि निरू यामिनी को प्यार करने लगे। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये वह निरू को अधिकाधिक यामिनी के साथ रहने का अवसर दिया करते है। कथानायक कृष्णकुमार एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण है जो लन्दन से अग्रेजी मे डी० लिट् होकर लौटा है और अधिक योग्यता रखने पर भी लखनऊ विश्व विद्यालय में नियुक्त नहीं हो सका है और बंगालियो के पक्षपात के कारण वहाँ यामिनी नियुक्त हो गया है। कुमार निरुपमा के घर के सामने ही एक होटल मे ठहरा है और एक बडी ही नाटकीय परिस्थिति में कुमार और निरू का साक्षात्कार होता है। उसके अल्हड़पन, मन-मौजी स्वभाव एव रूप की ओर निरू आकर्षित होती है। अपनी योग्यता के अनुरूप नौकरी पाने में असफल होकर भी कुमार दृढ रहा और बूट-पालिश का काम ले बैठा है। सयोग से कुमार का गॉव निरू की जमीन्दारी में ही पडता है। वह वहाँ गई है। गाँववालों ने कुमार की माँ तथा भाई को जाति-बहिष्कृत ही नहीं कर दिया है उसे गाँव के कूएँ से पानी भी नही भरने देते। सुरेश बाबू ने उसके खेत और बाग भी वेदखल कर लिये हैं। किन्तु विदुषी सावित्री बड़े धैर्य से सब सहन करती हैं। यह सब कुछ देख निरू का पक्षपात सावित्री आदि की ओर हो जाता है। गॉववालो तथा जमीन्दार के अत्याचार से ऊब कर कुमार माँ और भाई को लेकर लखनऊ चला आता है। अब उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी है क्योंकि वह कमल को २००) महीने पर पढाने लगा है। गॉव से लौट कर निरू सावित्री से मिलने जाती है किन्तु कमल और कुमार को साथ देख उसे किंचित भ्रम होता है। यामिनी से उसका विवाह होने मे एक सप्ताह की देर है। इसी बीच कमल को पता चलता है कि यामिनी ने मिस् दूबे के प्रेम का अनुचित लाभ उठा उसे गर्भवती बना छोड दिया है। निरू के हार्दिक मनोभाव को जान कर सावित्री देवी और कमल दोनो ही उसे उत्साहित करती है। विवाह के दिन कमल की चतुरता से ऐसा प्रबन्ध होता है कि यामिनी बाबू के अनजान मे ही उनका विवाह मिस दूबे से हो जाता है और कुमार का निरू से।

उपन्यास की कथा-वस्तु सरल एव स्वत· प्रवाही होते हुए भी नाटकीय परि-स्थितियों एव प्रसगो से परिपूर्ण है। अनेक स्थल बड़े ही रमणीय एव प्रभावपूर्ण है जिनकी स्मृति बहुत दिनो तक सजीव रहती है। निरू तथा कुमार के परिचय का प्रसग, गॉव मे सावित्री देवी के प्रति किये गये अन्याय-अत्याचार, ब्रह्मभोज के दिन बालक रामचन्द्र की दयनीय स्थिति तथा उसके लिए निरू की विवश आत्मवेदना, लखनऊ में निरू तथा सावित्री देवी के प्रथम साक्षात्कार की

सरसता, नीली की समझ-बूझ, निरू के पत्र की भाषा, यामिनी का निरू के बदले मिस दूबे से विवाह, आदि प्रसग बड़े ही मर्मस्पर्शी एव मनोरजक हैं। समाज के जो खण्डचित्र प्रस्तुत किये गये है, उनमें बड़ी स्वाभाविकता है। ग्रामीण समाज का वर्णन सक्षिप्त होने पर भी बडा ही व्यंगगर्भ, मार्मिक एवं सजीव है। ग्रामीण कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के ईर्ष्या-द्वेष, उनकी स्वार्थपरता, जाति-पाँति-सम्बन्धी उनकी कट्टरता आदि को लेखक ने इस उपन्यास में सजीव कर दिया है। बंगालियो की प्रान्तीयता पर भी अच्छा व्यग किया गया है। निरू तथा कुमार का विवाह कराके एक प्रकार से निराला जी ने अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्धो पर जोर दिया है। लन्दन के एक डी० लि० से निस्संकोच बूट पालिश का काम कराके एक ओर तो घोर सामाजिक वैषम्य की ओर सकेत है और दूसरी ओर बदलते हुए नवीन सामाजिक मूल्यों की ओर इशारा है।

इस उपन्यास के जितने भी पात्र हैं सभी सजीव, सभी जीवनवत है। भाजी की संरक्षता के दायित्व एव उसके पालन-पोषण के गुरुतर कर्तव्य एवं परोपकार-भावना का प्राय. सगर्व उल्लेख करने वाले योगेश बाबू तथा उनके पुत्र सुरेश बाबू निरू की सम्पत्ति में जोंक की भाँति लगे हुए हैं। इनकी मनोवृत्ति, कार्य-प्रणाली एवं बातचीत का व्यंग चित्रण बडा ही अच्छा बन पडा है। विलायत के डाक्टर प्रोफेसर यामिनी का चित्र आद्यन्त व्यंग से सरस एवं सजीव है। कथा-नायिका निरुपमा तथा नायक कुमार दोनों के चित्र अनुपम है। निरुपमा का मानसिक द्वन्द्व, उसकी अन्तर्व्यथा को अभिव्यक्त करने में लेखक पूर्ण सफल रहा है। सकटों के बीच भी दृढ बना हुआ कृष्णकुमार नूतन सामाजिक व्यवस्था का एक सदेशवाहक है। गौण पात्रों मे सावित्री देवी, रामचन्द्र, नीली तथा कमल के चित्रण में लेखक ने मानव-स्वभाव में अपनी पैठ का अच्छा परिचय दिया है।

'अप्सरा' की भाँति यह उपन्यास दर्शन एव काव्य के भार से बोझिल नहीं बनने पाया है। भाषा बडी ही परिष्कृत होने पर भी व्यावहारिक तथा पात्रानुकूल है। व्यक्ति एवं समाज पर व्यग की बडी ही शिष्ट-शालीन रीति इस उपन्यास मे देखी जा सकती है।

निराला जी के अन्य उपन्यासो मे 'प्रभावती' ऐतिहासिक है जो उस कोटि के उपन्यासों की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। 'बिल्लेसुर-बकरिहा' में गाँव का हास्य-व्यग गर्भित चित्रण हैं। 'चोटी की पकड़' में बगाल के जमीन्दारों की ऐयाशी, प्रजा पर उनके अत्याचार, रुपयो के बल पर बडे से बडा अपराध पचा जाने की उनकी क्षमता, महल की स्त्रियों की ऐयारी एव दुश्चरित्रता आदि का वर्णन किया गया है। विषय एवं वर्णन दोनों ही दृष्टियों से उपन्यास मे नवीनता

है। लाक्षणिक भाषा एवं व्यंग का कहीं-कहीं ऐसा प्रयोग है जो साधारण पाठक के लिए उलझन बन जा सकता है। फिर भी उपन्यास में नवीनता का आकर्षण है।

सियारामशरण गुप्त (१८९५ ई०)

हिन्दी-उपन्यासकारों में कवि सियारामशरण गुप्त का एक विशेष स्थान है। इनके तीन उपन्यास 'गोद' (१९३२) 'अंतिम आकांक्षा' (१९३४) और 'नारी' (१९३७) हैं। इन उपन्यासों में बहुत ही साधारण उपादानों का सहारा लिया गया है और अत्यन्त सहज भाव से उनकी अभिव्यंजना हुई है। 'नारी' आदि उपन्यासों को देखने से लगता है कि गुप्त जी की प्रेरणा यथार्थ, अकृत्रिम और निष्कपट है। 'नारी' हिन्दी की सबसे आधुनिक कृति है किन्तु आधुनिक उपन्यासकारों की भाँति लेखक ने कहीं किसी प्रकार का दावा नहीं किया है। उनका विवेक इतना सजग एवं अद्वितीय है कि उसके सम्बन्ध में भ्रम नहीं हो सकता। इससे उनके तीनों उपन्यासों में एक सजातीयता एक पारिवारिक अनुरूपता आ जाती है, यद्यपि तीनों के विषय नितान्त भिन्न हैं। इन उपन्यासों में हम एक उत्तरोत्तर विकास का भी अनुभव कर सकते हैं। जीवन के सम्बन्ध में जिस भाव की व्यंजना 'नारी' के अन्तिम पृष्ठों पर की गई है वह एकाएक नहीं आ जाती। इससे गुप्त जी की सफलता बिल्कुल वैयक्तिक है। यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि वे कभी अधिक संख्या में पाठकों को आकर्षित कर सकेंगे। उनका आकर्षण परिमित ही रहेगा यद्यपि अपनी परिमिति के भीतर वह निश्चित और असन्दिग्ध होगा। जिन मनुष्यों को उन्होंने लिया है और अपनाया है, जिनके कष्टों, आपत्तियों, परीक्षाओं, दुर्बलताओं का चित्रण वे करते हैं, वे पीछे हट रहे हैं, मुख्य छोड़कर गौण स्थान में चले जा रहे हैं। वे केवल भावुकतापूर्ण दया उत्पन्न करते हैं और कुछ नहीं। परन्तु कौन कहेगा कि जैसे वे हैं उस रूप में इस या उस राजनीतिक सिद्धान्त की आँखों से नहीं, उन्हें देखने का लेखक ने निरर्थक प्रयत्न किया है? वे हिन्दू-सभ्यता के आधारभूत लक्षणों के प्रतिरूप हैं और यह एक ऐसा स्रोत है कि जिसके सूख जाने की कोई आशंका नहीं। अतएव यह सम्भव है कि बाबू सियारामशरण के पात्र किसी समय में व्यवहारातिक्रांत हो जायँ, परन्तु भावों, रागों एवं मनोवेगों का द्वन्द्व तथा उनके द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन तो रहेगा ही। वे अपने आप में शाश्वत हैं। इसी में गुप्त जी की पुस्तकों की शक्ति और स्थायित्व निहित है।

इनका पहला उपन्यास 'गोद' है। इसमें एक भाभी के वात्सल्य-स्नेह का

वर्णन है। शोभाराम दयाराम का छोटा भाई है। इसे पार्वती (दयाराम की स्त्री) तथा दयाराम दोनों ही पुत्रवत् मानते हैं। शोभाराम की सगाई विधवा कौशल्या की लड़की किशोरी से हो जाती है। किंतु विवाह के पूर्व ही एक अप्रत्याशित घटना के कारण बड़ी विषम समस्या उपस्थित हो जाती है। प्रयाग के मेले में किशोरी अपनी मा से छूट जाती है और दूसरे दिन स्वयसेवकों द्वारा पहुँचाई जाती है। गाँववालों को किशोरी की पवित्रता पर सदेह हो जाता है और इसकी चर्चा ऐसे रूप में चल पड़ती है कि दयाराम शोभाराम का विवाह एक दूसरे जमीन्दार के यहाँ ठीक कर लेता है। यहाँ उसे धन की भी लालच थी। स्नेहशीला पार्वती बेवस-सी हो जाती है। इस ओर से निराश होकर कौशिल्या किशोरी का विवाह एक कुरूप वयस्क के साथ ठीक करती है किंतु शोभा की भावुकता व्यथित हो उठती है और वह छिपे-छिपे किशोरी से विवाह कर लेता है। अन्त में कुछ दिनों के बाद दयाराम भी उसे क्षमा कर देता है। मातृवेदना मे सयुक्त पार्वती निहाल हो उठती है।

इस उपन्यास में हमारे गाँवों के एक पक्ष का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है। हमारी नैतिकता की भावना इतने क्षीण आधार पर टिकी है कि अनुमित आघात भी उसे छिन्न-भिन्न कर देने में सफल हो जाते हैं। सदाचार का प्रश्न उठते ही ग्रामीण समाज दानव की भाँति कठोर हो उठता है और सन्देह मात्र पर व्यक्ति को कठोर से कठोर दंड देने में भी नहीं हिचकता। शोभाराम का साहस ग्रामीण अधसंस्कारों में जकड़े व्यक्ति के लिए अप्रत्याशित कहा जा सकता है। किंतु वह हमारी उठती हुई चेतना का परिचायक भी है। शोभा एवं पार्वती के स्नेह में जो आदर्श निहित है वह सीता-लक्ष्मण के आदर्श से कम नहीं है।

'अंतिम आकांक्षा' का नायक रामलाल एक घरेलू नौकर है। ऐसे उपेक्षित व्यक्ति को अपनी कथा का नायक बनाकर गुप्त जी ने संकेत किया है कि साहित्य व्यक्ति का नहीं वरन् उसके भीतर विराजमान मानव का भावात्मक इतिहास है। साधारण से साधारण स्थिति के प्राणी में भी महत्ता के दर्शन किये जा सकते है। 'रामलाल' अपने स्वामी एवं उनकी बालिका से इतना स्नेह करने लगता है कि उनके लिये बड़ा से बड़ा त्याग भी उसके निकट नगण्य है। बारातवाले यह जानकर कि रामलाल ने डाकू की हत्या की है, जिद पकड़ लेते हैं कि जब तक वह घर में रहेगा उनके स्वामी के यहाँ अन्न जल ग्रहण न करेंगे। रामलाल के हृदय की यह सबसे बड़ी कामना थी कि अपने हाथों पाली हुई बिटिया का विवाह देखकर अपनी आँखों को तृप्त कर लें। किंतु जब वह अवसर आया तो असमा-

नित होकर उसे घर छोड़ना पड़ा। जिस समय वस्त्राभूषणों से सजी-सजाई स्वामी-कन्या के हाथों में वह दो रुपये देता है उस समय गुप्त जी की हृदयालुता देखते ही बनती है। अभी तक साहित्यकारों में यह कमी थी कि इस प्रकार के साधारण पात्र उनकी कल्पना में आते ही न थे।

गुप्तजी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है 'नारी'। इसमें चिरतन नारी की अनुपम अभिव्यक्ति है। इस उपन्यास की नायिका जमुना एक अत्यन्त साधारण स्त्री है, आदर्शवाद उसे छू नहीं गया है, उसे कोई उच्चाकाक्षा नहीं है। उसका ससार छोटा-सा और एक विस्तृत अज्ञान-पारावार द्वारा परिवेष्ठित है, उसके विश्वास स्वल्प परतु दृढ़ है। वह अपने बच्चे को प्यार करती है, अपने पति को प्यार करती है, और सबसे अधिक प्यार करती है अपनी आतरिक सरलता, सदाचार, न्याय, सत्यशीलता अथवा दाक्षिण्य को। दीनवत्सलता एव दयालुता उसके जीवन-दर्शन का आदि भी है और अंत भी। बुराई को वह जानती नहीं, पहचानती नहीं, पहले तो ससार की भलाई मे सरल विश्वास के कारण, और बाद को अपने अनुभव की गहराई के कारण—"मनुष्य का ज्ञान है ही कितना"। बुराई की शक्ति इसमें है कि वह भलाई से लड़ने के लिए उसको अपनी ही सतह पर ले आये, और भलाई की विजय इसमे है कि वह बुराई का अतिक्रमण कर जाय। सासारिक दृष्टि से जमुना सब कुछ खो चुकी है। उसका पति, जिसको उसने प्राय. फिर से पाया था, चौधरी की बदमाशी और चालाकी के कारण उससे फिर छीन लिया जाता है। उसके नाम पर कलक लगाया जा चुका है। वह नहीं जानती कि वह अजित को, जिसका व्यवहार पूर्ण निष्कपट रहा है, आत्मसमर्पण करे या नहीं। उसका पुत्र उससे अलग कर दिया जाता है, और वह बिरवा भी, जिसको उसने पुत्र के समान सींचा और पोसा था, उसका नहीं रहा—"ससार मे पुरुष ही अकेले निर्दय नहीं होते, पशु-पछी, पेड-पौधे सबके भीतर एक तरह का खून है।" भौतिक और आत्मिक दोनो प्रकार के अधकार में वह डूब जाती है। उसी समय हल्ली उसके पास अपने सहानुभूतिपूर्ण शब्द लेकर आता है और उन शब्दों से उसका घनीभूत अधकार प्रकाशित हो उठता है। आत्म-जागर्ति का मूल्य उसे क्लेश, दु ख, सताप और वेदना से देना पडा है, और इससे उसे इस सत्य की प्राप्ति हुई कि "बाहर जो आसानी से मिल जाता है वह प्राय. अच्छा नहीं होता।" हल्ली से उसके अतिम शब्द ये हैं—सह ले इसे सह ले। कमजोर क्यों पडता है? जितना ही अधिक सह सकेगा, उतना ही तू बडा होगा।' यह एक ऐसी मन.स्थिति है जो जमुना के लिए ही सभव हो सकती थी। वह आरभ से उसमे सुप्त अवस्था मे उपस्थित थी परतु इसके लिए कि वह सचेत होकर

उसके जीवन की प्रेरक शक्ति हो जाय यह आवश्यक था कि वह उन सभी वस्तुओं को दे जिनसे उसका अनुराग-संबंध था।

बाबू सियारामशरण के उपन्यासों में दो संसार हैं। एक तो घटनाओं का बाह्य संसार और दूसरा पात्रों का आतरिक एवं अनुभूति-संसार, जहाँ वास्तविक नाटक चरितार्थ होता है। पहला दूसरे का बाह्य एवं दृष्टिगोचर प्रतीक है। वे पात्र जिनको यह कार्य सौंपा गया है तीन हैं—जमुना, अजीत और हल्ली। इन्हीं तीनों के जीवन की पारस्परिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से उपन्यास निर्मित हुआ है। बाबू सियारामशरण के सब पात्रों में पाई जाने वाली एक विशेषता इनमें भी है। वह है स्नेह का गुण जो उनकी दुर्बलता भी है और शक्ति भी है। उनकी आत्माएँ तत्त्वतः उच्च हैं। अन्य दो पात्र चौधरी और उसका पुत्र हैं। उनका अकन पूर्ण नहीं है फिर भी वे शक्ति-सम्पन्न हैं, जीते-जागते हैं। जहाँ पर गुप्तजी पूर्ण चित्रण नहीं करते वहाँ वे संकेत करते हैं—और यही सब उच्चकोटि के चित्रकारों की रीति है। साधारण ग्रामीणों की अन्धभक्ति, विश्वास और भावनाओं का बडी सुन्दरता से चित्रण किया गया है।

राधिकारमण प्रसाद सिंह (जन्म १८९० ई०)

उपन्यासकार के रूप में सूरजपुरा (बिहार) के राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके हैं। उनके उपन्यासों में 'राम-रहीम' (१९३६), 'सावनी समा' (१९३८) 'पुरुष और नारी' (१९४०), 'सूरदास' (१९४२) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें 'राम-रहीम' सर्वप्रथम निकला जो अपने कलेवर तथा व्यंजना-शैली के कारण एक प्रकार की नवीनता लिये हुए था। लेखक के 'दो शब्द' के अनुसार इस उपन्यास में "रोजमर्रे की एक दिलचस्प कहानी का टेक लेकर धर्म और समाज के तमाम कच्चे चिट्ठे खोलकर रख देने की कोशिश की गई है। भारतवर्ष के अतर्गत इस युग के आचार को, इस युग के विचार को, इस युग की पुकार को दो जीती-जागती स्त्रियों के जीवन-पट पर प्रस्फुटित करने का प्रयास किया गया है। यहाँ अध्यात्म में साँचे के शृंगार हैं, फैशन का दामन थामे दर्शन है। इसीलिए वास्तविकता की सादी जमीन पर नैतिकता की किनारी टँकी है। यथार्थवाद के मौसम में आदर्शवाद के छींटे हैं। आजकल की टकसाली कला के पहलू में अपनी पुरानी धज भी कायम रखने की कोशिश की गई है।"

राजा साहब ने जिन दो स्त्रियों का चित्रण किया वे हैं बेला और बिजली। बेला बेला ही है—बेला सी कोमल, बेला-सी विमल। बिजली भी यथार्थ बिजली है—बिजली-सी चपल, बिजली-सी प्रबल। यदि बेला शरद के हास सी मीठी है

तो बिजली अंगूरी के झाग सी तीखी। एक दीपशिखा-सी निष्कंप है दूसरी कामना की किलोल सी विकल। एक में त्याग है दूसरी में भोग। एक के रोम-रोम में राम रमा है दूसरी के लिए राम-रहीम, मखौल के मसाले हैं। एक पर पुरुष ने अनाचार-अत्याचार किया दूसरी ने पुरुष की छाती का रक्त पिया। एक आजीवन धर्म को छाती से चिपकाए रही, दूसरी ने पाँवों तले रौंद-रौंदकर धर्म की धज्जियाँ उड़ाई। एक का धर्म कुछ बिगाड़ न सका, दूसरी को पीस डाला। बेला ने आजीवन राम पर विश्वास रखा, बिजली ने रहीम के दया की परीक्षा की। आत्मलोक और परलोक की बातें तो बताई नहीं जा सकतीं परंतु इस लोक के लिए तो बेला के सीतापति राम पत्थर के राम ही रहे। बिजली का रहीम ही उपयोगी सिद्ध हुआ। यही राम-रहीम का जीवन-दर्शन है। इनके द्वारा आधुनिक भौतिकवाद एवं हिंदुओं के अर्थवाद, अनाचारवाद और अध्यात्मवाद की आलोचना का प्रयत्न किया गया है।

इस उपन्यास की एक विशेषता यह है कि इसमें पाश्चात्य सभ्यता के पुजारी उच्च वर्गों से लेकर निम्न वर्गों तक का चित्रण किया गया है और प्रतीत होता है कि भारतीय समाज के प्रायः सभी वर्गों से राजा साहब का परिचय है। जैसी सतर्कता के साथ राय साहब, नवाब साहब, मैनेजर साहब, मिस साहिबा, मिस्टर अमीन आदि का चित्रण हुआ है वैसी ही सतर्कता से दिनेश पंडित, श्रीधर पंडित, गुरुवर गिरधारी लाल एवं नेता ओझा, मूँगा सोनार, गनेश चौकीदार का भी। स्त्री पात्रों में बेला की सास ननद, मिश्रानी जी, तथा गनेश-बहू आदि के चित्रण में पर्याप्त सजीवता है। बिजली और बेला का तो कहना ही क्या? स्वर्ग एवं मर्त्य का प्राच्य एवं पाश्चात्य का, लौकिक तथा लोकातीत का यह जोड़ा पूर्ण कलात्मकता के साथ निर्मित हुआ है। बिजली में चमक है, तड़प है, बाढ़ है, बहार है, नृत्य है, कटाक्ष है। बेला में 'लाज है, लिहाज है, आँसू है, उल्लास है, सरलता है, तरलता है, गरिमा है, गांभीर्य है।'' बिजली की चमक-विलास के सामने बेला का जीवन उदास है, बेला के अडिग विश्वास के सामने बिजली का वैभव बुलबुला है। यदि हमारा समाज शीघ्र ही सचेत नहीं हो जाता तो इसी तरह की बिजलियाँ अत्याचार के बादलों से फट-फटकर हमारे सिर गिरेंगी और नारी के आदर्श का वह स्वप्न जो हम युगों से पोसते आये हैं छिन्न-भिन्न होकर बिला जायगा।

राम-रहीम की कल्पना एवं उसकी संघटना में सतर्क कलात्मकता है। बेला और बिजली दोनों की कहानियाँ अलग-अलग विकसित होती चली गई हैं और अंत में एक स्थान पर जाकर दोनों का संगम हो जाता है, दोनों एक दूसरे से

सटकर प्रवाहित होने लगती हैं। वास्तव में यह उपन्यास बेला और बिजली की परिस्थितियों का तुलनात्मक चित्रण है। इस कार्य मे लेखक पर्याप्त सफल रहा है। हाँ, कुछ स्थलों पर संवाद एवं वर्णन इतने लम्बे-चौड़े हो गये है कि पाठक का धैर्य छूट जाता है और वह ऐसे स्थलों को छोड़कर आगे बढ़ जाता है। लंबे-चौड़े अलंकृत वर्णनो को देखकर लेखक के 'दो शब्द' का ध्यान आ जाता है— "आजकल की टकसाली कला के पहलू मे अपनी पुरानी धज भी कायम रखने की कोशिश की गई है।"

"पुरुष और नारी" मे स्वतन्त्रता-संग्राम की पटभूमि पर प्रेम की एक समस्या का चित्रण किया गया है। इसके प्रधान पात्र हैं पुरुष अजीत और नारी 'सुधा'। युवक अजीत प्रतिज्ञा कर चुका है कि "जब तक देश आजाद नहीं होता, तब तक मेरे लिए संसार का कोई व्यवहार नहीं—विवाह, व्यापार या रोजगार। आज से न मेरा कोई अपना स्वार्थ है न अपना परिवार। मैं तमाम तन मन-धन माता के चरणों पर निछावर करता हूँ।" किन्तु अपनी भाभी के साथ जब वह उसके मायके पहुँचता है तो उसकी भेंट भाभी की छोटी बहिन 'सुधा' से होती है। आर्थिक विपन्नता मे भी अपने रूप, गुण और शील को लेकर सुधा धूल में रत्न के समान प्रकाश बिखेर रही थी। अजीत का हृदय बरबस उसकी ओर दौड़ लगाने लगा और वह चाहकर भी कई दिनों तक उस मोह-बन्धन को काटकर वहाँ से जा न सका। इधर सुधा का भी अजीत के प्रति प्रेम हो गया। अपनी प्रतिज्ञा के आग्रह मे अजीत एक दिन भाग निकला और साबरमती आश्रम पहुँच गया। जब वह वहाँ से लौटा तो मालूम हुआ कि सुधा का विवाह एक सम्पन्न बूढ़े से हो गया जो दो बच्चों का बाप था। अजीत अभी तक सुधा को भूला नहीं था अतएव इस समाचार ने उसके मन मे एक उथल-पुथल मचा दी। उसने अपने एक गाँव मे रेवा नदी के तट पर एक आश्रम की स्थापना की और अपनी सारी सम्पत्ति को ही अर्पित कर दी। दलीप, सुधीर एवं अन्य आश्रमवासियों के साथ वह सेवा, सुधार एवं संगठन के कार्यों में लगन से लग गया। इधर 'सुधा' अपने शराबी पति से अलग मकान ले सपत्नी पुत्र महीप के साथ कांग्रेस आन्दोलनो में भाग लेने लगी। बाद में पति से अनुमति लेकर वह अजीत के आश्रम में ही आ गई और आश्रम की गृहस्थी को अपने ऊपर डाल लिया। अजीत के त्याग और सेवा की सराहना होने लगी, उसका यश फैलने लगा किन्तु स्वयं अजीत को एक अभाव की अतृप्त वासना व्याकुल करने लगी। वह अधिकाधिक सुधा के समीप रहने का प्रयत्न करने लगा किन्तु सुधा बड़ी सतर्कता से उसकी सुख-सुविधा पर दृष्टि रखते हुए भी अपने को अत्यधिक संयत रखकर

एक कृत्रिम उदासीनता का आवरण स्वय पर डाले रही। हृदय के भीतर अजीत के प्रति लहराते हुए प्रेम-समुद्र की एक-एक बूँद को वह सीमा में ही सँभालती रही। उसने जब-जब देखा कि अजीत कर्तव्य-पथ से मोहावेश में च्युत हो रहा है तब-तब कुछ ऐसा व्यवहार दिखाया कि वह पुन. मार्ग पर आ लगा किन्तु अजीत के भीतर का अतृप्त पुरुष उसे क्षुब्ध करने लगा और प्रेम की एक एक घूँट के लिए वह तरसने लगा। एक दिन अनायास उसे मदिरा पीने को मिल गई और इसे उसने होश की दवा के रूप में अगीकार किया। मदिरा के नशे में ही उसने एक दिन सुधा पर अपना प्रेम प्रकट किया और अनेक तरह से अपनी बेबसी बताई किन्तु सुधा अडिग रही और उसे कर्तव्य की ही चेतावनी देती गई। एक दिन अजीत बहुत शराब पीकर आश्रम में आया और उसे सँभालने में सुधा को भी चोट आ गई। रात में विष खाकर सुधा लेट रही। जब अजीत अन्तिम घडियो में उसके पास पहुँचा तो उसने उससे आत्महत्या का कारण बता दिया। उसके गले मे अपनी पुरानी रुमाल, जिसे उसने प्रथम साक्षात्कार में उसे दिया था, देखकर अजीत को सुधा के प्रेम का रहस्य मालूम हुआ और वह पछाड खाकर सुधा के शव के पास गिर पड़ा। फिर आजीवन वह सुधा की तस्वीर ही पूजता रहा।

इस कथानक के द्वारा राजासाहब ने एक चिरन्तन सत्य को चित्रित करने का प्रयास किया है। समय परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन के आवर्त्त मे समाज जाने कितनी ही करवटें बदलता है, कितने ही आन्दोलन तरगायित होते रहते हैं। किन्तु मानव-स्वभाव की कुछ मूलभूत विशेषताएँ नहीं बदलतीं। स्त्री के लिए पुरुष का और पुरुष के लिए स्त्री का आकर्षण चिरन्तन है। जो इस रहस्य की उपेक्षा कर हृदय के वेग को बरबस रोक देता है वह आजीवन भीतर ही भीतर इसकी खोज में भटकता रहता है। जिन प्रवृत्तियो को हम समझते हैं कि हमने दबा दिया है वे ही भीतर-भीतर जीवन एकत्र करती रहती हैं और अवसर पाते ही किसी भी सन्धि से फूट पडती हैं। ऊपर से देखने वाले आश्चर्य करते है कि मनु य क्या से क्या हो गया। किन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं क्योंकि हमारी चेतना की ओट मे जाने कितनी ही अतृप्त वासनाएँ समय की प्रतीक्षा करती रहती है। हम स्वय भी अपने को नहीं समझ पाते फिर दूसरो की क्या सामर्थ्य जो हमें समझ सकें। इसी मनोवैज्ञानिक सत्य का कलात्मक अकन "पुरुष और नारी" की विशेषता है। पुरुष और नारी की प्रकृति एव परिस्थिति के भेद से अन्तराल में छिपी वासनाओं की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ करती है। "शायद, दिल का यह जलजला पुरुष पर कुछ और रग लाता

है, नारी पर कुछ और ·····जो आघात अमिट है, उसे नारी की प्रकृति सर नवाकर आँचल के तले सहेज लेती है, पुरुष उस प्रलय को पी नहीं पाता, गले से उतरा नहीं कि छाती में आग लग गई। सम्भव है, होश रहते वह उस शोले की लौ को जबान तक उठने नहीं दें, पर नारी तो जान रहते उसे आँखों के आईने तक भी झाँकने नहीं देती।"

"नारी की प्रकृति के तले बैठी है विश्व की चिरन्तनी नारी—त्याग और सेवा की सहज वृत्ति। पुरुष में यह प्रेरणा शायद उसकी महत्त्वाकांक्षा की तह से फूटती है, इसीलिए तो वह आदर्श की ऊँचाई छूने को बड़ी तरगमा से झपट कर उठती है, पर चोटी की तपस्या पर टिक नहीं पाती।"[1]

जहाँ तक उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक सत्य को कलात्मक रूप देने का सम्बन्ध है राजासाहब किसी हद तक सफल रहे हैं। 'सुधा' के चरित्र में आरम्भ से अंत तक गम्भीरता का निर्वाह किया गया है। अजीत के प्रति उसकी जो भावनाएँ हैं उनकी झाँकी सतर्क पाठक को स्थान-स्थान पर मिलती रहती है। उसने अपने ऊपर इतना संयम रखा, प्रेम और कर्तव्य का साथ-साथ इतनी कुशलता से निर्वाह किया कि वह किसी हद तक असाधारण हो उठी है। लेखक ने भी मनमाने ढंग से उसका संचालन किया है। पति से अलग कराके उसे खादी और चर्खे की ओर लाए तथा वहाँ से भी अजीत के आश्रम में भेज दिया। जैसा कि अन्यत्र कई स्थानों पर कहा जा चुका है हिन्दी के लेखकों में अभी कलात्मक निःसंगता नहीं आई है। पात्रों का संचालन परिस्थितियाँ नहीं करतीं हैं बल्कि लेखक करता है। इससे कहानी में मनोरंजकता भले ही आ जाय यथार्थता नहीं आ पाती। बिन्दी के पतन का जो कारण बताया गया है उसपर बहुत अधिक आग्रह हो गया है। एक बार रस भरी जलेबी खा लेने से ही उसके सम्पूर्ण जीवन की गति परिवर्तित हो गई। फिर भी पात्रों के चरित्र में पर्याप्त सजीवता है। अजीत, सुधा तथा भोला हमें शरत् बाबू के 'चरित्रहीन' की सावित्री, सतीश एवं उसके नौकर की याद दिला देते हैं। स्थान-स्थान पर हृदय को प्रभावित करनेवाली उक्तियाँ एवं परिस्थितियाँ मिलती हैं।

राजासाहब के उपन्यासों की सबसे बड़ी त्रुटि है उनकी भाषा। उनको मुहाविरेदार, उर्दू एवं हिन्दी के शब्दों से युक्त सानुप्रास भाषा प्रिय है। इस भाषा का अपना ही एक आकर्षण है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु उपन्यास में तो यथार्थता की अनुरूपता लाना ही उद्दिष्ट होता है। जिस भाषा

[1] देखो—'पुरुष और नारी' की भूमिका पृष्ठ ३

का व्यवहार राजासाहब करते हैं वह सामान्य जन की भाषा नहीं और कहीं-कहीं तो वह बड़ी कृत्रिम-सी लगने लगती है। इस अलकार-बोझिल भाषा से सारा प्रभाव नष्ट हो जाता है। एक नमूना देखिये। सुधा के विषय मे अजीत और उसकी भाभी से बातें हो रही हैं। भाभी कहती है—"बेचारी चमन पाती तो चहकती। इस सूने खडहर में क्या खाक चहकेगी। यह तो जनम की दुखिया है अजीत! भगवान् जाने इसके भाग्य की नैया किस घाट लगेगी।" "अजीत देखता है—भगवान् ने इस जनम की दुखिया को चितवन का धनी बनाकर उसके जनम के दैन्य की एवज नजरो की न्यामत नजर कर दी है।"

सवाद भी कहीं-कहीं बहुत लम्बे हो गये है जिनसे प्रवाह में स्थिरता का बोध होने लगता है। फिर भी वर्णन के ढग के कारण ही राजासाहब अपना एक अलग स्थान रखते है।

श्रीनाथ सिंह

प्रसिद्ध पत्रकार ठाकुर श्रीनाथसिंह ने अभी तक चार उपन्यास 'उलझन' (१९३४) 'जागरण' (१९३७) 'प्रभावती' और 'प्रजामण्डल' (१९४१) लिखे है। इनमे 'जागरण' ने पर्याप्त ख्याति पाई है। 'जागरण' अपने को नियन्त्रित रखनेवाली एक सजग बुद्धि की कृति है। इसकी भूमिका मे ठाकुर साहब ने कहा है कि उन्हाने ऐसी ही प्रेरणा के वशीभूत होकर लिखा है जैसी मुहम्मद ईसा अथवा हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों को हुआ करती थी। उनकी भूमिका से यदि भगवतीचरण वर्मा की भाँति उद्धत दर्प का नहीं, तो कम से-कम एक प्रकार के विश्वासयुक्त अभिमान का भाव अवश्य प्रकट होता है, जिसका तात्पर्य यह है कि जो कुछ उन्होंने लिखा है वह दोपरहित है। वास्तविकता यह है कि कहानी ग्रामसुधार की योजना पर आश्रित है—उसी प्रकार की जैसी महात्मा गाधी ने समझी और बताई है। महात्माजी के लिए अहिंसा और कष्ट एव आत्मशुद्धि के द्वारा आत्मज्ञान के सिद्धात जीती-जागती वस्तुएँ हैं। उस पुस्तक के पृष्ठों मे, और जैसा इस कहानी के पात्रो द्वारा दिखलाया गया है, ये सिद्धात जाते-जागते नहीं है और इसी कारण चलने फिरते, आगे बढते भी नहीं जान पडते। कारण ढूँढने दूर नहीं जाना पड़ेगा। उन्होने ऊपर ही ऊपर से उनकी वकालत की है। मुख्य भाव कहानी की तीव्रता की स्थिति पर पहुँचते टुकडे टुकड़े हो जाता है, लेखक के अनुसार उसके एकाएक प्रादुर्भूत होने की बात तो दूर रही। अत में हम नहीं समझ पाते कि सर कृपाशकर अपने कार्य-क्षेत्र को एकाएक छोड़कर क्यो वापस चले जाते है—राजासाहब और सेठजी के व्यवहार के कारण अथवा

निराश होकर। जो भी हो पुस्तक के छिद्र साधारण से साधारण पाठक को भी दिखाई पड़ जायँगे। अछूतों के विषय में लंबे-लंबे वाद-विवाद, राजा के कर्मचारियों की नृशंसता, स्त्रियों का उद्धार राजनीतिक अस्त्र के रूप सत्याग्रह की उत्कृष्टता एवं प्रभावोत्पादकता—ये सब बातें दी हुई परिस्थितियों से स्वभावतया नहीं निकलती हैं, वरन् उनका इस कारण समावेश है कि ऐसी बातें होनी ही चाहिए, उसी प्रकार जिस प्रकार पत्रकार कहा करते हैं कि अमुक-अमुक बातें पत्र में होनी ही चाहिए।

जहाँ तक कथा-वस्तु के प्रबंध का संबंध है, सदैव दैवी सहायता अथवा हवाई जहाज बड़ी आसानी से लेखक की इच्छानुसार उपस्थित हो जाते हैं। संक्षेप में उपन्यास स्पष्ट रूप से प्रचारात्मक है। लेखक की सदाशयता स्पष्ट है। शिक्षा रूपी गोलियाँ कहानी की चासनी में लपेट दी गई हैं। इससे शायद उन्हें निगलने में साधारण पाठक को सहायता मिलती है।

अन्य उपन्यासकार

प्रेमचन्द-युग के कुछ प्रमुख उपन्यासकारों का किंचित् विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त भी अनेक उपन्यासकारों ने उत्तम उपन्यासों की रचना की किन्तु सबके विस्तृत वर्णन-विवरण का अवकाश नहीं है।

अवधनारायण कृत 'विमाता' (१९२३ द्वि० सं०) नामक उपन्यास पर्याप्त सफल रहा। इसमें रघुनन्दन नामक एक मातृहीन बालक की करुण कहानी अंकित है। इस उपन्यास में विमाता द्वारा किये गये अत्याचारों का विशद वर्णन हुआ है। घटनाएँ एवं पात्र सभी सजीव हैं।

'वरमाला' नाटक के यशस्वी लेखक गोविन्द वल्लभ पंत ने भी 'सूर्यास्त' (१९२२), 'प्रतिमा' (१९३४), 'मदारी' (१९३६), 'जूनिया' (१९३८), 'अमिताभ' (१९४६), 'एकसूत्र' (१९४६), 'अनुरागिनी' (१९४७), 'नूरजहाँ' (१९४९), 'मुक्ति के बन्धन' (१९५०), 'यामिनी' (१९५३) आदि अनेक उपन्यास लिखे। इनके उपन्यासों का वातावरण निराला होता है। 'मदारी' केवल इने-गिने पात्रों का उपन्यास है परन्तु पर्याप्त मोहक है। इसमें एक युवा मदारी को पर्वतीय उपत्यकाओं में अपनी झोली लिए इधर से उधर भटकाते फिरे हैं और इस भ्रमण में ही उसके चरित्र को क्रमशः अनावृत करते गये हैं। बिना ताज के उस नवाब का प्रेम बड़ा ही प्रकृत एवं प्रोज्ज्वल है। 'प्रतिमा' एक काल्पनिक कहानी पर आश्रित है। एक द्वीप के राजा को जलदस्युओं ने किस कौशल से बिना युद्ध हुए बन्दी करके राज्य हस्तगत कर लिया और फिर किस प्रकार एक कलाकार के द्वारा बन्दी राजा एवं उसके राज्य का उद्धार हुआ इसी का चित्र

अंकित है। 'जूनिया' में एक प्रेमकथा वर्णित है। इसमें जूनिया तथा उसके प्रिय कलाकार का चित्रण बड़ा मोहक है। जूनिया का वह 'झाँझर नाव नदी मतवाली, मैं उस पार चलूँगी आली' का हार्प पर गाना और फिर वेदना लिए हुए समुद्र में विलीन हो जाने वाला दृश्य हृदय पर अमिट छाप छोड़ जाता है।

'अमिताभ' पतजी का ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें गौतम बुद्ध की जीवनगाथा वर्णित है। उनका जन्म, बाल्यकाल, विवाह, वैवाहिक जीवन, महाभिनिष्क्रमण से लेकर मृत्युपर्यन्त तक की प्रमुख घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है। जहाँ तक ऐतिहासिकता का सम्बन्ध है पतजी उसकी रक्षा में सफल हुए हैं। उस युग के समाज एव जीवन-रीतियों का भी सजीव वर्णन है। भाषा बड़ी ही कोमल एवं काव्यमय है। यद्यपि कथा से परिचित होने के कारण कुतूहल तत्त्व का आकर्षण कम हो जाता है फिर भी वर्णन में स्वतः काव्य का-सा आनन्द आता है। वस्तुत. यह जीवन-चरित्र और उपन्यास के बीच की वस्तु है।

उस युग के कतिपय अन्य लेखक एव उनकी कृतियाँ निम्नाकित हैं :—

मन्नन द्विवेदी : 'रामलाल' (१६१७), 'कल्याणी' (१६२१), जगदीश झा 'आशा पर पानी' (१६२५), **विश्वम्भरनाथ जिज्जा :** 'तुकरुणी' (१६२५), **घनीराम प्रेम** · 'मेरा देश' (१६२६`, वेश्या का हृदय' १६३३`, **शिवनाथ शास्त्री :** 'मझली बहू' (१६२८), **यदुनन्दन प्रसाद :** अपराधी' (१६२८), **विश्वनाथ सिंह शर्मा** . 'कसौटी' (१६२६), **शम्भूदयाल सक्सेना** 'बहुरानी' (१६३०), **प्रफुल्लचन्द्र ओझा :** 'पाप और पुण्य' (१६३०), **जहूर बख्श** 'स्फुलिंग' (१६३१), **शिवरानी देवी :** नारी हृदय' (१६३२), **चन्द्रशेखर शास्त्री** . 'विधवा के पत्र' (१६३३), रूपनारायण पाण्डेय · 'कपटी' (१६३४)।

उपसंहार

नीति-उपदेश-प्रधान, अद्भुत कथानक-चमत्कार-बहुल, स्वच्छन्द कल्पनाश्रित प्रारम्भिक उपन्यासों से आगे बढ कर प्रेमचन्द ने उपन्यास को यथार्थ जीवन-चित्रण का उत्कृष्ट माध्यम बनाया और उसे अभूतपूर्व साहित्यिक गुरुता प्रदान की। वह युग सामाजिक राजनीतिक जागरण का था। एक ओर तो प्राचीन सामाजिक व्यवस्था की विषमता से उनके प्रति सन्देह उत्पन्न होता जा रहा था और दूसरी ओर एक उत्कट राजनीतिक चेतना का उदय हुआ था। किन्तु राजनीतिक उद्देश्य जितना स्पष्ट था उतना सामाजिक उद्देश्य नहीं। सामाजिक विकृति के प्रति असन्तोष था, सामाजिक विषमता से उत्पीडित व्यक्ति के प्रति सहानुभूति थी किन्तु सामाजिक मूल्यों तथा वैयक्तिक मूल्यों की सीमाएँ स्थिर नहीं

हुई थीं। ज्ञान-विज्ञान के नये प्रकाश में परम्परा प्राप्त सामाजिक मान्यताएँ त्रुटि-पूर्ण मालूम हो रही थीं किन्तु व्यक्ति पर इनका संस्कारजन्य इतना प्रबल प्रभाव था कि इनका छोड़ना कठिन हो रहा था। यही कारण है कि उस युग के उपन्यास-लेखकों ने समस्या को उठाया, परिस्थिति की विषमता को उसके यथार्थ परिवेश मे चित्रित किया, व्यक्ति की दयनीयता को सम्पूर्ण सहानुभूति से प्रत्यक्ष किया, नवीन मानव-मूल्यों की ओर सकेत किया किन्तु निश्चित रूप से इन मूल्यों का स्वरूप स्थिर नहीं कर सके। यह तत्कालीन परिस्थितिजन्य उनकी विवशता थी। प्रेमचन्द की महत्ता इसमें नहीं है कि उन्होंने सामाजिक मान्यताओं की अति प्राचीन, जर्जर इमारत को समूल धराशायी कर नये भवन का निर्माण किया। उनकी महत्ता तो इस बात में है कि उन्होंने उस जर्जर भवन को गहरी रेखाओं में चित्रित कर उसके खतरों से हमे अवगत करा दिया। वह उसे समूल नष्ट करने के पक्ष में भी नहीं थे। वह तो उसकी मरम्मत कर, आवश्यक परिवर्त्तन कर उसे पुनः प्राचीन भव्यता प्रदान करने के पक्षपाती थे। यही कारण है कि चित्रण में यथार्थ वादी शैली का उपयोग करके भी उद्देश्य में प्रेमचन्द आदर्शवादी ही रहे। कौशिक ने पूरी तरह से प्रेमचन्द का अनुगमन किया।

प्रसाद का दृष्टिकोण प्रेमचन्द से किंचित् भिन्न था। उन्होंने समाज के ज्वलन्त प्रश्नों, उसकी अनेक पक्षीय समस्याओं को चित्रित करके भी उनका कोई आदर्शवादी समाधान नहीं प्रस्तुत किया। प्रेमचन्द के समान 'प्रेमाश्रम' या 'सेवासदन' की स्थापना को वे इन ज्वलन्त समस्याओं का स्थायी समाधान नहीं मानते थे। उन्होंने मानव की सबलता दुर्बलता को अनासक्त भाव एवं कलाकार के सम्पूर्ण सयम से चित्रित करने का प्रयास मात्र किया। उनकी शैली किंचित् काव्यात्मक थी किन्तु उनकी दृष्टि नितान्त यथार्थवादी। इन दोनों लेखकों से किंचित् भिन्न वृन्दावन लाल वर्मा तथा उग्र रहे। इनके उपन्यासों मे रूमानी प्रेम की प्रमुखता है। वर्मा जी ऐतिहासिक वातावरण मे अपनी प्रेम कथाएँ प्रस्तुत करते हैं जब कि उग्रजी सामयिक धरातल पर ही रहते हैं। कतिपय उपन्यासों में जहाँ उग्र ने पापाचारों का वर्णन किया है वहाँ उन्होंने नग्न यथार्थवाद तथा प्रकृतिवाद की सीमाओं को स्पर्श किया है। किन्तु उपर्युक्त विभिन्नताएँ ऊपरी हैं। वास्तव मे इन सभी महान लेखकों की आन्तरिक भावना एक-सी है। प्रायः सभी ने सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों, धार्मिक आडम्बरों आदि के सुधार का आग्रह, दुःख-दग्ध मानवता के प्रति समवेदना, पीड़ित-व्यथित वर्ग के प्रति करुणा, तथा पतितों के उत्थान की आकांक्षा समान भाव से दृष्टिगोचर होती है। भावनोद्देश्य की इस एकरूपता के साथ ही साथ उपर्युक्त लेखकों की

विद्रोह का स्वर :

प्रेमचन्द-युग प्रधानतया प्राचीन संस्कृति, परम्परित आदर्श, सामाजिक मर्यादा के प्रति आस्था एवं विश्वास का युग था। सामाजिक विधि-निषेधों के वैषम्य एव तज्जनित मानवीय दुःख के प्रति जागरूक एवं सुधार की आकांक्षा रखते हुए भी प्रेमचन्द मान्य सात्विक आदर्शों के प्रति समझौता करके चले थे। प्रेमचन्द का 'होरी' स्वयं टूट जाता है किन्तु पच और विरादरी के विरुद्ध विद्रोह नहीं करता। उनकी 'निर्मला' वृद्ध पति को ब्याही जाकर घुटती रहती है किन्तु पातिव्रत धर्म से डिगती नहीं। उस युग के लेखकों ने विधवा के प्रति सहानुभूति प्रकट की, उनके पुनः विवाह की आवश्यकता की ओर सकेत भी किया किन्तु विधवा-विवाह के वर्णन को बचाते ही रहे। यह उन लेखकों की नहीं उनके युग की सीमा था। उस समय समाज ही प्रमुख था, व्यक्ति गौण। समाज के माध्यम से ही व्यक्ति के क्रियाकलापों की व्याख्या होती थी। प्रेमचन्दोत्तर युग में वैज्ञानिक विचारधारा की प्रमुखता ने वस्तुओं को देखने-परखने की नवीन दृष्टि दी। गत बीस वर्षों के अवकाश में एक ओर तो जनसाधारण की आर्थिक अवस्था बिगड़ती गई है और दूसरी ओर सामाजिक, राजनीतिक चेतना उद्बुद्ध होती गई है। भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता बढ़ी है। समाज एवं व्यक्ति की सीमाओं के सघर्ष में दिनों-दिन व्यक्ति के महत्व पर आग्रह होता जा रहा है। आधुनिक उपन्यास में सामाजिक यथार्थ की विरूपता को प्रत्यक्ष कर मानवीय दुःख, वेदना एवं आचरण की असगति के कारणों का अन्वेषण करने की प्रवृत्ति प्रबल हुई और मनुष्य के मानवीय पक्षों का अधिकाधिक उद्घाटन हुआ। परिणामस्वरूप सामाजिक बन्धन अस्वीकार किये जाने लगे और सात्विक स्वार्थों के विरुद्ध विद्रोह का सूत्रपात हुआ। 'तीन वर्ष' की 'प्रभा' विवाह को "स्त्री और पुरुष के बीच में आर्थिक सम्बन्ध के रूप में" मानती है। 'आखिरी दाँव' की 'चमेली' पति के अत्याचार से ऊब कर भाग निकलती है और परिस्थिति के प्रवाह में अनेक व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करती है। 'नदी के द्वीप' का 'भुवन' विवाह को सामाजिक बन्धन के रूप में स्वीकार नहीं करता और 'रेखा' भी अपनी प्रवृत्ति का ही अनुसरण करती है। इसी प्रकार 'देश-द्रोही', 'दिव्या', 'मनुष्य के रूप', 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख', 'जहाज का पक्षी' आदि आधुनिक उपन्यासों में मान्य सामाजिक बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह की प्रवृत्ति पाई जाती है। नागार्जुन का 'बलचनमा' 'होरी' की भाँति सामाजिक-सात्विक उत्पीडन को सिर झुकाकर सहता हुआ टूट नहीं जाता बल्कि इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "जैसे अँग्रेज बहादुर से सोराज लेने के लिए भैया लोग एक हो रहे हैं, हल्ला-गुल्ला और झगड़ा-झंझट मचा

रहे है उसी तरह जन-बनिहार, कुली-मजूर और बहिया-खवास लो हक के लिए बाबू-भैया से लडना पड़ेगा।"

जीवन-दर्शन :

यदि उपन्यासकार की कृति को केवल मनोरंजक न होकर इसके ऊपर उठना है तो आवश्यक है कि वह बहुत ही सबल एवं व्यापक विश्वासों का व्यक्ति हो। उसके लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि उसके मस्तिष्क के द्वार प्रवहमान युगीन विचारों के लिए उन्मुक्त हो वरन् उसे इन अव्यवस्थित विचारों को इस प्रकार नियोजित करना चाहिए कि उनके द्वारा जीवन के प्रति एक नित्य एव स्थाई दृष्टिकोण प्रतिभासित हो उठे और यह दृष्टिकोण ऐसा हो जिसका अनुभव पाठक स्वयं उस कृति मे कर सकें। समाज एव व्यक्ति की अनेकमुखी समस्याओ के समाधान की जो युक्ति उपन्यासकार प्रस्तुत करता है उसी से उसकी जीवन दृष्टि देखी जा सकती है। प्रेमचन्द के उपन्यास प्रधानतया गान्धीवाद से प्रभावित हैं। गान्धीवाद के भी दो धरातल है—एक व्यावहारिक और दूसरा आध्यात्मिक। परस्पर व्यवहार एवं सामाजिक राजनीतिक समस्याओं के समाधान में सत्य, अहिंसा तथा प्रेम का आचरण गान्धीवाद का व्यावहारिक धरातल है। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में प्रायः इसी धरातल पर रहे। आधुनिक उपन्यासकारों ने गान्धीवाद के अधिक उदात्त रूप मानववाद को अपनाया है जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण धर्म-दर्शनों में निहित मानव-प्रेम, करुणा, शान्ति, कल्याण आदि सद्गुणों का सार समेट लिया है। दुःखदग्ध मानव के प्रति अपार समवेदना से प्रेरित आधुनिक उपन्यासों का केन्द्र समाज न रहकर व्यक्ति बन गया और रूढ़ सामाजिक मान्यताओं एव वर्जनाओं की विषमता तथा वास्तविकता को अनावृत कर मानव-वेदना के प्रति सहानुभूति उभाड़ने का प्रयत्न किया गया। इस दृष्टिकोण का प्रवर्त्तन जैनेन्द्र द्वारा हुआ। प्रेमचन्द के समान जैनेन्द्र की भी गान्धीवाद मे आस्था है किन्तु उन्होंने उसके आध्यात्मिक पक्ष को अपनाया है। उनकी दृष्टि से मनुष्य परमार्थ मे एक होते हुए भी स्वार्थ मे विभक्त है। 'स्व' और 'पर' का विभेद माया है। जीवन की सिद्धि उनके भीतर अभेद अनुभूति मे है। यह अनुभूति अहकार के उत्सर्ग से सम्भव है। हृदय का उत्सर्ग अधिक स्थाई है। इससे भी ऊपर है अपने सर्वस्व का उत्सर्ग। जहाँ अपने प्रिय को पाने की कामना का भी उत्सर्ग है, जहाँ सर्वस्व समर्पण है वहाँ सर्वाधिक स्थायी तत्त्व है। जैनेन्द्र के अनुसार 'पर' के लिए आत्मत्याग एवं कष्ट-सहिष्णुता ही प्रेम और अहिंसा का सर्वोत्तम स्वरूप है। प्रेम से उद्भूत आत्मपीडन ही जैनेन्द्र के उपन्यासो की

मूल वृत्ति है। सियारामशरण गुप्त ने आन्तरिक सरलता, सदाचार, न्याय, सत्य-शीलता आदि पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार बुराई की शक्ति इसमें है कि वह भलाई से लडने के लिये उसको अपनी ही सतह पर ले आये, और भलाई की विजय इसमें है कि वह बुराई का अतिक्रमण कर जाय। भगवतीचरण वर्मा का आग्रह परिस्थितियों पर है। उनके अनुसार मनुष्य न पाप करता है और न पुण्य। वह वही करता है जो उसे करना पडता है। पाप और पुण्य मनुष्य की दृष्टिगत विषमता के परिणाम है। वर्माजी आत्मनिषेध या आत्मपीडन में आस्था न रखकर स्वस्थ उपभोग में विश्वास रखते है। अज्ञेय मानवतावादी आदर्शों से ओतप्रोत होते हुए भी बुद्धिवादी हैं। यही कारण है कि 'शेखर' प्रेम, अहिंसा तथा सुख के साथ ही-साथ लोक कल्याण के लिये घृणा, हिंसा और दुःख का भी उचित मात्रा में उपयोग मानता है। अज्ञेय दुःख तथा यातना के कल्याणकारी रूप में आस्था रखते हैं। जो वेदना तथा यातना जीवन को कुण्ठित न बनाकर-निर्माण की स्फूर्ति प्रदान करे वह स्पृहणीय है। प्रेम के लिए 'शशि' का आत्म-पीडन जैनेन्द्र की नायिकाओं के समान होते हुए भी उनसे भिन्न है। इलाचन्द्र जोशी की प्रवृत्ति मनोविश्लेषणात्मक है और वह मनुष्य के आचरण के लिए उसके अवचेतन मन को उत्तरदायी मानते हैं। छल, कपट, अपराध आदि के लिए चेतना के अन्तराल में दमित भावनाओं को प्रेरक मानकर चलने के कारण उनके पात्रों के आचरण की भयकरता कुछ कम सी हो जाती है। यह भी मानवी वादी दृष्टिकोण ही कहा जायगा। यशपाल का दृष्टिकोण मानववादी होते हुए भी भौतिक है। उनके अनुसार जीवन की प्रवृत्ति प्रबल और असदिग्ध सत्य है। जाति और धर्म का अहकार भेद की सृष्टि करता है किन्तु नियति के चक्र में इस प्रकार का कोई भेद-भाव नही। मानव का आचरण परिस्थिति-सापेक्ष्य है। अश्क ने 'गिरती दीवारें' मे निम्न मध्य वर्ग के जीवन की दम-घोंट परिस्थितियो का याथातथ्य चित्रण कर आर्थिक सामाजिक वैषम्य से उद्भूत विकृतियो के ध्वस की आवश्य-कताओं को ध्वनित किया है। ईश्वरीय न्याय के प्रति अन्ध श्रद्धा नागार्जुन को मान्य नहीं। वलचनमा सोचता है "चार परानी का परिवार छोडकर, मेरा बाप मर गया यह भी भगवान ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और माँ आम की गुठलियो का गूदा चूर-चूर कर फाँकती है, यह भी भगवान ठीक ही करते है। और सर-कार आप कनकजीर और तुलसीफूल के खुशबूदार भात, अरहर की दाल, परवल की तरकारी, घी, दही, चटनी खाते हैं, सो यह भी भगवान की ही लीला है।" आर्थिक एवं सात्विक स्वार्थों के विरुद्ध सघर्ष कर आर्थिक-सामाजिक समता स्थापित करने की आवश्यकता ही इनके उपन्यासो का प्रधान स्वर है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज के उपन्यासकार की दृष्टि मा वेदना, एवं कटु-अनुभूतियो की ओर अधिक है। कुछ लोग इसे एक आ... रूप देकर इन्ही के द्वारा प्रेम, कल्याण एवं एकता की आशा करते हैं। दूसरे समूह के लेखक जिनकी दृष्टि भौतिक है (जो अधिकतर मार्क्स के जीवन दर्शन से प्रभावित है) ईश्वर, धर्म, सामाजिक-सात्विक मर्यादा आदि की रूढ़ भावना को धराशायी कर मनुष्य की लौकिक समानता पर अधिक बल देते हैं। किन्तु दोनों ही प्रकार के लेखकों ने नवीन नैतिक मूल्यों की ओर सकेत किया है। ये मूल्य प्रधानतया मानववादी हैं। इनके अनुसार मानव-आचरणो के परीक्षण की परम्परित धारणा अतिरजित, एकागी एव अकल्याणकर है। मनुष्य का आचरण महत्त्वपूर्ण नहीं बल्कि उन आचरणों की प्रेरक प्रवृत्तियाँ, परिस्थितियाँ, मनोग्रन्थियाँ महत्त्वपूर्ण है। प्रेरणा के मूल स्रोत तक पहुँच जाने पर पापी, अपराधी, दुराचारी भी अपनी दुर्निवार विवशता में हमारी सहानुभूति के पात्र बन जाते हैं।

अन्तर्वृत्ति-विश्लेषण :

उपर्युक्त मनोवृत्ति के कारण आधुनिक उपन्यास की प्रवृत्ति अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक तथा मनोविश्लेषणात्मक होती गई है। प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यासकारों ने बाह्य क्रिया-कलापों एव घटना व्यापारो को ही प्रधानता दी थी। प्रेमचन्द ने मनुष्य के बाह्य आचरणों के साथ-साथ उसके विचारो एव अनुभूतियों का अंकन भी प्रारम्भ किया। भाव विचार-तरगों के साथ बाह्य क्रिया कलापों को सम्बन्धित कर उन्होंने अपने पात्रों को अधिक सजीवता, सप्राणता एव विश्वसनीयता प्रदान की। किन्तु धीरे धीरे मानव-मन की सचरण भूमियो का अन्वेषण-विश्लेषण ही प्रधान होता गया और आधुनिक उपन्यास व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति के आधार पर ही निर्मित होने लगे। व्यक्ति के अन्तर्मन में जो विभिन्न दिशावर्तिनी विचार उर्मियाँ तथा परस्पर प्रतिस्पर्धा भावा-वेग निरन्तर उठते गिरते रहते हैं उनकी प्रतिक्रिया हमारे बाह्य आचरणो मे प्रतिबिम्बित होती है। अब बाह्य आचरण से हटकर उपन्यास-लेखको का ध्यान व्यक्ति की इन रहस्यमयी आन्तरिक प्रवृत्तियो पर ही केन्द्रित हो गया। धीरे-धीरे चेतना के बाहरी स्तरों पर या अचेतन-अवचेतन स्तरों तक पहुँचने का प्रयत्न हुआ और मानवात्मा के अन्ततम प्रदेश के अविराम मन्थन को शब्द बद्ध करने का अभूतपूर्व प्रयास दिखाई पडा। आज की विकसित उपन्यास-कला में मनुष्य के वचन एवं कर्म पूर्णरूपेण मन के अधीन हो गये हैं।

इस दृष्टि को विकसित करने में मनोविज्ञान एव मनोविश्लेषण के आधुनिक

निष्कर्षों ने भी पर्याप्त प्रेरणा दी। फ्रायड, एडलर, जुंग, बर्गसाँ आदि मनीषियों ने मन की अनेक अन्तर्भूमियों का निर्देश किया और उन्हीं के प्रकाश में मानव-आचरणों की व्याख्या का मार्ग प्रशस्त किया। इस नवीन मनोविश्लेषण के अनुसार "आदिकाल से लेकर आज तक के विकास काल मे सृष्टि के एक अज्ञात रहस्यमय नियम के क्रम से जो-जो वृत्तियाँ मानव अथवा पूर्व मानव के भीतर बनती और बिगडती चली गई उनमें समयानुक्रम से सस्कार परिशोधन होते चले गये। पर जिन प्रारम्भिक वृत्तियों का परिशोधन हुआ वे नष्ट न होकर उसके अज्ञात चेतना लोक में सचित होती चली गई। विकास की प्रगति के साथ ही साथ परिशोधित वृत्तियो का पुनः परिशोधन हुआ और इस नये परिशोधन के पूर्व की वृत्तियाँ भी अज्ञात चेतना के उसी अतल लोक में छिप कर अज्ञात ही रूप मे सचित हो गई। यह क्रम आज तक बराबर प्रवर्त्तित होता चला गया है। इस अपरिमित दीर्घकाल के भीतर असख्य मूल पशु प्रवृत्तियाँ और उनके सस्कार उस अगाध, अज्ञात चेतना लोक में दबे और भरे पड़े है। आधुनिक मनुष्य ने सभ्यता के ऊपरी सस्कारों के लेप से अपने सफेद मन मे अवश्य सफेद-पोशी कर ली है पर जिस परदे पर वह सफेदपोशी की गई है वह इतना झीना है कि ज़रा-जरा सी बात में वह फट जाता है और उसमें तनिक भी छिद्र पैदा होते ही उसके नीचे दबी पडी पशु प्रवृत्तियाँ परिपूर्ण वेग से विस्फुटित होने लगती है। इन मूल पशु प्रवृत्तियों को जितनी ही जोर से सभ्य मनुष्य नीचे को दबाता है उतने ही प्रवेग से वे रबर की गेंद की तरह ऊपर से उछाल मारने लगती है।"[१]

मनोविश्लेषण का सर्वाधिक प्रचारित सिद्धान्त मनोग्रन्थियो या कुठाओ का है। इसके अनुसार हमारी दमित भावनाएँ या वासनाएँ ग्रन्थि बनकर अवचेतन मन में जा बैठती हैं और परोक्ष रूप से हमारे स्वभाव, चरित्र, एव आचरण को प्रभावित किया करती हैं। अचेतन मन मे छिपी हुई ये ग्रन्थियाँ हमारे मन में अकारण ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, करुणा, निराशा, मलिनता आदि अनेकानेक भावनाएँ उद्दीप्त किया करती है जिनके कारण व्यक्ति का मानसिक स्वास्थ्य खो जाता है, उसका सतुलन बिगड जाता है। अर्थ एव कामवासना के दमन से जो कुठाएँ बन जाती हैं वे बडी प्रबल होती है। फ्रायड के अनुसार मानव-चेतना को प्रेरणा प्रदान करनेवाली कामवृत्ति ही है जो जन्म से मृत्युपर्यन्त नाना रूप धारण करती हुई मनोगति का सचालन करती है। काम प्रवृत्ति को सयत रखकर, उसकी अभिव्यक्ति को उचित मार्ग देकर, उसे भव्यता प्रदान कर मनुष्य उसकी

---

१ इलाचन्द्र जोशी कृत 'प्रेत और छाया' की भूमिका से।

शक्ति को साहित्य, संस्कृति, सभ्यता आदि के विकास की ओर लगा सकता था। किन्तु अतृप्त काम-प्रवृत्ति जब कुंठा या मनोग्रन्थि बन कर अवचेतन मन में प्रविष्ट हो जाती है तो वह जीवन के स्वास्थ्य को नष्ट कर देती है और मनुष्य के चिन्तन एवं आचरण में अनेक प्रकार की असंगतियाँ दिखाई पड़ने लगती हैं। इन सिद्धान्तों के द्वारा मनुष्य के अध्ययन की एक नूतन मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली का आरम्भ हुआ। मन की गहराई में पैठने पर यह तथ्य उपलब्ध हुआ कि मनुष्य बाहर से, अपने क्रियाकलापों में जैसा दिखाई पड़ता है वह उससे भिन्न है। अतएव मात्र क्रियाकलापों के द्वारा उसके चरित्र की परख भ्रामक है। किसी व्यक्ति को वास्तविक रूप में समझने के लिए हमें उसके मन के विभिन्न स्तरों को उद्घाटित करना पड़ेगा। इस प्रकार यथार्थ का एक नया स्वरूप हमारे सामने आया।

मनोविश्लेषण के इन निष्कर्षों का योरोपीय कथा-साहित्य पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। श्रीमती वर्जीनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस, मार्शल प्रुस्ट, आन्द्रेजीद आदि प्रसिद्ध उपन्यासकारों ने मानसिक संस्कारों, मनोग्रन्थियों एवं मन की सचरण भूमियों को ही प्रधान आधार बनाकर अपने कथानक का निर्माण किया। हिन्दी में सर्वप्रथम जैनेन्द्र ने व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व को अपने उपन्यास का मूलाधार बनाया और व्यक्ति के अन्तर्मन को विक्षुब्ध करनेवाली भावनाओं का सूक्ष्माति-सूक्ष्म अंकन किया। 'परख' में बुद्धि और अंतस, का संघर्ष चित्रित किया गया। 'सुनीता' में 'हरि' तथा 'सुनीता' की यौन-कुण्ठाओं को एक दार्शनिक आवरण देकर 'स्व' और 'पर' के अभेद-निरूपण का प्रयत्न किया गया। 'त्याग पत्र' में विषम सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार आचरण करते हुए भी चेतना के प्रदीप्त प्रकाश में व्यक्ति की महत्ता प्रतिपादित की गई। 'सुखदा', 'विवर्त्त' और 'व्यतीत' में एक सीमा तक कुंठाओं से उत्पन्न वैचारिक एवं आचरणिक असंगतियों का वर्णन है। किन्तु जैनेन्द्र बड़े ही सजग एवं सतर्क कलाकार हैं और उन्होंने अपने पात्रों का मनोविश्लेषण इतने सहज, सम्वेद्य एवं हार्दिक ढंग से किया है कि वह आरोपित-सा नहीं लगता। उनमें केवल वैज्ञानिक विश्लेषण ही नहीं है आध्यात्मिक अन्वेषण भी है। यही कारण है कि अनेक आलोचकों को इनकी मनोविश्लेषण प्रणाली 'अस्पष्ट' तथा 'अनिर्दिष्ट'-सी लगती है। मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों को ही आधार बनाकर उपन्यास-रचना का सर्वप्रथम प्रयास इलाचन्द्र जोशी का ही समझना चाहिए। उन्होंने विभिन्न प्रकार की कुंठाओं से ग्रस्त व्यक्तियों की अहम्मन्यता, आत्मरति, मानसिक विकृति, बौद्धिक यन्त्रणा, संशय, सदेह, संताप, ईर्ष्या, मतिभ्रम, परपीडन, आत्मपीडन, निरुद्देश्य दौड़धूप आदि

का अपने उपन्यासों में वर्णन किया है। उनके अधिकाश पात्र मानसिक रोगों के शिकार है जो स्वयं ही अपने को नहीं समझ पाते। कभी-कभी कारण ग्रन्थियों के खुल जाने पर वे स्वस्थ भी हो जाते है। 'अज्ञेय' ने मानव मस्तिष्क पर प्रत्येक क्षण पड़ने वाले असख्य सस्कारों और उनसे उद्भूत विचार-तरंगों को शब्द बद्ध करने का प्रयास किया है। वाह्य दृष्टियो से अति सामान्य दीखने वाली बातें भी जल मे फेंकी ककडी के समान मन मे विचार-लहरियाँ उठा देती है जिनका व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पडता है।

अपने 'अतीत जीवन' के 'प्रत्यावलोकन' के प्रयास में 'शेखर' के 'चेतना-प्रवाह' में तरंग पर तरंग उठती चली जाती है जिसमे उसका सम्पूर्ण अतीत जीवन सूक्ष्मतम व्योरों के साथ प्रतिबिम्बित हो उठता है। 'शेखर' तथा 'नदी के द्वीप' दोनों ही उपन्यासों मे आत्मनिष्ठता का परम गम्भीर रूप देखने को मिलता है। उनमें विभिन्न प्रकार की कुठाओ एव उनके प्रभावों का भी वर्णन है किन्तु प्रधानतया वाह्य उद्दीपन की सूक्ष्मतम मानसिक प्रतिक्रिया के अकन में ही इनकी सम्पूर्ण प्रतिभा प्रदर्शित हुई है। यशपाल ने 'मार्क्स' और 'फ्रायड' दोनों से ही प्रेरणा ली है और उनकी कृतियों मे भी आर्थिक तथा यौन-कुठाओ की विकृतियाँ प्रदर्शित की गई है। किन्तु रचना प्रक्रिया में यशपाल सामाजिक यथार्थवादी अधिक है मनोविश्लेषक कम। 'अश्क' के पात्र आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक तथा यौनकुठाओ के शिकार है। किन्तु उनका मनोविश्लेषण सामाजिक यथार्थ की कठोर भूमि से अकुरित हुआ है। रचना-प्रक्रिया में अज्ञेय की भाँति उन्होने भी 'चेतना-धारा' तथा 'पूर्वदीप्ति' पद्धति का प्रचुरता से उपयोग किया है। आधुनिक युग के अन्य लेखकों पर भी आधुनिक मनोविज्ञान का पर्याप्त प्रभाव पडा है और वह विभिन्न रूपो मे अभिव्यक्त हुआ है।

इस सम्बन्ध में किंचित् सतर्कता अपेक्षित है। मनुष्य के सारे कार्य-व्यापारों में अन्तर्मन के अतल में दबी पडी प्रवृत्तियों का विशेष हाथ होता है—यह मनोवैज्ञानिक तथ्य व्यक्ति के चरित्राकन में महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि विज्ञान का ज्ञान कला का साधक मात्र होता है। आवश्यकता इस बात की है कि कलाकार उस ज्ञान को पूर्ण आत्मनिमज्जित करके ही कलात्मक अभिव्यक्ति करे। किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रकाश मे व्यक्ति को देखना बुरा नहीं। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि ध्यान व्यक्ति पर रहे सिद्धान्त पर नहीं। मनोविश्लेषक का मार्ग कलाकार का मार्ग नहीं। उसकी सहानुभूति विस्तृत होती है और उसमें मनोविश्लेषक की अपेक्षा अधिक गम्भीर जीवनानुभूति होती है। किसी भी व्यक्ति को उसके सम्पूर्ण परिपार्श्व में सजीव, सप्राण

रूप में प्रत्यक्ष करना ही उसका कर्तव्य है। यदि उसकी कृति से मानव सत्य की उपलब्धि हो सकी तो उसके कलाकार का कर्तव्य पूरा हो गया। विभिन्न प्रकार की मानसिक कुठाओं के उदाहरण प्रस्तुत करने मात्र से कोई महान चित्रकार नहीं बन सकता।

'अज्ञेय', 'अश्क' तथा अन्य उपन्यासकारों ने जिस चेतना-धारा (Stream of consciousness) वाली योरोपीय पद्धति का अपने उपन्यासों में प्रयोग किया है उसकी कतिपय सीमाओं का भी इस स्थान पर उल्लेख कर देना असगत न होगा। एक समय था कि योरोपीय उपन्यास जगत मे इस प्रणाली की मनोवैज्ञानिकता का—जिसका चरम प्रयोग 'यूलिसेस' (Ulisses) में हुआ—बडा बोलबाला था। किन्तु आज वहाँ भी इस प्रणाली की त्रुटियाँ स्पष्ट हो गई है। इसका सबसे बडा दोष यह है कि असम्भावित एव अप्रत्याशित विचार तरंगो के अंकन के प्रयत्न में कथा की कडियाँ टूट जाती हैं और प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। अधिकाश पाठक जीवन का यथार्थ इतिहास जानने की इच्छा से नहीं, कथा के मोह से ही उपन्यास लेकर बैठते है। यही कारण है कि जेम्स ज्वायस के महान् प्रयोग की प्रशसा तो अधिक होती है किन्तु वह पढा कम ही जाता है। वर्जीनिया वुल्फ के उपन्यास यदि पढे जाते है और उनका आकर्षण यदि कम नही हुआ है तो उसके दो कारण हैं। एक तो है उनका आकार-लाघव और दूसरा लेखिका की पारमार्जित, परिष्कृत एव प्रदीप्त शैली। एक बात और। मनोविश्लेषण की पुस्तकों मे हमारे उपचेतन प्रवाह पर जितना जोर दिया गया है उस सबका प्रयोग उपन्यास में करना उसे व्यावहारिक यथार्थ से दूर ले जाना है। यदि किसी घटना-विशेष के आघात से या परिस्थिति-विशेष मे पिछली बातो का स्मरण हो भी जाता है—यद्यपि यह भी सदैव सम्भव नहीं है—तो वह इतना अस्पष्ट एव आकारहीन होता है कि उसको उसकी सम्पूर्णता मे फिर याद करना किसी भी व्यक्ति—अतएव किसी भी उपन्यास के पात्र—के लिए सम्भव नहीं। अतएव जब हम पाते हैं कि कोई पात्र अपने गत जीवन की घटनाओं का समस्त पूर्णता से स्मरण करता है तो हमें उपन्यास की यथार्थता में सन्देह हो उठता है। इसलिए इस पद्धति का प्रयोग करनेवाले उपन्यासकारो के लिए अत्यधिक सतर्कता अपेक्षित है।

सामाजिक यथार्थ

साहित्य में सामाजिक यथार्थ को देखने समझने की दृष्टि भी भिन्न-भिन्न रही है वैसे इसका सहज शब्दगत अर्थ तो यही है कि समाज जैसा हो वैसा ही

कामासक्ति है। इस उपन्यास के प्रायः सभी मुख्य पात्रों की समस्या विवाह एव यौन-आकर्षण की समस्या है। सामाजिक-नैतिक मान्यताओं की अवहेलना करके व्यक्ति की काम कुठाओं एव यौन-विकृतियों का चित्रण ही मानों इस उपन्यास का लक्ष्य है। 'अश्क' के उपन्यासों में भी काम-कुठाओं के चित्र भरे पड़े है। 'गिरती दीवारें' का चेतन तो अतृप्त वासना के रोग से बुरी तरह ग्रस्त है और वह जिस किसी जवान लडकी को देखता है—चाहे वह कैसी ही गंदी या भद्दी हो—उसकी नसों का रक्त उबलने लगता है। प्रकाशो, केशर, नीला आदि अनेक लड़कियाँ उसकी लोलुप दृष्टि का शिकार बनती हैं। केशर के शरीर का अल्हडपन तो उसे मतवाला बना देता है और उसे अपनी पालतू बिल्ली के समान गोद में उठाकर कोठरी मे ले जाता है और चारपाई पर डाल देता है। 'गर्मराख' भी अवैध यौन-सम्बन्ध की कहानी है। बेचारी सत्या जी मूक भाव से शरीर-समर्पण करके भी अपने प्रिय के मन को अपनी ओर आकर्षित नही कर पाती। इधर के अन्य लेखकों ने भी अवैध प्रेम सम्बन्धों तथा यौन-विकृतियों का अपने उपन्यासों में अधिकाधिक वर्णन किया हैं। अमृत राय के 'बीज' की राज अनमेल विवाह का शिकार बन अतृप्त वासना की तृप्ति के लिए भटकती हुई बुरी तरह महेन्द्र के द्वारा छली जाती है। 'डूबते मस्तूल' की रजना को परिस्थितयों के प्रवाह में अनेक व्यक्तियों से विवाह एव यौन सम्बन्ध स्थापित करना पडता है। उसका लावण्य, उसका नारी शरीर मानों पुरुषों के निरतर उपभोग के लिये ही निर्मित हुए हो। काम वासना का सबसे घिनौना रूप द्वारिका प्रसाद ने अपने 'घेरे के बाहर' नामक उपन्यास में प्रस्तुत किया है जिसमें एक युवक अपनी चचेरी बहन से ही यौन सम्बन्ध स्थापित करता है। यह उपन्यास अत्यधिक अश्लील हो गया है।

मानव जीवन में अनेक दुर्बलताएँ एवं विकृतियाँ भरी पडी हैं। भूख के समान भोग भी एक मूल प्रवृत्ति है और ऊपर से अत्यधिक सरल, सज्जन एव सदाचारी दिखलाई पडने वाले व्यक्ति के भीतर भी नारी रूप के प्रति बडी उत्कठा होती है। स्त्री-पुरुष का आकर्षण चिरतन है और यही एक दूसरे की सबसे बडी दुर्बलता है। अतएव आज के उपन्यासकार जिन सूक्ष्म ब्योरों के द्वारा कामचेष्टाओं, कुठाओं, विकृतियो आदि का वर्णन करते हैं उनकी यथार्थता से इनकार नही किया जा सकता। मानव मन इतना जटिल है कि उसे जानना कठिन है। किसके प्रति, किस बात पर हमारा आकर्षण हो जायगा कहा नही जा सकता। अपनी पत्नी अथवा पति के रहते हुए भी दूसरो के साथ रग-रहस्य मे क्यो एक विशेष प्रकार का आनन्द आता है, वह कौन सी दुर्निवार

प्रवृत्ति है जो अपनी संतति की भी उपेक्षा कर नारी को परपुरुष की ओर भगाती है, इसे मनोवैज्ञानिक ही बता सकेंगे। किन्तु यह जीवन का सत्य है, वास्तविकता है। अतएव उपन्यासकार यदि तटस्थ भाव से इनका चित्रण करता है तो वह जीवन का ही चित्रण है। किन्तु साहित्य का उद्देश्य क्या है? सृष्टि के इस दीर्घ अवकाश में मनुष्य जो अपनी पशुता को दबाता हुआ मनुष्यता तक पहुँचा है साहित्य क्या उसी पशु-स्तर पर रख कर ही मनुष्य का चित्रण करे। समाज ने सामूहिक मंगल के लिए जिन संस्थाओं का विकास किया सम्भव है उनमें संस्कार, संशोधन, परिवर्त्तन की आवश्यकता हो। किन्तु उनकी कतिपय त्रुटियों के आधार पर उन्हें समूल ध्वस्त कर देने का प्रयत्न भयावह हो सकता है। उदाहरण के लिये विवाह की संस्था है। भारतवर्ष में विवाह एक पवित्र एवं मंगलमय जीवन-धर्म माना गया है। यदि इसे केवल वासना-तृप्ति का साधन मान लिया जायगा तो समाज में अराजकता उत्पन्न हो जायगी। कभी-कभी विवाह का बन्धन व्यक्ति के लिए महान उत्पीड़न बन जाता है। किन्तु इसके अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए। कम से कम इस देश में तो पत्नीत्व की मर्यादा में आज भी लोकरुचि का बहुमत है। फिर, कुंठित व्यक्तित्व की काम-चेष्टाओं के वर्णन का पाठक पर क्या प्रभाव पड़ेगा इसका भी ध्यान रखना चाहिए। प्रायः लोगों को कहते सुना गया है कि 'नदी के द्वीप' नामक उपन्यास सबके पढने योग्य कृति नहीं है। काम-कुंठाओं तथा यौन-प्रसंगों के चित्रण में बडी ही सतर्कता अपेक्षित है। मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति तो समझ में आती है किन्तु उन प्रवृत्तिजन्य दुर्बलताओं का ही उत्तेजक तथा अतिरंजित वर्णन न तो जीवन का सम्पूर्ण चित्र कहा जायगा और न वह लोक-कल्याणकारी ही होगा। जीवन की व्यापकता में से मात्र काम विकृतियों को चुन-चुनकर प्रत्यक्ष करना किसी भी साहित्य के लिए शुभ नहीं कहा जा सकता।

शिल्प-प्रयोग

उपन्यास प्रधानतया यथार्थ जीवन-चित्रण का प्रयास है। समय के परिवर्तन के साथ ही साथ जीवन के नये रूप, नई समस्याएँ सामने आती हैं और इन नूतन जीवन तथ्यों की अभिव्यक्ति के लिए साहित्यकार को नूतन साहित्य-शैलियाँ भी अपनानी पडती है। शैली सम्बन्धी नये प्रयोग बहुत कुछ साहित्यकार की जीवनानुभूति के स्वरूप पर निर्भर होते हैं। इन प्रयोगों को भी हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। जहाँ केवल कथन-शैली का चमत्कार-प्रदर्शन ही अभीप्सित है, वक्तव्य वस्तु में कोई नवीनता या गहराई नहीं है वहाँ प्रयोग, मात्र

प्रयोग के लिए ही समझना चाहिए। किन्तु जहाँ भावानुभूति की तीव्रता, वक्तव्य वस्तु की नवीनता, जीवन सत्यों की गम्भीरता की अभिव्यक्ति के प्रयास में नवीन रूपविधान अनिवार्य हो जाता है वहीं वास्तविक साहित्यिक प्रयोग समझना चाहिए। इस प्रकार का प्रयोग किसी न किसी अश तक प्रत्येक महान् साहित्यकार की कृति में देखा जा सकता है।

प्रेमचन्द ने हिन्दी में एक विस्तृत चित्रपट पर, कार्य-कारण शृखला से युक्त, सुव्यवास्थित एव सुनियोजित कथा के द्वारा जीवन को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करने का प्रयास किया था। सम्पूर्ण प्रेमचन्द-युग में इसी परम्परा का पालन होता रहा। इस युग के प्रायः अन्त मे जैनेन्द्र की कृतियों द्वारा किंचित् नूतन रूप-विधान का जन्म हुआ। उनकी कृतियों मे कहानी पर अधिक आग्रह न होकर चरित्र के मनोविश्लेषण पर ही पूरा बल दिया गया। यही कारण है कि 'जगह जगह कहानी के तार की कडियाँ' टूटी हुई सी लगती हैं। "कहीं एक साधारण भाव को वर्णन से फुला दिया है, कही बारीकी से काम लिया है, कही लापरवाही से, कही हल्की-धीमी कलम से काम लिया है, कही तीक्ष्ण और भागती से।"[१] उनके विचार से "यह सब कुछ चित्र में खूबी और असलियत लाने के लिए जरूरी हो पडता है। यह कम-ज्यादे रग की शोभा रग विरंगेपन में और स्वाद देती है।"[२] इलाचन्द्र जोशी में भी मनोविश्लेषण की प्रधानता है। किन्तु रूप-विधान की दृष्टि से इन दोनों लेखकों में कोई विशेष परिवर्तन या प्रयोग नहीं है। कहानी सुनाना इनका उद्देश्य भले ही न हो किन्तु इनका चरित्र-विश्लेषण कार्य-कारण शृखला से आबद्ध होकर कहानी के रूप में ही अभिव्यक्त हुआ है। यह कहानी बाह्य जीवन-व्यापार की उतनी नहीं है जितनी व्यक्ति के अन्तर्जगत की।

"शेखर : एक जीवनी" हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र मे प्रथम वास्तविक प्रयोग है। यह पुरानी उपन्यास-परम्परा से भिन्न कृति है। इसका सबसे बडा प्रमाण तो यही है कि अनेक आलोचकों ने इसे उपन्यास मानने से ही इनकार कर दिया है। प्रस्तुत पक्तियों के लेखक ने इस युग के एक शीर्षस्थ उपन्यासकार से जब 'शेखर' के विषय में उनकी सम्मति माँगी तो वह किंचित् गम्भीर हो गये और फिर बोल पड़े—"It is a precious document"। वाक्य की ध्वनि स्पष्ट है। मूल्यवान् विचार-निधि होते हुए भी यह परम्परित अर्थ मे उपन्यास नहीं है। इसका रूप शिल्प नितान्त नवीन है। इसमें न तो कोई पूर्वनियोजित एव व्यवस्थित कथा-प्रसग है, न वर्णनो में कोई कार्य-कारण-शृंखला। इसका कारण यह

१ 'परख' की भूमिका। २ वही।

है कि इसमें अंकित घटना-प्रसंग अथवा विचार-तरग बडी ही विषम परिस्थिति में शेखर के मन में उदित हुए हैं। उसे फाँसी की सजा मिली है और उसने मृत्यु की अनिवार्यता को पूरी तरह हृदयगम कर लिया है। आसन्न मृत्यु की छाया में बैठा हुआ यह व्यक्ति अपने अतीत जीवन को स्मृति के प्रकाश मे पुनः देख रहा है। मृत्यु के कुछ पूर्व स्मृतियाँ बडी स्पष्ट हो जाती हैं। इन्हीं स्मृतियों का अंकन शेखर की जीवनी बन गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ 'पूर्व दीप्ति' (Flash book) की पद्धति पर निर्मित है। चूँकि स्मृतियाँ सुसम्बद्ध रूप में उदित नहीं होती अतएव शेखर की इन स्मृतियों में भी कोई निश्चित श्रृङ्खला नहीं है। वे अधिकतर विश्रृङ्खल हैं। शेखर का मानस इतना तरल रहा है कि जीवन की छोटी से छोटी घटनाओं की भी उसके भीतर एक विशेष प्रतिक्रिया हुई है, उसी प्रकार जैसे एक क्षुद्र कंकडी भी जल को तरगायित कर देती है। बाह्य उद्दीपनों की मानसिक प्रतिक्रिया के वर्णन से यह ग्रन्थ अग्रसर होता है। वस्तुगठन में पूर्व दीप्ति एव खण्ड-चित्रों की पद्धति का प्रयोग हिन्दी में सर्वप्रथम गुलेरी जी ने 'उसने कहा था' नामक कहानी में बडी सफलतापूर्वक किया था। किन्तु इस पद्धति पर इतना बडा उपन्यास लिख डालने का कौशल : शेखर एक जीवनी मे ही दिखाई पडा। अश्क ने 'गिरती दीवारें' में भी चेतना-प्रवाह तथा पूर्वदीप्ति-पद्धति का सफल उपयोग किया है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में दूसरा 'अभिनव प्रयोग' है पडित हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा'। 'कथामुख' तथा 'उपसहार' में 'दीदी' की कहानी कहकर लेखक ने बड़े कौशल से यह भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास किया है कि इस कथा के वक्ता स्वयं बाणभट्ट हैं। यद्यपि प्रथम पुरुष में, अथवा डायरी-शैली मे कथा कहने की परम्परा पुरानी है किन्तु 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की नवीनता उसी कौशल मे है जो पाठक को इस भ्रम में डाल देता है। यह ऐतिहासिक उपन्यास संस्कृत की कथा-आख्यायिका के ढग पर लिखा गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ बीस उच्छ्वासो मे विभक्त है। आरम्भ में वन्दना है। ऊपर से देखने पर शैली में 'कादम्बरी' की शैली की सानुरूपता है—इसमें भी 'रूप का, रंग का, शोभा का, सौन्दर्य का जम कर वर्णन किया गया है।' अलकृत वर्णन, समास गुम्फित पदावली, रसानुबोध आदि की दृष्टि से यह कथा-आख्यायिका-शैली का अनुकरण करने में पूर्ण सफल रहा है। किन्तु इसकी अपनी विशेषताएँ भी स्पष्ट हैं। भावों के उतार-चढाव के साथ यहाँ भाषा भी रूप रग बदलती चलती है। "जहाँ उसके (कथाकार) भावावेग की गति तीव्र होती है, वहाँ वह जमकर लिखता है परन्तु जहाँ दुख का आवेग बढ़ जाता है वहाँ उसकी लेखनी

शिथिल हो जाती है। × × × सस्कृत साहित्य में यह शैली एक दम अपरिचित है। × × × एक बात और है कादम्बरी में प्रेम की अभिव्यक्ति में एक प्रकार की दृप्त भावना है परन्तु इस कथा मे सर्वत्र प्रेम की भावना गूढ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है। × × × फिर कादम्बरी में प्रेम के जिन शारीरिक विकारो का—अनुभावों का, हावों का अयत्नज अलकारों का—प्राचुर्य है उनके स्थान में कथा मे मानस विकारो का—लज्जा का, अवहित्था का, जडिमा का—अधिक प्राचुर्य है।"[1] इस प्रकार इस उपन्यास में कथा-आख्यायिका की प्राचीन भारतीय शैली तथा चरित्र-वर्णन की आधुनिकतम शैली का अपूर्व सयोग है।

मान्य साहित्यकारों के उपर्युक्त प्रयोगों के अतिरिक्त हिन्दी उपन्यास-शिल्प में जो अन्य प्रयोग हुए हैं वे नई पीढ़ी के उन लेखकों द्वारा किये गये हैं जिनकी कृतियाँ पिछले दस वर्षों में ही प्रकाश में आई है। इन कृतियों में परिवर्तित परिस्थितियों तथा नवीन जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति के लिए नूतन शिल्प-कौशल अपनाये गये हैं जिनके द्वारा हिन्दी उपन्यास में इन थोडे से वर्षों में ही अभूत-पूर्व रूप वैविध्य दिखाई पडा है। इनमें धर्मवीर भारती कृत "सूरज का सातवाँ घोडा" शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' कृत "वहती गगा" गिरिधर गोपाल कृत "चाँदनी के खण्डहर" सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल', प्रभाकर माचवे का 'परंतु' फणीश्वर नाथ रेणु का 'मैला आँचल' तथा 'परती परिकथा' और नागार्जुन के 'बाबा बटेसर नाथ' उल्लेखनीय हैं।

'सूरज का सातवाँ घोडा' मे एक ही व्यक्ति माणिक मुल्ला द्वारा कही गई छ स्वतन्त्र सी लगने वाली कहानियो में बड़े कौशल से संबध-सूत्र स्थापित करके उपन्यास का रूप दे दिया गया है। कहानी कहने की रीति पुरानी 'किस्सागोई' वाली है जिसमें कहानी में से कहानी निकलती है। किंतु उपन्यासकार ने बड़े कौशल से अपने कथ्य के अनुरूप इसे नया रूप दे दिया जिससे इसमे अभिनव आकर्षण आ गया है। 'वहती गगा' में भी अनेक स्वतन्त्र कहानियाँ हैं किंतु उनके द्वारा सामूहिक रूप से काशी तथा उसके निकटवर्त्ती प्रदेशो की २०० वर्षों की जीवन-धारा अविरल गति से प्रवाहित होती हुई दिखाई पड़ती है। यह कृति मुख्यतया कहानियों का सग्रह है जिसकी प्रत्येक कहानी अपने आपमें पूर्ण स्वतन्त्र है। उनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ, सब मिलकर काशी का एक

---

[1] 'बाणभट्ट की आत्मकथा'—'उपसहार'।

निर्दिष्ट अवधि का इतिहास प्रस्तुत करती हैं। 'चाँदनी के खण्डहर' एक लघु उपन्यास है जिसमे एक मध्यवर्गीय परिवार के २४ घटे के जीवन का वर्णन है। इस सक्षिप्त अवकाश की जीवनचर्या से ही लेखक ने बड़े कौशल से उस परिवार की जर्जर आर्थिक स्थिति और तज्जन्य नैराश्य, उदासी, घुटन एव कुठा आदि को सजीव कर दिया है। 'सोया हुआ जल' में एक डाकबँगले में टिके हुए यात्रियो के केवल एक रात की जिन्दगी का वर्णन है जिसे सिनेरियो-टेकनीक कहा जा सकता है। इसकी प्रमुख विशेषता है प्रतीकात्मकता। प्रभाकर माचवे का 'परन्तु' भी एक शुद्ध प्रयोगवादी उपन्यास है। इसमें कतिपय पढे-लिखे पात्रो की 'चेतना-धारा' को शब्द-बद्ध करने का प्रयास किया गया है। ये अध्येता पात्र अपनी चिन्तन-प्रक्रिया के बीच-बीच में पठित ग्रन्थो से उद्धरण देते चलते हैं और ८४ पृष्ठो के इस उपन्यास मे एक चौथाई पृष्ठ उद्धरणो ने ही घेर लिए हैं। यथार्थ चित्रण के प्रयास में अति सूक्ष्म विवरण भी बडी सतर्कता से दिये गये है जिनसे लेखक की सूक्ष्मनिरीक्षण शक्ति का पता चलता है। प्रत्येक परिच्छेद का नामकरण पात्रविशेष के आधार पर किया गया है। सम्पूर्ण उपन्यास मार्मिक व्यग से ओतप्रोत है। फणीश्वरनाथ रेणु के दोनों उपन्यास है 'मैला आँचल' तथा 'परती परिकथा' उच्चकोटि के आचलिक उपन्यास हैं। देश के अचल-विशेष को ही दृष्टि मे रखकर लिखे गये ये उपन्यास हिन्दी मे नितान्त नवीन प्रयोग हैं। 'मैला आँचल' मे पूर्णियाँ ज़िले के मेरीगज तथा 'परती परिकथा' मे परानपुर गॉव की विविध जीवन-रीतियो, विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो, सामाजिक, धार्मिक नैतिक सस्कारो आदि का बडा ही यथार्थ चित्रण किया गया है। रेणु का उस प्रदेश के लोकजीवन से प्रगाढ परिचय है और उन्होंने सूक्ष्मनिरीक्षित ब्योरो के आधार पर इन दोनो गॉवो को सजीव कर दिया है। भाषा भी आचलिक रग-ढग में ढल गई है तथा वर्णन-रीति में आचलिक वातावरण उत्पन्न करने की क्षमता है। बिहार के दूसरे लेखक नागार्जुन ने भी अपने उपन्यासों 'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची', 'नई पौध' तथा 'बाबा बटेसरनाथ' में गावो की जिन्दगी का यथार्थ चित्रण किया है और इन सभी में भाषा सम्बन्धी नये प्रयोग हैं किन्तु 'बाबा बटेसरनाथ' शिल्प की दृष्टि से एक नितान्त नूतन प्रयोग है। इन उपन्यास का कथाकार एक पुरातन वटवृक्ष है जो स्वप्न मे एक व्यक्ति से उस गाँव की जीवन-रीति मे सौ-डेढ सौ वर्षों से होने वाले परिवर्तनो का बडा ही सजीव तथा मनोरम वर्णन करता है। इन प्रयोगों के अतिरिक्त हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में और भी अनेक कृतियाँ इधर दिखाई पड़ी है जिनमे शिल्पगत विचित्रता लाने का प्रयास है। नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' तथा अमृतलाल नागर का 'सेठ

वॉकेमल' भी नये ही प्रयोग हैं। आगे चलकर इस युग के प्रमुख उपन्यासकारों का मूल्याकन करते हुए इन सभी नवीन कृतियों की विषय एव शिल्पगत विशेषताओं का विस्तृत विवेचन करने का प्रयत्न किया जायगा।

इन नये प्रयोगो के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि कुछ ऐसे भी लेखक हैं जो सस्ती ख्याति पाने के लिए या लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अपने उपन्यास की रूप-रचना में कुछ विचित्रता लाने का प्रयास करते हैं और स्वय ही उसके निरालेपन (या बेढंगेपन) की घोषणा करते हुए साहित्य-क्षेत्र में अवतरित होते हैं। इनके विषय में अधिक कहना व्यर्थ है। हाँ, जिन प्रतिभावान लेखकों ने अपनी भावानुभूति की तीव्रता एव विषय-वस्तु की नवीनता के आग्रह से नये मार्गों का प्रवर्त्तन किया है उनकी कृतियों को वास्तविक प्रयोग समझना चाहिए। यह सन्तोष का विषय है कि ऊपर जिन प्रयोगात्मक कृतियो का उल्लेख हुआ है वे केवल प्रयोग के लिए ही नहीं लिखी गई है। उनकी सीमाएँ हैं—सुनियोजित सुगठित कथानक एव सशक्त चरित्र-सृष्टि का अभाव—किन्तु उनकी ईमानदारी में सन्देह करने का कोई कारण नहीं। आधुनिक जीवन की जटिलता तथा मानव-मन के विभिन्न स्तरों को यथार्थ परिवेश में उद्घाटित करने के प्रयत्न में ही उन्हें नवीन मार्गों का अनुसन्धान करना पड़ा है। भविष्य के लिए इनमें नई सम्भवनाएँ एव प्रेरणाएँ निहित हैं और कुशल कलाकारों के हाथों मँजकर ये नई आविष्कृत शैलियाँ यथार्थ जीवन चिन्तन का सशक्त माध्यम बन सकती हैं।

प्रमुख उपन्यासकार

इधर बीस वर्षों में हिन्दी उपन्यास ने पर्याप्त प्रगति की है। अनेक प्रतिभा-सम्पन्न नवयुवक लेखक इस क्षेत्र में अवतरित हुए हैं। साथ ही प्रेमचन्द-युग के अनेक वयोवृद्ध लेखकों की नवीन कृतियाँ प्रकाश में आई है। पुराने लेखकों में वृन्दावन लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, भगवती प्रसाद वाजपेयी, गोविन्दवल्लभ पंत, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा प्रमुख हैं। इन मजे हुए उपन्यासकारों ने परिवर्तित परिस्थितियो के प्रकाश मे, समाज की विभिन्न गति को लक्ष्य कर उपन्यास लिखे हैं। कुछ उपन्यासकार जिनकी प्रेमचन्दयुगीन प्रारम्भिक कृतियाँ अतिसाधारण श्रेणी की थीं इधर आकर चमक उठे है। ऐसे लेखकों में चतुरसेन शास्त्री प्रमुख हैं। इनके इधर के उपन्यासों में—प्रधानतया

ऐतिहासिक उपन्यासो मे—कथा की नवीनता एवं रूप-शिल्प की परिपक्वता दिखाई पडी है। जैनेन्द्र तथा भगवतीचरण वर्मा एक प्रकार से नए युग के सदेशवाहक बन कर आये थे। ये दोनो महान साहित्यकार भी रचना करते जा रहे है। प्रेमचन्द-युग के अन्तर्गत इन सभी लेखको का वर्णन करते हुए इनकी आधुनिक कृतियो का भी उल्लेख हो चुका है। आलोच्य युग के दिशा-दर्शक स्तम्भों मे इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, अज्ञेय तथा अश्क हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रमुख है। नवयुवक लेखकों मे रागेय राघव, अमृतराय, भारती, नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, लक्ष्मीनारायण लाल, गिरिधर गोपाल, नरेश मेहता आदि अनेक लेखक अपनी विशेषताओं के साथ इस क्षेत्र में अवतरित हुए हैं।

इलाचन्द्र जोशी

हिन्दी उपन्यास में मनोविश्लेषण-प्रणाली के प्रथम प्रयोक्ता इलाचन्द्र जोशी ही है। यद्यपि 'घृणामयी' नामक इनका उपन्यास १६२६ ई० मे ही निकला था किन्तु 'सन्यासी' (१६४१) के द्वारा ही इन्हें वास्तविक ख्याति मिली और इनकी मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति उभर कर सामने आई। 'सन्यासी' के अतिरिक्त 'पर्दे की रानी' (१६४१), 'प्रेत और छाया' 'निर्वासित' (१६४६), 'लज्जा' ('घृणामयी' का नवीन सस्करण), 'मुक्तिपथ' (१६५०) 'सुबह के भूले' (१६५२), 'जिप्सी' तथा 'जहाज का पछी' (१६५५) नामक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इन सभी उपन्यासो मे जोशीजी ने 'अज्ञात चेतना-लोक में दबी और भरी पडी' मूल पशु-प्रवृत्तियों और उनके सस्कारों का मनुष्य के विचार एव आचरण पर पडे प्रभाव का चित्रण किया है। मनुष्य के भीतर चेतना के अनेक स्तर है और वह कब किस प्रकार का असगत आचरण कर बैठता है उसकी व्याख्या के लिए हमे उसके भीतर की इन अन्धेरी कन्दराओं को देखना पड़ेगा। अनेक प्रकार की मानसिक कुण्ठाएँ लिये हुए बहुत से मनुष्य पैदा ही होते है। ये कुण्ठाएँ जैसे उन्हें माता-पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त होती हैं। आगे चलकर अपने निजी जीवन की विषमता से भी उनके मन में अनेक प्रकार की ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती है और मानसिक स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। जोशी के प्रधान पात्र मानसिक अस्वास्थ्य के शिकार होते है और उनकी जीवन-गति एव अतगति का चित्रण ही इनकी कथा का विषय होता है। यहाँ सक्षेप में उनके पाँच प्रमुख उपन्यासों—'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित' तथा 'जहाज का पछी'—की विशेषताओं के अध्ययन का प्रयास किया जायगा।

'सन्यासी' के द्वारा ही जोशीजी उपन्यासकार के रूप मे प्रसिद्ध हुए। यह उपन्यास एक व्यक्ति की आत्मकथा है जिसने क्रमशः दो स्त्रियो से प्रेम किया किंतु अपने भीतर की सदेहशीलता एव चिरतन अहकार के कारण न तो उन स्त्रियो को सुखी कर सका न स्वय ही सुखी हो सका। शाति उसे अपने हृदय के स्तर स्तर से प्यार करती है और उस प्यार का सबल लेकर ही अपने नियमित जीवन क्रम की सुस्थिर गति में व्याघात डालकर नदकिशोर के साथ बाहर निकल आती है। इलाहाबाद में उनकी गृहस्थी कुछ ही दिनों तक सुख से चल पाती है कि नदकिशोर के भीतर की पशु-प्रवृत्ति उद्‌बुद्ध हो उठती है। बलदेव के प्रति जिसके व्यक्तित्व की सबलता, हृदय की सचाई, परिस्थितियों की दयनीयता आदि शाति के हृदय में निर्विकार करुणा-भावना की सृष्टि करते हैं—सदेह और तज्जनित ईर्ष्या की भावना से नंदकिशोर का अतर्मन क्षुब्ध हो उठता है। वह अपने इस ओछेपन पर आवरण डालना चाहता है किंतु उसके भीतर का पशु फिर-फिर हुकार उठता है और इस पशु और मानव के सघर्षण स्वरूप उसके दिन बडी मानसिक अशाति में बीतने लगते हैं। एक दिन ऐसा आता है कि बडी विषम परिस्थितियो में चिर आहत, चिर अपमानित नारी की प्रतिमूर्ति शाति को अपने गर्भ में प्रणय के पुरस्कार स्वरूप एक अबोध प्राणों का स्पदन लिए हुए नद-किशोर के अनजान में ही घर छोडकर चला जाना पडता है। इधर नदकिशोर भी अपने भैया पर दो-चार दिनों तक निष्फल क्रोध का प्रदर्शन कर उनके साथ शिमला-शैल के आमोद-प्रमोद में मानसिक उत्ताप को शीतल करने के लिए चल पडता है। प्रोफेसर मिश्र की लडकी जयन्ती—जिसे उसने सर्वप्रथम आगरा में देखा था—के साथ विवाह करके उसने जयती के जीवन को व्यर्थ कर दिया। कैलाश से प्रेम करते हुए भी बुद्धिमती जयती अपने कृत्रिम वैवाहिक जीवन को चतुराई से झेल ले जाती यदि नंदकिशोर का पशु उस दिन उत्तेजित होकर धक्के मारकर कैलाश को निकाल न देता। किंतु उस दिन उसने पूर्ण रूप से अनुभव किया कि इस अभिमानी पुरुष के साथ उसका निर्वाह होना असम्भव है आर दो दिन बाद ही चूल्हे के ऊपर बैठकर वह अपने को भस्म कर डालती है। किसी व्यक्ति का इस प्रकार का अंत सभाव्य भले ही हो किंतु सुरुचिपूर्ण नहीं प्रतीत होता। इस घटना की नदकिशोर के मस्तिष्क पर बडी प्रबल प्रतिक्रिया हुई और वह बहुत दिनों तक मानसिक शाति की खोज मे इधर-उधर भटकता रहा। अत में कई वर्षों के उपरात उसे 'शाति' भी मिली तथा उसका लल्लन' भी। जीवन के कटु अनुभवो के कारण शाति शून्य सी हो चली थी और सारे स्नेह बधनो को छिन्न-भिन्न कर वह सदैव के लिए चली जाती है। नदकिशोर सन्यासी हो जाता है

और फिर नेतागिरी के चक्कर में जेल में चला जाता है। जेल से छूटने पर वह अपने को बिल्कुल रिक्त पाता है। यह है 'सन्यासी' की कथा।

यह शुद्ध चरित्र-प्रधान उपन्यास है जिसमें प्रायः आधे दर्जन पात्रों का चरित्र-अध्ययन किया गया है। कथा का प्रधान नायक नन्दकिशोर है और उसके चरित्र की विवृति ही कथा का उद्देश्य है। उसने स्वय यह कहानी कही है। एक प्रकार से इस कहानी के दो भाग हैं—पहले में है नन्दकिशोर एव शाति का एक दूसरे के लिए आकर्षण, काशी से पलायन, प्रयाग मे साथ-साथ जीवन, बलदेव से साक्षात्कार, नदकिशोर का शाति के प्रति सदेह तथा नदकिशोर के भाई द्वारा तिरस्कृत शाति का गृह-परित्याग। दूसरे भाग मे नदकिशोर का मानसिक परिताप, जयती के लिए आकर्षण, उसके साथ विवाह, वैवाहिक जीवन के अनुभव, कैलाश-जयती के प्रति सदेह, कैलाश का अपमान, जयंती की आत्महत्या आदि वर्णित हैं। तीसरा भाग जिसे उपसंहार कहना चाहिए बहुत ही संक्षिप्त है इसमे अशात नदकिशोर का निरुद्देश्य भ्रमण, शाति से भेंट, उसका निर्विकार व्यवहार तथा पुत्र एव प्रिय का, मोहबंधन तोडकर सदैव के लिए अदृश्य हो जाने आदि का वर्णन है। इसमे शान्ति का चरित्र बहुत ही स्पष्ट एव सुलझा हुआ है। प्रथम दर्शन में हम उसे एक साधारण नारी समझते है जो नगर की एक बड़ी ही घृणित गली मे भ्रमण करने से भी नहीं हिचकती। किंतु धीरे-धीरे उसके चरित्र की सबलता अनावृत होती जाती है। उसमे बुद्धि भी है और स्त्रियोचित हृदय भी, दु:ख और दुःखियों के प्रति उसमे समवेदना है। बलदेव एव उसकी बहिन की दयनीयता से वह आर्द्र हो उठती है। आत्मसमान का भी मूल्य वह जानती है एव अपने पैरों पर खड़े होने की क्षमता भी उसमें है। समय आने पर सारे मोह-बधनो को छिन्न-भिन्न कर देने की शक्ति भी उसने अपने भीतर ही पा ली। नदकिशोर, बलदेव, कैलाश तथा जयती के चरित्र में कुछ विरोधी दुरूहताएँ है।

नन्दकिशोर ऊपर से जितना सरल और सज्जन लगता है भीतर से उसमे उतनी ही अहम्मन्यता तथा आत्मरति है। जयन्ती के प्रथम साक्षात्कार के उपरान्त उसमे किसी अ श तक अतृप्त काम-कुंठा का भी प्रवेश हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण आचरणिक असगतियों का विश्लेषण उसके अन्तर में निहित इन्हीं वृत्तियों के प्रकाश में किया जा सकता है। उसके भीतर कभी अत्यधिक सदाशयता, स्नेह, सहानुभूति आदि प्रकट होती है और दूसरे ही क्षण ईर्ष्या, क्षोभ, नैराश्य, परपीडन एव सन्देह आदि अत्यधिक वेग से उमड़ कर उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व

में कड़ुवाहट घोल देते हैं। मात्र काम कुंठा को ही उसकी चारित्रिक विकृतियों का मूल कारण मान लेना ठीक नहीं। जन्मजात, संस्कारजन्य पशु-प्रवृत्तियाँ समय समय पर उमड़ कर उसकी सम्पूर्ण मानवता पर आवरण डाल उससे क्रूर कर्म कराती रहती है। इनमें उसकी सदेह-वृत्ति सबसे प्रबल है। अनायास बलदेव, तथा कैलाश पर सन्देह करके उसने शान्ति तथा जयन्ती दोनों ही के जीवन को नष्ट किया और स्वय भी मानसिक अशान्ति मे आजीवन भटकता रहा। कैलाश और जयन्ती का चित्रण अधिक स्वाभाविक है। हाँ लेखक ने जयन्ती के जीवन का अन्त जिस रूप मे दिखाया है वह बहुत सुरुचिपूर्ण नही है। उसके लिए और भी उपाय हो सकते थे।

पुस्तक मे नायक की मनोवृत्ति के चित्रण के लिए कहीं तो उसकी सहज भावाभिव्यक्ति का सहारा लिया गया है और कहीं लेखक द्वारा उन भावनाओं का वर्णन है। कहीं-कहीं नायक स्वय अपने से ही तर्क-वितर्क करने लगता है। ऐसे स्थलों पर कथा प्रवाह मे व्याघात उपस्थित होता है और पाठक ऊबने-सा लगता है। साधारणत यह उपन्यास अच्छा है।

'पर्दे की रानी' मे मनोविश्लेषण के निदर्शन की प्रवृत्ति और भी स्पष्ट हो गई है। पूर्व-अर्जित सस्कारों का मनुष्य के क्रियाकलापों पर कितना सबल प्रभाव पड़ता है इसको दिखलाने का प्रयत्न इस उपन्यास में किया गया है। 'सन्यासी' की भाँति ही यह भी आत्मचरितवत् लिखा गया है। इसकी नायिका है 'निरंजना' जिसकी माँ वेश्या है एव पिता हत्यारा, किंतु सोलह वर्ष की अवस्था तक वह सभ्य बालिकाओं की भाँति अपनी हीन अवस्था का बोध हुए बिना लालित-पालित होती रही। मरते समय माँ ने उसे मनमोहन नामक एक व्यक्ति के सरक्षण में छोड़ दिया और वह उन्हीं के साथ रहने लगी। मनमोहन के पुत्र इन्द्रमोहन की लोलुप दृष्टि उसके रूप पर पड़ी और वह वासना-तृप्ति के लिए व्याकुल हो उठा। इन्द्रमोहन युवक था, विलायत से लौटा हुआ धनवान् पिता का पुत्र। निरंजना के जन्मगत सस्कार ने इन्द्रमोहन के साथ खुलकर खेलने के लिए उसे प्रोत्साहित किया किंतु जब शराबी इन्द्रमोहन ने होटल में जबर्दस्ती उसके शरीर-भोग का प्रयत्न किया तो वह सतर्क हो उठी। उन्हीं दिनों मनमोहन ने भी उसके समक्ष अश्लील प्रस्ताव किया और उसके खरी-खोटी सुनाने पर उसकी वेश्या माँ एव कालापानीवाले पिता का रहस्योद्घाटन कर दिया। निरंजना के सुकुमार हृदय पर यह एक निष्ठुर प्रहार था। वह मनमोहन का आश्रय छोड़कर कालेज छात्रावास मे चली जाती है। कालेज में शीला से उसकी मित्रता बहुत बढ़ जाती

है। शीला एक सम्भ्रात परिवार की बालिका है। कालेज छोड़ने के कई वर्षों बाद मसूरी में निरंजना को शीला मिलती है अपने पति के साथ। भाग्य की विडंबना से यह पति महोदय निरजना के पूर्व प्रेमी इद्रमोहन ही हैं। इद्रमोहन की पुरानी आग फिर भडक उठती है और वे निरजना को स्वानुकूल बनाने के अधिक सभ्य एव संयत रीतियों का अनुसरण करते है। निरञ्जना भी प्रकृति की स्वाभाविक प्रेरणा एव अपने जन्मजात सस्कार के कारण पुनः इंद्रमोहन को आकर्षित करने के सारे प्रयत्न करने लगती है। इस पशु-प्रवृत्ति के बीच उसका अतर्वासी सदैव शीला जैसी स्नेहशीला सखी को वचित करने के प्रयत्न से उसे विमुख करना चाहता है। यह इस मानवी भावना का ही परिणाम था कि इंद्रमोहन के प्रस्ताव पर जी-जान से सहमत होने पर भी वह कह सकी "शीला के प्रति मेरे हृदय मे बराबर एक सच्चा सम्मान और सहृदय आत्मीयता का भाव वर्त्तमान रहा है, मैं सोचकर स्वय आश्चर्य में हूँ कि अपनी किस भयंकर मनोवृत्ति से प्रेरित होकर मैं इतने दिनो तक सब कुछ समझते हुए भी शीला को इस हद तक मार्मिक चोट पहुँचाने में समर्थ हुई। शीला अत्यन्त अनुभूतिशीला और समझदार है, वह ओछी नही है इसलिए कभी अपने मन की वास्तविक वेदना को प्रगट नहीं होने देगी पर उसकी प्रकृति की उस सुरुचि और सयम का इस तरह अनुचित लाभ उठाना वास्तव में हम दोनों की निपट हीनता का परिचायक है। मैं वास्तव में उसकी परम शत्रु हूँ, फिर भी मैं उस शत्रुता को चरम सीमा तक नहीं पहुँचाना चाहती। विश्वास मानिए इस समय मुझमें आपसे कुछ कम उन्माद नहीं समाया हुआ है पर मेरे प्रतिरोध का केवल कारण शीला है। जब तक शीला जीवित है तब तक आप मुझसे हर्गिज ऐसी आशा न करें।" निरञ्जना के इस कथन के भीतर विवेक-बुद्धि के साथ-साथ एक अव्यक्त, अज्ञात सकेत आपसे-आप ध्वनित हो उठा है। पाशववृत्तिप्रधान इद्रमोहन ने उसी दिन अपना भयङ्कर निश्चय कर लिया होगा। वह मसूरी से उस समय चला जाता है किंतु कुछ ही दिनो बाद अपनी दानवता को बढी मूँछ-दाढी एव फटे-पुराने कपडो में छिपाए हुए, बरबस ही दीनता का अभिनय करता हुआ वह पुनः निरञ्जना के समक्ष उपस्थित होता है। यह समाचार देने के लिए कि शीला की मृत्यु हृदयगति बन्द हो जाने से हो गई और अब स्वय उसे इस मर्मघाती घटना के बाद जीवन से कोई मोह नही रह गया। उसका यह उपाय सफल हो जाता है और शीला उसके इस अभिनीत पत्नीप्रेम को देख श्रद्धा से भर उठती है। षड्यन्त्र के मामले में अपने जीवन का खतरा बताकर वह उसकी करुणाभावना को भी आदोलित करता है। नारीसुलभ इस श्रद्धा एव करुणा के उदय होते ही

वेश्यापुत्री की समपरण भावना प्रबल हो उठती है और अपनी सम्पूर्ण भावुकता के साथ वह कह पडती है—"आप मुझे जहाँ ले चलने को कहेंगे चलूँगी, इन्द्रमोहनजी, मृत्युपर्यन्त आपका साथ न छोड़ूँगी।" इन्द्रमोहन की अवरुद्ध वासना को अवसर मिला, उसकी कूटनीति को सफलता मिली। नैपाल जाते हुए उसने रेलगाडी में ही निरञ्जना का कौमार्य प्रथम बार खण्डित किया। विधि की विडम्बना से इन दोनों अभिशप्त प्राणों का यह प्रथम और अन्तिम पापमिलन था। शैतानी प्रवृत्तियों की प्रेरणा से इन्द्रमोहन ने शीला के मृत्यु की वास्तविक कथा जब निरञ्जना से कह सुनाई तो वह घृणा एव क्रोध में पागल-सी हो उठी। निरञ्जना के प्रति अपने प्रेमाधिक्य को प्रमाणित करने के लिए इन्द्रमोहन गाडी से कूदकर जान देता है। अतलस्पर्शी क्षोभ एव मानसिक उथल-पुथल के बीच जब निरञ्जना अपने गुरु के पास जाकर आपबीती कह सुनाती है तो गुरु उसे सात्वना-वाक्यों से सयत करने का प्रयत्न करते है एव कर्तव्य का सच्चा पाठ पढाते है—"उस प्रथम और अन्तिम प्रेम-मिलन के फलस्वरूप मातृत्व की जो स्थिति तुमने पाई है उसे ग्लानि का कारण न समझ कर गौरव के रूप में ग्रहण करना तुम्हारा कर्तव्य है।" गुरु के इस आदेश को मानकर निरञ्जना मातृपथ के मङ्गलमय मार्ग पर चल पडती है। यही है जोशीजी की 'पर्दे की रानी'।

इस उपन्यास में भी आत्मकथा वाली प्रणाली का अनुसरण किया गया है। जोशीजी ने अवचेतन मन की क्रियात्मक शक्ति का निदर्शन करने का इसमें पूरा प्रयत्न किया है। निरजना के भीतर दो प्रेरक शक्तियाँ थीं। एक तो उसका शिक्षित एव सस्कृत तर्क-बुद्धि-समन्वित सतह पर लहराने वाला मन तथा दूसरा इस मन के अतल में वाडवाग्नि की तरह छिपा हुआ अवचेतन मन जिस पर माता-पिता की पूरी पूरी छाप थी। अपने भीतरी मन की इस परोक्ष क्रिया को वह स्वय भी कभी कभी लक्ष्य करती है—'मेरे भीतर वेश्या के सस्कार पूर्ण मात्रा मे वर्तमान है, यदि ऐसा न होता तो मै इन्द्रमोहनजी को अपनी भाव-भगिमा से रिझाने की चेष्टा न करती और उन्हें इच्छानुसार नचाकर अकारण परेशान न करती और होटलवाली घटना और उसके बाद की दुर्घटना का कारण न बनती।" जिस दिन से उसने अपने माता-पिता के पतित जीवन की कहानी जानी थी उसी दिन से उसके मन मे एक विचित्र गाँठ सी पड गई। इन्द्रमोहन का चरित्र जिन परमाणुओ से ग्रथित है उनमे पर्याप्त स्वाभाविकता है। वह 'शरीफ बदमाश' का अच्छा उदाहरण है। निरजना के गुरु एक आदर्श व्यक्ति है जिनके अनुभव खरे है। निरजना के जीवन मे एकमात्र गुरु ही उसे

कल्याण-पथ की ओर संकेत करनेवाले थे। उपन्यास पर्याप्त मनोरंजक है और कुछ वार्तालाप बड़े ही मार्मिक एवं अनुभूतिमूलक हैं।

जोशीजी का तीसरा उपन्यास है 'प्रेत और छाया' जिसमे इनकी मनोवृत्ति एवं सिद्धान्त बिलकुल परिस्फुट हो उठे हैं। इस उपन्यास का नायक है पारसनाथ। इसका पिता बैजनाथ तिब्बत प्रदेश के कलिम्पांग नगर का एक बहुत बड़ा व्यापारी है। उसके जीवन का प्रधान उद्देश्य धनोपार्जन एवं काव्य तथा कामिनी की आराधना है। पारसनाथ एम० ए० की परीक्षा देकर कलकत्ता से कलिम्पांग आया और वहाँ एक ऐसी घटना हो गयी जिसने उसके जीवन की धारा ही बिल्कुल पलट दी। दुर्वृत्त पिता के पापमय जीवन को वह देख ही रहा था। एक-दिन इस 'तिब्बती दानव' ने उसे यह सूचना दी कि वह उसका पिता नहीं। उसकी माँ का किसी वैद्य से सम्बन्ध था और पारसनाथ उसीका पुत्र है। अपने जन्म की इस कलंकपूर्ण कथा ने उसके अवचेतन मन मे बड़ी गहरी जड़ जमा ली और जब तक यह जड़ उखाड़कर निकाल नहीं दी गई तब तक उसकी आत्मा प्रेत छायाओं से घिरी रही और वह न तो स्वयं सुखी रह सका न जिनके सम्पर्क मे आया उन्हें सुखी कर सका। उसने न जाने कितनी स्त्रियों के साथ यौन-सबंध स्थापित किया था और फिर उसे तोड़ भी डाला था। एक दिन युक्तप्रांत के एक नगर के किसी होटल में उसने मंजरी नाम की एक दरिद्र लड़की को देखा जो उन लोगों का मनोरंजन करने के लिये बुलाई गई थी। इस लड़की में कुछ ऐसी विचित्रता एवं कारुणिकता थी कि पारसनाथ उसकी ओर आकर्षित हो गया। दूसरे दिन जब मंजरी द्वारा उसे ज्ञात हुआ कि वह कालेज मे पढ़ती है और उसकी असह्य दरिद्रता ने उसे बाध्य किया कि वह होटल में रूप-प्रदर्शन कर अपना तथा अपनी माँ का पेट भरे तो पारसनाथ मञ्जरी के प्रति सहानुभूति से भर आया। मञ्जरी की मानसिक एवं शारीरिक पवित्रता ने उसे और प्रभावित किया। वह उसे आर्थिक सहायता करने लगता है और धीरे-धीरे उसके घर भी आने जाने लगा। नरक की सी यन्त्रणा भोग कर जब एक प्रलय की रात में मञ्जरी की अंधी माँ के प्राण बन्धनमुक्त हो गए तो पारसनाथ के घर जाने के सिवा मञ्जरी के लिए कोई उपाय न रह गया। पासियो के बीच वह दुर्गन्ध से पूर्ण घर भी परिवर्तित परिस्थिति मे मञ्जरी को स्पृहणीय था। मञ्जरी को घर लाकर पारस ने अपने कलंकित जीवन की सारी कथा उसे सुना डाली। जिस पर उसने कहा था कि "कोई भी दुखी प्राणी घृणा के योग्य नहीं हो सकता चाहे वह कितना ही हीन क्यों न हो।" धीरे-धीरे इन लोगों मे यौन-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। मञ्जरी जितनी ही पारसनाथ के पास आती गई वह उतना ही काल्प

निक आशकाओ से भरता गया। कभी वह बच्चों की सी बातें करने लगता, कभी बहुत दयनीय हो उठता। अनेक प्रकार के भयो, भ्रातियो और दुश्चिन्ताओं से उसके जीवन का आकाश छाया रहा। इसी बीच भुजौरिया जी की पत्नी नन्दिनी से भी जिसे वह चित्र-कला सिखाया करता था उसकी घनिष्ठता बहुत बढ गई। वह रात-रात नन्दिनी के यहाँ बिताने लगा और मञ्जरी से बहाने बनाने लगा। नन्दिनी एक सहृदय वेश्या थी जिसने सम्मानपूर्ण जीवन बिताने के लिए भुजौरिया से विवाह किया था। किंतु स्त्रैण भुजौरिया का उद्देश्य उसके द्वारा धनोपार्जन करना था। पारसनाथ से परिचय होने पर नन्दिनी बेतरह उस पर रीझ गई और अपनी सम्पूर्ण कला से उसे रिझाने का प्रयत्न करने लगी। पुरुषत्वरहित भुजौरिया का कोप निष्फल सिद्ध हुआ और नन्दिनी तथा पारसनाथ का सबध दृढतर होता गया। इधर मञ्जरी गर्भवती हो गई। जैसे-जैसे गर्भ बढ़ता गया पारसनाथ का मन काल्पनिक दुश्चिताओं से आक्रात होता गया। वह मञ्जरी से कतराने लगा। जिस दिन उसे बच्चा हुआ वह रात भर उसके पास बैठा रहा किंतु उसके अतर में शाति न थी। जैसे-जैसे बच्चा बढने लगा पारसनाथ के भीतर शूल चुभने लगा और चार महीने बाद एक दिन माँ और शिशु को अनाथ छोड़कर वह नन्दिनी के साथ भाग निकला। नन्दिनी उसे लेकर अपनी वेश्या-बहिन के पास लखनऊ पहुँची। कुछ दिनों के उपरात नंदिनी के प्रति भी पारसनाथ का व्यवहार बड़ा बुरा हो गया। नदिनी ने फिर से अपनी वृत्ति आरभ की और पारसनाथ की उपेक्षा करने के लिए बाध्य हुई। पारसनाथ वहीं पर शराब के नशे में मस्त होकर कुत्तों की तरह नदिनी की रोटियाँ तोडा करता। नदिनी उससे डरने लगी। दोनों में कई बार लडाई हो गई किंतु फिर भी सहृदय नन्दिनी उसका ख्याल रखती थी। पारस को नशे में पागलपन का फिट सा आने लगा। समाजियो के बीच वह भी विक्षिप्त-सा जीवन बिताने लगा। उसने नन्दिनी की छोटी बहिन हीरा को गाने की शिक्षा देनी आरम्भ की और उसे इतना कुशल बना दिया कि उसका रोजगार भी चल निकला। वह हीरा को लेकर कलकत्ते चला जाता है और उसके गहने लेकर भागने की तैयारी करता है कि इतने ही मे एक ऐसी घटना घटती है जिससे उसके अतर की गाँठ खुल जाती है। उसके पिता का पुराना नौकर चद्रबहादुर उसे मिल जाता है और अनुरोध करके उसे घर ले जाता है। रोगग्रस्त पिता उससे बड़े प्रेम से मिलते हैं और उसे बताते है कि उसके जन्म के विषय में उन्होने झूठ कहा था और वह वास्तव मे उन्हीं का पुत्र है और उसकी माँ बडी ही सती-साध्वी स्त्री थीं। उसकी चेतना की गाँठ खुल पडती है और हीरा को धोखा देने का इरादा बिल्कुल बदल जाता है।

पिता की अनुमति से वह हीरा से विवाह कर लेता है और भले आदमी की तरह जीवन बिताने लगता है। इधर पारस के छोड जाने के उपरान्त मञ्जरी का लडका मर जाता है और वह घर छोडकर चली जाती है। उसे नारी-सस्कृति-निकेतन में स्थान मिलता है और वहीं से उसके डाक्टरी पढने की व्यवस्था हो जाती है। वह कलकत्ते चली जाती है। वहाँ एक प्रोफेसर से उसका प्रेम हो जाता है और दोनों विवाह कर लेते है। कुछ दिनों के उपरान्त प्रोफेसर की भी मृत्यु हो जाती है और मजरी विख्यात डाक्टर हो जाती है। पारसनाथ तथा मजरी की एकबार बड़े ही मार्मिक अवसर पर भेंट होती है। किंतु मजरी उसके साथ बडी कठोरता का व्यवहार करती है।

इस उपन्यास में लेखक ने पारसनाथ को विभिन्न परिस्थितियों में डालकर उसके क्रियाकलापों एव भावना-ग्रथियों में सामजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है। पारसनाथ आरम्भ में बडा ही सुरुचिपूर्ण, अध्ययनशील एव सहृदय व्यक्ति था किंतु उसके पिता ने उसके जन्म की मिथ्या कलकपूर्ण कहानी कहकर उसके अवचेतन मन में बडी प्रबल ग्रथि डाल दी जिसके फलस्वरूप उसकी चेष्टाएँ बडी रहस्यमयी हो गईं। उसका व्यक्त मन अपने कलंकित जन्म की अवाछनीय स्मृति को दबाना चाहता था पर अव्यक्त मन उतनी ही प्रबलता से उसे स्मरण रखने की चेष्टा करता था। इन अतर्द्वन्द्व के कारण-स्वरुप पारसनाथ की असाधारण मानसिक दशा हो गई। मञ्जरी की जब उसने दुखद कहानी सुनी तो उसके प्रति सहानुभूति से भर उठा क्योंकि वह स्वय दुखी था और उसके अव्यक्त मन ने मञ्जरी के साथ तादात्म्य कर लिया। किंतु मञ्जरी के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित होते ही उसके स्वभाव मे परिवर्तन हो चला। यह सम्बन्ध उसे अपनी माँ के कलंकित जीवन की स्मृति दिलाने लगा जिसे वह दबाने की भरपूर चेष्टा करता था। परिणाम-स्वरूप वह मञ्जरी से कतराने लगा। जब मञ्जरी को बच्चा हुआ तो उसका व्यक्त मन शिशु-स्नेह से भर उठा किंतु इस-शिशु जन्म ने उसे अपने जन्म की स्मृति दिलाकर एक विचित्र कडुवाहट घोल दी। मञ्जरी की अन्धी माँ की प्रेत-छाया-कल्पना का मूलभूत भी उसका अव्यक्त मन ही था। इन कल्पनाओं से वह इतना भयभीत हो उठा कि मञ्जरी एवं नवजात शिशु उसके लिए नितात असह्य हो उठे। शिशु के छोड जाने में उसकी प्रतिशोध भावना की भी तृप्ति होती थी। उसके पिता ने भी तो उसे ऐसा ही निर्दय आघात पहुँचाया था। उसका अव्यक्त मन जिस सुखावस्था में स्वयं नहीं पहुँच पाया था उसमें बालक को भी नहीं देखना चाहता था। मञ्जरी एवं पुत्र के परित्याग ने उसके अन्तर मे एक और भी ग्रन्थि डाल दी। नन्दिनी के

यहाँ उसकी विक्षिप्तता के मूल में भी उसकी ये ग्रन्थियाँ ही थीं। वह स्वय छला गया था अतएव किसी को छलकर उसका अव्यक्त मन सन्तोष-लाभ करता था। नन्दिनी की बहिन के साथ विश्वासघात करने के निश्चय में उसके अव्यक्त मन की प्रतिशोध-भावना को तृप्ति मिली। अन्त में लेखक ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि अव्यक्त मन की ग्रन्थि के खुलते ही वह एकाएक साधारण हो उठता है और उसका कर्तव्यज्ञान पुनः लौट आता है।

जहाँ तक अदृश्य मन की रूपरेखा खींचने का प्रयत्न है जोशीजी पर्याप्त सफल रहे है। इस सफलता का कारण अपने सिद्धात के प्रति उनकी अतिशय सतर्कता एव सजगता रही है। किन्तु जिस प्रकार उनके नायक का व्यक्तित्व अव्यक्त मन की उलझनों से आच्छन्न हो उठा है उसी प्रकार जोशीजी की कला उनके सिद्धातों से परिवेष्टित हो गई है। सिद्धात आगे आ गये हैं कला पीछे पड गई है। पात्र, घटनाएँ, वार्तालाप सभी इस प्रकार नियोजित किये गये है कि अचेतन मनवाला मनोवैज्ञानिक सिद्धात परिपूर्ण रूप से प्रकाशित हो उठे। यही कारण है कि इस नियन्त्रित कृति मे मिथ्या का आभास मिलने लगता है। इस उपन्यास के पात्र कृत्रिम है, परिस्थितियाँ कृत्रिम हैं एव वार्तालाप भी कृत्रिम हैं। इसका प्रधान कारण यही है कि जोशी जी ने विज्ञान के प्रकाश में कला की अभिव्यञ्जना न करके वैज्ञानिक रीति से कला को बाँधने का उपक्रम किया है। ऐसे उपन्यासो मे अपनी कोई स्वाभाविक गति नहीं होती, कार्य-कारण-सम्बन्धो द्वारा वे स्वय परिचालित नहीं होते वरन् अपने आशय के अनुसार लेखक उनका स्वय परिचालन करता है। व्यक्तियो का आतरिक विश्लेषण ही लक्ष्य होने के कारण इसमें घटना-बहुलता नहीं है।

'निर्वासित' का नायक है महीप जो प्रथम श्रेणी में एम. ए पास एक युवक कवि है। वह चाहता तो बडी सरलता से आई० सी० एस० की परीक्षा पास कर सकता था किन्तु कुछ काल्पनिक आदर्शों के चक्कर में पडकर वह आजीवन इधर-उधर भटकता रहा। खन्ना-परिवार की तीन बहिनो से उसने अपनी भावुकता में प्रेम किया किन्तु तीनो ने ही उसके प्रेम की उपेक्षा कर दूसरों से विवाह कर लिया। नीलिमा उसकी ओर कुछ आकर्षित अवश्य थी किन्तु अपने भीतर की विलास-लिप्सा एव माँ के आग्रह से उसने विवाह किया जमीन्दार लक्ष्मीनारायण सिह से जो सज्जनता के आवरण मे एक पिशाच था। निराश महीप एक गुप्त क्रातिकारी दल का सगठन करता है जिसका उद्देश्य हिसा के द्वारा शोषण का अन्त करना था। नीलिमा की छोटी बहिन प्रतिमा जो महीप से प्रेम करती थी

उसके दल में सम्मिलित होकर उसके पास आई किन्तु अणुबम की मारक शक्ति के बोध ने महीप के अन्तर्प्रदेश में भी विस्फोट किया और वह हिंसक रीतियों से विरत हो बैठा। अपने आदर्श को इस प्रकार पतित होते देख मर्माहत प्रतिमा उसे छोड़ चली गई। इधर लक्ष्मीनारायण के अत्याचारों से ऊबी हुई नीलिमा भाग कर अपनी बहिन के पास लखनऊ चली आती है। महीप वहाँ पहुँचता है और उससे पुनः प्रेम की याचना करता है किन्तु उसके प्रति कोमल भाव होते हुए भी नीलिमा उसकी याचना अस्वीकार कर देती है। लक्ष्मीनारायण सिंह द्वारा प्रवञ्चित शारदा देवी प्रतिशोध की ताक में थीं। प्रतिमा तथा शारदा देवी ने अत्याचार पीडित किसानों को ठाकुर साहब के विरुद्ध भड़काकर उनके घर में आग लगवा दी। शारदा देवी की खोज में महीप भी घटना स्थल पर पहुँच जाता है। ठाकुर साहब की आर्त-पुकार पर वह बचाने के उद्देश्य से फाटक की ओर बढ़ता है और विद्रोहियों की लाठी खाकर गिर पड़ता है। प्रतिमा आदि तो भाग जाती है किन्तु महीप पकड़ा जाता है। नारकीय यन्त्रणा भोगने के उपरान्त जेल के अस्पताल में उसकी मृत्यु हो जाती है।

वर्त्तमान उपन्यास की कथा का आरम्भ उस समय से होता है जब द्वितीय महायुद्ध अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। इसका अन्त उस समय होता है जब भारतवर्ष में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना हो गई। इस बीच मध्यवर्गीय व्यक्ति के ऊपर विभिन्न परिस्थितियों की क्या प्रतिक्रिया हुई इसके अंकन को ध्येय बनाकर ही यह उपन्यास लिखा गया है। इस बात को भूमिका में लेखक ने स्वीकार किया है। किन्तु जिन रूपों में ये प्रभाव चित्रित किये गये हैं वे कृत्रिम हैं। महीप का व्यक्तित्व निराला है और उसके भावान्दोलनों के अंकन की रीति भी निराली है। वह अत्यधिक भावुक है और अपनी भावुकता में स्थिति को पूरी तरह से आयत्त भी नहीं कर पाता। प्रत्येक नवीन परिस्थिति की उसके ऊपर प्रतिक्रिया होती है और उसमें इतनी मानसिक दृढ़ता नहीं है कि वह स्वयं अपना मार्ग निर्धारित कर सके। जो ठाकुर साहब उसके सुख के सबसे बड़े बाधक थे उन्हीं के यहाँ रोटियाँ तोड़ता हुआ वह महीनों बिता देता है। ऐसा व्यक्ति एक सशक्त क्रान्तिकारी दल का संगठन कर सकता है इसमें भी सन्देह होने लगता है। और फिर एक दिन अचानक अणुबम की विस्फोट लीला से त्रस्त होकर वह अहिंसक भी बन बैठता है। वह आजीवन अपने लिए स्वयं ही पहेली बना रहा। उसका अवचेतन मन उसके अनजान में ही गतिशील रहा और वह निरुद्देश्य भटकता ही रह गया। ठाकुर लक्ष्मीनारायण सिंह के भीतर ऊपरी सभ्यता की शालीनता के लिए हुए भी एक भयंकर धूर्त और खतरनाक व्यक्ति के संस्कार

छिपे हुए थे। लेखक ने उनके चरित्र का जिस रूप में चित्रण किया है उसमें वास्तविकता है। नीलिमा के आन्तरिक द्वन्द्व भी सफलता से अंकित किये गये हैं। महीप की ओर आकर्षित होते हुए भी उसके अवचेतन मन में रूप, धन, ख्याति आदि के प्रति मोह था और इसी लिए जानबूझ कर वह लक्ष्मीनारायण सिंह के चंगुल में फँस गई। प्रतिमा के चरित्र में आदि से अन्त तक एकलयता है। इस उपन्यास के सभी पात्रों में व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं। लेखक ने अपनी मनोविश्लेषण वाली प्रणाली पर प्रत्येक के मानसिक ऊहापोह को अंकित करते हुए चरित्र का विकास किया है।

इस उपन्यास की जो सबसे बड़ी त्रुटि-सी लगती है वह है सिद्धान्तों पर लम्बे-लम्बे वक्तव्य। धीराज की डायरी में जीवन और प्रेम के विषय में कितने ही पृष्ठ लगा दिये गये हैं। पात्रों के मनोविश्लेषण में भी उनके क्रियाकलापों पर कम आश्रित रहकर वर्णन का ही अधिक सहारा लिया गया है। फिर भी यह उपन्यास आजकल की कुछ समस्याओं के चित्रण में सफल रहा है।

उपर्युक्त उपन्यासों में एक तरह की पारिवारिक अनुरूपता है। इनकी कथा एवं इनके पात्रों मे भी समानता है। अभिव्यंजना-प्रणाली भी एक-सी ही है। 'सन्यासी' में एक पुरुष दो स्त्रियों से प्रेम करता है किन्तु अपनी संदेहशीलता के कारण एक के साथ भी निर्वाह नहीं कर पाता। 'पर्दे की रानी' का इन्द्रमोहन भी दो स्त्रियों का प्रेमी है। एक है उसकी स्त्री शीला तथा दूसरी उसकी प्रेमिका निरञ्जना। निरञ्जना का उपभोग करने के लिए वह शीला की हत्या करने से भी नहीं हिचकता। किंतु निरञ्जना के साथ भी वह न रह सका और गाडी से कूद कर आत्म-हत्या कर ली। 'प्रेत और छाया' में भी एक पुरुष की कई स्त्रियों से प्रेम करने की कथा है। 'निर्वासित' में महीप खन्ना परिवार की तीन लडकियों से क्रमशः प्रेम करता है और लक्ष्मीनारायण सिंह ने तो कितनी ही कुमारियो का जीवन व्यर्थ किया। 'सन्यासी' की शान्ति तथा 'प्रेत और छाया' की मंजरी मे बडी अनुरूपता है। निरञ्जना एवं नंदिनी मिलती-जुलती-सी हैं। नन्दकिशोर, इन्द्रमोहन, तथा पारसनाथ एक से अधिक स्त्रियो से प्रेम करने की दृष्टि से समान हैं किन्तु जिन अवयवों से तीनो के चरित्र गठित हैं उनमें पर्याप्त भिन्नता है। जोशीजी के प्रायः सभी प्रमुख पात्रों के क्रिया-कलापों में अव्यक्त मन का अधिक हाथ है किन्तु पारसनाथ के अव्यक्त मन का इतना विश्लेषण किया गया है कि वह अस्वाभाविक-सा हो उठा है। नन्दकिशोर अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक हैं।

उपर्युक्त उपन्यास नारी-पुरुष-सम्बन्ध को ही ध्येय बनाकर लिखे गये हैं जिनमें सामाजिक परिस्थितियों तथा जन्मजात संस्कारों से उत्पन्न कुंठित व्यक्तित्व की विकृतियाँ एवं संघर्ष चित्रित हैं। जिस प्रकार प्रेमचन्द सामाजिक यथार्थ का वर्णन करते-करते आदर्श में कथा का पर्यवसान किया करते थे वैसे ही जोशी जी मनोवैज्ञानिक यथार्थ के साथ आदर्श के समन्वय का प्रयत्न करते हैं। मानसिक विकृतियों से ग्रस्त पुरुष-पात्रों के समकक्ष एक क्रांतिकारी नारी-पात्र को चित्रित कर जोशी जी अपने लोक-मंगल के आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। एक प्रकारसे इन उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ का चित्रण नगण्य है। फिर भी जहाँ तक कथानक की योजना का सम्बन्ध है वह पर्याप्त सुसंगठित तथा व्यवस्थित है। जोशी जी कहानी को पर्याप्त महत्व देते हैं और कहानी के माध्यम से ही मनोविश्लेषण वाले अपने उद्देश्य को सिद्ध करते हैं।

'जहाज का पंछी' जोशी जी के साहित्यिक विकास-पथ का एक नितान्त नवीन तथा वाञ्छनीय मोड़ है। इसमें पिछले उपन्यासों से भिन्न जीवन को एक नये दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न है। अन्य उपन्यासों के पात्र समाज से किंचित् निरपेक्ष रहकर नितान्त वैयक्तिक चेतनालोक में ही निवास करते हैं और अपनी ही निराशा, कुंठा और पीडा में घुटते रहते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में सामूहिक पीडा से विषाक्त व्यक्ति के अन्तर्मन की उलझनों को शब्द-बद्ध करने का प्रयत्न है। यहाँ जोशी जी सामाजिक यथार्थ के नवीन धरातल पर उतरते हुए दिखलाई पड़ते हैं और अपने युवक कथा-नायक को कलकत्ता की विशाल नगरी—'जिसके कालाग्नि से जलते हुए महापेट के भीतर नाना प्रकार की पीडाओं, असन्तोषों, अत्याचारों और भोग विलासों के मिश्रित रस निरन्तर विभिन्न रूप में पचते चले जाते हैं'—की विभिन्न जीवन-स्थितियों में डालकर सामाजिक विकृतियों के चित्रण के साथ-साथ उसके संवेदन-शील मन की प्रतिक्रिया के चित्रण का प्रयास किया है।

कथानायक ने स्वयं ही प्रथम पुरुष में ही अपनी कथा कही है। वह सुशिक्षित एवं बौद्धिक व्यक्ति है जिसे अत्यधिक संवेदनशील मन मिला है। वह सत्ताईस वर्षीय नवयुवक अपनी बुद्धि और शिक्षा संस्कार के होते हुए भी समृद्ध कलकत्ता नगर में अपने भरण पोषण के लिए कोई उपयोगी काम नहीं ढूँढ पाता और वह विशाल नगरी उसे ६ फुट लम्बी और ३ फुट चौड़ी जगह देने में भी असमर्थ रही। 'अपने ढुबले-पतले भूख से व्याकुल प्रेत शरीर को वह कलकत्ता की गलियों, पार्कों और सड़कों पर घसीटता हुआ चलता है।' देखने वाले उसे चोर-गिरहट समझते हैं और पुलिस बार-बार उसे कभी जेल,

कभी कचहरी और कभी सरकारी अस्पताल की हवा खिलाती है। वह निरुद्देश्य सा भटकता रहता है और इस बीच अनेक प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है और अपनी पैनी दृष्टि से उनका अध्ययन करता है। कुछ दिन सरकारी अस्पताल में पड़े रहकर वह डाक्टरों, नर्सों की यन्त्रवत् कार्य-विधि का निरीक्षण करता है, कुछ दिन धोबियों की गदी बस्ती में एक धोबी के घर नौकरी कर चीटियों, गोबरों, खटमलों, मच्छरों के 'फ्रीवर्ल्ड' का स्वाद लेता है, कभी चोरों, उचक्कों, गिरहकटों तथा पहलवानों के बीच रहकर उनकी आन्तरिक मानवता का निरीक्षण करता हुआ शरीर बनाता है, कभी एक सम्पन्न बंगाली कुटुम्ब में रसोइएँ का काम करता है और कभी मिस साइमन के चकले में 'कुक' बनकर शरीर बेचने के लिए बाध्य की जाने वाली स्त्रियों की दुर्गति देखता है। इस प्रकार समाज के आभिजात्य वर्ग से लेकर पापी, अपराधी, घृणित तथा अति निम्न वर्ग के बीच इस व्यक्ति को घुमाकर लेखक ने सामाजिक वैषम्य एव विकृतियों को यथार्थ परिवेश में चित्रित करने का प्रयास किया है। भटकता हुआ यह युवक अत में एक अत्यधिक सम्पत्तिशालिनी नवयुवती के द्वार पर पहुँच जाता है जो उसे देखते ही उसकी वास्तविक प्रतिभा को पहचान लेती है और उसे 'कुक' के रूप में नियुक्त करती है। अत्यधिक सुसंस्कृत रुचि एव प्रगतिशील विचारों वाली यह कुमारी दो ही चार दिन में युवक की कला-कुशलता एव बुद्धि वैभव से परिचित हो जाती है और उसपर मुग्ध होकर उसके उपयुक्त वेश-भूषा, रहन-सहन आदि का प्रबन्ध करके उसे गृहस्वामी का सा अधिकार दे बैठती है। धीरे-धीरे दोनों ही एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते चले जाते हैं। किन्तु युवक का मन अपने पिछले जीवन की कटु अनुभूति से खिन्न-सा रहता है और वह सोचता है कि भूखों इधर-उधर भटकते हुए उसके चीमड प्राणों को विद्रोह की प्रलयाग्नि को दहकाने की जिस अपूर्व शक्ति का जिस प्रचण्ड आत्मविश्वास का अनुभव होता था उसका अस्तित्व ही जैसे लुप्त हो गया है। सामाजिक विकृतियों का शिकार बनी हुई बेला, अमला, जुलेखा तथा सुजाता जैसी असहाय नारियों का करुण चीत्कार उसकी स्मृति में सजग होकर उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को विषाक्त बना देती थी। इसी मानसिक संघर्ष मे उसने एक दिन लीला से प्रस्ताव किया कि वह अपनी आधी सम्पत्ति इन असहायों के उद्धार के लिए दे दें। लीला के उत्तर का गलत अर्थ लगाकर यह असन्तुष्ट युवक चुपके से वहाँ से चल देता है और अपने को राँची में पाता है। कुछ दिन तक लेखक ने उसे राँची के पागलखाने में घुमाकर तथा पागलों के सम्पर्क में लाकर विक्षिप्तता के मूल कारणों के अन्वेषण का प्रयास किया है।

अन्त में लीला यहाँ भी उसका पता पाकर पहुँच जाती है और अपनी सारी सम्पत्ति उसके चरणों में निछावर कर अपने इस चिर प्रतीक्ष्य जीवन-संगी को घर वापस ले जाती है। और शून्य आकाश में निराश्रय भटकने वाला यह पछी अन्त में अपने एकमात्र आश्रय स्थल पर आकर विश्राम लेता है।

इस प्रकार यह उपन्यास विभिन्न प्रकार की सामाजिक स्थितियों के चित्रण को ध्येय बनाकर लिखा गया है। कथानायक को इसी उद्देश्य से कलकतिया समाज में भटकने के लिए छोड दिया गया है—मानों वह छद्म-वेश में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के अनुभव एकत्र करने ही निकला है। ऊपर से मालूम तो ऐसा होना है कि पेट भरने और तन ढकने की मजबूरी ही उसे घुमा रही है और वह जहाँ भी पहुँचता है अपनी इन्हीं आवश्यकताओं का उल्लेख भी करता है। किन्तु वह कहीं भी टिक नहीं पाता और स्वय ही ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर लेता है कि उसे वहाँ से निकलकर अन्यत्र चले जाना पड़े। मानो उस स्थान पर रहने का उसका उद्देश्य पूरा हो गया हो—उस व्यक्ति, परिवार या समाज का अनुभव वह प्राप्त कर चुका हो। जिस समय वह भूख की ज्वाला से कंकाल बना घूम रहा था तब की बात तो भिन्न है किन्तु जब वह करीम चाचा के यहाँ से गोश्त पुलाव खाकर और महीनों पहलवान के अखाड़े में कसरत करके सुन्दर-स्वस्थ शरीर लेकर निकलता है तब भी उसे नौकरी के लिए किसी परिश्रम का काम करते अथवा किसी दफ्तर की ओर हम जाते नहीं देखते बल्कि वह भादुडी महाशय के यहाँ कुक बनना ही ज्यादा पसंद करता है। अगर पेट भरने की ही मजबूरी होती तो वहाँ भी वह टिक सकता था किन्तु वहाँ तो मजबूरी दूसरी ही थी। अतएव बैठे-बिठाए वह ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर लेता है कि वहाँ से निकाल ही दिया जाय। वहाँ से निकल कर वह पहुँचता है मिस साइमन के चकले में और वहाँ भी भाग्य से उसे 'कुक' का ही काम मिलता है। वहाँ मिस साइमन के अमानुषिक शोषण तथा अत्याचारों के विरुद्ध वह अन्य नौकरों तथा पेशेवाली स्त्रियों को संगठित करता है और अन्त में मिस साइमन की मृत्यु (हत्या) के उपरान्त बेचारी औरतों को स्वतन्त्रता दिलाता है। यह काम पूरा होते ही ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि उसे वहाँ से भी चल देना पड़ता है। अन्त में 'एडवेन्चर' का यह प्रेमी पहुँचता है लीला के पास जो मानो वर्षों से इसी की प्रतीक्षा में कौमार व्रत लेकर बैठी है। यहाँ पहुँचकर जैसे उसे अपना वास्तविक आश्रय स्थल मिल जाता है और बीच के थोड़े व्यवधान के उपरान्त जीवन का यह चिर खोजी अनायास लीला जैसी स्त्री तथा उनकी सम्पत्ति का स्वामी बन बैठता है। इस तरह कलकतिया समाज के विशाल समुद्र के ऊपर

ही ऊपर उडने वाला यह पंछी घूम फिर कर एक नारी के प्रेम में ही विश्राम पाता है।

जोशी जी के पहले के उपन्यासों के अधिकाश कथानायक काम-कुण्ठाग्रस्त, अत्यधिक आत्मपरायण, पाशव वृत्ति प्रधान, प्रतिहिंसाप्रिय, सदेहशील, शकालु, पलायन प्रिय, आत्मनिष्ठ तथा मानसिक रोगों के शिकार हैं। 'जहाज के पछी' का नायक उससे किंचित् भिन्न है। इसके भीतर सामाजिक विकृतियों से उद्भूत व्यक्ति-पीडा के प्रति गहरी सहानुभूति है और सामूहिक पीडा के आगे वह अपनी कठिनाइयों को कुछ महत्त्व नहीं देता। अवसर पडने पर वह उन्मुक्त मन से निस्सहायों को दान देता है, चाहे उसे निराहार ही क्यों न रहना हो। वह अपने ही मानसिक ग्रन्थिजाल से बाहर निकल कर कम से कम समाज की बदबूदार गलियो में घूमने का कष्ट तो सहन करता है। किन्तु यह मानना पडेगा कि वह इन कष्टों का द्रष्टा मात्र है उपभोक्ता नहीं। उसका सम्पूर्ण असन्तोष नितान्त बौद्धिक है और उसका भटकना भी परिस्थितिजन्य उतना नहीं है जितना मानसिक उत्तेजनाजन्य। वह वेश बदले हुए केवल लोगों की दशा जानने के लिए ही घूमता-सा प्रतीत होता है। तनिक भी अवसर मिलते ही वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने के आन्तरिक आग्रह को नहीं रोक पाता और कभी डाक्टर को, कभी पुलिसवाले को, कभी भादुडी महाशय की भद्रगोष्ठी को अपने भाषण-शक्ति से प्रभावित करने का प्रयास करता है। तात्पर्य यह है कि वह 'अश्क' के 'चेतन', के समान यथार्थ-जीवी नहीं कल्पना-जीवी है। वह उस वर्ग का व्यक्ति नहीं है केवल उसका अध्येता है। उसके कष्ट, उसका भटकना सब मानो उसी के द्वारा नियोजित हैं, अनिवार्य नहीं। यही कारण है कि उसके चरित्र में कृत्रिमता आ गई है। इसी प्रकार लीला का चरित्र भी नितान्त कल्पनाश्रित है। उसकी जीवन-विधि, उसके स्वप्न, उसकी आदर्शवादिता सभी कृत्रिम तथा अव्यावहारिक से लगते हैं। इन दोनों प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्र भी किंचित् अस्वाभाविक से लगते हैं—जैसे सजा सँवारकर, रूप बनाकर रगमच पर उतारे गये हैं। जोशी जी बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से चरित्र-विकास की कला में उतने दक्ष नहीं है जितने वे मानसिक सघर्षों तथा ऊहापोह के चित्रण में हैं। यही कारण है कि जहाँ मानसिक द्वन्द्व-चित्रण का अवसर मिला है वहाँ उनके चरित्र वर्णन में अधिक दीप्ति आ गई है। लीला के यहाँ पहुँचने के बाद से कथानायक का चरित्र जो अपेक्षाकृत अधिक सशक्त एव सजीव हो उठा है उसका यही रहस्य है।

यह तो स्वीकार ही करना पडेगा कि अपने अन्य उपन्यासों की अपेक्षा

प्रस्तुत उपन्यास में जोशी जी यथार्थ जीवन के अधिक समीप आये हैं। डाक्टरों, नर्सों, गिरहकटों, धोबियों, पुलिस के कर्मचारियों, पढ़े-लिखे बंगाली लड़के-लड़कियों, समृद्ध परिवारों, चकलों, आदि के उन्होंने जो चित्र अंकित किये हैं वे काफी सजीव, मार्मिक एव प्रभावपूर्ण हैं। किन्तु प्रायः ऐसा लगता है कि लेखक का अनुभव वैयक्तिक नहीं हैं, सुनी सुनाई, पढ़ी-पढ़ाई बातों पर अवलम्बित है। स्थान स्थान पर अयथार्थता तथा बासीपन का बोध होता है। कहीं-कहीं तो व्यर्थ ही पन्ने के पन्ने रगते चले गए हैं। जहाँ वर्णन वास्तविक अनुभूति पर आश्रित हैं वहाँ एक विशेष सप्राणता, तथा ताजगी मिलती है। किन्तु ऐसे स्थल कम ही हैं। पुस्तक का अन्त 'आश्रमों' तथा 'सेवासदनों' वाली पुरानी आदर्शवादी परम्परा पर किया गया है। लीला अपना सर्वस्व—हृदय तथा सम्पत्ति—देकर ही अपने रूठे प्रिय को मनाने में समर्थ होती है और पाठक यह बोध लेकर पुस्तक बन्द करता है कि उसकी यह सम्पत्ति अनाथ स्त्रियों के उद्धार-उत्कर्ष के कामों में आयेगी। इस उपन्यास का प्रमुख आकर्षण इसकी सरस वर्णन-रीति तथा कथानक की मनोरमता है। भावनाओं एवं विचारों के वर्णन मे लेखक इतना तल्लीन हो जाता है कि पाठक भी थोड़ी देर के लिए उनमें निमग्न हुए बिना नहीं रह पाता। स्थान स्थान पर सुन्दर व्यंग चित्र हैं जिन्होंने कथा को और भी मनोरम बना दिया है। मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के निदर्शन के लिए लेखक ने कथानायक को पागलखाने की सैर कराई है और पागलपन के कारणों के अन्वेषण का प्रयत्न किया है। पागलों के चित्र भी पर्याप्त सजीव हैं।

जोशी जी के प्रमुख उपन्यासों के उपर्युक्त अध्ययन से हम उनकी उपन्यास-रचना-शैली तथा उनकी प्रवृत्ति के विषय में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रधानतः उनकी रुचि मानव-भावनाओं तथा विचारों के वर्णन की ओर अधिक रहती है। भाव-विचारों के वर्णन में ही उनकी शैली अपनी सम्पूर्ण काव्यात्मक दीप्ति में प्रकट होती है। ऐसे स्थलों पर पहुँचकर लगता है जैसे वह जाने-पहिचाने देश में पहुँच गये हैं और मानव-मन के रहस्य-कुहर को भेद कर विराट तत्व की अनुभूति ने मग्न हो उठे हैं। इस तल्लीनता की स्थिति में उनकी वर्णन रीति अनायास प्रवाहमयी एव सरस हो उठती है। उसमें एक विचित्र गरिमा आ जाती है। सस्कृत तत्सम-शब्द-बहुल यह शैली विषय वस्तु वर्णन के स्तर को ऊँचा उठा देती है और पाठक भाव-विभोर हो उठता है। किन्तु जहाँ जोशी जी जीवन की कर्दमपूर्ण, अन्धेरी वास्तविकता के सामने आकर यथार्थ घटना-वर्णन में प्रवृत्त होते हैं वहाँ शैली का जादू जैसे छूमन्तर सा हो

जाता है। जीवन की छोटी-छोटी नगण्य घटनाओं के यथार्थ विवरण से वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करानेवाली यथार्थवादी शैली का जोशी जी में अभाव है। यही कारण है कि 'जहाज का पछी' यथार्थ जीवन-स्थितियों को वर्ण्य विषय बनाकर भी यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने में असफल रहा है। ऐसा लगता है कि जोशी जी के पास वह यथार्थवादी भाषा शैली है ही नहीं क्योंकि उनकी प्रतिभा बहुत कुछ कवि की प्रतिभा है। पात्रों की बातचीत में वह चुस्ती एवं सजीवता नहीं मिलती जो यथार्थवादी शैली का प्राण है। बात करते-करते अधिकतर पात्र भाषण देने लगते हैं। इस प्रकार के लम्बे लम्बे सवाद तथा स्वगत तर्क-वितर्कों के कारण कथा में अनावश्यक विस्तार आ जाता है जिससे उसकी गति शिथिल पड़ जाती है।

अज्ञेय : सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

व्यक्ति-मन के ऊहापोह के जिस चित्रण-शिल्प का प्रवर्त्तन जैनेन्द्र ने किया था उसे इलाचन्द्र जोशी ने मनोवैज्ञानिक आवरण दिया। उस शिल्प की चरम परिणति अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' (प्रथम भाग १९४१, द्वि० भा० १९४४) में परिलक्षित हुई। हिन्दी-उपन्यास-क्षेत्र में यह एक नितान्त नूतन प्रयोग है। जीवन-दृष्टि तथा शिल्प-प्रयोग दोनों ही दिशा में इस कृति के द्वारा नये संकेत मिले। विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों, छोटी-बडी घटनाओं, दैनंदिन जीवन-व्यापारों के द्वारा आन्दोलित व्यक्ति-मन की विभिन्न दिशावर्तिनी विचार-ऊर्मियों के सूक्ष्मतम स्पन्दनों की कलात्मक अभिव्यजना की यह बडी ही सजग, सतर्क योजना है। इस कृति के औपन्यासिक मूल्य के सम्बन्ध में साहित्यकारों तथा आलोचकों में बडा मत-वैभिन्न्य रहा है। किसी ने इसके कथानक को "उखडा-पुखडा, बिखरा-बिखरा, असम्बद्ध और विशृखलित" बताया, किसीने कहा कि शेखर वह "निरुद्देश्य क्रान्तिकारी है जो एतादृशत्व-मात्र को उलटने के लिए सर टकरा रहा है," कुछ आलोचकों ने उसे "असामाजिक प्राणी" घोषित किया, कुछ ने उसे 'भयकर', 'घोर' और 'उद्धत' अहंवादी बतलाया, किसीने "आनेवाले उपन्यास के लिए प्रकाश-स्तम्भ" निर्धारित किया और किसीने इसे 'गोदान' के बाद सर्वश्रेष्ठ उपन्यास ठहराया। ये परस्पर विरोधी सम्मतियाँ ही इस बात का प्रमाण हैं कि कथा एव शिल्प दोनों ही दृष्टियों से शेखर किंचित् असामान्य है।

यह उपन्यास एक व्यक्ति के आत्मानुभूत जीवन-तथ्यों के अकन का प्रयास है। यह व्यक्ति है शेखर जिसे फाँसी की सजा हो चुकी है और जो मृत्यु की

छाया में बैठा हुआ स्मृत्यालोक में अपने विगत जीवन को देखने तथा उसके मूल्यांकन का प्रयास करता है। इस शेखर में अपनी वैयक्तिकता है और व्यक्तियों, वस्तुओं तथा घटनाओं को देखने की अपनी दृष्टि। उसकी बुद्धि इतनी जागरूक है कि संस्कारजन्य भावनाओं को वह अन्तिम सत्य के रूप में कभी नहीं ग्रहण कर पाया। उसमें इतनी प्रखरता है कि प्रत्येक घटना को तर्क के प्रकाश में विश्लिष्ट करके ही आयत्त कर पाता है। दैनिक जीवन की छोटी से छोटी घटना उसके मानस में लहरें उठा देती है और वह अन्तर्मुख होकर उसके मूल सत्य तक पहुँचने का प्रयास करता है। तर्कशील होने के साथ-साथ वह संवेदनशील भी है और इस दूसरे गुण ने ही उसकी जीवनी को औपन्यासिक मूल्य दे रखा है।

जीवनी के पहले भाग में शेखर अपने बाल-जीवन की छोटी से छोटी घटनाओं की भी बड़ी सतर्कता से छानबीन करता है। उसके बाल-मन की संचरण-भूमियों का मनोविश्लेषण के निष्कर्षों के प्रकाश में अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रयत्न में उसकी अनेक छोटी बड़ी स्मृतियाँ सतर्कता से जीवनी में अंकित हैं। वह सामान्य बालकों से किंचित् परे है। उसमें प्रारंभ से ही वस्तुओं को उनके वास्तविक स्वरूप में जानने की उत्कट जिज्ञासा है और परिणाम स्वरूप वह कभी-कभी ऐसी बातें भी जानना चाहता है जो उसे न जाननी चाहिए। उदाहरण के लिए उसकी यह जिज्ञासा कि माँ के पेट से बच्चे कैसे पैदा होते हैं। इस प्रकार की अवांछनीय उत्सुकता का चित्रण न किया होता तो अच्छा था। बालशेखर के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि 'वह अनौचित्य से किसी प्रकार समझौता नहीं कर पाता।' मार-पीट डांट-फटकार, आदि उपाय उसके लिए व्यर्थ सिद्ध हुए। अपनी सहज विद्रोही प्रकृति के कारण वह जिस बात को अनुचित समझता है उसका जी-जान से विरोध करता है। उसके चरित्र का दूसरा पक्ष यह है कि प्यार एवं सहानुभूति से वह वश में कर लिया जा सकता है। शेखर के जीवन की अधिकतर ऐसी ही घटनाएँ वर्णित हैं जिनसे बाल-मनोवृत्ति का वैज्ञानिक विश्लेषण सामने आ जाय। बालक के निर्बाध एवं स्वाभाविक विकास के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि माता, पिता, शिक्षक सभी उसकी रुचि का ध्यान करके चलें। उसके मन में आदर, घृणा आदि भावों को उद्बुद्ध करने का सम्पूर्ण दायित्व माता-पिता आदि पर है। शेखर का स्कूल-जीवन भी इस रूप में वर्णित है कि वह बाल-मनोविकास के लिए अधिकतर अवरोधक ही सिद्ध होता है। भय आदि भावना के उद्रेक, मन पर उनके प्रभाव तथा उनसे मुक्ति पाने के उपायों का भी स्थल-स्थल पर वर्णन है। शेखर का बाल-जीवन अधिकतर लखनऊ तथा काश्मीर में ही बीतता है।

काश्मीर से नौकरी के सिलसिले में ही पिता को सपरिवार दक्षिण जाना पड़ा। उस समय तक शेखर किशोर हो चला था। दक्षिण-निवास के भी उसके अनेकानेक संस्मरण अंकित किये गये हैं। यहाँ पर उसके जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव पडा एक मद्रासी बालिका शारदा का। शारदा के सम्पर्क में ही उसने सर्वप्रथम स्त्री-पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण का अनुभव किया किन्तु वे मधुमय क्षण कुछ ही दिन रह सके और शारदा उससे एकाएक दूर हो चली गई। बहुत दिनों के बाद जब वे मिले तो शारदा का प्रेम तो ज्यों का त्यों था किन्तु उस पर माता पिता का कठोर नियन्त्रण था। किशोर अवस्था का यह प्रेमाकर्षण तथा निराशा शेखर के लिए पर्याप्त क्षोभ तथा दु:ख का कारण हुआ और उसके जीवन की प्रगति इसके कारण बहुत कुछ कुण्ठित हुई। दक्षिण में ही उसे दो एक छात्र मित्रों के अध्ययन का भी अवसर मिला। कुमार की कृतघ्नता ने उसके मन पर बडा आघात किया। अछूतों के प्रति वहाँ वालों का अत्याचार देखकर शेखर ने अछूत बच्चों के लिए रात्रि-पाठशाला चलाकर कुछ दिनों तक बड़े उत्साह से कार्य किया था। उसके विद्रोही हृदय के भीतर मानवता की बडी कोमल भावना है। इसी कोमलता से प्रेरित हो वह एक दिन एक अछूत स्त्री के घायल तथा कुचले हुए शरीर को अपनी पीठ पर लाद कर मिशन-भवन की ओर ले जाता है।

जीवनी के दूसरे भाग में युवक शेखर के कालेज-जीवन, जेल-जीवन तथा शशि के सम्बन्ध का वर्णन है। कालेज जीवन की स्मृतियाँ अधिक नहीं है क्योंकि वह उस वातावरण में अधिक दिन रहा ही नहीं। जेल में कुछ कैदियों के जीवन का उसपर बडा असर पडा था। इनमें मुख्य थे बाबा मदन सिंह तथा एक मुसलमान लडका। जेल के सम्पूर्ण वातावरण का वर्णन इस रूप में किया गया है कि अपराधियों, पापियों के प्रति घृणा न उत्पन्न होकर सहानुभूति उत्पन्न होती है। बड़े से बड़े अपराधी के भीतर भी मानवीय कोमलता कहीं न कहीं छिपी रहती है। अपराधियों के सुधार का साधन जेल नहीं है बल्कि मानवीय सहानुभूति है। जेल की यातना ने शेखर को और भी अन्तर्दृष्टि प्रदान की। जेल में ही उसे सूचना मिली कि शशि का उसकी मर्जी के विरुद्ध विवाह होने जा रहा है। इस सूचना से उसके भीतर विविध प्रकार की भावतरंगें उठीं जिनका विस्तृत वर्णन किया गया है। जेल से निकलने पर वह शशि से मिला और बराबर मिलता रहा। शशि का उसके प्रति स्नेह पति के हृदय में सन्देह का कारण बना और एक दिन जब शशि रात भर शेखर की अस्वस्थता के कारण उसके घर पर रह गई तो पति ने उसको मारकर निकाल दिया। तब से

शशि और शेखर दोनों एक ही घर में रहने लगे। शशि की प्रेरणा तथा आग्रह से शेखर ने अनेक लेख लिखे किन्तु उसको कोई उपयुक्त प्रकाशक ही नहीं मिला। आर्थिक चिन्ताओं से परीशान शेखर अन्त में क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आता है और उनके जीवन-यापन की समस्या हल हो जाती है। शेखर के प्रति अपरिमेय प्यार लेकर, परिस्थिति की विषमता में घुटती हुई शशि एक दिन इस लोक को छोड़ जाती है और शेखर का जीवन शून्य सा हो जाता है। यहीं पर जीवनी का द्वितीय भाग भी समाप्त हो जाता है।

शेखर में एक नवीन जीवन-दृष्टि है और परम्परित धारणाओं के पुनर्मूल्यांकन का सतर्क प्रयास। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर बहुमूल्य विचार अंकित है। इनमें बहुत सी बातें हमें भले ही स्वीकार्य न हों किन्तु उनके प्रस्तुत करने की रीति में बड़ी ही परिपक्व कला है। शेखर की प्रखर बुद्धि, उसकी आन्तरिक तेजस्विता, उसका निरन्तर जाग्रत स्वाभिमान उसके नवनीत कोमल हृदय से मिलकर उसे एक निराला व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। वह अनेक स्त्रियों के सम्पर्क में आता है और प्रत्येक की उसके मन पर भिन्न-भिन्न प्रतिक्रिया होती है। अपनी बहन के प्रति उसका बड़ा स्नेह है किन्तु माँ के प्रति वह कठोर है और माँ के बुरे स्वभाव का वह जिस ढंग से वर्णन करता है वह पाठकों पर अभिप्रेत प्रभाव डालने में सफल नहीं होता। शारदा के प्रति उसके प्रथम आकर्षण में वयःसन्धि की उमंग है। वह ऐसा ही है जो उस वय में किसी भी लड़के-लड़की के बीच हो जाया करता है। किन्तु रिश्ते में बहन लगने वाली शशि के प्रति उसका प्रेम अधिक गम्भीर है। शशि में विवेक और अनुराग का अद्भुत मिश्रण है। वह पुरुष की दुर्बलता के रूप में नहीं बल्कि उसकी शक्ति या प्रेरणा-स्रोत के रूप में चित्रित की गई है। उसकी सबसे बड़ी चिन्ता सदैव यही रही कि उसका प्रिय अपने जीवन को व्यर्थ न करके उसे सफल-सार्थक बनावे और उसकी असामान्य प्रतिभा निर्माण-कार्य में अग्रसर हो। वह पत्नी के कर्तव्य से भी पूर्णरूपेण अवगत है और असह्य मानसिक यन्त्रणा में भी वह पतिगृह में ही रहती, अगर रामेश्वर उसे अधमरी कर घर से निकाल न देता। शशि और शेखर की संयुक्त जीवन-कथा वेदना और आलोक की कथा है। उनका प्रत्येक क्षण प्रेम की गभीरतम अनुभूतियों का क्षण है। शशि का जीवन-दीप अपने अन्तिम बूँद तक प्रकाश की अद्भुत आभा बिखेरता हुआ 'मधुर मधुर' जलता रहा। रामेश्वर द्वारा 'जूठे किये ओठों' पर जब जब शेखर के भावाकुल चुम्बन अंकित हुए हैं शशि अपनी ही वेदना में विह्वल हो उठी है। इन इने-गिने पवित्र चुम्बनों के अतिरिक्त दोनों के प्रेम में शारीरिकता का कहीं लेश भी

नहीं है। वह प्रेम अत्यधिक गहराई में उतर कर आत्मिक एकता में परिणत हो गया है। क्षण-क्षण में मृत्यु की ओर अग्रसर होती हुई शशि तथा इस कटुसत्य से पूर्ण अवगत शेखर की भावनाओं का बड़े ही सूक्ष्म, सजग एव संवेदनीय स्पर्शों से अकन किया गया है।

शेखर की कहानी आद्यन्त एक प्रखर व्यक्तित्व के विद्रोह की कहानी है। सम्पूर्ण पूर्वग्रहों को छिन्न-भिन्न कर तर्क एवं बुद्धि के प्रकाश में जीवन की व्याख्या का हिन्दी में यह अपूर्व प्रयास है। विविध सामाजिक सास्थिक मान्यताओं एवं कार्यविधियों से लेकर जीवन, मृत्यु, प्रेम, घृणा, हिंसा, अहिंसा, पाप-पुण्य आदि के सम्बन्ध में बहुमूल्य विचार व्यक्त किये गये हैं। इस प्रकार यह बदलते हुए मानव मूल्यों की कलात्मक अभिव्यञ्जना का सशक्त प्रयास है।

शेखर की रचना-प्रक्रिया हिन्दी में नितान्त नवीन है। इसमें कार्य-कारण-सम्बद्ध, पूर्व नियोजित कोई व्यवस्थित कथानक नहीं है। यही कारण है कि अनेक साहित्यिक एव समीक्षक इसे उपन्यास कहने में भी हिचकते हैं। पहला खण्ड तो बिल्कुल ही विशृंखल है, दूसरे भाग में अवश्य कथा कुछ जमकर अग्रसर हुई है। यह जीवन-कथा एक रात के 'घनीभूत विजन' के रूप में उद्‌भूत हुई है और स्मृति-चित्रों में अंकित हुई है। मृत्यु के कुछ समय पूर्व स्मृतियाँ निर्मल हो जाती हैं और उनमें विगत जीवन-घटनाएँ स्पष्ट हो कर प्रतिबिम्बित हो उठती हैं। गुलेरी जी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' में मृत्यु सेज पर पड़ा हुआ लहनासिंह विगत जीवन दृश्यों को अपनी आँखों के सामने देखता है। इसी प्रकार में सिन्क्लेयर के अंग्रेजी उपन्यास 'द लाइफ एण्ड डेथ अव हैरिएट फ्रीन' में डूबती हुई हैरिएट की चेतना इतनी प्रबुद्ध हो जाती है कि वह क्षण भर में ही अपने विगत जीवन को स्मृति के प्रकाश में देख लेती है। सत्तर वर्षों का उसका दीर्घकालीन जीवन शीघ्र परिवर्त्तित चित्रों के समान उसके मानस नेत्रों के सामने झूल जाता है। होरेस मेकाय के उपन्यास "दे शूट हार्सेज डोंट दे ?" में एक व्यक्ति को दो-तीन मिनट बाद ही प्राणदण्ड *दिया जाने वाला है। इस बीच उसके भीतर स्मृतियों का तूफान सा आ जाता* है। इस तूफान को ही शब्दबद्ध करने के प्रयास में यह उपन्यास निर्मित हुआ है। इसी प्रकार मृत्यु की अनिवार्यता के बोध ने शेखर के स्मृति पटल को भी उज्ज्वल दर्पण के समान खोल कर रख दिया है जिस पर सिनेमा के चित्रों के समान एक के अनन्तर दूसरी जीवन-घटनाएँ प्रतिबिम्बित होती चली जाती हैं। वह अपने जीवन का 'प्रत्यावलोकन' कर रहा है, अतीत जीवन को दुबारा जी रहा' है। इस प्रयत्न में वह अन्तर्मुख होकर चेतना तरगों में लहराने लगता है।

जीवन की छोटी बड़ी घटनाएँ, जीवन-पथ में आने वाले अनेकानेक व्यक्ति तथा दृश्य छोटी-बड़ी लहरियों के समान उसकी चेतना-धारा में तरंगायित होते हुए आगे बढ़ जाते हैं। ये परस्पर विच्छिन्न, विपर्यस्त प्रतीत होते हुए स्मृति-खण्ड उस चेतना धारा के अभिन्न अंग हैं जिसकी गति अविरल एवं अबाध है। स्मृति-खण्डों में परस्पर कोई शृंखला न होने के कारण इस उपन्यास में वैसा सगठित कथानक नहीं है जैसा परम्परा प्राप्त अन्य उपन्यासों में मिलता है। यहाँ तारतम्य घटनाओं में नहीं है किन्तु भावानुभूतियों एवं विचार-सरणियों में हैं। छोटे से छोटा बाह्य उद्दीपन मन में एक तरंग उठा देता है, वह लहर समाप्त होते-होते दूसरे उद्दीपन से दूसरी लहर उठ पड़ती है और भाव-विचार लहरियों की यह शृंखला टूटने नहीं पाती। इसकी कला को पूर्णरूपेण आयत्त करने के लिए अंग्रेजी उपन्यासों की 'चेतना की धारा' (Stream of consciouosess) वाले सिद्धान्त एवं औपन्यासिक प्रवृत्ति को समझना होगा। इसके टेकनीक में 'स्मृत्यालोक' या 'पूर्वदीप्ति' (Flash back) वाले कौशल को अपनाया गया है जिसके अनुसार विगत जीवन-घटनाओं को स्मृति के आलोक में चित्रित किया जाता है। लेखक ने जिस रूप में शेखर की जीवन-घटनाओं का विवरण दिया है उससे उनकी सूक्ष्म अङ्कन-शक्ति का परिचय मिलता है। कथ्य की नवीनता तथा गहनता के कारण लेखक को अनेक कौशलों का सहारा लेना पड़ा है। लघुकथा, यात्रावर्णन, रेखाचित्रांकन, मचीय व्याख्यान, आदि की कला का यथा अवसर उपयोग किया गया है। अनेक बातें शब्दों द्वारा व्यंजित की गई हैं। साथ ही कितने ही सूक्ष्म भाव-विचार अनभिव्यंजित रह गये हैं और बिन्दुओं द्वारा उनके संकेत का प्रयास किया गया है। अत्यधिक आत्मनिष्ठता, नूतन विचार पद्धति, मूल्यों के क्रान्तिकारी परिवर्तन, तथा सूक्ष्मतम भावांकन के प्रयास में शैली किंचित् गहन तथा बोझिल-सी हो गई है।

अज्ञेय का दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' १९५१ में प्रकाशित हुआ। यह शेखर की मनोविश्लेषणात्मक बोझिलता तथा गहनता से प्रायः मुक्त है। इसमें एक सुनियोजित कथा है जिसका क्रमिक एवं संगत विकास हुआ है। किन्तु लेखक की व्यक्तिपरक दृष्टि यहाँ भी उतनी ही सजग है। सामाजिक विधि निषेध से किंचित् तटस्थ, परम्परित जीवन-व्यवस्था से कुछ विच्छिन्न, समाजकृत रूढ़ियों बन्धनों, व्यंजनाओं से मुक्त यह कुछ व्यक्तियों का अपना जगत है जो अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार आचरण करते हैं और जीवन की एक नई दिशा की ओर संकेत करते हैं। उनके लिए सामाजिक नियमों

होता। पिता द्वारा उठाए विवाह के प्रश्न के सम्बन्ध में जब गौरा ने भुवन की सम्मति माँगी तो अप्रत्यक्ष रूप से उसने उसे अपने मन के विरुद्ध केवल माता-पिता का ध्यान रखकर, किसी अनजाने व्यक्ति से विवाह करने को मना ही किया। यह मानो उसके अन्तर्मन का निर्देश था जहाँ गौरा का प्रेम गहराई में जाकर बैठ गया था। भुवन के अनुसार "जब तक कोई स्पष्टतया मनोवैज्ञानिक 'केस' न हो विवाह सहज धर्म है और है व्यक्ति की प्रगति और उत्तम अभि-व्यक्ति की एक स्वाभाविक सीढ़ी।" रेखा का अपूर्व कल्पित प्रेम पाकर भी जब भुवन उसका जीवन-साहचर्य न पा सका तो वह गौरा की ओर पुनः उन्मुख हुआ और उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों पर हम उसे गौरा के पास विवाह-प्रस्ताव का पत्र लिखते हुए पाते हैं।

रेखा का व्यक्तित्व भी किंचित् असामान्य है। 'वह अत्यन्त रूपवती है। और उसका रूप एक सप्राण तेजोमय पर्सोनेलिटी के प्रकाश से भीतर से दीप्त है, भले ही एक कड़ा रिज़र्व उस प्रकाश को घेरे है।' विवाह करके भी उसे दुर्भाग्यवश नारीत्व की अभिव्यक्ति का अवसर न मिला और अपने पति की विकृतियों के कारण वह उससे अलग हो गई। अपनी चिर अतृप्ति की आग को, अपनी दुर्दम्य मानवीय भूख को दबाए हुए वह मानो भटक रही है। सुशिक्षित, उदार सहृदय युवक डाक्टर भुवन में उसे अपने नारीत्व के साफल्य की सभावना दिखी और वह जैसे उसके पीछे हो ली। नौकुछिया झील पर वह स्वय प्रार्थिनी बनी, पुरुष को निमन्त्रित किया किन्तु अपने सस्कारजन्य सकोच तथा भय की भावना में भुवन उसे कृतार्थ न कर सका। वह छाया की तरह भुवन के साथ लगी रही और तुलियन झील पर उसकी मनोकामना तृप्त हुई। वह फ़ुलफ़िल्ड हुई। 'भुवन जाने से पहले मै एक बात कहना चाहती हूँ। आइ एम फ़ुलफ़िल्ड! अब अगर मैं मर जाऊँ तो परमात्मा के—प्रकृति के—प्रति यह आक्रोश लेकर नहीं जाऊँगी कि मैने कोई भी फ़ुलफ़िलमेन्ट नहीं जाना—कृतज्ञ भाव ही लेकर जाऊँगी—परमात्मा के प्रति और—भुवन तुम्हारे प्रति!' उसके गर्भवती होने की सूचना पाकर जब भुवन उससे मिलने काश्मीर गया और विवाह का प्रस्ताव किया तो रेखा ने निश्चयात्मक ढग से इन्कार करते हुए कहा 'मैने तुमसे प्यार माँगा था, तुम्हारा भविष्य नहीं माँगा था, न मै वह लूँगी।' वह समझती है कि विवाह का प्रस्ताव भुवन ने परिस्थिति की बाध्यता (उसके गर्भवती होने से) से की है 'न भुवन! बात वही है। तुम कुछ कहो मै भूल नहीं सकती कि—जो हुआ है वह न हुआ होता तो—तुम न माँगते—न कहते, इसलिए तुम्हारा कहना परिणाम है। और यह कहना परिणाम नहीं,

धारण होना चाहिये, तभी मान्य—तभी उस पर विचार हो सकता है।' इसके पूर्व रेखा गौरा से मिल चुकी थी और उसकी सहज नारी—संवेदना ने भुवन के प्रति उसकी भावना को अच्छी तरह आँक लिया था और सम्भवत उसने उसी समय निश्चय कर लिया था कि वह गौरा और भुवन के बीच न आएगी। अतएव असह्य वेदना को झेलकर भी उसने भुवन के विवाह-प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। आगे चलकर अपने और भुवन के प्रेम के श्रेष्ठतम दान को, अपने गर्भस्थित बालक को (जिसे सर्जन वायलोनिस्ट बनाने की उसने मधुर कल्पना कर रखी थी) औषधि खाकर उसने नष्ट कर देने का अत्यधिक कष्टप्रद प्रयत्न किया, क्योंकि वह भुवन को तथा भावी शिशु को लज्जा नहीं देना चाहती थी। उसका सिर झुके यह वह नहीं चाहती थी—किसी के आगे नहीं, और उस राक्षस—हेमेन्द्र—के आगे तो और भी नहीं। भुवन से विलग होकर, सम्भवतः उसी की कल्याण-कामना से, उसे पूर्ण रूप से मुक्त कर देने की भावना से प्रेरित होकर उसने डाक्टर रमेश से पुन: विवाह कर लिया और भुवन को लिखा—'यह क्या है भुवन ? बरसों मैं श्रीमती हेमेन्द्र कहलायी, उसके क्या अर्थ थे ? अब अगले महीने से श्रीमती रमेशचन्द्र कहलाऊँगी—उसके भी क्या अर्थ हैं ? कुछ अर्थ तो होंगे, अपने से कहती हूँ, पर क्या, यह नहीं सोच पाती। मैं इतना ही सोच पाती हूँ कि मेरे लिए यह समूचा श्रीमतीत्व मिथ्या है, कि मैं तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी, तुम्हारी ही हुई हूँ, और किसी की कभी नहीं, न कभी हो सकूँगी।'

रेखा से किंचित् भिन्न है गौरा। उसने अपने 'भुवन दा' को बचपन से जाना-पहिचाना है। और बचपन की उसकी स्नेह-श्रद्धा यौवन में आकर प्रेम का रूप धारण कर लेती है। किन्तु यह प्रेम अन्तर्मुख है। विवाह की चर्चा चलने पर वह व्याकुल सी हो उठती है और 'भुवन दा' को अति सक्षेप में लिख भेजती है—'आप क्या दो-चार दिन के लिए भी नहीं आ सकते। मुझे आगे मार्ग नहीं दीखता है, और मैं अँधेरे में डूबना नहीं चाहती, नहीं चाहती। जल्दी आइए।' भुवन ने उसे लिखा कि वह स्वय ही अपने भीतर से प्रेरणा प्राप्त करे क्योंकि विवाह एक बहुत बडा दायित्व है और इसमें जोखिम की बडी गुंजाइश है। रेखा ने माता-पिता की खुशी के लिए स्वय बलिदान हो जाने की सम्भावना की जब बात लिखी तो भुवन ने उसका प्रतिवाद किया और उसी से प्रेरणा और प्रकाश पाकर उसने विवाह करने से इन्कार कर दिया। उसके उपरान्त वह सगीत की साधना में अपने को डुबो देने का प्रयास करने लगी। ईर्ष्यालु चन्द्रमोहन ने रेखा तथा भुवन के सम्बन्ध की जब उसे सूचना दी तो

भी उसने अपनी व्यथा को भीतर ही दबा लिया और भुवन के प्रति कोई शिकायत मन में नहीं उठने दी। भुवन के प्रति उसकी निष्ठा, उसके हृदय का पक्षपात पूर्ववत् बना रहा। वह अपने को 'भुवन दा' से छोटी, क्षुद्र, एव उसकी अनुगता मानती रही। उसके प्रत्येक पत्र में स्वतन्त्र विचार एव गम्भीर व्यक्तित्व की व्यजना के साथ अपूर्व विनयशीलता ध्वनित होती है। रेखा के वियुक्त होकर जब भुवन इधर-उधर भटकने लगा और उसके पत्रों से उसकी मनोवेदना का परिचय गौरा को हुआ तो वह उसके पास पहुँच जाने को छटपटा सी उठी। भुवन के जावा जाने की सूचना पाकर उसने लिखा—'भुवन दा, क्यों, क्यों, मेरी कुछ समझ में नहीं आता, क्यों आप मुझसे दूर भागे जा रहे हैं जो आपको अपने पथ का प्रकाश मान कर जी रही है।' लड़ाई छिड़ने पर जब भुवन गौरा के पास मसूरी आया तो वह उत्फुल्ल हो उठी। रात में जब भुवन ने अपने तथा रेखा के प्रसग की सारी घटनाएँ उसे सुनाई और अपने को शिशु हत्या का दोषी बताया तथा अग्नि मे डरने और मृत बालकों के देखने की बातें बताई तो गौरा अत्यधिक व्यथा में खुल पडी। उसकी स्नेह-सहानुभूति एवं सान्त्वना पाकर भुवन का कल्पित भय दूर हुआ, उसकी ग्रन्थि खुल गई। इसके बाद यद्यपि भुवन फिर सेना में कमीशन लेकर बाहर चला गया किन्तु गौरा और भुवन समीप ही आते गये और पुस्तक बन्द करते-करते हमें यह सकेत मिल जाता है कि अब दानों विवाह-बन्धन मे बँध जायँगे।

यह उपन्यास सामाजिक-सास्थिक परिवेश से नितान्त विच्छिन्न कुछ व्यक्तियों के एकान्तिक जीवन की समस्याओं एव सघर्षों के चित्रण को ध्येय बनाकर चला है। इन व्यक्तियों पर सामाजिक नैतिकता का नियन्त्रण नहीं है। रेखा के प्रथम काम-निवेदन पर भुवन इसलिए नहीं हिचकता कि सामाजिक दृष्टि से वह निन्द्य है बल्कि इसलिए हिचकता है कि वह उस सौन्दर्य की अनुभूति को नष्ट नहीं करना चाहता। भुवन में अत्यधिक बौद्धिकता के साथ-साथ तीव्र सवेदनशीलता भी है। इसी सवेदनशीलता से प्रेरित होकर वह गर्भवती रेखा से विवाह का प्रस्ताव करता है। इस प्रस्ताव मे उसकी सामाजिक दृष्टि का भी हाथ है। इसी प्रकार रेखा को गर्भपात करने की प्रेरणा भी मुख्यतः सामाजिक भय से ही उद्भूत हुई थी किन्तु वह भय अपने लिए नहीं था भुवन के लिए था। उसके मन में कभी भी यह ग्लानि न हुई कि उसने कोई अनैतिक या अस्वाभाविक कार्य किया है। यौवन के प्रथम उन्मेष में विकृत रुचिवाले पति को पाकर उसे जो एक कटु अनुभव हुआ था उसने उसे एक प्रकार से समाज की उपेक्षा करने की दृष्टि दी थी। अपने ऊपरी 'रिजर्व' के भीतर वह अतृप्त कामनाओं का एक

ज्वालामुखी छिपाए बैठी थी। जिस रूप में उसने भुवन को भोग के लिए आमन्त्रित किया वह किंचित् स्त्री जनोचितशील के विरुद्ध है और कामवर्जना का एक तीव्र विस्फोट सा प्रतीत होता है। किन्तु लेखक ने उसके इस आचरण को भी अपने वर्णन-कौशल से उदात्त रूप देने का प्रयत्न किया है। उसके भीतर की गम्भीर प्रेमानुभूति एवं पीडा की ओर संकेत करके उस काम-विस्फोट को एक स्वाभाविक तथा पुनीत परिणति के रूप में चित्रित किया है। इस पुनीत प्रेमानुभूति ने ही उसे भुवन के मार्ग से हट जाने की प्रेरणा दी। किन्तु रेखा हमारी सहानुभूति को नहीं जगा पाती। 'शेखर' की शशि की पीडा हमारी पीडा बनती है किन्तु रेखा की नहीं।

इस उपन्यास के सम्बन्ध में प्रायः शिकायत सुनी जाती है कि यह स्थान-स्थान पर अश्लील हो गया है। ऐसे स्थल दो ही हैं। एक तो रेखा और भुवन का काम-प्रसंग जहाँ लेखक ने वासनोत्तेजक चेष्टाओं का ब्यौरेवार वर्णन किया है और दूसरा रेखा के गर्भपात का दृश्य जहाँ स्वयं भुवन ने पीडा से कराहती रेखा के समीप नर्स का सा 'गलीज' कार्य किया। इन दोनों ही प्रसंगों के चित्रण में पर्याप्त यथार्थता है और जीवन के एक पक्ष की कलात्मक अभिव्यक्ति है। किन्तु यदि लेखक इन प्रसंगों के वर्णन में संकेत से काम लेता तो भी पूर्ण भावाभिव्यक्ति में कोई क्षति न होती। इन अत्यधिक खुले हुए वर्णनों के कारण यह उपन्यास सबके पढने योग्य नहीं रह गया है। दूसरी बात जो सहज ही ध्यान आकृष्ट करती है वह है प्रमुख पात्रों की काव्य-प्रियता। विज्ञान के विद्वान् डाक्टर भुवन को इतनी कविताएँ याद हैं जितनी किसी साहित्य के अध्यापक को भी न होंगी। तीव्र भावानुभूति के क्षणों में रेखा और भुवन कविता बोलने लगते हैं और जिन गहन अनुभूतियों की स्वयं अभिव्यंजना नहीं कर पाते उन्हें इन कविताओं—जो अधिकांश अंग्रेजी की हैं—के माध्यम से करने का प्रयत्न करते हैं। इन छोटी-बडी कविताओं के द्वारा एक तो कथा-प्रवाह में गतिरोध उत्पन्न होता है दूसरे अंग्रेजी से अनभिज्ञ पाठक इन्हें समझ नहीं पाते और इनका न तो आनन्द ही ले सकते हैं और न इनके द्वारा अभिव्यनित पात्रों के भाव-विचारों को ही आयत्त कर पाते हैं।

जहाँ तक शिल्प का सम्बन्ध है 'नदी के द्वीप' में भी 'शेखर' का प्रौढ कलात्मक कौशल देखा जा सकता है। मानव मन में उठनेवाले विचार-बुद्बुदों एवं तरंगों को बडी सतर्कता से शब्दबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। 'स्मृत्यालोक' या 'पूर्वदीप्ति' वाली पद्धति का स्थान-स्थान पर कुशलता से उपयोग किया गया है। उपन्यास अनेक खण्डों में बँटा है और प्रत्येक खण्ड का नाम-

करण पात्र-विशेष के आधार पर किया गया है जिसमें उसी पात्र की जीवन-कथा को प्रमुखता मिली है। इन खण्डों के बीच "अन्तराल" हैं जिनमें अधिकतर पात्रों के द्वारा कथा-सूत्र को एकत्र करने का प्रयत्न है। कथा-योजनापूर्ण सुनियोजित है और कथा के बीच-बीच चिन्तन-प्रसूत मूल्यवान विचार बिखरे हुए हैं।

यशपाल

समाज के यथार्थवादी चित्रण की दृष्टि से यशपाल के उपन्यास महत्त्वपूर्ण हैं। जीवन के प्रति उनकी एक निश्चित दृष्टि है और सामाजिक अवस्था के चित्रण में उन्होंने अपनी इसी दृष्टि को समाज-दर्शन का माध्यम बनाया है। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण उनकी कृतियों में पूँजीवादी अथवा सामंती व्यवस्था के वैषम्य से उद्भूत मानवीय उत्पीड़न की कथा वर्णित है। जीवन की प्रवृत्ति को असंदिग्ध सत्य मानकर उन्होंने अपने उपन्यासों में यौन-आकर्षण को मनुष्य की सबसे सहज, स्वाभाविक तथा तीव्र अनुभूति के रूप में चित्रित किया है और उनमें राजनीति तथा रोमांस का अपूर्व सम्मिलन हुआ है। एक प्रकार से प्रेमचन्द के उपरान्त राजनीतिक विषयों पर उपन्यास लिखने वालों में यशपाल अग्रणी हैं। किन्तु प्रेमचन्द तथा यशपाल के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर है। प्रेमचन्द ने युग की उथल-पुथल को कलाकार की सम्पूर्ण सचाई के साथ केवल चित्रित करने का प्रयत्न किया है किन्तु यशपाल ने उपन्यास को सिद्धांत-प्रचार का साधन बनाया है। यशपाल में उच्चकोटि की विधायक प्रतिभा है, उनकी कहानियाँ इसकी साक्षी हैं। किन्तु कहानियों में कला के जिस उत्कृष्ट रूप का दर्शन होता है वह उपन्यासों में नहीं मिल पाता। इसका प्रधान कारण यह है कि उपन्यास के माध्यम से वे एक निश्चित ध्येय की सिद्धि चाहते थे। जिन प्रबल भावनाओं ने उन्हें 'गांधीवाद की शव-परीक्षा' लिखने की प्रेरणा दी थी वे ही भावनाएँ उनकी कला का भी नियन्त्रण कर रही थीं।

'दादा कामरेड' मई सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ था। हरीश जेल से भागा हुआ एक क्रांतिकारी है। इन लोगों की एक गुप्त पार्टी है जिसके नेता हैं 'दादा'। जेल से भागने के बाद हरीश अनुभव करता है कि 'गुप्त पार्टी बना दस पाँच आदमियों में अपनी शक्ति को संकुचित कर देने से कोई लाभ नहीं है।" वह कहता है "अब तक हमारी संपूर्ण शक्ति डकैतियों करने में अधिकतर और कुछ राजनीतिक हत्याओं में काम आई है। किंतु हमारा उद्देश्य तो यह नहीं है। हमारा उद्देश्य तो यह है कि इस देश की जनता का शोषण समाप्त कर उनके लिए आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त करना।......" इसे अपना

टेकनीक बदलना चाहिए .....बजाय शहादत के परिणाम की ओर ध्यान देना चाहिए। रूस ने क्या किया? . . हम अपने आदमियों के जरिए कांग्रेस में घुसें और दूसरे जन-आंदोलन में हाथ उठावें।' उसके इस मत परिवर्तन से उसकी पार्टीवाले उसके विरुद्ध हो जाते हैं क्योंकि वहाँ तो तर्क को कोई स्थान नहीं। पार्टी की गुप्त बैठक में बी० एम० द्वारा प्रस्ताव होता है कि हरीश को शूट कर दिया जाय। किंतु हरीश को शैला-द्वारा इस निश्चय की सूचना मिल जाती है और वह अपनी रक्षा कर लेता है। इस हरीश के भीतर सच्ची लगन के साथ-साथ मानवोचित हृदयालुता भी है। शैला, यशोदा एवं लाहौरवाले मजदूर अख्तर के प्रसंग में उसकी इस सहृदयता का यथेष्ट परिचय मिलता है। लाहौर में मजदूरों की विपन्नता को देखकर वह सोचता है 'आकाश में गरजनेवाली बिजली की तरह मजदूरों की इस शक्ति को क्रांति के तार में कैसे पिरोया जा सकता है।' और मजदूर-संगठन के लिए प्रयत्नशील होता है। एक ओर तो इस राजनीतिक क्रांतिकारी हरीश की कथा है और दूसरी ओर सामाजिक क्रांतिकारिणी शैला की। यशपाल ने शैला के व्यक्तित्व तथा विचारों के द्वारा स्त्री पुरुष के संबंधों की भी कुछ विवेचना करने की कोशिश की है। शैला बिलकुल स्वच्छंद प्रकृति की शिक्षित स्त्री है। वह कहती है—'कर लो किसी को अपना या हो लो किसी के, मैं तो संभव नहीं देख पाती। क्या संसार भर की अच्छाई एक ही व्यक्ति में समा सकती है? और जगह दिखाई देने पर अच्छाई को कैसे इनकार किया जा सकता है? क्या मनुष्य हृदय का स्नेह केवल एक ही व्यक्ति पर समाप्त हो जाना जरूरी है?' यह शैला हरीश की बड़ी सहायता करती है। राबर्ट नैन्सी प्रसंग को लाकर आधुनिक प्रेम के रूप को भी दिखाने का प्रयत्न किया गया है। आजकल स्त्री का क्या स्थान होता है यशोदा इसका जीवित उदाहरण है।

इस प्रकार 'दादा कामरेड' लिखकर यशपाल ने अपने राजनीतिक एवं कुछ सामाजिक विचारों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। अपने इस उद्देश्य में तो वे पर्याप्त सफल रहे किंतु इसमें उच्चतर कलाकार का जो उद्देश्य होता है उसकी पूर्ति इसमें पूरी-पूरी तरह नहीं हो पाई। यह अवश्य है कि उपन्यास पर्याप्त मनोरंजक है, वर्णन-प्रणाली आकर्षक है तथा वातावरण का बड़ा सजीव चित्रण है। इस उपन्यास में यशपाल ने ऐसा क्षेत्र चुना है जो हिन्दी के लिए अछूता था। यदि थोड़ी सी कलात्मक तटस्थता वे रख पाते तो यह अपने ढंग का अनोखा उपन्यास होता। हरीश, बी० एम० दादा, शैला, यशोदा, अख्तर सभी के चरित्रों में कुछ न कुछ विशेषता है। सभी का व्यक्तित्व अलग अलग है। हाँ, उन्हें विकास-स्वातंत्र्य अवश्य नहीं मिला है।

यशपाल का दूसरा उपन्यास 'देश द्रोही' सन् १९४३ में प्रकाशित हुआ। इसमें इनकी मनोवृत्ति और भी स्पष्ट हो गई। गांधीवाद तथा कांग्रेस की आलोचना एवं रूसी समाजवाद का प्रतिपादन इस उपन्यास का लक्ष्य प्रतीत होता है। अपनी उर्वर कल्पना एवं पुस्तकीय ज्ञान के सहारे लेखक ने स्वानुभव से परे के प्रदेशों, वस्तुओं एवं व्यक्तियों का इसमें चित्रण करने का प्रयास किया है और यह नहीं कहा जा सकता कि उसे सफलता नहीं मिली। इस उपन्यास की लीला भूमि बडी विस्तृत है। इसमें भारतीय, वजीरी, अफगान, रूसी आदि कई प्रकार की जातियों का चित्रण किया गया है।

'देश-द्रोही' का कथानायक है भगवानदास खन्ना जो सीमाप्रांत के फौजी अस्पताल का डाक्टर है। एक रात छापा मारकर वजीरी लोग बहुत-सा सामान एवं पशुओं के साथ-साथ कैप्टेन खन्ना को भी उठा ले गये। 'अनजानी अंधेरी राह' में डाक्टर खन्ना की अननुभूत यन्त्रणा का यशपाल ने बडा ब्योरेवार वर्णन किया है। जब दर्द से बेहाल अचेत डाक्टर खन्ना की चेतना लौटी तो उन्होंने अपने को वजीरियों के बीच में पाया। अपनी कल्पना से लेखक ने वजीरियों की रहन-सहन, उनकी रीति नीति, उनकी सामाजिक एवं आर्थिक अवस्था तथा लूट में आये हुए व्यक्ति के साथ उनके पाशविक व्यवहार का बडी सतर्कता से वर्णन किया है। वजीरियों को लालच था कि डाक्टर खन्ना के घरवाले काफी रुपया देकर उसे छुडा लेंगे। उन्होंने प्रस्ताव किया कि डाक्टर अपने घर चार हजार रुपयों के लिए चिट्ठी लिखे। वह चिट्ठी बन्नू के किसी मातबर आदमी के हाथ देहली भिजवा दी गई। डाक्टर का एक-एक दिन नारकीय यन्त्रणा सहते हुए आशा में अटका रहा। इन अपढ़ उजड्ड पठानों के धार्मिक विश्वासों एवं आचार-विचार ने डाक्टर के समक्ष जीवन-तथ्य का एक नया पहलू उद्घाटित कर दिया। वह सोचने लगा कि आदमी जितना जाहिल रहता है उतना ही अधिक अभिमान और भरोसा उसे अपने आचार का होता है। परिस्थिति भेद से जिस प्रकार के लोगों को वह बिल्कुल तुच्छ और हेय समझता था वे ही उसे कीडे-मकोडे से भी हेय समझ रहे थे। उसके इस यन्त्रणामय जीवन में सरसता भरने के लिए इब्बा और नूरन संकेत करतीं किंतु भय से डाक्टर आँख न उठा पाता। प्रायः पाँच महीने बाद जब कबीले के एक वजीरी ने बन्नू से लौटने के बाद समाचार दिया कि उसका पत्र दिल्ली भेज दिया गया था किंतु उसका उत्तर न आया तो निराशा से डाक्टर का मस्तक झुक गया। ईद के दिन डाक्टर को कलमा पढ़ाकर मुसलमान बना लिया गया। कबीलेवालों ने इसे बड़े सवाब का काम समझा। अब डाक्टर को जान पडने लगा कि मनुष्य का अपना

विश्वास ही भगवान है और भगवान् की प्रेरणा उसे अपनी बुद्धि के अनुसार समझ पड़ती है। उसके विचार में जबरदस्ती मुसलमान बनाया जाना घोर अन्याय और मूर्खता थी परन्तु वजीरियों की दृष्टि में बड़ा भारी सवाब जिससे उन्हें बहिश्त की हूरें मिलेंगी। 'खन्ना' से 'अन्सार' होकर डाक्टर गजनी लाया गया और उसका प्रबन्ध पोस्तीनों के व्यापारी अब्दुल्ला सौदागर के यहाँ हो गया।

हिंदा के छ मास के जीवन के उपरान्त डाक्टर को अब्दुल्ला की दूकान की नौकरी स्वर्ग जान पड रही थी। अब्दुल्ला का लड़का नासिर जो सहृदय, उदार एवं नवीन भावनाओं में रँगा था उससे पर्याप्त सहानुभूति रखने लगा। नासिर जैसे अपने चारों ओर फैले अज्ञान और सकुचित जीवन से छटपटा रहा था। अनुभव और जानकारी लिए हुए डाक्टर के रूप में उसे एक सहारा-सा मिल गया। इधर साघातिक बीमारी में इलाज तथा तीमारदारी करने के कारण अब्दुल्ला अन्सार से बड़ा प्रसन्न हो उठा और अपनी लड़की से निकाह कर देने का प्रस्ताव किया। डाक्टर के लिए यह बहुत बड़ा प्रलोभन था, वह इन्कार न कर सका और नर्गिस के ओठों की उत्तेजनाहीन सुवासित मदिरा ने उसे तृप्ति की आत्मविस्मृति में डुबो दिया। किंतु थोड़े ही दिनों बाद उसकी दबी हुई कल्पना फिर सजीव हो गजनी के क्षितिज से परे पर फड़फड़ाने लगी। उसका मन इस प्रकार के उद्वेगहीन, उद्देश्यहीन जीवन से ऊब गया और वह नासिर के साथ सोवियट रूस की सीमा में जाने की युक्ति सोचने लगा। चरस के गुप्त व्यापारियों की मदद से नासिर और डाक्टर स्तालिनाबाद के कस्बे में पहुँच गये। वहाँ से वे अधिकारियों द्वारा समरकन्द भेजे गये और वहाँ अफसर के सामने पेश हो अनेक प्रकार की जिरह का उत्तर देने के उपरान्त डाक्टर को चिकित्सा-विभाग में खोज का काम दे दिया गया। नासिर गुर्जी तेल के कारखाने में काम करने के लिए भेज दिया गया।

स्वास्थ्य-गृह में डाक्टर का विशेष संपर्क वहाँ के खोज विभाग के अध्यक्ष डाक्टर सिमोनोफ से रहने लगा। डाक्टर सिमोनोफ को राजनीति से कोई काम न था। उन्हें वैज्ञानिक अनुसंधान की सुविधाएँ प्राप्त थीं वे इसीमें सन्तुष्ट थे। डाक्टर सिमोनोफ के अतिरिक्त खन्ना का अधिक संबन्ध था कामरेड सतून से। वे शिशुशाला की अध्यक्षा थीं और दाइयों की शिक्षा की देखरेख करना उनका काम था। जारशाही के जमाने में सतून पर्याप्त यन्त्रणा झेल चुकी थीं। अतएव अब "इस स्त्री के लिए जीवन का प्रत्येक कार्य सनातनगामी पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध निरन्तर युद्ध की शृङ्खला है।" डाक्टर सिमोनोफ तथा सतून के

अतिरिक्त उस स्वास्थ्य-गृह में एक और व्यक्ति था जिसका आकर्षण डाक्टर के लिए दुर्दमनीय था। यह थीं गुलशाँ। स्वभाव की गुणग्राहकता और जीवन में पूर्णता की इच्छा उसे गुलशाँ की ओर खींच रही थी। किंतु राज का विचार भी एकान्त क्षणों में उसके मानसलोक को आन्दोलित किया करता था और वह गुलशाँ के मोहपाश को काटकर निकल भागना चाहता था। गुलशाँ सचमुच डाक्टर को प्यार करती थी किंतु अपनी पलायन वृत्ति के कारण डाक्टर समरकद में टिक न सका। राजनीतिक शिक्षा लेने के लिए वह मास्को चला गया। वहीं पर उसे नासिर भी मिल गया। वहाँ कुछ दिन रह चुकने के उपरात डाक्टर काले समुद्र की राह भारत की ओर चल पडा। नासिर ने भी उसका साथ दिया। गुलशाँ का सामीप्य उसे राज की सुध दिलाता था और रूस की समाज-वादी व्यवस्था अपने दलित भारतवर्ष की। इन दोनों सुधियों का आकर्षण उसके लिए दुर्दमनीय था।

इधर जब पति का कोई समाचार नहीं मिला तो उनकी पत्नी राजदुलारी खन्ना बहुत व्याकुल हुई। यह व्याकुलता परिणति पर पहुँच गई जब सीमात के फौजी अफसरों ने डाक्टर खन्ना की मृत्यु का स्वाद भेजा। पति-वियोग के इस असहनीय दु ख से निस्तार पाने के लिए राज ने चुपके से बहुत-सी अफीम खा ली किन्तु तत्काल उपचार हो जाने के कारण वह मर भी न सकी। उसके इस दुःख में सबसे अधिक समवेदना दिखाई डाक्टर खन्ना के मित्र शिवनाथ एव बद्री बाबू ने। ये दोनों ही राष्ट्रीय कार्यकर्ता थे। एक समय था जब कि खन्ना एव शिवनाथ ने बम बनाकर आतक के द्वारा राष्ट्रोद्धार की स्कीम बनाई थी और अनुभव की कमी के कारण पहले ही बम में शिवनाथ पकड लिया गया। जेल से छूटने के बाद शिवनाथ काग्रेस समाजवादी दल का नेता बन बैठा। बद्री बाबू दक्षिणपथी काग्रेसी थे। उनका गाधी-कार्यक्रम में विश्वास था। मजदूरों के कार्यक्रम को हाथ में ले शिवनाथ ने उनके नेतृत्व को चुनौती-सी दी। बहुत दिनों तक पति का शोक मनाते रहने के बाद जब राज ने अपने घर में अपनी वास्तविक स्थिति देखी तो वह बद्री बाबू की प्रेरणा से उन्हीं के सेवाश्रम में गई और उनका हाथ बॅटाने लगी। धीरे-धीरे वह उनके निकट आती गई और एक दिन खबर छपी 'राजनैतिक विवाह। देहली के प्रसिद्ध नेता बद्री बाबू का श्रीमती राजदुलारी से अदालती विवाह।" तीसरे ही दिन समाचार था—"चाँदनी चौक देहली में युद्ध विरोधी व्याख्यान देने के कारण त्याग-मूर्ति बद्री बाबू की गिरफ्तारी।" राज रानीखेत में बद्री बाबू के आश्रम में रहने लगी और कुछ समय उपरात उन्हें पुत्र भी उत्पन्न हुआ। इधर देश में सन् १९४२ की उथल-

पुथल शुरू हुई। शिवनाथ फरार होकर मजदूरों को ध्वंसकार्य के लिए प्रेरित करता रहा।

बंबई में कुछ दिन नाम बदलकर कम्युनिस्ट पार्टी का काम करते रहने के उपरांत डाक्टर खन्ना भी कानपुर पहुँचे और डाक्टर वर्मा के नाम से दवा की दूकान खोलकर कम्युनिस्ट पार्टी का काम करने लगे। रूस के ऊपर जर्मन आक्रमण होते ही कम्युनिस्टों ने इस युद्ध को लोकयुद्ध कहना आरंभ किया और सरकार ने भी इनके ऊपर से सारे प्रतिबंध हटा लिये। उन दिनों शिवनाथ की बहिन यमुना कानपुर में ही थी। राज की बहिन चंदा भी अपने पति के साथ वहीं रहती थी। डाक्टर खन्ना यमुना से मिले और वहीं उनकी शिवनाथ से भी भेंट हो गई। सिद्धांत में भेद होने पर भी दोनों मित्रों में पूर्ववत् प्रेम था। डाक्टर चंदा के घर भी आने-जाने लगा और उसके शील से चंदा उसकी ओर खिंचती सी आई। राजाराम के संदेह ने इस आकर्षण को और भी तीव्र बना दिया। डाक्टर को भी चंदा की 'गोद' में एक विशेष प्रकार का सुखानुभव होता। शिवनाथ युद्ध-प्रयत्न में रोड़े अटकाने के लिए मिल-मजदूरों को ध्वंसकार्य के लिए उत्तेजित कर रहा था और खन्ना लोकयुद्ध की सफलता के लिए अपनी पार्टी के साथ प्रयत्नशील था। शिवनाथ के भटकाने से एक मिल में मजदूरों ने आग लगानी चाही। खन्ना और उसके साथी उन्हें रोकने के लिए पहुँच गये। दोनों दलों में मारपीट हुई जिसमें खन्ना बेतरह घायल हो गया। अर्ध-मृतक अवस्था में न जाने किन लोगों ने उसको उसी के घर में डाल दिया। चन्दा को शिवनाथ का खन्ना के नाम एक पत्र मिला जिसमें चोट लगने के कारण सहानुभूति प्रदर्शित की गई थी तथा यह चेतावनी दी गई थी कि २४ घंटे के भीतर वह कानपुर छोड़ दे क्योंकि उसके बाद पुलिस को उसका असली पता दे दिया जायगा। उसके चोट की खबर सुनकर चंदा आकुल हो उठी और उसके घर पहुँच गई। संयोग से राजाराम चार दिन के लिए बाहर गये थे। खन्ना के अनुरोध से चंदा उसे लेकर बनारस राज के पास चल पड़ी। चंदा के द्वारा सब समाचार जानकर राज मूर्छित हो गई। मूर्छा टूटने पर उसने बड़ी बेचैनी प्रकट की। रात भर किसी तरह वहाँ बिताकर सवेरे फिर चंदा खन्ना को लेकर चल पड़ी। उधर से रास्ते में ही राजाराम आते दिखाई पड़े। पास आते ही उन्होंने चंदा को पीटना शुरू कर दिया। वह अचेत हो गई। खन्ना के पास पहुँचकर उसके कुछ कहते ही राजाराम कह उठा—'चुप धूर्त, देशद्रोही, बदमाश। दूसरों के घर आग लगाकर तमाशा देखनेवाले बेशरम।" राजाराम की आज्ञा से कुलियों ने खन्ना को डाँडी से उठा पत्थरों के बीच समतल भूमि

पर लिटा दिया और चल दिये। पेड के नीचे पत्थरों के ऊपर पडा खन्ना अधखुली आँखों से उन्हें जाते हुए देख रहा था। उसका हृदय निराशा और अवसाद से मुँह को आ रहा था। दोपहर के बाद संध्या और उसके बाद रात्रि बीतते हुए समय के साथ क्षीण होती उसकी जीवनशक्ति, भूख, प्यास, पीड़ा और ज्वर का प्रबल उत्ताप। निर्बलता से उसका चैतन्य विलीन हो रहा था, पीडा की अनुभूति कम होती जा रही थी। षष्ठी के चद्रमा की हिम शीतल क्षीण ज्योत्स्ना में प्राणशक्ति की उष्णता प्रत्येक साँस के साथ कम होती जा रही थी। वह बडबडा रहा था, 'चाँद मैं देश-द्रोही नहीं·· 'चाँद उनसे कहना · हाँ साहस से · · ·'

इस प्रकार 'देशद्रोही' एक अभागे जीवन की व्यर्थता की कहानी है जो लेखक के इशारे पर सपूर्ण जीवन नाचता रहा और अन्त में नितात असहाय अवस्था में मर गया। जब वह छात्र रहा तो देश-प्रेम के बड़े-बड़े मंसूबे बाँधे किंतु शिवनाथ के गिरफ्तार होते ही सब कुछ भूलकर साधारण मनुष्यों की तरह परीक्षा पास करके फौज में डाक्टर हो गया। लेखक ने वहाँ भी उसको चैन से न रहने दिया और 'एक अजान अँधेरी राह' की निस्सीम यन्त्रणा के उपरात उसे बर्बर बजीरियों के बीच ला पटका। वहाँ वह जीवन की जाने किस लालसा मे बजीरियों के बर्बर व्यवहारों को मूक भाव से सहता रहा। अपनी सारी विद्या लेकर भी वह उनके लिए बिलकुल व्यर्थ ही सिद्ध हुआ। उसमें इतना पौरुष भी न था कि इब्बा और नूरन के प्रेम-निमत्रण पर उत्साह प्रकट कर सकता। इन स्त्रियों ने भी उसकी क्षीणता पर थूक दिया। जब खन्ना से अन्सार होकर वह गजनी पहुँचा तो राज का ध्यान रहते हुए भी वह नर्गिस के रूपाकर्षण को सहन न कर सका और उससे विवाह कर लिया। लेखक से उसका सुख वहाँ भी न देखा गया। सम्पूर्ण समर्पण करके भी नर्गिस उसे बाँध न सकी और वह भाग चला। समरकन्द में वह एक उपयोगी कार्य में लग गया और यदि वहाँ भी स्थिर रह सकता तो जीवन को कुछ सार्थक बना सकता किंतु गुलशाँ को देखकर राज की और रूस को देखकर देश की याद ऐसी प्रबल हो उठी कि वह वहाँ भी न ठहर सका और भारत के लिए चल पडा। यदि उसने थोडी बुद्धि से काम लिया होता तो चोरों की तरह भारत लौटने की अपेक्षा सबकी जानकारी में आता और सरकार तथा जनता दोनों हो उसका सत्कार करती किंतु लेखक को यह मंजूर न था। भारत में उसके कार्यक्रम की भी कोई निश्चित दिशा न थी। यहाँ भी कर्मक्षेत्र से पलायन की प्रवृत्ति ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। देश में सबके लिए समान अधिकार प्राप्त कराने का व्रत लेने वाला सिपाही एक

प्रौढ़ा की गोद में सिर रखकर लेटने की कामना में तृप्ति मानता है। उसे व्यवहार का तनिक भी ध्यान नहीं। अपने सुख के लिए उसने चंदा का जीवन भी कंटकित कर दिया। जिस राज के सुख का ध्यान करके वह दिल्ली नहीं गया उसी राज के यहाँ छिपने के प्रस्ताव पर वह तुरन्त सहमत हो जाता है। किंतु राज में उससे कहीं अधिक व्यवहार-बुद्धि थी। वह जीवन में सदैव वंचित रहा। उसके परमप्रिय मित्र शिवनाथ और बद्री बाबू ही उसके दुःख के प्रधान कारण हुए। यद्यपि लेखक ने उसका अंतिम समय बड़ा ही करुण चित्रित करने का प्रयत्न किया है किंतु उस करुणा-भावना का उद्रेक पाठक में नहीं हो पाता। इसका प्रधान कारण उसका लेखक के हाथ की कठपुतली होना है।

जिस उद्देश्य से इस उपन्यास की रचना हुई वह उद्देश्य भी पूरा नहीं हो सका। लेखक ने कांग्रेस-कार्यक्रम की अपेक्षा कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम को अधिक उपयोगी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किंतु जिन पात्रों के द्वारा इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति हो सकती वे इतने निर्बल हैं, व्यक्तित्व की उनमें इतनी कमी है कि उनका कोई कार्यक्रम ही नहीं स्पष्ट हो सका। हाँ लेखक ने संवादों एवं व्यंग्योक्तियों के द्वारा कांग्रेस कार्यक्रम की खिल्ली उड़ाने का अवश्य सफल प्रयत्न किया है। किन्तु ऐसे स्थलों पर ऐसा लगता है मानों लेखक उपन्यासकार न होकर राजनीतिक इतिहासकार है। कांग्रेस के अनुयायियों का व्यंग्यचित्रण अवश्य बहुत सफल हुआ है। बद्री बाबू का चित्रण अथ से इति तक व्यंगात्मक है। जहाँ भी इनका वर्णन हुआ है वहाँ प्रच्छन्न व्यंग अवश्य है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"बद्री बाबू सेवाश्रम में ही रहते। अपनी आवश्यकताओं को उन्होंने कम कर दिया, मोटा खाना, मोटा पहनना और यथासंभव पैदल चलना। सेवाश्रम के काम के लिए उन्हें चाँदनी चौक जाना पड़ता तो पैदल ही जाते। यह देख उनकी सुविधा और समय के विचार से सेठ भाटिया ने अपनी एक मोटर उनके व्यवहार के लिए दे दी।

मोटर और दूसरे यंत्रों से बद्री बाबू को प्रेम न था। जीवन की सादगी को नष्ट कर, उसमें विषमता लानेवाली मशीनरी को भी वे अच्छा न समझते थे, परन्तु उनका समय जनता का समय था। कांग्रेस के दूसरे कार्यकर्ताओं के बहुत कुछ कहने-सुनने पर इस समय का सदुपयोग करने के लिए उन्होंने मोटर का व्यवहार स्वीकार कर लिया था।"

लेखक के अनुसार कांग्रेस पूँजीपतियों की संस्था है और उसके "भीतर संगठित होकर वैधानिक उपायों द्वारा उसे समाजवादी शक्ति बना सकने का स्वप्न

व्यर्थ है। श्रेणी-संघर्ष की चेतना शोषित वर्ग में उतनी अधिक जागृत नहीं जितनी कि शोषक वर्ग और उनके सहायकों में हो रही है। कारण यह कि वे शिक्षित हैं और साधनसपन्न। कांग्रेस को जनमत से समाजवादी शक्ति बनाने के प्रयत्न कांग्रेस के विधान के अनुसार अवैधानिक बनते जा रहे हैं। जनमत पैदा करने के साधन सब पूँजीपतियों के हाथ में है। वे शोषित जनता के 'हायरोटी' कहने को सकीर्णता, स्वार्थ और श्रेणी-हिंसा कहते हैं और अपनी श्रेणी के अधिकार बढाने के आन्दोलन को 'हाय देश' कह उसे त्याग बताते हैं। यदि कांग्रेस आन्दोलन में सहयोग दे पाने की शर्त ईश्वर में विश्वास होना हो सकती है तो फिर जनता को मूर्ख बनाया जा सकने की कोई सीमा नहीं।" यशपाल के इस कथन में यदि थोडा-बहुत सत्य भी हो तो कला के माध्यम से इसे व्यक्त करने में वे समर्थ नहीं हो सके हैं।

'देशद्रोही' की योजना बहुत ही श्रमसाध्य है। उसमें अपनी कोई गति नहीं। घटनाओं, परिस्थितियों एव पात्रों सभी का नियन्त्रण तथा परिचालन लेखक द्वारा ही होता है। लेखक का प्रभाव हमारे मन से क्षणमात्र के लिए भी नहीं हटने पाता। कथा का नायक है भगवानदास खन्ना उसका व्यक्तित्व बड़ा ही निर्बल है। लेखक अपने मनोनुकूल उसे एक वातावरण से उठाकर नवीन वातावरण में रखता चला गया है। लेखक के इच्छानुसार खन्ना प्रत्येक वातावरण में ढलता चला गया है। वातावरण की उसके चरित्र पर जो प्रतिक्रिया दिखाई गई है वह अत्यन्त क्षीण है। वातावरण-निर्माण में भी उसके व्यक्तित्व का कोई हाथ नहीं। इस प्रकार पात्र, घटना एव परिस्थिति सभी में एक प्रकार की कृत्रिमता-सी प्रतीत होती है। इस उपन्यास के पात्रों को यदि कुछ स्वतन्त्रता दी गई होती तो इसका अन्त जिस रूप में हुआ है न होता।

इस उपन्यास में ६ प्रकरण हैं और प्रकरण के नामकरण में भी लेखक ने विशेषता लाने का प्रयास किया है। पहला प्रकरण है 'अजानी अँधेरी राह' इसमें खन्ना का वजीरियों द्वारा अपहरण, रास्ते के कष्ट एव वजीरियों के बीच का जीवन वर्णित है। दूसरा प्रकरण 'समय का प्रवाह' है। इसमें भगवानदास का विद्यार्थी-जीवन एव शिवनाथ तथा बद्री बाबू के परिवर्तित राजनैतिक कार्यक्रम एव खन्ना की वियोगिनी स्त्री राज का वर्णन है। 'बहिश्त की राह' में खन्ना का अब्दुल्ला सौदागर के यहाँ जाने का वर्णन है। 'त्याग की राह' में दिल्ली के राजनैतिक जीवन के बीच बद्री बाबू के कार्यक्रम का वर्णन है। यह प्रकरण अथ से इति तक व्यंगात्मक है। बद्री बाबू की ओर राज का आकर्षण भी इसी में वर्णित है। 'जीवन की चाह' में डाक्टर रूस ले जाया गया है और वहाँ के

जीवन का थोड़ा दिग्दर्शन कराया गया है। 'ग्राम की राह' में भी बद्री बाबू का व्यंग चित्रण है। इसमें बद्री एवं राज के विवाह का वर्णन है। 'घर की राह' में रूस से चलकर कानपुर डाक्टर के पहुँचने तक का वर्णन है। 'अपने की चाह' में कानपुर के राजनैतिक कार्यक्रम के बीच खन्ना एवं चन्दा की घनिष्ठता का वर्णन है। अंतिम प्रकरण है 'देशद्रोही' जिसमें घायल होकर खन्ना चन्दा के साथ रानीखेत जाता है और लौटती बेर गजाराम द्वारा रास्ते में अकेला छोड़ा जाकर मर जाता है। प्रथम छः प्रकरणों में लेखक ने डाक्टर खन्ना एवं बद्री बाबू के जीवन का तुलनात्मक चित्रण करने का प्रयास किया है। एक प्रकरण में डाक्टर का वर्णन देकर दूसरे में दिल्ली के शिवनाथ, बद्री बाबू एवं राज का वर्णन किया है। इस प्रणाली से लेखक का प्रयत्न चरित्रों को अधिक प्रभावशाली बनाने का रहा है। प्रकरण का नामकरण उपयुक्त हुआ है। शील-निरूपण के लिए साम्य-वैषम्य एवं व्यंग्य का सहारा लिया गया है।

व्यंग्य के विषय में यहाँ दो शब्द कह देना अनुपयुक्त न होगा। व्यंग्य का उपयोग योरोपीय उपन्यास साहित्य में प्रचुरता से हुआ है और हो रहा है और किसी न किसी रूप में प्रायः सभी उपन्यासकार इसका प्रयोग करते हैं। इसका प्रधान उद्देश्य किसी न किसी प्रकार का सुधार होता है। लेखक की कुछ अपनी धारणाएँ होती हैं जिनके प्रकाश में लाकर वह सभी बातों को देखता है। जो बातें उसकी धारणाओं से मेल नहीं खातीं उन पर वह प्रहार करके हल्की सिद्ध करने का प्रयत्न करता है और परोक्ष रूप से अपनी धारणाओं का प्रतिपादन करता है। तटस्थ एवं सहृदय कलाकार के हाथ पड़ यह व्यंग्य परिपाटी बड़ी प्रभावपूर्ण सिद्ध होती है किन्तु कभी कभी लेखक सीमोल्लंघन कर जाता है और व्यक्तिगत रागद्वेष के कारण उसके व्यंग्य कठोर प्रहार हो जाते हैं। यशपाल ने बद्री बाबू को अपना लक्ष्य बनाया है। बद्री बाबू गांधीवादी विचारधारा एवं कार्यक्रम के प्रतीक हैं। जिस रूप में उनका चित्रण किया है उससे वे और वह महान आत्मा जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं स्थान-स्थान पर उपहासास्पद हो उठे हैं। फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि व्यंग्य चित्रण में यशपाल को पर्याप्त सफलता मिली है।

उपन्यास में लेखक द्वारा वर्णन या कथन तथा पात्रों के संवाद ये दो अंग होते हैं। लेखक जितना ही अपने को अलग रखता है उसकी कृति उतनी ही कलापरक होती है। यशपाल ने अपने कथनों अथवा वर्णनों तथा पात्रों के संवादों दोनों को ही सिद्धान्त-प्रतिपादन का माध्यम बनाया है। कहीं-कहीं तो इस प्रवृत्ति के कारण लेखक बिलकुल इतिहासकार-सा बन बैठा है और वे वर्णन अथवा

संवाद नितात नीरस हो उठे हैं। गाधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि की व्याख्या के साथ-साथ पिछले पाँच-सात वर्षों का राजनीतिक इतिहास सा देने का प्रयत्न किया गया है।

देशकाल एवं व्यक्ति के भेद से मानव द्वारा निर्धारित मूल्यों में भी अन्तर पड जाता है। किन्तु कुछ स्थायी मानव मूल्य ऐसे हैं जो कभी किसी अवस्था में परिवर्तित नहीं होते। इस तथ्य का यशपाल ने सफल साक्षात्कार किया है। जीवन के प्रति भारतीयों का जो दृष्टिकोण है वह वजीरियों का नहीं, जो वजीरियों का है वह रूसियों का नहीं। शिक्षा एव वातावरण का हमारी धार्मिक तथा नैतिक भावनाओं पर बडा प्रबल प्रभाव होता है। अपने जीवन में निरतर देखते-देखते जिन रीतियों एव विश्वासों को हम निर्विवाद सत्य समझ बैठते हैं उनका यथार्थ मूल्य कितना होता है इसका बडा ही सुन्दर वर्णन वजीरियों एवं खन्ना के वर्णन में किया है।

यशपाल में उच्चकोटि की प्रतिभा है इसे इन्कार नहीं किया जा सकता। कई दृष्टियों से देशद्रोही अनुपम है। केवल पुस्तकीय अनुभव एवं कल्पना के सहारे लेखक ने वजीरिस्तान एव रूस के कुछ प्रदेशों, वहाँ के व्यक्तियों, उनकी रीति-नीति, आचार-विचार, धार्मिक तथा सामाजिक भावनाओं आदि का बडा ब्योरेवार चित्रण किया है। वजीरियों का वर्णन विशेष रूप से आकर्षक है। वातावरण तथा प्रकृति को सजीव कर देने की यशपाल में पूर्ण क्षमता है। जहाँ कहीं लेखक राजनीतिक सिद्धान्तों के ऊपर उठकर मानवीय भावनाओं के चित्रण में लगा है वहाँ पर्याप्त रसमयता आ गई है। स्त्रियों की चेष्टाओं, उनकी वेशभूषा, उनकी भावनाओं का जहाँ भी वर्णन हुआ है वह मनमोहक है। इस उपन्यास में स्त्रियों के कई प्रकार देखने को मिलते हैं। यद्यपि उनको पर्याप्त विकास-स्वातन्त्र्य नहीं मिला है फिर भी जितनी झलक मिलती है उसमें प्रभा है। 'राज' का चित्रण बहुत सफल कहा जा सकता है। उसके लिए लेखक काफी सहानुभूतिशील प्रतीत होता है। जितने भी परिवर्तन राज के चरित्र में दिखाये गये हैं वे आकस्मिक नहीं हैं और उन सबका मनोवैज्ञानिक कारण भी है। अधिकाश पात्रों के मानसिक उथल-पुथल का चित्रण न करके उनके व्यवहारों का ही चित्रण किया गया है किन्तु खन्ना का थोडा बहुत मानसिक विश्लेषण करने का भी प्रयास मिलता है और उसमें लेखक सफल रहा है। बद्री बाबू का चित्रण जिस रूप में हुआ है वह सजीव है। सभी दृष्टियों से देखने पर लगता है कि यशपाल हाथ धोकर साम्यवाद के प्रतिपादन में न लग जाते, उसे प्रधानता

देकर कला को गौण स्थान न दे देते तो 'देशद्रोही' अपने ढंग का बड़ा सुन्दर उपन्यास होता।

'दिव्या' (१९४५) एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें बौद्धयुग की चित्रमय भूमिका में मानव की कुछ सार्वकालीन एवं सार्वदेशीय समस्याओं के चित्रण का प्रयत्न किया गया है। इसकी नायिका है दिव्या जो मद्र साम्राज्य के धर्मस्थ महापंडित देवशर्मा की प्रपौत्री है। 'मधुपर्व' के अवसर पर मराली नृत्य करके दिव्या ने 'सरस्वती पुत्री' का सम्मानित पद पाया था। उसी दिन अन्य ब्राह्मण एवं यवनकुमारों के साथ प्रतियोगिता में उत्तीर्ण होकर दासपुत्र पृथुसेन सर्वश्रेष्ठ खड्गधारी घोषित किया गया था और कुमारी दिव्या ने उसे पुष्प मुकुट पहनाया। उसी दिन कुमारी दिव्या की शिविका में कन्धा लगाने के कारण गण संवाहक आचार्य प्रवर्धन के पुत्र आर्य रुद्रधीर द्वारा पृथुसेन अपमानित भी हुआ। धर्मस्थ के प्रासाद में न्याय की पुकार लेकर आये हुए पृथुसेन के प्रति दिव्या की संवेदना बढ़ी और दोनों में प्रेम हो गया। अवसर निकालकर दिव्या पृथुसेन से मिलती रही और जिस दिन सेनापति बनकर पृथुसेन युद्ध में जाने लगा दिव्या ने उसे अपना शरीर भी सौंप दिया। उधर पृथुसेन विजयी होकर लौटा और इधर दिव्या का गर्भ पूर्ण होने को आया। बहुत प्रयत्न करने पर भी दिव्या पृथुसेन से नहीं मिल सकी क्योंकि उस पर गणपति की पुत्री सीरो का पूरा पूरा नियन्त्रण था। लज्जा से क्षुब्ध एवं वेदना से व्याकुल दिव्या अपनी धाता के साथ घर से निकल पड़ी और एक दास व्यापारी के हाथों पड़ मथुरा में बेच दी गई। मथुरा में ही उसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। अपने ब्राह्मण स्वामी के घर की असह्य मानसिक यन्त्रणा से निष्कृति पाने के लिए वह पुत्र समेत भाग निकली और पीछा किये जाने पर नदी में कूद पड़ी। राजनर्तकी रत्नप्रभा द्वारा वह तो बचा ली गई किन्तु बच्चा मर गया। अंशुमाला के नाम से वह रत्नप्रभा के यहाँ नर्तकी का कार्य करने लगी और दिनोदिन उसकी कीर्ति फैलती गई। इधर सागल में रुद्रधीर को देश निष्कासन का दण्ड मिल चुका था और प्रेस्थ की कूटनीति से पृथुसेन एवं गणपति की पुत्री सीरो का विवाह हो गया था। जब रुद्रधीर निष्कासन की अवधि समाप्त कर सागल लौटा तो उसने अन्य ब्राह्मण सामन्तों से गुप्त मन्त्रणा करके एक षड्यन्त्र रचा। शरद् पूर्णिमा के दिन राजनर्तकी मल्लिका के यहाँ एक समारोह हुआ और जब कि सब यवन मदिरा में बेसुध हो रहे थे उन्हें मार डाला गया। पृथुसेन बौद्ध भिक्षु बनकर जीवित बच गया। उत्तराधिकारिणी की खोज में मल्लिका मथुरा गई और अपनी शिष्या रत्नप्रभा से अंशुमाला को भिक्षा में माँग लिया। सागल लौटकर

उसने अपनी उत्तराधिकारिणी के अभिषेक का वृहत् आयोजन किया। जब मल्लिका ने अपनी उत्तराधिकारिणी के मस्तक से मुक्तावली का शेखर दूर कर जनसमूह को उसका दर्शन कराया तो दिव्या को पहचान कर सब स्तब्ध हो उठे। क्षण भर में एक ललकार सुनाई दी–"मद्र में द्विजकन्या वेश्या के आसन पर बैठकर, जन के लिए भोग्य बनकर वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती।" यह कोलाहल सुन दिव्या वेदी की सीमा पर आकर बोली—"जन-समाज और कुलवर्ग सुनें, मैं इस विषय में धर्म-व्यवस्थापक, नीतिविद् महा पण्डित, महाआचार्य रुद्रधीर का निर्णय सुनना चाहती हूँ।" विचार में मस्तक झुकाए आचार्य का क्षीण स्वर सुनाई दिया—"वर्णाश्रम की व्यवस्था त्रिकाल के लिए सत्य है।"

वस्त्राभूषणों से विभूषित दिव्या समारोह छोड़कर चल पड़ी। वह पान्यशाला में पहुँची जहाँ आचार्य रुद्रधीर, भिक्षु पृथुसेन तथा ब्रह्मलोक और निर्वाण दोनों की ही अवज्ञा करनेवाला केवल स्थूल प्रत्यक्ष इहलोक को सत्य माननेवाला मारीश चारवाक ये तीनों आए। आचार्य बोले—"देवी तुम्हारा स्थान नर्तकी वेश्या के आसन पर नहीं। तुम कुल-कन्या हो। तुम्हारा स्थान कुलवधू के आसन पर, कुल माता के आसन पर है। आचार्य रुद्रधीर देवी को आचार्य कुल की महादेवी के आसन पर स्थान देने के प्रयोजन से उपस्थित है। देवी अपना आसन स्वीकार कर आचार्य को कृतार्थ करो।" दिव्या ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—'आचार्य, कुलवधू का आसन, कुलमाता का आसन, कुलमहा-देवी का आसन दुर्लभ सम्मान है। यह अकिंचन नारी उस आसन के सम्मुख मस्तक झुकाती है। परन्तु आचार्य, कुलमाता और कुल महादेवी निरादृत वेश्या की भाँति स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर नहीं। ज्ञानी आचार्य, कुलवधू का सम्मान, कुलमाता का आदर और कुलमहादेवी का अधिकार आर्य पुरुष का प्रश्रय मात्र है। वह नारी का सम्मान नहीं। वह भोग करने वाले पराक्रमी पुरुष का सम्मान है। आर्य अपने अस्तित्व का त्याग करके ही नारी वह सम्मान प्राप्त कर सकती है। ज्ञानी आर्य, जिसने अपना अस्तित्व त्याग दिया वह क्या पाएगी? आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी। स्वत्वहीन हो वह जीवित नहीं रहेगी।" उसी समय भिक्षु ने पुकारा—"आर्य, मैं तथागत का सेवक भिक्षु पृथुसेन समाज से प्रताड़ित नारी को तथागत की शरण में, ग्रहण करने को उपस्थित हूँ। देवी, संसार का कोई दुःख निर्वाण के आनन्द को क्षुब्ध नहीं कर सकता। देवी, संसार के पीड़ित समाज से प्रताड़ित बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में शान्ति पाते हैं। देवी उस अपार

करुणा की शरण ग्रहण करो।" कम्पित स्वर में दिव्या ने प्रश्न किया—"भन्ते, भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है?" धीरे स्वर में भिक्षु ने उत्तर दिया—"भिक्षु का धर्म निर्वाण है। नारी प्रवृत्ति का मार्ग है। भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है।" दिव्या बोली—"भन्ते, अपने निर्वाण धर्म का पालन करें। नारी का धर्म निर्वाण नहीं 'सृष्टि' है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दें।" पूर्व देश से आये पथिक ने भिक्षु के समीप आ पुकारा—"मैं मारिश, देवी के सामीप्य के लिए ही मथुरा पुरी से सागल आया हूँ। × × × × × मारिश देवी को राजप्रासाद में महादेवी का आसन अर्पण नहीं कर सकता। मारिश देवी को निर्वाण के चिरतन सुख का आश्वासन नहीं दे सकता। वह संसार के सुख-दुख अनुभव करता है। अनुभूति और विचार ही उसकी शक्ति है। उस अनुभूति का ही आदान-प्रदान वह देवी से कर सकता है। वह संसार के धूलधूसरित मार्ग का ही पथिक है। उस मार्ग पर देवी के नारीत्व की कामना में वह अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान प्रदान चाहता है। वह नश्वर जीवन में सन्तोष की अनुभूति दे सकता है।" "संतति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता दे सकता है।" भूमि पर बैठी दिव्या ने भित्ति का आश्रय छोड़ दोनों बाहु फैला दिये। उसका स्वर आर्द्र हो गया—"आश्रय दो आर्य!"

यह है 'दिव्या' की कथा का सार। यशपाल के अन्य उपन्यासों की भाँति यह उपन्यास भी सोद्देश्य है। 'दिव्या' ब्राह्मणश्रेष्ठ धर्मस्थ की प्रपौत्री है किन्तु उनका प्रेम होता है एक दासपुत्र से। हृदय का आवेग जाति-बन्धन को स्वीकार नहीं करता। समाज द्वारा निर्मित मिथ्या मान्यताओं के कारण उसका गर्भ उसकी लज्जा का कारण बना और उस उच्च कुलोद्भवा दिव्या को परिस्थितियों के आवर्त्त में पड़ दास-जीवन की यन्त्रणा सहनी पड़ी। क्रेता स्वामी ने अपने शिशु के पोषणार्थ उससे गाय का सा व्यवहार किया। उस दयनीय अवस्था में न तो संघ उसे शरण दे सका और न राज्य ही उसकी रक्षा कर सका और जब वही दिव्या नर्तकी के रूप में पुनः समाज में आई तो बड़े बड़े सामन्त उसके सामीप्य-लाभ के लिए लालायित रहने लगे। ब्राह्मणत्व पर गर्व करने वाले आचार्य रुद्रधीर तथा अनीश्वरवादी दार्शनिक मारिश दोनों ने ही उसने अपना प्रणय निवेदन किया। नारी के रूप का आकर्षण देश काल और व्यक्ति का भेद नहीं मानता। और यह नारी रूप है क्या? मारिश ने बड़ी तन्मयता से प्रस्तर खण्ड काटकर इसे दिखाने का प्रयत्न किया था। 'शिला-खण्ड का नीचे और ऊपर का भाग अछूता था। केवल मध्य में दक्षिण के आधे भाग में जैसे

पुरुषों की असहाय स्त्रियों के प्रति कुचेष्टाएँ, पूँजीपतियों की अनैतिकता, सन् ४२ के आन्दोलन में पुलिस के अत्याचारों, फिल्म जीवन की बुराइयों, गत युद्ध में भारतीय सैनिकों के जीवन एव आजाद हिन्द फौज की अवस्था, कम्यूनिस्टों की कार्यप्रणाली एवं उनके सिद्धान्तों आदि का इस उपन्यास में अच्छा चित्रण किया गया है। एक प्रकार से यह उपन्यास वर्तमान समाजिक व्यवस्था के प्रति प्रच्छन्न विद्रोह है। सत्य पर आवरण डालकर मनुष्यों को पशुओं के स्तर पर लाने वाली पूँजी वादी सभ्यता के जर्जर अङ्गों के घिनौने स्वरूप का बड़ा ही यथातथ्य उद्घाटन किया गया है। साभिप्राय होने के कारण घटनाओं और पात्रों का लेखक ने मनमाने ढंग से सचालन किया है किन्तु कहीं पर कृत्रिमता नहीं आने पाई है। नग्न वास्तविकताओं का वर्णन करते हुए भी अश्लील शब्दों एव प्रसंगों को बचाने का प्रयत्न किया गया है। मनुष्य की मानसिक स्थिति का सहज, स्वाभाविक एवं सगत विकास दिखाया गया है। एक प्रकार से यह उपन्यास आधुनिकतम समस्याओं पर प्रकाश डालने वाला है। मनुष्य की वर्त्तमान विकृतियो का एकमात्र समाधान साम्यवाद है यह तथ्य भी उपन्यास में ध्वनित है।

'अमिता' (मार्च १९५६) भी 'दिव्या' के समान ही ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें अशोक के कलिंग पर आक्रमण तथा वहाँ की घोर नृशसता तथा क्रूरता के परिणामस्वरूप अशोक के हृदय-परिवर्तन वाली ऐतिहासिक घटना को आधार बनाकर प्रस्तुत कथानक की कल्पना की गई है। इस प्रकार ऐतिहासिक वातावरण में प्रस्तुत की गई यह एक काल्पनिक कथा है।

चण्ड महाराज अशोक जब प्रथम बार कलिंग पर आक्रमण करते हैं तो उस देश के सम्राट बड़े पराक्रम से उनका सामना करते हैं और आक्रमण को निष्फल कर देते हैं। किन्तु इस युद्ध में घायल हो जाने के कारण एक वर्ष के बीतते-बीतते उनकी मृत्यु हो जाती है। पति-वियोग के इस कठोर आघात से महारानी का मन सासारिक वैभव की ओर से बिल्कुल ही उचट जाता है और वे बौद्धधर्म में दीक्षित हो अपना अधिकांश समय भजन-पूजन में लगाती हैं। इधर महामन्त्री, सेनापति तथा परिषद मिलकर शिशु साम्राज्ञी अमिता के नाम पर राज कार्य करते हैं। दूसरी बार जब अशोक का आक्रमण होता है तो महामात्य तथा सेनापति यथासम्भव सुरक्षा का प्रयत्न करते हैं। अहिंसा में विश्वास करनेवाली महारानी को राज्य की सुरक्षा में बाधक समझकर उन्हें चुपचाप शीष दुर्ग में पहुँचा दिया जाता है किन्तु अमिता की चँवरधारिणी दासी के प्रयत्न से महारानी पुनः राजभवन में आ जाती हैं। इधर अशोक अपने अभियान में

सफल होता है और राजभवन में प्रवेश करता है। बालिका अमिता राजकर्मचारियों के आग्रह पर भी महल के बाहर जाने को तैयार नहीं होती बल्कि अपनी बालसुलभ सरलता में अशोक को साँकल से बाँधने के मन्सूबे बनाती है। इस बालिका की सहज-सुलभ सरलता, उदारता, निर्भीकता तथा अहिंसात्मकता से प्रभावित अशोक युद्ध न करने का व्रत लेता है।

इस प्रधान कथानक के साथ-साथ अनेक प्रासंगिक कथानक भी अनिवार्य रूप से जुड़े हुए हैं। अमिता की दासी तथा कलाकार दास का प्रेम-प्रसग पर्याप्त मनोरंजक है। इन कथा प्रसगों के द्वारा लेखक ने तत्कालीन वातावरण को सजीवता प्रदान करने का प्रयास किया है। बौद्ध मठों की सम्पन्नता, स्थविरों का जनता पर प्रभाव, ब्राह्मण तथा बौद्ध-भिक्षुओं का वैमनस्य, दास-प्रथा के प्रचलन से उत्पन्न विषमताएँ, दासियों के सग श्रीमानों की कामक्रीड़ा, मास, मदिरा, पशुबलि, मन्त्र तन्त्र आदि की अधिकता आदि के ब्योरेवार वर्णन से तत्कालीन समाज प्रत्यक्ष-सा हो उठा है। प्रधान पात्रों—महामात्य सुकंठ, बालिका अमिता, महारानी नन्दा, सौमित्र और हिता के चरित्र प्रभावपूर्ण हैं। अमिता की सरलता, उसके उत्साह, महाशयता आदि के चित्रणमें पर्याप्त सजीवता है। युद्ध का अन्त परस्पर सौहार्द्र तथा प्रेम और अहिंसा से ही संभव है इस उपन्यास में यही सदेश निहित है। देशहित के लिए कभी-कभी बड़े से बड़े व्यक्ति की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करने की आवश्यकता पड़ जाती है (जैसा कि साम्यवादी रूस में होता चला आया है) महारानी नन्दा का देशभक्त महामात्य के द्वारा बन्दिनी बनाया जाना इसी तथ्य की ओर सकेत है। प्रेम तथा काम-प्रसंगों ने उपन्यास की मनरंजकता को बढ़ा दिया है।

'दिव्या' और 'अमिता' के द्वारा बौद्ध-युग की चित्रमय भूमिका में कल्पित कथा-प्रसगों के द्वारा लेखक ने जीवन सम्बन्धी अपनी धारणाओं को कला-माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया है। दोनों ही उपन्यासों की वर्णन-रीति स्थान स्थान में महाकाव्यात्मक गुरुता से युक्त दिखाई देती है।

•

उपेन्द्रनाथ अश्क

प्रेमचन्द्र का सा सूक्ष्म निरीक्षण एवं यथार्थ जीवनानुभव लेकर उपेन्द्रनाथ अश्क हिन्दी-उपन्यास क्षेत्र में अवतरित हुए। उनमें छोटे-छोटे घटना-प्रसंगों तथा परिचित वातावरण एवं परिस्थितियों के व्यञ्जक वर्णन की अपूर्व क्षमता है। निम्न मध्यवर्ग की जीवन-रीति, स्वभाव-संस्कार, विचार पद्धति, तथा विभिन्न प्रकार की कुण्ठाओं एवं उनके प्रभावों को परखने की इनमें पैनी दृष्टि है। इनके

बड़ी बात तो यह है कि अश्क किसी राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक पूर्वग्रह से ग्रस्त नहीं हैं और उन्होंने केवल चित्रण का प्रयास किया है। यद्यपि अधिकांश आधुनिक लेखकों के समान इनमें भी आत्मश्लाघा एवं अहंकार की कमी नहीं है किन्तु उन्होंने अपने उपन्यासों में अपने को अधिकतर तटस्थ ही रखा है।

अश्क का पहला उपन्यास 'सितारों के खेल' सन् १९३७ में प्रकाशित हुआ था। इसमें आधुनिक ढंग के रूमानी प्रेम की कथा वर्णित है। यद्यपि इस उपन्यास में भी व्यक्ति एवं वातावरण के सजीव चित्र मिलते हैं किन्तु अश्क की कीर्ति का वास्तविक स्मारक उनका दूसरा उपन्यास 'गिरती दीवारें' ही सिद्ध हुआ। यह १९४७ में प्रकाशित हुआ और इसमें लेखक की यथार्थ वर्णन-प्रतिभा अपने उत्कर्ष पर पहुँची हुई दिखाई पड़ती है। यह प्रायः ७०० पृष्ठों का बड़ा उपन्यास है जिसके (द्वितीय संस्करण के) आरम्भ में २१ पृष्ठों की भूमिका है जिसमें लेखक ने 'अपने पाठकों और आलोचकों' की खबर ली है और अपने दृष्टिकोण को समझाते हुए उपन्यास की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। पुस्तक के अन्त में शिवदान सिंह चौहान तथा शमशेर बहादुर द्वारा लिखित आलोचनाएँ भी जोड़ दी गई हैं। इनसे कृति का प्रचारात्मक मूल्य भले ही बढ़ गया हो किन्तु लेखक की व्यग्रता, असहिष्णुता, अविश्वास एवं संयम के अभाव आदि भी प्रतिबिम्बित हो उठे हैं। अच्छा होता कि कृतिकार स्वयं न बोलकर कृति को ही बोलने देता।

इस उपन्यास में निम्न मध्यवर्ग के एक अत्यन्त भावप्रवण किन्तु साधारण व्यक्ति के यौवन के प्रारम्भिक वर्षों (२० से २५ तक) के जीवन का विशद् चित्रण करने का प्रयास किया गया है। लेखक के अनुसार 'कहानी उसमें महत्त्व नहीं रखती महत्त्व रखता है निम्न मध्यवर्ग के वातावरण का चित्रण और उस अन्धेरे में अपनी प्रतिभा का विकास पथ खोजने वाले अति भाव-प्रवण युवक की तड़प और उसका मानसिक विकास।' दूसरी बात जिसे लेखक के अनुसार हमें स्मरण रखना चाहिए वह है उपन्यास का यथार्थवाद। 'सितारों के खेल' समाप्त करते ही मैंने तय किया कि वैसा गढ़ा गढ़ाया उपन्यास अब मेरी कलम से दूसरा न आएगा' 'कि उपन्यास यथार्थ के निकट रहेगा। जीवन में जैसे आदमी चलता है, बढ़ता है और आगे-पीछे की सोचता है वैसे ही इसका नायक भी चले, बढ़े और सोचेगा।' 'और चूँकि जीवन धुएँ-धुन्ध, गर्द-गुबार, कूड़े-करकट, कीचड़-दलदल से अटा पड़ा है और मानव पासे का सोना न होकर अष्टधातु का मिश्रण है अतएव उपन्यास जीवन को उसकी कुरूपताओं-

सुन्दरताओं के साथ ग्रहण करेगा, तथा मानव की मानसिक गर्त की अन्धी खाइयों और देवत्व की झाँकियों को भी दिखाता चलेगा।' इसी दृष्टि से लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उपन्यास में नियोजित असंख्य लघुप्रसंग और तफसीलें अपना महत्व रखती हैं क्योंकि वे ही हमारे व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होती हैं। उपर्युक्त उद्देश्यों में लेखक पूर्ण सफल रहा है। उसने अपने कथानायक को जीवन के प्रवाह में लाकर छोड़ दिया है और वह उसी प्रवाह के अनुरोध से बहता चला गया है। उसके तथा पार्श्ववर्ती परिस्थितियों के ऊपर लेखक का नियन्त्रण प्रत्यक्ष है। जीवन को उसके यथार्थ परिवेश में चित्रण करने की दृष्टि ही प्रमुख है। सैकड़ों कुण्ठाओं से ग्रस्त, निम्न मध्यवर्गीय जीवन प्रत्यक्ष सा हो उठा है। वास्तव में हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा का यह एक अभिनन्दनीय मोड़ है।

यह उपन्यास १९३५-४० के पंजाब के निम्न मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। कथानायक चेतन एक शराबी एवं उग्र स्वभाव के पंडित शादीराम का मँझला लड़का है। कथा प्रारम्भ के समय चेतन बी० ए० पास करके किसी स्कूल में अध्यापक हो चुका है। वयःसन्धि के प्रथम उल्लास में उसका सहज स्नेह कुंती से हो गया था जिससे विवाह की कामना उसके हृदय में हिलोरें ले रही थीं। किन्तु उसके पिता बिना उसकी इच्छा जाने ही—अपनी इच्छा प्रकट करने का चेतन में साहस भी न था—उसकी शादी पंडित दीनबन्धु की लड़की चन्दा से तय कर देते हैं जिसे चेतन नहीं पसन्द करता। अतः वह जालन्धर के कल्लोवानी मुहल्ले से भागकर लाहौर पहुँचता है और कठिनाइयों का सामना करते हुए एक पत्र का उपसंपादक नियुक्त होकर कार्य करने लगता है। उपसम्पादकत्व की चक्की में पिसते हुए वह कहानीकार-उपन्यासकार बनने की साध मन में दबाए हुए है। चगड़ मुहल्ले (जहाँ चेतन रहता था) के उस गन्दगी भरे वातावरण में प्रकाशो और केशर नामकी दो लड़कियाँ उसके जीवन में कुछ खलबली पैदा कर देती हैं और वह विवाह कर लेना ही उचित समझता है। चंदा से विवाह होने पर वह नीला—चंदा की चचेरी बहन—के सम्पर्क में आता है जिसे उसने पहले-पहल जब वह चन्दा को देखने गया था देखा था। यह नीला उसके जीवन में हर्ष विषाद की नीली रेखा की भाँति परिव्याप्त है। नीला का आकर्षण चेतन को ससुराल जाने को प्रेरित करता रहता है और नीला अपने जीजा के अधिकाधिक समीप आती चली गई किन्तु एक छोटी सी भूल—अत्यन्त मानवसुलभ भूल—के कारण नीला और उसके बीच एक दीवार खड़ी हो जाती है। चेतन लाहौर लौट जाता है और नई उमंग

से अपने उपन्यास की रूप-रेखा तैयार करता है। इसी बीच उसकी भेंट कविराज रामदास से होती है जिनकी छद्म उदारता के जाल में पड़कर वह नौकरी छोड देता है और कविराज के साथ शिमला चला जाता है। कविराज उसे ५०) मासिक पर 'बाल चिकित्सा' की पुस्तक लिखने के लिए नियुक्त करते हैं। उपन्यास का लगभग आधा भाग कविराज की परिष्कृत शोषण वृत्ति, उदारता के नीचे छिपे कमीनेपन, उनके चगुल में पड़े चेतन की कुढ़न, लाचारी, विषमताओं तथा संगीतज्ञ और अभिनेता बनने के विफल प्रयासों आदि के विस्तृत वर्णन से भरा पड़ा है। घर से पत्र पाकर वह नीला के विवाह में सम्मिलित होता है—उस नीला के विवाह में जिसकी आराधना वह आरम्भ से ही करता आ रहा है, जिसे वह चाहता है, डेढ वर्ष के वैवाहिक जीवन के बावजूद चाहता है। 'उसकी उदास मुस्कान, उसकी उन्मन दृष्टि उसके पीले मुख, उसके शरीर के एक-एक अङ्ग को उसी शिद्दत से चाहता है जिस शिद्दत से उसे उसने उस दिन चाहा था जब वह अपनी भावी पत्नी को देखने आया था और उसने नीला की चचल मूर्ति देखी थी। उसकी चाहना और उसकी शिद्दत में जरा भी तो कमी नहीं आई थी। बुद्धि, धर्म, नैतिकता, समाज, विवाह—यह सब दीवारें, जो यथार्थमें उसकी चाहना को घेरे थीं कल्पनामें गिर गई थीं। और उसके प्रेम की लौ, जिसे फानूस की बिल्लौरी दीवाल ने धुँधला कर रखा थ', उसके टूट जाने पर स्पष्ट हो चमक उठी थी।"[1] नीला का विवाह रगून में काम करने वाले एक अधेड, कुरूप मिलिटरी एकाउन्टेन्ट से होता है। चेतन के प्रयास करने पर भी नीला इस बार उससे अधिक नहीं बोलती और अन्त में अपने इस जीजा जी से क्षमा माँग कर विदा होती है। उपन्यास का अन्त एक प्रकार की करुणा से परिपूर्ण है। एक हल्की सी टीस, कुछ हल्का सा खेद पाठक के मन को उदास कर जाता है।

चेतन निम्न मध्य वर्गीय युवक की कुंठाओ का एक जीवन्त प्रतीक है। अपने रक्त में युगयुगीन रूढ मान्यताओं का सस्कार लिए इस युवक का बचपन अर्थाभाव एव उग्र शराबी पिता की डाँट-फटकार, मार-पीट आदि के दमघोंट वातावरण में बीता था जिसके कारण बचपन से ही उसके अन्तर में अनेक ग्रन्थियो पड गई थीं। 'उसकी दशा उस मृगशावक की सी थी, जिसकी टाँगें जन्म ही से निर्बल हों और जो अपने मन की समस्त चचलता के बावजूद दुनियाँ की रगीनी को मुटर मुटर तकता और कुलाचें भरने की इच्छा को मन

१. 'गिरती दीवारें' पृष्ट ७०८ (द्वि० स०)

ही मन दबाकर रह जाय।' उसने बचपन में एक अच्छा कवि, लेखक, चित्रकार संगीतज्ञ, अभिनेता, वक्ता, सम्पादक और न जाने क्या क्या बनने का स्वप्न देख रखा था किन्तु परिस्थिति-वैषम्य ने कभी भी उसको खुलकर आत्माभिव्यक्ति का अवसर ही न दिया। उसने जब-जब कला की ओर हाथ बढ़ाए तो अतिरिक्त भावुकता, सकोच, संशय, हीनता की भावना आदि के कारण उसके हाथ असफलता ही लगी। उसके जीवन की सबसे बडी ट्रेजेडी उसकी अत्यधिक भाव-प्रवणता और उससे उद्भूत क्षोभ था। सामान्य निम्न मध्यवर्ग की 'मोटी खाल' उस पर नहीं चढ़ सकी थी और इसीलिए सूक्ष्मतम समवेदनाएँ उसके मन को झकझोर जाती थीं। यौन-कुठाओं तथा सामाजिक औचित्य की भावना के संघर्ष स्वरूप उसके आचरण का बडा स्वाभाविक चित्रण स्थान-स्थान पर मिलता है। उसकी स्वाभाविक काम-वासना उसे कुती, प्रकाशों, केशर, नीला, मन्नी की ओर अग्रसर करती है और लुके छिपे उसके शरीर-स्पर्श में वह रोमाच एव सुख का अनुभव करता है किन्तु सस्कारों के पत्थर से दबा हुआ उसका मन दूसरे ही क्षण ग्लानि से भर उठता है—"इधर-उधर खेतों में मुँह मारना, उगती-बढ़ती पौध को दूषित करना, पकड़े जाने पर दड पाना, अपमानित होना—क्या सभ्य, सुशिक्षित, सस्कृत मानव के लिए यही उचित है?" इसी मनोवृत्ति की प्रेरणा से उसने अपने साधों की सजीव प्रतिमा नीला के पिता से उसके विवाह की आवश्यकता की ओर संकेत किया था जिसके परिणाम-स्वरूप वह बेचारी एक अधेड व्यक्ति से व्याह दी गई। वयःसन्धि की उमग में उसने कुती को प्यार किया किन्तु उसके गले पडी चन्दा जिसको 'मोटी-मुटल्ली' 'ढीली ढाली' घोषित करके उसने व्याह करने से इन्कार कर दिया था। और जब चन्दा आ ही गई तो उसने भरसक उसके साथ पतिव्रत निर्वाह का प्रयास भी किया। अनीति, अत्याचार, छल, कपट आदि के प्रति उसके मन में प्रबल विरोध की भावना जगती है किन्तु अपनी कमजोर मनस्थिति के कारण वह विरोध कर नहीं पाता और उसका असफल क्रोध प्रायः आँसू और कुढ़न के रूप में परिवर्तित होकर प्रकट होता है। अपने पिता शादीराम उनके मित्र देसराज, अपने सम्पादक महोदय, कविराज रामजीदास आदि व्यक्तियों के प्रति उसके मन में क्रोध का तूफान-सा उठ खडा होता है किन्तु वह निरुपाय-सा बना रह जाता है और कुछ कह नहीं पाता। परिणामस्वरूप वह रात-दिन अपमान, असफलता, अभाव, हीनता की अनुभूति से घुटता रहता है। लेखक ने बड़े व्योरे के साथ चेतन की आर्थिक पारिवारिक स्थिति, उसके स्वभाव-सस्कार, शारीरिक-मानसिक सगठन, उसकी आशा-आकाक्षा, नैराश्य और उदासी,

चिन्ता और घुटन, दुख और दर्द आदि का वर्णन किया है जिसके कारण इसका चरित्र विभिन्न पक्षों से अनावृत होकर अत्यन्त विश्वसनीय बन गया है। इस चरित्र को रूप देने में लेखक ने अपूर्व कलात्मक नि.संगता का परिचय दिया है। एक परिस्थितिविशेष में चेतन को रखकर लेखक तटस्थ सा हो गया है और परिस्थितियों की प्रतिक्रिया को ही तटस्थ भाव से अंकित करता चला गया है। उसकी छोटी छोटी जीवन-घटनाओं तथा उसके भाव-विचार तरंगों को मार्मिक ढग से वर्णित करके ही लेखक ने सन्तोष माना है। वास्तविक यथार्थवादी कला भी यही है।

चेतन को केन्द्र बनाकर लेखक ने अन्य अनेक मध्यवर्गीय व्यक्तियों के जीते-जागते चित्र अंकित किये हैं। इस वर्ग से अश्क का उसी भाँति निकट परिचय है जिस भाँति प्रेमचन्द का किसानों-मजदूरों से था। यही कारण है कि इस उपन्यास का कोई भी पात्र ऐसा नहीं है जिसे हम कृत्रिम, अयथार्थ अथवा कपोलकल्पित कह सकें। चेतन के अतिरिक्त उसके बड़े भाई रामानन्द जिन्हें 'घर के सुख-दुख तो दूर रहे अपनी परेशानियाँ भी छू न पाती थीं, जिनकी निर्लिप्तता को 'पिता की डाट-डपट, मार-पीट, माँ के गिले-शिकवे, कोसने-उलाहने, पत्नी के ताने मेहने और रोना-रूठना' आदि बातें कभी भग न कर पाती थीं, चेतन के क्रोधी और शराबी पिता पंडित शादीराम जो रिलीविंग ड्यूटी में एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन जाते हुए जब जालन्धर से गुजरते तो घर में गाली-गलौज, मारपीट का हंगामा-सा मच जाता, दुखों और गमों की मारी, सब्र और उदारता, पुत्र-स्नेह और पतिनिष्ठा की प्रतिमूर्ति चेतन की माँ जो आजीवन शराबी पति की गाली, मार तथा कामुकता का शिकार बनी अभाव में ही बच्चों को पालती-पोसती रही, बात बात में मायके जाने की धमकी देने वाली, झगडालू तथा कर्कश स्वभाव वाली चेतन की भाभी, उसकी पत्नी चन्दा—गदराए मासल शरीरवाली, सीधी-सादी, भोली भाली, भावुक और उदार किन्तु सुस्त और मन्द बुद्धिवाली नारी जिसे चेतन ने कभी प्यार नहीं किया, चेतन की साली नीला—'सुडौल सुगठित अग, तीखा लम्बा चेहरा, भरे गाल जिनमें हँसते समय गढे पड जाते थे, बड़ी-बड़ी मुस्कराती आँखें और वयःसन्धि को पार करता और रेखाओं को उभारता शरीर'—जिसने अपने चुलबुलेपन तथा स्नेह से सहज ही उसे अपनी ओर आकर्षित कर लिया था, चेतन के जीवन में आने वाली अन्य नारियाँ—केसर, प्रकाशो, मन्नी; शोषक वर्ग के निहायत मिठबोले प्रतिनिधि धूर्त कविराज जो परोपकार की मूर्ति बने हुए जोंक की तरह नए साहित्यकारों की प्रतिभा को चूसकर मोटे होते रहते हैं, दूसरों की कविताओं को अपने नाम से

सुनाकर सुर्खरु होने वाले शायर हुनर साहब तथा अन्य दर्जनों पात्र इस उपन्यास में बड़ी सजीवता से अंकित किये गये हैं। ये हमारे बीच उठने-बैठने, चलने-फिरने, हँसने, रोने, वाले पात्र हैं और हम सहज ही इन्हें पहचान लेते हैं। छोटे छोटे ब्योरों तथा प्रसंगों के द्वारा इनके यथार्थ अंकन का कौशल अनुपम है। इनकी रूपाकृति, वेशभूषा, चाल-ढाल, आचार-व्यवहार, भावना-विचार आदि ऐसी सुस्पष्ट रेखाओं में चित्रित हैं कि वे हमारे मानस-नेत्रों के समक्ष खड़े से दिखाई देते हैं। एक ही उपन्यास में इतने विभिन्न प्रकार के पात्रों का चित्रण प्रेमचन्द के अतिरिक्त हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है।

पात्रों के साथ ही साथ वातावरण-चित्रण में भी यथार्थवादी कला पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँची हुई परिलक्षित होती है। जालन्धर के बाजार और बस्तियाँ, सड़कें और गलियाँ, कुएँ पर की भीड़-भाड़, चिल्ल-पों, झगड़ा-झटा, निम्न मध्यवर्गीय परिवारों के जर्जर सीलनदार घर, स्कूल के विद्यार्थी और अध्यापक, बस्ता लिए स्कूल से घर लौटने वाली लड़कियों के झुण्ड आदि अपने यथार्थ परिवेश में हमारे नेत्रों के सामने झूल जाते हैं। इसी प्रकार अनारकली के पास ही बसे लाहौर के चगड़ मुहल्ले का भी यथार्थ एवं व्यंजक वर्णन किया गया है। म्युनिसिपल कमेटी के भंगी और भिश्ती के बावजूद घोड़ों के अस्तबलों, गन्दी गाड़ियों के अहातों, गूजरों, चगड़ों, भंगी तथा चमारों के घरों के कारण सर्वदा गन्दगी भिनकाता हुआ वह मुहल्ला आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो उठता है। इस मुहल्ले के कच्चे घरों में बसने वाले स्त्री-पुरुष, उनके लड़ाई-झगड़े, उनकी गरीबी आदि के बड़े ही स्वाभाविक चित्र उपन्यास में अंकित हैं। इसी प्रकार चेतन को शिमला ले जाकर वहाँ के विभिन्न स्थानों, बस्तियों, होटलों, सड़कों, क्लबों आदि के अनेक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। दृश्यों तथा परिस्थितियों के वर्णन में छोटी-छोटी तफसीलों के द्वारा संश्लिष्ट चित्र देने का प्रयास है। इन वर्णनों में आद्यान्त एक प्रच्छन्न व्यंग्य निहित है। वातावरण के सहज-स्वाभाविक वर्णन ने भी इस उपन्यास को एक विशेष आकर्षण प्रदान कर रखा है।

उपन्यास के नामकरण की सार्थकता को भी समझ लेना चाहिए। ये दीवारें बहुमुखी कुंठा की दीवारें हैं जो कि सारे निम्न मध्यवर्गीय जीवन को घेरे हुए हैं। "उपन्यास के अन्त में चेतन देखता है कि—यह दीवार उसके और उसकी पत्नी के मध्य ही नहीं, नीला और त्रिलोक के मध्य भी है। न केवल यह, बल्कि कविराज और चेतन, चेतन और जयदेव, जयदेव और यादराम—इस परतन्त्र देश के सभी स्त्री-पुरुषों, तरुण-तरुणियों, वर्गों और

जातियों के बीच ऐसी अगनित दीवारें खड़ी हैं · ·· [1] दीवारें गिरती नहीं अतएव यह नाम बहुत उपयुक्त नहीं है। वास्तव में लेखक इस उपन्यास को तीन (सम्भव होता तो नौ) भागों में लिखना चाहता था किन्तु आर्थिक कठिनाइयों एवं गिरते हुए स्वास्थ्य के कारण उसे उपन्यास को 'राउंड अप' करना पड़ा और इस प्रकार यह अधूरा सा ही रह गया। लेखक के अनुसार अपने वर्त्तमान रूप में इसका नाम 'गिरती दीवारें' की अपेक्षा 'चेतन' अधिक उपयुक्त होता ('चेतन' नाम से इसका एक छात्रोपयोगी संक्षिप्त संस्करण अब निकल भी गया है)। लेखक ने इस नाम की उपयुक्तता एक दूसरी दृष्टि से सिद्ध करने की चेष्टा की है—"लेकिन उन स्थूल दीवारों के साथ सूक्ष्म दीवारें भी हैं जो नायक के मन-मस्तिष्क को बाँधे हैं और जो उसके अनुभवों के बढ़ने के साथ गिरती हैं। जिनके गिरने से वह जीवन की यथार्थता को देखने और समझने में धीरे-धीरे सफल होता है। जिसके गिरने से उसके मस्तिष्क का अन्धकार दूर होता है और यथार्थता के ज्ञान का प्रकाश उसके कोने-अतरे जगमगाता है।"[2]

जहाँ तक कथानक-सौष्ठव का सम्बन्ध है यह उपन्यास किंचित् ढीला-ढाला है। कितनी ही घटनाएँ ऐसी हैं जिनके वर्णन के बिना भी न तो उपन्यास की प्रभविष्णुता ही कम होती और न चरित्र अथवा वातावरण के यथार्थ अंकन में ही कोई त्रुटि आती। अनेक बिखरी हुई घटनाओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला नायक ही है। नीला और चेतन की प्रेम-कथा अवश्य कुछ दूर तक चलती है और पाठक पर अन्तिम प्रभाव भी यही कथा छोड़ जाती है। उपन्यास के इस भाग तक चेतन की कुंठा भी आर्थिक एवं सामाजिक न होकर प्रमुखतया पारिवारिक एवं यौन ही है। चेतन और चंदा, चेतन और नीला, नीला और त्रिलोक के बीच खड़ी दीवारें यौन कुंठा की हैं। चेतन और कविराज, जयदेव और यादराम तथा कविराज के बीच की दीवारें भले ही आर्थिक हों, किन्तु क्या चेतन की समस्याएँ आर्थिक या प्रधानतया भी आर्थिक हैं? उपन्यास को पूरा और गौर से पढ़ जाने पर उत्तर नकारात्मक ही होगा। आर्थिक दीवारों को तोड़ देने की शक्ति चेतन में है यदि वह असफल है तो इन यौन-कुंठा की दीवारों को तोड़ने में।

जहाँ तक इस उपन्यास के रूप-शिल्प का सम्बन्ध है लेखक ने अनेक पाश्चात्य उपन्यासकारों के प्रभाव को स्वयं स्वीकार किया है। इनमें रोमारोलाँ,

---

१. 'गिरती दीवारें' (द्वि० सं०) की भूमिका

२. वही

के 'जीन क्रिस्टाफी' गाल्सवर्दी के 'फॉर साइटी सागा' और वर्जिनिया वुल्फ के 'चेतना-प्रवाह' सम्बन्धी उपन्यास प्रमुख हैं। कई पीढ़ियों की परम्परागत पारिवारिक विशिष्टताओं के साथ सामाजिक इतिहास प्रस्तुत करने की कला लेखक ने गाल्सवर्दी तथा अर्नाल्ड वेनेट जैसे उपन्यासकारों से पाई हैं। चेतन के मानसिक प्रवाह के लिए 'मिसेज डैलोवे' ('Mrs Dalloway')' और 'वेव्ज' ('Waves') का नमूना लिया है। किसी भी बाह्य उद्दीपन से चेतन के मन में विचार-तरंगें उठ पड़ती हैं और वह स्मृत्यालोक में अनेक विगत घटना-प्रसगों को देख जाता है। उदाहरण के लिए चेतन, राजकुमार (कविराज रामदास के पुत्र) की आबनूस की बाँसुरी देखता है तो उसे १९२९ के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन की याद आ जाती है जहाँ उसने पाँच रुपए में एक आबनूस की बाँसुरी खरीदी थी। इस प्रसंग में वह अनेक बातें सोच जाता है जिनके वर्णन ने उपन्यास के आठ पृष्ठ घेर लिये हैं। उपन्यास यद्यपि चेतन की युवावस्था से सम्बन्धित है किन्तु 'चेतना प्रवाह' तथा 'पूर्वदीप्ति' की पद्धति के उपयोग द्वारा लेखक उसकी बाल्यावस्था तथा उसके माता-पिता से सम्बन्धित प्रायः सभी चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ है। क्रूर पिता द्वारा बुरी तरह पिटना, उसकी प्रारम्भिक पढ़ाई, भाई साहब के लापरवाह चरित्र की व्याख्या यहाँ तक कि अपनी माँ और पिता के यौन-सम्बन्धों का स्मरण भी चेतन करता है। इस प्रकार चेतन का वर्त्तमान जीवन दूर तक उसके अतीत जीवन में फैल गया है।

स्मृति के माध्यम से जहाँ एक ओर विगत जीवन के चित्रण में सुविधा हुई है वहीं दूसरी ओर इस प्रणाली की कुछ अनिवार्य त्रुटियाँ भी इस उपन्यास में उभर आई हैं। उपन्यास सुसंगठित न होकर किंचित् बिखरा हुआ सा लगता है। प्रवाह सरल अविरल एवं अबाध न होकर बीच बीच में विच्छिन्न-विपर्यस्त सा लगता है। पाठक को सदैव सजग-सतर्क रहने की आवश्यक्ता रहती है जिसमें कहीं कथा-सूत्र उसके हाथ से खिसक न जाय। 'गिरती दीवारें' में छोटी छोटी 'तफसीलों' के द्वारा यथार्थ जीवन के अगणित चित्र तो उपस्थित किये गये हैं, इन चित्रों में बड़ी सजीवता भी है किन्तु वस्तु-संगठन में सानुपात का अभाव बराबर खटकता है। उपन्यास का प्रायः आधाभाग केवल कविराज की धूर्त्तता, उसके कमीनेपन के उद्‌घाटन तथा चेतन का अपने संगीतज्ञ और अभिनेता होने की अक्षमता का विवरण देने में समाप्त होता है (पृष्ठ ३७१ ७१२ तक)। बचपन में वह चित्रकार और कवि बनने का प्रयास करता है फिर पत्रकार और उपन्यासकार किन्तु किसी में भी वह सफल नहीं होता। कुल मिलाकर यह कहना

यही हाल सत्याजी का भी है। छिपकली सी वे न बनना चाहती थीं। यदि पुराना जमाना होता और वे राजकुमारी होती, जगमोहन उनके स्वयंवर में आया होता तो वे निस्संकोच बढ़कर उसे वरमाला पहना देतीं लेकिन वे तो अपने वातावरण की पेचीदगियों में पलकर युवा हुई हैं। हरीश जब फैज की नज्म 'मुझसे पहले सी मुहब्बत मेरे महबूब न माँग' की पक्ति 'और भी दुख हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा, की प्रशसा करते हुए कहते हैं—"हमारा जीवन इतना सरल नहीं, हमारी समस्याएँ सरल नहीं, इसलिए मुहब्बत में पेचीदगी आ गई है प्रेम में वह अनायासपन नहीं रहा' तो स्पष्ट ही उनकी दृष्टि आर्थिक-राजनीतिक परतन्त्रता की ओर है। वसंत को भी प्रेम से इन्कार कब है!' किन्तु इन परिस्थितियों में जब देश गुलाम और गरीब है प्रेम करना प्रथम कर्तव्य नहीं लगता (यद्यपि बाद में वह विवाह करने पर राजी हो जाता है)।

साधारणतः लेखक के चित्रण के अनुसार प्रायः सभी प्रमुख पात्रों का प्रेम परिस्थितियों की गर्म राख के नीचे दबा सा प्रतीत होता है। किन्तु क्या सत्याजी से जगमोहन के प्रेम न करने और ठुकराने का मात्र कारण आर्थिक ही है? नहीं। वह उनसे प्रेम नहीं करता। यही तो प्रेम की विडम्बना है। पडित रघुनाथ सत्याजी की ओर उन्मुख हैं, सत्याजी जगमोहन की ओर, जगमोहन दुरो को प्यार करता है और दुरो हरीश को और कौन जाने हरीश भी किसी अन्य को—

या चिन्तयामि सतत मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः
... .

इसीलिए खिन्न होकर जगमोहन भर्तृहरि के शब्दों को दुहरा उठा था 'धिक्ता च तं च मदन च इमा च माच। इस तरह हम देखते हैं कि घूम फिर कर उपन्यासकार उसी पुरातन ढाचे की ओर आ गया है। वही प्रेमियों का शाश्वत त्रिकोण (Eternel triangle) उपन्यास का प्रमुख विषय है। आर्थिक कठिनाई तो बहाना मात्र है। स्वय जगमोहन सोचता है—'क्या आर्थिक कठिनाई ही उसके रास्ते की सबसे बड़ी दीवार थी? कल यदि दुरो उससे विवाह का प्रस्ताव करे तो क्या वह आर्थिक कठिनाई का बहाना बनाए? दिशाओं के बन्धन तोडकर हरहरानेवाले तूफान-सा वह उठे और आर्थिक कठिनाइयों के तृणपात को अपने साथ उड़ाता ले जाय।'

किन्तु प्रेम सम्बन्धों को जिस रूप में चित्रित किया गया है उसमें पर्याप्त यथार्थता है। आज का प्रेम आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों के कारण सचमुच

छिपकली सा ही है। हरीश के शब्दों में यह छिपकली-सा प्रेम हमारी वासना, अज्ञान और उसी कारण पुरुष-स्त्री के सहज-सम्बन्ध पर लगी वर्जनाओं के कारण है ''अनगिनत सदियों के तारीक वहीमाना तलिस्मों के फलस्वरूप ! ऐसा प्रेम न रहेगा। ये इन्द्रजाल टूटते जा रहे हैं। जब भी हम पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हुए नर-नारी के परस्पर सम्बन्धों में भी स्वतन्त्रता आयेगी। नारी 'योनि मात्र' न रहकर सहचरी और सगिनी बनेगी और समाज के विकास में पूरा योग देगी।'

पात्रों के चरित्राकन में पूर्ण सजीवता है। कथा-नायक 'जगमोहन निम्न मध्यवर्ग के उन लाखों युवको में से एक था जो बचपन में बच्चे और जवानी में युवक नहीं होते, बचपन ही से जिनपर प्रौढ़ता का रंग चढ़ जाता है। जो एक कदम आगे रखते हैं तो दो बार सोचते हैं, फिर पीछे रख लेते हैं और कई बार इसी आगे-पीछे में जिन्दगी के दिन पूरे कर देते हैं। जिनके बचपन में न खिलडगापन होता है न जवानी में अल्हडपन। बचपन में सब कुछ भूलकर खेलना और जवानी में सब कुछ भूल कर प्रेम करना जो नहीं जान पाते।" इस युवक की सघर्षमय जिन्दगी, उसकी आशा-आकाक्षा, उसकी अतिशय संकोच वृत्ति, उसके मानापमान, उसकी भावना-कल्पना, उसकी पलायन वृत्ति आदि का बड़े ही सूक्ष्म ब्योरों के साथ वर्णन हुआ है। इसी प्रकार सत्याजी की बाहरी गम्भीरता एवं रूखेपन के भीतर छिपी उनकी भावुकता, प्रेम की तीव्रता तथा प्रेम के लिए सर्वस्व निछावर कर देने की कामना आदि का बड़ी सतर्कता से चित्रण हुआ है। लेखक ने बडी कलात्मक निःसंगता से आद्यन्त सत्याजी के चरित्र का निर्वाह किया है। इनके अतिरिक्त हरीश, दुरो और चातक जी के चरित्र भी बडी स्पष्ट रेखाओं में अंकित किए गए हैं। व्यक्तियों के वर्णन में स्वाभाविकता के साथ-साथ एक व्यंगात्मक सहानुभूति (जो अश्क की विशेषता है) सर्वत्र परिलक्षित होती है। अस्तगत 'मजरी' के सम्पादक कवि चातक जो परिचय या उसकी सम्भावना होते ही प्रत्येक युवती को अपनी प्रेयसी समझ लेते, 'मालती' के सम्पादक महाशय गोपालदास जिनकी पत्रिका में 'चटपटी कहानियाँ, रूमानी कविताएँ, शृगार के नुस्खे, स्त्रियों की समस्याओं पर 'मालती' की ग्राहक लड़कियों के भावुकतामय लेख, मालती-परिवार' के नए विवाहित जोडों अथवा नवजात शिशुओं के फोटो और फिर स्त्रियों के गुप्त रोगों की औषधियों के विज्ञापन' रहते, पण्डित धर्मदेव वेदालकार जो 'रूप रंग और भूषा से न पडित लगते थे, न धर्मदेव, न वेदालकार—कीमती सिल्क का सूट जिसकी क्रीज आठो पहर ऐंठी रहती, सूट के साथ मैच करती हुई रेशमी, टाई, पैरों में फ्लेक्स के चमचमाते शू और सिर

पर बढ़िया सोला हैट—वे हाल ही में इङ्गलिस्तान से वापस आए कोई आई० सी० एस० दिखाई देते थे। पंडित अथवा वेदालंकार कदापि नहीं। वेदालकारी के जमाने की यदि कोई बात उनमें दिखाई देती तो वह था उनका साइकिल पर पिछले पहिए की खूँटी से चढ़ना। उस समय जब सभी साइकिल सवार बायाँ पाँव पैडिल पर रख दायाँ कैरियर के ऊपर से घुमा काठी पर जम जाते, पण्डित धर्मदेव वेदालकार पिछले पहिए की खूँटी से कई कदम फुदक फुदक कर खूँटी पर चढ़ते।' 'साप्ताहिक वीर विक्रमादित्य के सम्पादक शुक्ला जी जो 'शुद्ध खादी का कुर्ता-धोती पहनते थे। सर्दियों में उसपर पट्टी का जाकेट अथवा बन्द गले का कोट भी पहन लेते। छोटी छोटी, ओठों के बराबर, कटी मूँछें और अन्दर को धँसे हुए कल्ले। खैनी खाना और दूसरों की कलक कहानियों की चर्चा करना ‥ ‥उन्हें बड़ा प्रिय था। कोई उनकी प्रशसा करे अथवा गाली दे, वह मुस्कान उनके ओठों से चिमटी रहती थी।' 'शान्ता विद्यालय की प्रिन्सिपल श्रीमती शान्ता देवी 'प्रभाकर' साहित्य रत्न जो यौवन के प्रथम उमग में जीवन का रस लूटने वाले एव भ्रमर वृत्ति युवक के प्रेम का शिकार बन गर्भस्थ बालक की रक्षा एव लोकलज्जा के डर से एक कोयले के व्यापारी से व्याही जाकर अपना प्राइवेट विद्यालय भी चला रही हैं और बच्चों की बटैलियन भरी गृहस्थी भी सँभाल रही हैं। इसी प्रकार हिन्दी सस्कृत के अध्यापक 'नीरव' जी, कटक जी अवसाद जी, डाक्टर घनानन्द प्रो० बैजनाथ कपूर, पडित रघुनाथ, कामरेड हरीश, प्रो० ज्योतिस्वरूप नुरुद्दीन आदि दर्जनों व्यक्तियों के व्यग रेखा-चित्र इस उपन्यास में अकित हैं। इन चित्रों के अकन में बड़ी सूक्ष्मदर्शिता परिलक्षित होती है।

व्यक्तियों की रूपाकृति, वेशभूषा, बोलचाल, विचार-व्यवहार आदि के अत्यन्त यथार्थ एवं स्वाभाविक वर्णन के साथ-साथ वातावरण को छोटे-छोटे व्यजक ब्योरों के बीच प्रत्यक्ष कर देने की कला इस उपन्यास की भी विशेषता है। लाहौर का वही कृत्रिम नागरिक जीवन, सड़कों की धूल और गन्दगी, तग गलियाँ, हौदियों और नालियों की सड़ाँध, मैले गन्दे और वर्षों से सफेदी को तरसते हुए घर, दूकानदार और खोमचेवाले, यहाँ भी हैं। तत्कालीन साहित्यिक सामाजिक जीवन, राजनीतिक कार्यविधि तथा आन्दोलन, विभिन्न ढग के विद्यालय और स्कूल कालेज तथा वहाँ का वातावरण, पत्र पत्रिकाएँ, निम्न मध्यवर्गीय कुटुम्ब तथा घर की अस्त व्यस्तता आदि अनेक बातों के सजीव चित्रण का प्रयत्न किया गया है। स्थान स्थान पर विभिन्न राजनीतिक पार्टियों की विचार-धारा एव कार्यविधि के सकेत भी मिलते हैं।

उपर्युक्त दोनों उपन्यासों को पढ़कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'अश्क' जी में समाज के ऊपरी सतह के 'फोटो ग्रैफिक' वर्णन की अद्भुत क्षमता है। उन्होंने समाज की बुराइयों को अत्यधिक निकट से देखा है, निम्न मध्यवर्गीय जीवन की परेशानियों, उलझनों, कुंठाओं आदि का विशेष अनुभव प्राप्त किया है। किन्तु चढ़ाव-उतार-युक्त घटनाओं और परिस्थितियों का चयन करके तथा पात्रों के जीवन से उन्हें सम्बद्ध करके चरित्र के क्रमिक विकास दिखाने की दृष्टि से 'अश्क' जी अधिक सफल नहीं हो सके हैं। अनेक छोटे-छोटे घटना-प्रसंगों एव 'तफसीलों' के द्वारा वह अपना चित्रपट तो विस्तृत करते जाते हैं किन्तु उनमें गहराई नहीं ला पाते। उनका चित्रपट जन-संकुल है—अनेक रूपरंग, आकृति-प्रकृति के मनुष्यों को बिल्कुल जीवनवत खड़ा कर देना वह खूब जानते हैं किन्तु उनके चित्रों में स्थायित्व नहीं है। उपन्यासकार का कर्तव्य विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों, परिस्थितियों, सामाजिक विशृङ्खलताओं आदि का ब्योरेवार विवरण देना ही नहीं होता। उसका कर्तव्य यह भी होता है कि वह विशिष्ट सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व्यवस्था एवं वातावरण में पले मनुष्यों का परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए, परस्पर घात-प्रतिघात से, चरित्र-विकास दिखाये जिनका पाठक पर एक पूर्ण तथा स्थाई प्रभाव पड़े। युगविशेष की आत्मा को बाह्य वर्णनों के द्वारा उतनी सफलता से नहीं दिखाया जा सकता जितना चरित्र के माध्यम से। परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से विकसित चरित्र स्वय ही युगीय जीवन-रीति को अभिव्यक्त कर देते हैं। अश्क के पात्रों में इस प्रकार का क्रमिक विकास नहीं परिलक्षित होता। लेखक की अद्भुत वर्णन-क्षमता से उनका रूप तो स्पष्टता से उभर आता है किन्तु पाठक पर उनका स्थाई प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तव में 'अश्क' बाह्य वैयक्तिक विशिष्टताओं के लेखक हैं। व्यक्तियों के रूप-रंग, वेष-भूषा, आकृति-प्रकृति, विचार-व्यवहार, बोल-चाल, आदि के सूक्ष्म वर्णनों ने वह चरित्रों की भीड़ में भी उन्हें अलग-अलग रख सकने में समर्थ हुए हैं। इनके प्रति उनकी दृष्टि अधिकतर नितान्त तटस्थ एव व्यंगात्मक रही है। मानवीय त्रुटियों के प्रति सहानुभूति के हाथ सहलाने की कला से वे अपरिचित से हैं।

'अश्क' के दो और उपन्यास हैं—'बड़ी-बड़ी आँखें' तथा 'पत्थर अलपत्थर'। "बड़ी बड़ी आँखें" में प्रकृति के सुन्दर दृश्य एव हृदय की निर्मलता वर्णित है। उपन्यास की नायिका का चित्रण अत्यधिक सजीव तथा मोहक है। 'पत्थर अल पत्थर' में काश्मीर के एक गाँव को कथाकेन्द्र तथा उस गाँव के एक कूड़े वाले-हसनदीन को नायक बनाकर कथा अग्रसर हुई है इसमें काश्मीर की वर्तमान आर्थिक, सामाजिक उथल पुथल का अच्छा चित्रण है। लेकिन समाज के विभिन्न वर्गों के

परस्पर अलगाव की स्थिति को बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। उपन्यास में मध्यवर्ग के संभ्रान्त लोग हैं, सरकारी अधिकारी हैं, कंजूस सेठ-साहुकार हैं, आमोद-प्रमोद में संलग्न यात्रियों का समूह है। कथानक के सत्कार एवं परिस्थितिजन्य चरित्र-चित्रण में पर्याप्त सजीवता है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

• द्विवेदी जी ने यद्यपि केवल एक ही उपन्यास—'बाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६) लिखा है किन्तु यह उनकी कीर्ति का अक्षय स्मारक बन गया है। यह हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा की एक अभिनन्दनीय उपलब्धि है। इसमें भारतीय गद्यकथा तथा पाश्चात्य उपन्यास-शैलियों के समन्वय का सफल प्रयास किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में उपन्यास को काव्य के निकट रखने वाले पुराने ढाँचे को एकबारगी छोड़ देने पर किंचित् खेद प्रकट किया है क्योंकि 'उसके भीतर हमारे भारतीय कथात्मक गद्य-प्रबन्धों के स्वरूप की परम्परा छिपी है।' यदि शुक्ल जी जीवित होते तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के 'लम्बे-लम्बे काव्यमय दृश्य-वर्णन, प्रगल्भ भावव्यंजना, आलंकारिक चमत्कार के विशेष रसात्मक आकर्षण' के साथ-साथ शील-वैचित्र्य-विधान की इस अभिनव कला को देख उनको कितना सन्तोष होता!

इस उपन्यास में 'कादम्बरी' तथा 'हर्ष चरित' के प्रणेता संस्कृत के यशस्वी कवि बाणभट्ट को कथानायक बनाकर कहानी अग्रसर हुई है। बाणभट्ट के चरित्र पर प्रकाश डालने वाली प्राचीन सामग्री का सार लेकर ऐसे काल्पनिक प्रसंगों की उद्भावना की गई है कि यह कवि अपनी सम्पूर्ण चरित्रगत विशेषताओं में सजीव हो उठा है। 'हर्षचरित' के आधार पर हमें विदित होता है कि "तरुणावस्था में ही माता-पिता के संरक्षण से वंचित होकर बाण कुछ-कुछ उच्छृङ्खल हो गया। इसी अवस्था में उसने शिशुसुलभ कुछ चपलताएँ कीं, किन्तु ये चपलताएँ क्या थीं हमें पता नहीं है। उसे भिन्न-भिन्न देशों के देखने का प्रबल कुतूहल हुआ, अतः पूर्वजों से प्राप्त सम्पत्ति एवं अटूट विद्या-क्रम के रहने पर भी साथियों की एक टोली बना कर वह घर से निकल पड़ा और बड़ों के उपहास का पात्र बना। नैष्ठिक ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने पर भी उसके साथियों में विविध श्रेणी के लोग थे, यह उसकी उदार-हृदयता का परिचायक है। उसके साथियों में पुरुष भी थे और स्त्रियाँ भी थीं, वैज्ञानिक भी थे और कलाकार भी थे, बौद्ध-भिक्षु भी थे और जैन भिक्षु भी थे और परिव्राजक भी थे। × × × × अपनी लम्बी यात्रा में बाण राजकुलों, गुरुकुलों, गुणियों की सभाओं और विद्वानों की मण्डलियों के सम्पर्क

में आया।''[1] सम्राट् हर्ष के चचेरे भाई कुमार कृष्ण के आमन्त्रण पर वह हर्ष की राजसभा में उपस्थित हुआ। उसका परिचय पा सम्राट् के समीप बैठे हुए मालव राज के पुत्र (=माधव गुप्त ?) से कहा "यह महान् भुजग है।" इस पर उद्विग्न होकर वाणभट्ट ने अपने तथा अपने कुल के गुणों का बखान किया और पूछा कि राजा ने उसकी क्या लम्पटता देखी ? सम्राट् ने कहा, "हम लोगों ने ऐसा सुना था" और चुप हो गया। उसने संभाषण, आसन-दान आदि सत्कार के वाह्य उपचारों से वाण,को अनुगृहीत नहीं किया ; किन्तु स्नेह-पूर्ण दृष्टिपातों ने आन्तरिक प्रीति प्रकट की। वाण अपने निवासस्थान पर चला गया और सम्राट के बुलाने पर ही राजभवन में पुन प्रवेश किया। सम्राट् ने उसे सम्मान, प्रेम, विश्वास, धन, परिहास और प्रभाव की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।[2]''

'हर्षचरित' में वाण ने अपने कुल, स्वभाव तथा हर्ष के सम्पर्क में आने का विस्तृत वर्णन किया है। जिससे पता चलता है कि विद्या, काव्य, कला के साथ वाण को वड़ा ही उदार हृदय मिला था। मानव की वाहरी दुर्वलताओं के भीतर छिपी महत्ता का उसे वोध था। 'हर्षचरित' तथा 'कादम्वरी' के आधार पर वाण के प्रेम और सौन्दर्य के आदर्श का भी परिचय प्राप्त होता है। वाण के उपर्युक्त गुण, स्वभाव को एक जीवन्त व्यक्तित्व के रूप में मूर्तिमान करने के उद्देश्य से प्रस्तुत उपन्यास की रचना हुई है। "इसमें कुछ पात्र एवं प्रसंग इतिहासानुमोदित हैं—जैसे वाण, हर्ष, कुमार कृष्ण, वाण का घर छोड़कर इधर उधर भटकते फिरना, प्रथम परिचय में हर्ष द्वारा वाण का तिरस्कार, वाण का परिताप तथा सम्राट द्वारा वाण को राजकवि नियुक्त किया जाना आदि—और अनेक पात्रों तथा प्रसगों की कल्पना की गई है। निपुणिका (निउनिया), का वाण के प्रति अनुराग, छोटे राजकुल से वाण एवं निपुणिका द्वारा भट्टिनी का परित्राण एव उससे सम्बन्धित कथा, महामाया, अवधूतपाद तथा सुचरिता आदि के प्रसग लेखक की उर्वर कल्पना की उपज है। कल्पना का प्रयोग इस रूप में किया गया है कि वाण, हर्ष, कुमार कृष्ण आदि ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र एवं तत्कालीन वातावरण के चित्रण में कोई ऐतिहासिक असगति नहीं आने पाई है। साथ ही 'हर्षचरित्र' 'कादम्वरी' आदि में वर्णित अथवा संकेतित वाण के चरित्र की स्थूल रेखाओं में कल्पना की सूक्ष्म सजग तूलिका ने रंग भर वर रूप दे दिया है, प्राण डाल दिये हैं"।

मूलकथा का केन्द्र वाणभट्ट है। प्रख्यात वात्स्यायन वश में उत्पन्न वाण

---

१ सूर्यनारायण चौधरीकृत अनूदित 'हर्षचरित' की भूमिका।

२. वही।

बचपन में माँ को तथा किशोरावस्था में पिता को खोकर किंचित् आवारा हो गया और वर्षों जगह-जगह मारा-मारा फिरता रहा। इस भटकान में वह कभी नट बना, कभी पुतलियों का नाच दिखाया, कभी नाट्य-मंडली संगठित की और कभी पुराण-वाचक बनकर जनपदों को धोखा देता रहा, सारांश कोई कर्म छोड़ा नहीं। रूप तथा बोलने की पटुता इन दो गुणों ने बाण की बड़ी सहायता की। एक दिन घूमता-घामता वह स्थाण्वीश्वर नगर में पहुँच गया। उसी दिन महाराजाधिराज हर्षदेव के छोटे भाई कुमारकृष्ण के नवजात शिशु का नामकरण संस्कार होनेवाला था। इस शुभ अवसर पर कुमार को बधाई देने की कामना से वह उनके गृह की ओर चल पड़ा। किन्तु रास्ते में ही पान की दूकान पर बैठी उसे निपुणिका मिली। उसके पुकारने पर, बाण रुका और इस अपरिचित स्थान में अपने नाट्यशाला की निउनिआ को देख वह विस्मय-विमुग्ध हो उठा। निउनिया बाण को प्यार करती थी और उसीके कारण एक दिन वह बाण के आश्रय को छोड़ भाग आई थी। उसके जाने के बाद बाण ने भी नाटक-मण्डली तोड़ दी थी। अपनी पिछली व्यथा-कथा कह चुकने के उपरान्त निउनिया ने बाण को बताया कि मौखरिवंश के छोटे महाराज के घर में एक महीने से एक अत्यन्त साध्वी राजकुमारी अपनी इच्छा के विरुद्ध आबद्ध है। उस अशोक वन की सीता के उद्धार में बाण की सहायता अपेक्षित है। नारी-शरीर को देवता का मन्दिर समझने वाला सहृदय बाण सहमत हो गया और छद्मवेश में निउनिया के साथ राजगृह में प्रविष्ट होकर उन दोनों ने राजकन्या का उद्धार किया। बाद में बाण को भट्टिनी (राजकन्या) से विदित हुआ कि वह विषम समर-विजयी, वाल्हीक विमर्दन प्रत्यन्त वाड़व देवपुत्र तुवर मिलिन्द की कन्या है जिसका प्रत्यन्त दस्युओं ने हरण किया था। प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य सुगतभद्र ने भट्टिनी का समाचार जानकर कुमार-कृष्ण को बुलवाया और सारी स्थिति समझा दी। भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर के राजकुल से इतनी घृणा हो गई थी कि वह उस राजकुल से सम्बद्ध किसी व्यक्ति के संरक्षण में रहने को प्रस्तुत न थी। निपुणिका तथा बाण के लिए भी राजदण्ड का डर था अतएव यही निश्चित हुआ कि बाण-भट्ट देवपुत्र नन्दिनी और निपुणिका को लेकर मगध की ओर चला जाय। गंगा में एक बड़ी नौका की व्यवस्था कर दी गई और चुने हुए मौखरी वीरों के संरक्षण में यह लोग मगध की ओर चल पड़े।

चरणाद्रि दुर्ग से आगे बढ़ने पर आभीर सामन्त ईश्वरसेन के सैनिकों को इनपर सन्देह हो गया। उन्होंने नाव पकड़नी चाही और युद्ध आरम्भ हो गया। इसी समय भट्टिनी गंगा में कूद पड़ीं। उन्हें बचाने के लिए निउनिया कूदी और तदनन्तर बाण भी गंगा में कूद पड़े। बड़ी कठिनाई से बाण ने भट्टिनी को किनारे

लगाया। यद्यपि इस प्रयास में उसे भट्टिनी के प्रिय महावराह की प्रस्तर प्रतिमा को गंगा में विसर्जित कर देनी पड़ी। इस विकट समय में भैरवी महामाया ने उपस्थित होकर इनकी बड़ी सहायता की। निउनिआ को ढूँढ़ता हुआ भट्ट वज्रतीर्थ पर कराला देवी के मन्दिर में मोहमुग्ध-सा खिंचा हुआ चला आया। यहाँ अघोरघण्ट और चण्डमण्डना ने उसे देवी के समक्ष वलि कर देने का अनुष्ठान किया। वह वलि होने ही वाला था कि भट्टिनी तथा निपुणिका के साथ महामाया वहाँ पहुँच गई और महामाया ने खींच कर वाण की रक्षा की और अघोर भैरव की शरण में ले गई। वाण तीन दिन तक सज्ञाहीन अवस्था में पड़ा रहा। होश आने पर उसने अपने को भद्रेश्वर दुर्ग के आभीर सामन्त लोरिकदेव के घर में पाया। भट्टिनी जिन्हें वाण से अनुराग हो गया था वड़ी चिन्तित हो उठी थीं। तान्त्रिक अभिचार के कारण निपुणिका भी कई दिन वेहोश रही। इसके उपरान्त भट्ट अकेला ही फिर स्थाण्वीश्वर गया। कुमार कृष्ण ने उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया। सम्राट् ने पहले तो उसकी अवहेलना की किन्तु वाद में उचित सम्मान दिया और अपना राजकवि नियुक्त किया। कुमार कृष्ण ने वाण से अनुरोध किया कि वह किसी प्रकार भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर ले आये और साम्राज्ञी राज्यश्री का आतिथ्य स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत करे। जब वाण ने लौट कर यह सब समाचार निपुणिका और भट्टिनी से कहा तो निपुणिका उत्तेजित हो उठी। भट्टिनी को भी यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगा। इसी बीच लोरिकदेव को भी भट्टिनी का वास्तविक परिचय मिला और उसने एक समारोह कर भट्टिनी को समादृत किया। उधर आचार्य भर्वुशर्मा का वह पत्र जन-जन में प्रचारित हुआ जिसमें यह सन्देश था कि प्रत्यन्त दस्यु पुन आ रहे हैं और कन्या के विरह से उदासीन देवपुत्र मिलिन्द को पुन युद्धभूमि के लिए प्रोत्साहित करने के लिए उनकी पुत्री का पता लगाया जाय। अन्त में यह निश्चित हुआ कि लोरिकदेव के एक सहस्र सैनिकों के साथ भट्टिनी स्वतन्त्र साम्राज्ञी के समान स्थाण्वीश्वर जायें और लगभग एक कोस की दूरी पर अपने स्कन्धावार में रहें। ऐसा ही हुआ। कुमार कृष्ण उससे मिलने आये और उनके सद्व्यवहार तथा मधुर भाषण से भट्टिनी के मन का मैल कट गया। कुमार ने सूचित किया 'महाराजाधिराज हर्षवर्धन की भगिनी के प्रति अशिष्ट आचरण का उचित दण्ड इस दुर्मद सामन्त (मौखरिवंश का छोटा राजा) को अवश्य दिया जायगा।' स्थाण्वीश्वर में उत्साह-मय वातावरण था। उसी समय आचार्य भर्वुपाद भी आ गये। महाराज और भर्वुशर्मा के भट्टिनी के स्कन्धावार में आने के उपलक्ष्य में वाण ने रत्नावली नाटिका के अभिनय का आयोजन किया। वाणभट्ट स्वयं राजा बना, प्रसिद्ध नर्तकी चारुस्मिता रत्नावली बनी और निपुणिका वासवदत्ता की भूमिका में उतरी।

अभिनय बहुत सुन्दर हुआ। वासवदत्ता की भूमिका में निपुणिका ने तो उन्माद बरसा दिया। उसके हर्ष, शोक और प्रेम के अभिनय में वास्तविकता थी। अन्तिम दृश्य में जब वह रत्नावली का हाथ राजा (वाण) के हाथ में देने लगी तो सचमुच विचलित हो गई। वह सिर से पैर तक सिहर गई। उसके शरीर की एक-एक शिरा शिथिल हो गई। भरतवाक्य समाप्त होते-होते वह धरती पर लोट गई। नागर जन सब साधु-साधु की आनन्द ध्वनि से दिगन्त कपा रहे थे उस समय यवनिका के अन्तराल में निपुणिका के प्राण निकल रहे थे। भट्टिनी ने दौड़ कर उसका सिर अपनी गोद मे ले लिया और कुररी की भाँति कातर चीत्कार के साथ चिल्ला उठीं, 'हायभट्ट, अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया। उसने प्रेम की दो दिशाओं को एक सूत्र कर दिया!' और पछाड़ खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर लोट पड़ीं।

"निपुणिका का श्राद्ध समाप्त होते ही आचार्य भर्वुपाद ने वाण को पुरुषपुर जाने की आज्ञा दी। उन्होंने स्पष्ट रूप से आदेश दिया कि भट्टिनी तब तक स्थाण्वीश्वर में ही रहेगी। भट्टिनी ने सुना तो उनका मुख विवर्ण हो गया। झुकी हुई आँखों को और भी झुका कर बोलीं—'जल्दी ही लौटना।" वाण ने कातर कण्ठ के वाष्प-रुद्ध वाक्य को प्रयत्न-पूर्वक दबा लिया। लेकिन उसकी अन्तरात्मा के अतल गह्वर से कोई चिल्ला उठा—'फिर क्या मिलना होगा?'

मुख्य कथा तो यही है, किन्तु इससे सम्बन्ध रखनेवाले अनेक छोटे-मोटे प्रसगों की कल्पना की गई है जिनमे कथा की रमणीयता, उसके विकास, वातावरण-निर्माण एवं चरित्र-वर्णन मे सहायता मिली है। उज्जैनी में निपुणिका के नृत्य एवं उसकी शोभा देखकर और उसमें 'मालविकाग्नि मित्र' की मालविका से साम्य पाकर वाण का खिलखिलाकर हँस पड़ना, निपुणिका का इस हँसी से आहत होकर उसके आश्रय से भाग निकलना, प्रसिद्ध नर्तकी मदनश्री के यहाँ आश्रय, वाण के प्रति मदनश्री का अनुराग, शर्विलक की दूकान पर निपुणिका का बालक-वेश में मद बेचना, प्रत्यन्त दस्युओं द्वारा भट्टिनी के अपहरण की कथा, महामाया भैरवी तथा अघोर भैरव से वाण की भेंट, महामाया (जो राज्य श्री की सपत्नी थीं) का राज-महल छोड़ कर भैरवी बनने की कथा, सुचरिता और विरति-वज्र की कथा आदि अनेक प्रसंगों की उद्‌भावना की गई है और सब मिलकर एक पूर्ण प्रभाव डालने में सहायक होते हैं। उपर्युक्त प्रसगों में अधिकाश मुख्य पात्रों—वाण, भट्टिनी तथा निपुणिका से सम्बन्ध रखते हैं अतएव मुख्य कथा के ही अग हैं। केवल महामाया भैरवी और अघोर भैरव तथा विरतिवज्र और सुचरिता की कथा ही किंचित्

स्वतन्त्र हैं। किन्तु लेखक ने बड़े कौशल से इन्हें मूलकथा से ग्रथित कर दिया है और इनसे तत्कालीन धार्मिक वातावरण के निर्माण में बड़ी सहायता मिलती है।

इस कृति में कथा-कथन का क्रम अबाध है और लेखक बड़े कौशल से पाठक की उत्सुकता को निरन्तर उद्बुद्ध रखता हुआ मुख्य कथा को अग्रसर रखता है। अप्रत्याशित संयोग, भाग्य-विधान तथा घटना-चमत्कार आदि पुरानी कथा रीतियों के प्रचुर प्रयोग ने 'आत्मकथा' को अद्भुत रंजकता प्रदान की है। एक बार पुस्तक आरम्भ करने पर बिना समाप्त किये छोड़ने का मन नहीं होता। घटनाओं का तारतम्य भी बुद्धिसंगत एवं स्वाभाविक है और प्रत्येक घटना-प्रसंग या तो चरित्रांकन अथवा वातावरण-निर्माण में सहायक होता है। वास्तव में लेखक ने अपने कथानायक के चरित्र के विभिन्न पक्षों के उद्घाटन के लिए उसे अनेक घटना-प्रसंगों के सम्पर्क में लाने का प्रयत्न किया है। नायक के व्यक्तित्व ने इन घटना-प्रसंगों को एकसूत्रता प्रदान की है और उनमें अद्भुत प्रभविष्णुता एवं एकान्विति आ गई है। वर्तमान युग में जब कि मनोविश्लेषणात्मक पद्धति से चरित्र-अध्ययन मात्र के आग्रह ने कहानी का आकर्षण बहुत कम कर दिया है तब कहानी की अनुरंजकता के साथ-साथ चरित्र-निर्माण की यह कला अभिनन्दनीय है।

पात्रों के चरित्र-वर्णन में भी पर्याप्त कौशल का परिचय मिलता है। इसके लिए वर्णन, संवाद, कार्य-व्यापार तथा चेष्टाओं से सहायता ली गई है। कथा जैसे-जैसे अग्रसर होती जाती है पात्रों का स्वरूप धीरे-धीरे अनावृत्त होता जाता है। बाण, हर्ष, कुमार कृष्ण, भर्वुशर्मा आदि पात्र ऐतिहासिक हैं। इनके चरित्र-वर्णन में इनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व का पूरा ध्यान रखा गया है। अन्य पात्रों के चरित्र में भी कुल-शील, देश-काल आदि को प्रतिबिम्बित करने का प्रयास है। भावों के उत्थान-पतन एवं अन्तर्द्वन्द्वों के सूक्ष्म अंकन के साथ-साथ प्रमुख पात्रों को महाकाव्योचित गरिमा देने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक प्रमुख पात्र का अपना अलग व्यक्तित्व है और वह बहुत दिनों तक हमारी स्मृति में सजीव रहता है। यद्यपि इस कथा में भी 'कादम्बरी' के ही प्रेम का आदर्श स्वरूप रखा गया है किन्तु प्रेम की अभिव्यंजना में अन्तर है। 'कादम्बरी' के पुण्डरीक-महाश्वेता अथवा चन्द्रापीड़-कादम्बरी का प्रेम मुखर है। वहाँ प्रथम साक्षात्कार में ही अनुराग हो जाता है और मदनावेश में हृदय की बलवती कामना को प्रकट करने में कोई संकोच नहीं होता। प्रेमोदय-काल में नानाविध भ्रू विलास चचल और विकार-जनक दृष्टिपात से मनहरण का व्यापार चलता है। सम्पूर्ण शारीरिक चेष्टाओं से उत्कट प्रणयानुभूति, काम-वासना एवं समागम की अभिलाषा प्रकट होती है। प्रिय-वियोग-काल में विरह की नाना दशाएँ मन को व्यथित करती रहती हैं।

तात्पर्य यह कि 'कादम्बरी' में परम्परित शृङ्गार का वर्णन है। इसके विपरीत 'वाणभट्ट की आत्मकथा' में 'प्रेम की व्यंजना गूढ़ और अदृप्त भाव से प्रकट हुई है।' इसमें निपुणिका, भट्टिनी तथा बाण के प्रेम का इस रूप में वर्णन है कि वहाँ वासना की पहुँच भी नहीं है। वह प्रेम हृदय में बहुत गहरे उतर कर बैठ गया है। जैसे उसका लक्ष्य स्वय वही हो। मानो मुखर होकर वह अपने गौरव को खो देगा। हमें केवल अयत्नज मानसिक विकारों द्वारा रह-रह कर उस प्रेम का आभास मात्र हो जाता है। इस प्रेम का अवसान दु ख में होता है क्योंकि बाण के चरित्र की उपलब्ध सामग्री में उस प्रेम को सुखान्त बनाने का अवकाश भी नहीं है।

इस 'कथा' में वाण को एक जीवन्त व्यक्तित्व प्रदान करने में लेखक को अपूर्व सफलता मिली है। प्रसिद्ध वात्स्यायन वश में उद्भूत बाण ने अपने को 'जन्म का आवारा, गप्पी, अस्थिरचित्त और घुमक्कड़' बताया है जो अपने गाँव में ही 'वण्ड' (पूँछकटा बैल) के नाम से बदनाम हो गया था। स्वच्छन्दता, निर्भीकता, सजीवता, साहसिकता के साथ ही साथ उदारता, सहृदयता, स्नेहशीलता, परदु ख-कातरता, कविजनोचित भावुकता एवं कल्पनाशीलता आदि गुणों के समन्वय से वाण के चरित्र में अत्यधिक मानवीयता प्रकाशित हो उठी है। लेखक ने बड़े ही कौशल से इस ऐतिहासिक व्यक्तित्व की स्थूल रेखाओं में रूप-रंग भरकर प्राण-प्रतिष्ठा की है। इस चरित्र निर्माण के लिए वाण को विभिन्न व्यक्तियों एवं परिस्थितियों के सम्पर्क में लाकर उसके स्वभाव के विभिन्न पक्षों को क्रमश अनावृत करने का प्रयास किया गया है।

वाण के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता नारी-जाति के प्रति उसकी अत्यधिक सदय एवं उदार दृष्टि है—"बहुत छुटपन से ही मैं स्त्री का सम्मान करना जानता हूँ। साधारणत जिन स्त्रियों को चचल और कुलभ्रष्ट माना जाता है, उनमें एक दैवी शक्ति भी होती है, यह बात लोग भूल जाते हैं। मैं नहीं भूलता। मैं स्त्री-शरीर को देव-मन्दिर के समान पवित्र मानता हूँ। उस पर की गई अननुकूल टीकाओं को मैं सहन नहीं कर सकता।" अपने इसी स्वभाव के कारण वाण निपुणिका, भट्टिनी एवं सुचरिता के दु ख से व्याकुल हो-हो उठा है। यद्यपि निपुणिका एक निम्न वर्ग की कुलभ्रष्टा विधवा नारी है और समाज की दृष्टि में उसका कोई आदर नहीं है किन्तु वाण की पैनी दृष्टि ने उसके आन्तरिक गुणों को पहचान लिया था और उसके अन्तरतम में विराजमान देवता के दर्शन पा लिये थे। यही कारण था कि निउनिया की व्यथा उसकी अपनी व्यथा बन गई थी और उसके आँसू वाण को अधीर कर देते थे। नारी-दु खमोचन का कोई भी अवसर वाण

अपने हाथ से निकलने नहीं देता था और ऐसे अवसरों पर उसमें अद्‌भुत साह-सिकता आ जाती थी। छोटे राजकुल से भट्टिनी का उद्धार इस तथ्य का प्रमाण है। किन्तु नारी के प्रति सदय होते हुए भी बाण ने अपने को अत्यधिक संयत तथा आत्मनियन्त्रित रखने की साधना की थी। और निपुणिका तथा भट्टिनी के इतने अधिक समीप होते हुए भी बाण का मन कभी कामना से चचल नहीं हुआ। उसके चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण करने की कामना रखने वाली निपुणिका उसके इस निर्लिप्त स्वभाव से एक वार खीझ-सी उठी थी—"निर्दय, तुमने बहुत वार बताया था कि तुम नारी-देह को देव-मन्दिर के समान पवित्र मानते हो, पर एक वार भी तुमने समझा होता कि यह मन्दिर हाड़-मास का है, ईंट चूने का नहीं। जिस क्षण मैं अपना सर्वस्व लेकर इस आशा से तुम्हारी ओर वढ़ी थी कि तुम उसे स्वीकार कर लोगे उसी समय तुमने मेरी आशा को धूलिसात् कर दिया। उस दिन मेरा निश्चित विश्वास हो गया कि तुम जड़ पाषाण-पिण्ड हो, तुम्हारे भीतर न देवता है, न पशु, है एक अडिग जड़ता।" किन्तु आगे चलकर कुटिल जगत में मारी-मारी फिरने के बाद निपुणिका को इस तथ्य का बोध हुआ कि बाण की जड़ता ही अच्छी थी और उसका मोह भक्ति के रूप में परिवर्तित हो गया। अपूर्व चारुता-सम्पत्तियुक्त भट्टिनी को देख बाण का मन उनके प्रति भक्ति-भावना से भर गया। उसमें कामना का कहीं लेश भी नहीं था। भट्टिनी की अपूर्व रूप-राशि को देख बाण की कवि-कल्पना उद्‌बुद्ध हो उठती और उसके सामने अनेकों रूप चित्र प्रत्यक्ष हो उठते। भट्टिनी के प्रति इस भक्ति में बड़े से बड़ा बलिदान करने का संकल्प था, सच्चद्धता थी। महावराह के प्रति भी उसकी अडिग भक्ति थी किन्तु अघोर भैरव के यह पूछने पर कि यदि प्राण देकर महावराह तथा भट्टिनी में से एक को बचाने का विकल्प हो तो वह किसे बचायेगा? भट्ट ने सनंकोच स्वीकार किया था कि ऐसी अवस्था में वह भट्टिनी को बचायेगा। संयोग से आगे चलकर उसका कथन चरितार्थ भी हो गया। भट्टिनी के प्रति बाण की ममता भक्तिभाव से धुलकर परम पावन हो गई थी। बाण को हृदय से प्यार करने वाली भट्टिनी उसके द्वारा देवी-रूप में पूजित होकर स्वयं बड़े संकोच का अनुभव करती और एकाधिक अवसरों पर उन्होंने अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न भी किया किन्तु बाण उन्हें सदैव एक ऊँचाई पर रख कर ही पूजता रहा क्योंकि उसके अनुसार "बन्धन ही सौन्दर्य है, आत्मदमन ही सुरुचि है, बाधाएँ ही माधुर्य हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ हो जाता। वास्तविकताएँ नग्न रूप में प्रकट होकर कुत्सित बन जातीं।" भट्टिनी ने बाण के वास्तविक स्वरूप को समझा था—"× × × × निरन्तर पवित्र चिन्तन के कारण तुम्हारा चित्त विगत् कल्मष हो

गया है। तुम्हारे चारित्र्यपूत हृदय में सरस्वती का निवास है। तुम्हारे अधरों से विमल धारा की भाँति वाणी का स्रोत झरता रहता है। × × × × तुम इस आर्यावर्त्त के द्वितीय कालिदास हो।" और भी "माँ भट्ट इस पृथ्वी के पारिजात हैं, इस भवसागर के पुण्डरीक हैं, इस कटकमय भुवन के मनोहर कुसुम हैं।" वाण की निर्भीकता, उसकी स्पष्टवादिता, उसके तेज को देख यद्यपि प्रारम्भ में कुमार-कृष्ण क्रुद्ध हो उठे थे किन्तु गुणग्राही कुमार ने बाद में कोमल होकर कहा था—"मैं तुम्हारे साहस का प्रशंसक हूँ भट्ट! मैंने आज से पहले तुम्हारे जैसे ब्राह्मण को क्यों नहीं देखा यही सोच रहा हूँ।

दुनियाँ की दृष्टि से 'आवारा' 'लम्पट', 'बण्ड' समझे जाने वाले वाण के चरित्र का लेखक ने इस यत्न एवं कौशल से चित्रण किया है कि वह अपने सम्पूर्ण मानवीय गुणों से सजीव हो उठा है। उसके प्रेम का आदर्श, अच्छे और बुरे को देखने-परखने की उसकी दृष्टि, सामाजिक एवं मानवीय सत्य को अलग-अलग करके देखने का उसका विवेक, उसकी अलौकिक काव्य-प्रतिभा आदि के अंकन में ऐतिहासिक एव मानवीय सत्यों के समन्वय का सुन्दर प्रयत्न किया गया है। उसका हृदय इतना निर्मल है कि उसकी बात, उसके विचार, उसके कर्म सबमें एक सहज भोलापन टपकता है।

दूसरा पात्र जिसे लेखक के हृदय की पूरी सहानुभूति मिली है वह है निपुणिका (निउनिया)। वह विवाह के एक वर्ष बाद ही विधवा हो गई थी और न जाने किस दुःख से व्यथित हो घर से भाग निकली और उज्जैनी में पहुँच कर वाण की नाटक-मण्डली में सम्मिलित हो गई। वाण के रूप में उसे जीवन में प्रथम बार ऐसे पुरुष का साक्षात्कार हुआ जो नारी को केवल विलास का उपकरण न समझकर 'नारी-देह को देव-मन्दिर के समान पवित्र मानता है।' और नारी की दुर्बलताओं से सहानुभूति रखता हुआ उसकी भावनाओं का आदर करता है। वाण के इस देवोपम स्वभाव एव स्वरूप ने अनायास उसके मन को मोहित कर लिया और वह कामना से चचल हो उठी। किन्तु वाण उसके प्रति सदय होते हुए भी, नितान्त निर्विकार बना रहा। बाद में जब उसका मोह कट गया तो निउनिया ने वाण की वास्तविक महत्ता को आयत्त किया और उसने स्वीकार भी किया—"भट्ट, तुम मेरे गुरु हो, तुमने मुझे स्त्री-धर्म सिखाया है।" वाण के प्रति उसके मन में निर्मल स्नेह के साथ-साथ बड़ी पूज्य धारणा है और वह मन से कामना करती है कि उसका प्रिय अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रकाशन करे। वह यह सहन नहीं कर सकती कि वाण को कोई छोटा समझे। दुनिया की दृष्टि में कुलभ्रष्टा होकर भी, उसके हृदय में महावराह के प्रति निर्मल भक्ति का स्रोत झरता रहता है। छोटे राजकुल में

आवद्ध भट्टिनी से उने सहज प्रेम हो जाता है और वह उसकी व्यथा से व्याकुल हो उठती है। उसने भट्टिनी को उस गर्हित वातावरण से निकालने में बड़ी ही कुशलता एवं चतुराई का परिचय दिया था। आगे चलकर जब उसे बाण के प्रति भट्टिनी के प्रेम-भाव का पता चलता है तो उसके मन में ईर्ष्या का कहीं लेश भी उद्बुद्ध नहीं होता और वह बराबर उसी यत्न से, पूज्य बुद्धि से भट्टिनी की सेवा करती रहती है। बाण के समान ही वह प्रत्येक परिस्थिति में भट्टिनी की सम्मान-रक्षा के प्रति भी सजग एवं सतर्क रहती है और एकाधिक अवसरों पर वह भोले-भाले भट्ट को भी इस दिशा में सावधान करने का प्रयत्न करती है। उसके प्रेम की उत्कटता उस समय प्रकट होती है जब कि देवी के समक्ष वलि के लिए खड़े बाण को देख वह विक्षिप्त-सी हो उठती है। बाण एवं भट्टिनी के सम्पर्क में आने के बाद से उसका जीवन एक विचित्र मानसिक संघर्ष में बीतता है और वह दिन-दिन घुलती चली जाती है और वासवदत्ता का अभिनय करती हुई उसने वास्तव में अपने ही को खोलकर रख दिया। अन्तिम दृश्य में जब वह रत्नावली का हाथ राजा बने हुए बाण के हाथ में देने लगी तो सचमुच विचलित हो गई। "नागर जन जब साधु-साधु की आनन्द-ध्वनि से दिगन्त कँपा रहे थे उसी समय यवनिका (पर्दे) के अन्तराल में निपुणिका के प्राण निकल रहे थे। भट्टिनी ने दौड़कर उसका सिर अपनी गोद में ले लिया और कुररी की भाँति कातर चीत्कार के साथ चिल्ला उठीं—"हाय भट्ट, अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया। उसने प्रेम की दो दिशाओं को एक सूत्र कर दिया! और पछाड़ खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर लोट पड़ी।"

अति सामान्य परिस्थितियों में रहते हुए भी, दुनियाँ की दृष्टि में कुलभ्रष्टा एवं पतिता होते हुए भी नारी के भीतर कितना महत्ता छिपी रह सकती है निपुणिका इसका जीवन्त उदाहरण है। हृदय की साधना से, भट्ट एवं भट्टिनी के सामीप्य में वह इस सत्य तक पहुँच चुकी थी कि 'प्रेम एक और अविभाज्य है। उसे केवल ईर्ष्या और असूया ही विभाजित करके छोटा कर देते हैं।' उसके आलोकमय जीवन को देख नर्तकी, चारुस्मिता भी कह उठी थी—'निपुणिका स्त्री-जाति का शृंगार थी, सतीत्व की मर्यादा थी, हमारी जैसी उन्मार्गगामिनी नारियों की मार्ग-दर्शिका थी।" उसने अपने सारे जीवन को तिल-तिल देकर के प्रेम को महिमान्वित कर दिया था। अपने ध्यान में मग्न भट्ट ने देखा "कि निपुणिका स्वर्ग में प्रसन्न भाव से विचरण कर रही है। वह मुस्कुरा कर कह रही है—"मैंने कुछ भी नहीं रखा, अपना सब कुछ तुम्हें दे दिया और भट्टिनी को भी दे दिया। दोनों में कोई विरोध नहीं है। प्रेम की दो परस्पर विरुद्ध दिशाएँ एक सूत्र हो गई हैं।"

निपुणिका की मृत्यु ने बाण, भट्टिनी, सदैव मस्त रहनेवाले कवि धावक तथा सुचरिता आदि सभी को एक शोक-पारावार में निमग्न कर दिया। निपुणिका के चरित्र में लेखक ने प्रेम के उच्च आदर्श को चित्रित किया है।

निपुणिका के समान ही भट्टिनी भी नितान्त कल्पितपात्र है। यद्यपि इस कथा में वह तुवर मिलिन्द की कन्या बताई गई है और तुवर मिलिन्द ऐतिहासिक व्यक्ति है। भाग्य-विडम्बना से विकट समर विजयी अज्ञात प्रतिस्पर्धि सम्राट् तुवर मिलिन्द की यह प्राणाधिका कन्या प्रत्यन्त दस्युओं के हाथ पड़कर स्थाण्वीश्वर के छोटे राजकुल में पहुँचती है जहाँ छोटे राजा की वासना उसे पाने के लिए व्याकुल है। महावराह के चरणों में अडिग निष्ठा रखने वाली इस कुमारी को जब बाणभट्ट ने प्रथम बार देखा तो उसके मन में बार-बार यह प्रश्न उठता रहा कि 'इतनी पवित्र रूपराशि किस प्रकार इस कलुष धरित्री में संभव हुई।' उस पवित्र रूप-राशि को देख उसकी कवि-कल्पना उड़ान भरने लगी थी। निरन्तर पापलिप्त व्यक्तियों के द्वारा उत्पाड़ित भट्टिनी ने भी जब बाण जैसे देवतुल्य पुरुष को देखा तो अनायास उनका हृदय विजित हो उठा। महामाया से अपने हृदय की भावनाओं को प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था—"क्या बताऊँ आर्ये, जिस दिन भट्ट ने मुझसे प्रथम वाक्य कहा था, उस दिन मेरा नवीन जन्म हुआ, उस दिन सूर्य उदयगिरि के तट पर मांगल्य वर्षा कर उदित हुआ था, उस दिन उष-काल ने मेरे सम्पूर्ण जीवन को परम सौभाग्य से भर दिया था। मैंने उस दिन अपनी सार्थकता को प्रथम बार अनुभव किया था। "× × × × भट्ट की वाणी सुनने के बाद मैंने पहली बार अनुभव किया, मेरा यह शरीर केवल भार नहीं है, केवल मिट्टी का ढेला नहीं है—वह उससे बड़ा है। विधाता ने जब उसे बनाया था, तो उनका उद्देश्य मुझे दण्ड देना नहीं था। उन्होंने मुझे नारी बनाकर मेरा उपकार किया था।" भट्टिनी की यह सहजात नारी-अनुभूति उन्हे किसी प्रकार हल्का नहीं बनाती। वह सदैव देवपुत्र की कन्या की मर्यादा के अनुकूल ही वाणी एवं कर्म का उपयोग करती हैं। बाण भट्ट के इतने निकट होते हुए भी उन्होंने कभी आत्म-संयम एवं सतुलन को हाथ से जाने नहीं दिया। हाँ, बाणभट्ट का उन्हें देवी के रूप में पूजना एव उनकी स्तुति करना अवश्य उनकी लज्जा एव संकोच का कारण बनता था। एकाधिक बार तो भट्टिनी अपने को रोक न सकीं और प्रवाह में अपनी भावनाओं को स्वर दे ही दिया—"यह क्या बालकों की भाँति उत्तरल भाव है भट्ट? मैं देवी नहीं हूँ। हाड़-मांस की नारी हूँ × × × मैं हूँ चन्द्रदीधिति—सौ सौ बालिकाओं के समान एक सामान्य बालिका। मैं हूँ तुम्हारी भट्टिनी।"

भट्टिनी के चरित्र में आत्मगौरव, पवित्र भक्ति, आराध्य में अडिग निष्ठा,

हृदय की तरलता, उदारता, निष्कपटता एवं सरल विश्वास के साथ ही साथ गभीर प्रेम, उस प्रेम को सयत रखने की पटुता, मनुष्य को समझने परखने की व्यवहार-बुद्धि आदि गुणों का सफलता से समन्वय किया गया है। उन्होंने सदैव यही प्रयत्न किया कि उनके किसी बात या आचरण से भट्ट का जी न दुखे और यदि कभी निपुणिका ने भट्ट के भोलेपन अथवा उसके किसी आचरण पर आक्षेप भी किया तो, भट्टिनी ने उसे रोकने का प्रयत्न किया। प्रिय के सदैव इतने निकट रहने पर भी मर्यादा-ज्ञान एवं बाण के निर्विकार-स्वभाव ने भट्टिनी को कभी खुल कर अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का अवसर न दिया और उनके भीतर सदैव एक सघर्ष छिड़ा रहा। बाण के प्रति निपुणिका की भावनाओं को जानते हुए भी उनके भीतर किंचित् ईर्ष्या एव असूया का उदय नहीं हुआ और वे उसे अत्यधिक प्यार करती रही। निपुणिका की मृत्यु पर कुररी की भाँति उनका कातर चीत्कार बड़ा ही मर्म-विदारक है। भट्ट से अन्तिम बार विदा होते समय की उनकी व्यथाकातर वाणी भी सहृदयों को व्यग्र कर देती है। लेखक ने बड़े ही सूक्ष्म, सजग स्पर्शों से भट्टिनी की अलौकिक रूपराशि एव भाव-सघर्षों को चित्रित करने का प्रयत्न किया है।

कथा के उपर्युक्त तीनों ही प्रधान पात्र पाठक के हृदय पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाते हैं और पुस्तक बन्द कर देने पर भी निपुणिका, भट्टिनी तथा बाण के चित्र बहुत दिनों तक हमारे सामने बने रहते हैं। इन पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्रों का चित्रण भी इस रूप में हुआ है कि उनके चरित्र का पक्ष-विशेष मोहक रूप में उभर आया है। कुमार कृष्ण, आचार्यपाद सुगतभद्र, अघोर भैरव, महामाया, सुचरिता, बाभ्रव्य, आदि सभी पात्रों के चित्र जीवन्त एवं प्रभावपूर्ण हैं।

तत्कालीन राजनीतिक अवस्था, धार्मिक मत-मतान्तर, सामाजिक रीति-नीति आदि के चित्रण की दृष्टि से भी 'आत्मकथा' महत्त्वपूर्ण है। देश-काल-चित्रण में प्राचीन काव्य-इतिहास ग्रथों के गम्भीर अध्ययन का कुशलता से उपयोग किया गया है। उस समय वर्धन वंश अपने तेज की पराकाष्ठा पर था। महाराजाधिराज श्री हर्षवर्धन ने अपने बहनोई मौखरि नरेश ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद उनका राज्य भी अपनी छत्रच्छाया में ले लिया था तथा मौखरि-नरेश के सम्बन्धियों को उचित सम्मान-वैभव देकर उन्हें तथा जनता को शान्त कर रखा था। कभी-कभी राज-नीति के विचार से मौखरि राजवंश के इन दावेदारों के उच्छृंखल व्यवहारों को भी सहन किया जाता था। पूर्व में चरणाद्रि दुर्ग तक कान्यकुब्जेश्वर का राज्य था। इसके बाद के देशों में अराजकता थी। उधर के आभीर सामन्तों में गुप्तों के प्रति तब भी निष्ठा थी। महाराजाधिराज हर्ष तथा उनके भाई कुमारकृष्ण ने बड़ी नीति-पटुता से शासन-सूत्र सम्भाला था। पश्चिमोत्तर प्रदेशों में प्रत्यन्त-दस्युओं के आक्रमण

का भय बना रहता था। देवपुत्र तुवर मिलिन्द ने अपने प्रबल पराक्रम से इन्हें बार-बार हराया था। इन ऐतिहासिक तथ्यों को बड़ी कुशलता से कथा में नियोजित किया गया है जिससे तत्कालीन राजनीति का एक स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। धार्मिक दृष्टि से वह युग वैदिक तथा बौद्ध धर्म के संघर्ष का है। इनके साथ-ही-साथ विभिन्न प्रकार की वाम मार्गीय साधना-पद्धतियाँ भी प्रचलित थीं। वैदिक विद्वानों के गृह वेदाध्यायियों से भरे रहते थे। उनके घर की शुक-सारिकाएँ भी विशुद्ध मन्त्रोच्चारण कर लेती थीं। उनके घर यज्ञ-धूम से धूमायित रहते थे। बौद्धों में बाह्याडम्बर बढ़ रहा था। यद्यपि उनमें सुगतभद्र जैसे उदाराशय विद्वान् एव धर्म के मर्मज्ञ आचार्य भी थे किन्तु वसुभूति जैसे पाखण्डी भी थे। वैष्णवों एवं बौद्धों में अपने-अपने धर्म की रक्षा एवं उसकी श्रेष्ठता के प्रतिपादन का जोश था। तार्किक पण्डितों एवं बौद्ध-विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ भी हुआ करते थे। 'कथा' में विरतिवज्र और सुचरिता के प्रसंग की योजना करके वैष्णव-बौद्ध संघर्ष के स्वरूप को चित्रित करने का सफल प्रयत्न किया गया है। महामाया भैरवी, अघोर भैरव, अघोर घण्ट, चण्डमण्डना आदि के प्रसंगों का समावेश करके विभिन्न वाममार्गी साधना-पद्धतियों का सफलता से वर्णन किया गया है। जनता में ज्योतिषियों आदि पर विश्वास था। राजा पाडित्य का आदर करता था। जनता में आमोद-प्रमोद के विभिन्न साधन थे। नाटक-मण्डलियों द्वारा अभिनीत नाटकों को देखने का राजा-प्रजा दोनों में उत्साह था। बडे-बड़े नगरों में प्रसिद्ध नर्तकियाँ थीं और मद-व्यवसायी भी। राजाओं के अन्त-पुर में विलास का वातावरण था और राजा एकाधिक रानियों से विवाह करते थे। 'कथा' में राजमहल, अन्त पुर, राजदरबार, राज-मार्ग, हाट-बाजार, बौद्ध विहार, उद्यान, वाटिका, सरोवर, उत्सव, जुलूस आदि का स्थान-स्थान पर विशद एव चित्रोपम वर्णन है। विभिन्न वर्गों की वेश-भूषा, रीति-नीति, बातचीत के सजीव वर्णन से वह युग विभिन्न परिवेश में प्रत्यक्ष हो उठा है। इतिहास और कल्पना का ऐसा सुन्दर समन्वय अन्यत्र विरल ही है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में जीवन के प्रति एक शाश्वत एव उदार दृष्टि है। सामान्यत धर्म और अधर्म का जो माप दण्ड है उसमें बड़ी विषमता है। "जितने बँधे-बँधाए नियम और आचार हैं उनमें धर्म अँटता नहीं। वह नियमों से बड़ा है, आचारों से बड़ा है।" साधारणत दुनिया की दृष्टि में निपुणिका कुलभ्रष्टा है, पतिता है किन्तु अत्यन्त निकट सम्पर्क में आकर सहृदय बाण उसमें गुण ही गुण पाता है दोष कुछ भी नहीं--"निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा की पात्र हो सकती थी, पर हुई नहीं। × × × × वह हँसमुख है, कृतज्ञ है, मोहिनी है, लीलावती है—ये क्या दोष है?" किन्तु इतने

गुणों के होते हुए भी वह नारी "निदारुण दुःख की भट्ठी में आजीवन जलती रही।" इसका कारण क्या है ? "वास्तव में दोष उस नारी में नहीं है किसी और वस्तु में है, जो उसके सारे सद्गुणों को दुर्गुण कह कर व्याख्या कर देती हैं। वह वस्तु क्या है ? निश्चय ही कोई बड़ा असत्य समाज में सत्य के नाम पर घर बना बैठा है।" सामान्य मनुष्य जिस कार्य के लिए लाछित होता है उसी कार्य के लिए बड़े लोग सम्मानित होते है। तो क्या छोटा सत्य बड़े सत्य का विरोधी होता है ? इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए अघोर भैरव ने विरतिवज्र से कहा था—"देखो विरति सत्य अविभाज्य है। तुम्हारे बौद्ध दार्शनिकों ने सवृति सत्य (व्यावहारिक सत्य) और परमार्थ सत्य कह कर उसे विभक्त करने का दम्भ फैलाया है। मानो ये परस्पर विरुद्ध हों। जो मेरा सत्य है, यदि वह वस्तुत सत्य है, तो वह सारे जगत का सत्य है, व्यवहार का सत्य है, परमार्थ का सत्य है, त्रिकाल का सत्य है।" वास्तव में नरलोक से लेकर किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है। हृदयस्थित इस शाश्वत सत्य को पहचानना, पाना ही मानव का चरम उपेय है। सुख और दुःख के वास्तविक स्वरूप को भी हम नहीं समझ पाते—"लौकिक मानदण्ड से आनन्द नामक वस्तु को नहीं मापा जा सकता। दुःख तो केवल मन का विकल्प ही है, मनुष्य तो नीचे से ऊपर तक केवल परमानन्द स्वरूप है। अपने को विशेष भाव मे दे देने से ही दुःख जाता रहता है, परमानन्द प्राप्त होता है।" निपुणिका, भट्टिनी तथा बाण तीनों ही के जीवन से यही सत्य ध्वनित होता है।

आगे (पृष्ठ २८९ पर) कहा जा चुका है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में लेखक ने संस्कृत की कथा-आख्यायिका शैली की अनुरूपता लाने का प्रयत्न किया है। प्रारम्भ के 'कथामुख', अंत के 'उपसंहार', वन्दना के द्वारा कथारम्भ, उच्छ्वासों में उसके विभाजन तथा लम्बे अलंकृत वर्णन आदि को देखकर यह सहज ही कहा जा सकता है कि लेखक ने उपर्युक्त पुराने ढाँचे को अपने सामने रखा था। किन्तु यह अनुरूपता अधिकांश स्थूल एव सीमित है। वास्तव में इस कृति की, रूप शिल्प एवं भाषा-शैली सम्बन्धी अपनी स्वतन्त्र आन्तरिक विशेषताएँ हैं जिनमें पर्याप्त मौलिकता एवं नवीनता है। लेखक ने बाणभट्ट के द्वारा उसके जीवनानुभवों का वर्णन कराया है। इस वर्णन-क्रम में घटना-चमत्कार के विधान का कौशल तथा सजीव चरित्र-सृष्टि की कला का सुन्दर समन्वय हुआ है। कथानायक को एक असाधारण परिस्थिति से सकुशल निकाल कर दूसरी असंभावित, अप्रत्याशित परिस्थिति मे डालते हुए कथा को अग्रसर रखा गया है। यह 'रोमांटिक' प्रवृत्ति इस कथा की विशेषता है। निरन्तर नूतन परिस्थितियों की योजना से पाठक का औत्सुक्य-वृद्धि होती चलती है और अनेक स्थलों पर तो ऐयारी के कौशल मिलते हैं। किन्तु इस घटना-चमत्कार-

विधान के साथ ही साथ चरित्र-विकास पर भी पूरा ध्यान रखा गया है और आरम्भ से अंत तक चारित्रिक विशेषताओं का सफल निर्वाह करते हुए जीवन्त व्यक्तित्व के निर्माण का सफल प्रयत्न किया गया है। वास्तव में विभिन्न परिस्थितियों का निर्माण ही चरित्र को पूर्णरूपेण परिस्फुट करने के लिए तथा देशकाल-वर्णन के लिए हुआ है। घटना, चरित्र तथा देश-काल तीनों ही परस्परापेक्षी हैं।

इस सम्पूर्ण उपन्यास में द्विवेदीजी के व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों की स्वच्छन्द वर्णनशैली बड़े ही मनोरम ढंग से व्यवहृत हुई है। बाणभट्ट बड़े ही आत्मीय एवं मनमौजी ढंग से कथा का आरम्भ करता है और बड़ी तल्लीनता से विभिन्न प्रसगों का उल्लेख करता हुआ अग्रसर होता है। भाषा, प्रसंग के अनुरोध से नवीन रूपरंग बदलती चलती है। कहीं तो वह बड़ी ही चलती हुई, व्यावहारिक एवं परम आत्मीय है और कहीं—विशेषतया रूप-रंग, शोभा, प्रकृति आदि के वर्णन में—संस्कृत तत्सम पदावली युक्त एवं अलंकृत हो उठी है। जिस समय कवि की कल्पना उद्बुद्ध होती है तो उसके उपमानों का वैभव देखते ही बनता है। स्वच्छन्द निबन्ध शैली के अनुसार ही कथानायक के वर्णनों में मनोरम विषयान्तर मिलते हैं और अनेक स्थानों पर आधुनिक 'स्मृत्यालोक' पद्धति का सुन्दरता से उपयोग किया गया है। भाव-परिवर्त्तन के चित्रण में बड़े ही सूक्ष्म निरीक्षण एवं सतर्क वर्णन-कौशल का परिचय मिलता है। अप्रत्याशित एव नाटकीय ढंग से नये प्रसगों के समावेश-कौशल ने कथा को अद्भुत रंजकता प्रदान की है। प्राचीन काव्य-ग्रन्थों की उक्तियों की कथा-प्रसग के भीतर ही अनेक स्थानों पर चमत्कार-पूर्ण व्याख्या मिलती है। सवादों में पर्याप्त विदग्धता, हार्दिकता एवं रसात्मकता है।

रांगेय राघव

इधर के लेखकों में रागेय राघव में उपन्यास लिखने की अच्छी प्रतिभा है। 'घरोंदे' (१९४१), 'मुर्दों का टीला', 'विषाद मठ' (१९४६), चीवर (१९५१) 'सीधा सादा रास्ता' (१९५१), 'हुजूर' (१९५२), 'काका' (१९५३), 'कब तक पुकारूँ' (१९५७) आदि उनके अनेक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

'घरोंदे' इनका पहला प्रयत्न है। पुस्तक के एव प्रकरणों के नाम में एक प्रकार की नवीनता है। यह नवीनता उनकी लाक्षणिकता एव व्यंगात्मकता में है। 'इस उपन्यास का विषय जून सन् १९४१ से पहले का है। उस समय तक युद्ध का नागरिक जीवन पर विशेष प्रभाव होते हुए भी सीधा प्रभाव कुछ नहीं पड़ा था। लेखक ने कालेज के वातावरण एव उसकी बहुविध समस्याओं को अपनाया है। पात्रों ने अपने समाज के विभिन्न स्तरों का, तथा अपने देश के विभिन्न

विचारों का एकसाथ चित्रण करने का प्रयास किया गया है और लेखक किसी हदतक इसमें सफल भी हुआ है।

इस उपन्यास का केन्द्रबिन्दु है भगवती जो एक बहुत ही परिश्रमी, मेधावी किन्तु निर्धन छात्र है। उसके व्यक्तित्व में कुछ ऐसा आकर्षण है कि लड़कियाँ सहज ही में उसकी ओर आकर्षित हो जाती हैं। इन्दिरा और लीला दोनों ही उससे स्नेह करती हैं किन्तु अपनी दरिद्रता के ज्ञान से वह आत्मलीन सा रहता है। लवंग भी कालेज की एक बहुत ही चचल एवं फैशनेबुल लड़की है। उसका विवाह होता है भगवती के गाँव के जमींदार के पुत्र राजेन्द्र से। विवाह के उपरान्त ही लवंग अपने मित्रों के साथ गाँव जाती है और भगवती को अपमानित करने के लिए उसे शहर से बुलवा भेजती है। लवग से अपमानित भगवती किसानो में विद्रोह की भावना भरता हुआ पकड़ लिया जाता है। उसी रात शिकार मे राजेन्द्र की मृत्यु हो जाती है और अत्यधिक दु.ख में जमीन्दार साहब भगवती को पुत्र कहकर सम्बोधित करते हैं। सबको मालूम हो जाता है कि भगवती की माँ ने जमींदार से अवैध सम्बन्ध करके भगवती को उत्पन्न किया है। भगवती को इससे मर्मान्तक वेदना होती है और वह फिर शहर लौट आता है। लवंग भी आती है किन्तु कालेज में बदनामी हो जाने से वह फिर गाँव वापस जाती है। जमींदार मृत्यु-शैय्या पर बार-बार भगवती की याद करते हैं। लवंग के पत्र को पाकर, इन्दिरा के अनुरोध पर भगवती गाँव आता है किन्तु आने के पूर्व ही जमींदार की मृत्यु हो जाती है। लवंग समझती है कि वसीयतनामा लवग ही के नाम है। वह उसे भगवती को दे देती है किन्तु भगवती उसे लेने से इन्कार कर देता है। जब वसीयतनामा पढ़ा जाता है तो लोग यह जानकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि वह भगवती के नाम है किन्तु "भगवती ठठाकर हँस पड़ा। उसने कहा—तब तो त्याग करने का यश भी मिल गया। उसने मुड़ कर कहा—लवग! यह मेरा कुछ नहीं। यह सब तुम्हारा है। लवग ने सिर झुका लिया। सुन्दर ने बढ़कर कहा—बेटा आज तूने मेरा सिर ऊँचा कर दिया। मैं अपना सुख किससे कहूँ ?

भगवती ने दोनों हाथ फैला दिये और गद्गद् स्वर से कहा—माँ! और वह छोटा सा शब्द अपनी विराट गरिमा के कारण दूर दूर तक गूँज उठा किन्तु देवताओं ने फिर भी आकाश से एक भी फूल नहीं गिराया।"

कई दृष्टियों से यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण है। इसके पूर्व कालेज के वातावरण का इतना ब्योरेवार चित्रण हिन्दी के अन्य किसी उपन्यास में न मिलेगा, इतने प्रकार के विद्यार्थियों का चित्रण करनेवाला भी यह उपन्यास एक ही है। यथार्थ के साथ-साथ इसमें कुछ आदर्शो की ओर भी सुन्दर सकेत है। पूँजीवाद व्यवस्था

से उत्पन्न विभिन्न पक्षीय विषमताओं की व्यंजना में भी नूतनता है। पात्रों को पूरा विकास-स्वातन्त्र्य दिया गया है और सभी प्रमुख पात्रों में अपनी वैयक्तिकता है। समाज-चक्र में पिसते हुए व्यक्तियों की दुर्बलताओं के चित्रण में भी सहानुभूति दिखाई गई है। इतना बड़ा विश्वयुद्ध छिड़ा तब भी गुलाम देश के नवयुवकों एवं नवयुवतियों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। सम्पूर्ण उपन्यास में नियति, धर्म एव समाज व्यवस्था के प्रति एक प्रच्छन्न व्यंग है।

'मुर्दों का टीला' एक वृहत् उपन्यास है जिसमें मोहनजोदड़ों की सम्मुन्नत सभ्यता, उसके विलास-वैभव आदि के वर्णन के साथ अन्त में दैवी प्रकोप के द्वारा उसके विनाश की कहानी अंकित है। मोहनजोदड़ों के भग्नावशेषों से प्रेरणा लेकर तथा उसमें अपनी कल्पना का योग करके लेखक ने एक सुसम्बद्ध काल्पनिक कथा के माध्यम से उस युग की शासन-प्रणाली एवं जीवन रीति के अंकन का प्रयत्न किया है। यद्यपि इस उपन्यास में सैकड़ों भरती के पृष्ठ हैं जहाँ पाठक ऊब जाता है। फिर भी नये-नये प्रसंगों की उद्भावना एव उनकी वर्णन-रीति में पर्याप्त मनोरजकता है। सुदूर अतीत में पैठकर अपनी कुशल कल्पना से उस युग के पुनर्निर्माण का यह अभिनव प्रयत्न सराहनीय है। स्थान स्थान पर रोमाचकर घटनाओं एवं करुणा प्रसंगों द्वारा पाठक के मन को तल्लीन कर देने में यह उपन्यास सफल रहा है।

'विषाद मठ' मे वगाल के अकाल में क्षुधातुर नरनारियों का यथार्थ चित्रण है। भूख का ज्वाला कितनी भयंकर होती है और वह मानव को कितना दयनीय बना देती है इस उपन्यास में इसका जीता-जागता चित्रण मिलेगा। पेट की ज्वाला के आगे स्नेह एवं नैतिकता के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं और मनुष्य की मनुष्यता समाप्त हो जाती है। हाहाकार करते हुए असख्य अधमरे नरकंकालों का यह चित्रण बड़ा ही करुणाजनक तथा वीभत्स हो उठा है। एक ओर तो बुभुक्षितों की आर्त्तचीत्कार और दूसरी ओर पूँजीपतियों की स्वार्थपरता एव नृशसता की विषमता के चित्रण में लेखक की व्यग्यात्मक शैली ने बड़ा तीखापन भर दिया है। यथार्थवादी परम्परा का यह एक सफल उपन्यास है।

'चीवर' ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें सम्राट हर्षवर्धन एवं उनकी भगिनी राज्यश्री की प्रमुख जीवन-घटनाओं का वर्णन है। मालव-नरेश देवगुप्त ने मौखरि-नरेश ग्रहवर्मा को छल से मार डाला और साम्राज्ञी राज्यश्री को वन्दिनी बना कर मालव ले गया। राज्यवर्धन ने मालव पर आक्रमण किया और देवगुप्त का वध किया। किन्तु उसी समय छल से गौड़राज शशाक नरेन्द्र गुप्त ने राज्यवर्धन का भी वध कर दिया। इस बीच एक परिचारिका की सहायता से राज्यश्री वन्दीगृह से

निकल भागी और विन्ध्य प्रदेश के जंगलों में भीलों के बीच चिता सजाकर जलने की तैयारी कर रही थी। किन्तु उसी समय हर्ष उन्हें ढूँढते हुए आ पहुँचे और उन्हें वापस ले गये। हर्ष ने मौखरियों के राज्य का भार भी सँभाला और एक सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना की। राज्यश्री को साम्राज्ञी का सम्मान मिला था किन्तु वह बौद्ध-धर्म में दीक्षित होकर अपना अधिकांश समय दुखियों का दुख दूर करने में बिताती थी। राज्यश्री का सम्राट हर्ष पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने शीलादित्य की उपाधि धारण की और प्रति पाँचवें वर्ष प्रयाग में सर्वधर्म सभा करके दान देने की प्रथा प्रचलित की।

प्रयाग की इन सभाओं के छठें अधिवेशन में सम्राट तथा राज्यश्री ने संपूर्ण कोष दान में दे दिया और अंत में हर्ष ने अपने वस्त्राभूषण तक दान में देकर चीवर धारण कर लिया। इस महान् त्याग, सर्वभूतहित, करुणा एवं विश्वमैत्री के पवित्र दृश्य को देखकर चीनी-यात्री युवानच्वांग विभोर हो उठा। इस मूल कथा के बीच छोटी-छोटी प्रासंगिक घटनाओं की कल्पना करके लेखक ने हर्ष तथा राज्यश्री के चरित्र को पूर्णरूपेण प्रकाशित करने का प्रयत्न किया है। इतिहास-तत्व की रक्षा करते हुए भी चरित्र-निर्माण तथा देशकाल-चित्रण का यह प्रयत्न पर्याप्त सफल है।

'सीधा सादा रास्ता'—उपन्यास के "दो शब्द" में लेखक ने कहा है "प्रस्तुत उपन्यास अपने ढंग की नई चीज है। मैंने श्री भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास "टेढ़े मेढ़े रास्ते" के आगे इसे लिखा है। मेरा उपन्यास अपने आप में स्वतंत्र है। इसका केवल एक संबंध अपने पूर्ववर्ती उपन्यास से है कि मेरे पात्र, उनकी परिस्थितियाँ, सामाजिक व्यवहार, घर, भूगोल, संपत्ति सब वही हैं जो "टेढ़े मेढ़े रास्ते" में हैं। कहानी अब आगे चलती है। इन पात्रों का अतीत टेढ़े मेढ़े रास्ते की कहानी है वह सब गुजर चुका है। जब उसकी आवश्यकता पड़ती है तो वह चिंतन बनता है, पूर्व स्मृति बनती है।

मैं नहीं कह सकता कि मैंने पहले उपन्यास का उत्तर लिखा है। किन्हीं विशेष पात्रों, परिस्थितियों का वर्मा जी ने अपने अनुकूल एक विशेष चित्रण किया है। मैं समझता हूँ उसमें कुछ विकृतियाँ हैं। मेरी राय में इन्हीं पात्रों का असली चित्रण नहीं हुआ है। वह अब मैंने अपने अनुकूल किया है। वह विचारों का संघर्ष है।" पुस्तक के आरंभ में 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' पर की गयी डा० रामविलास शर्मा की अत्यन्त तीखी आलोचना भी जोड़ दी गयी है।

किसी उपन्यास के पात्रों को लेकर कहानी के सूत्र को आगे बढ़ाने की दृष्टि से यह उपन्यास एक नया प्रयोग कहा जा सकता है। इसमें लेखक अधिक यथार्थ भूमि पर उतरा है और विचारों के संघर्ष को, भावों के उत्थान-पतन को अपेक्षाकृत

अधिक सूक्ष्मता से आँकने का प्रयत्न किया है। राजा रामनाथ, उनके भाई श्यामलाल, पुत्र दयानाथ और उमानाथ के व्यक्तित्व को मनोवैज्ञानिक भूमिका में उभारने एवं विकसित करने का प्रयत्न किया गया है जिससे उनकी सबलता, दुर्बलता अधिक स्पष्ट होकर सामने आयी हैं। तत्कालीन आंदोलनों के स्वरूप-चित्रण में भी पर्याप्त यथार्थता है। किन्तु आवश्यक ब्योरों के आधिक्य से पुस्तक में स्थान-स्थान पर नीरस इतिवृत्तात्मकता आ गई है। ५७२ पृष्ठों की इस पुस्तक में ऐसे कितने ही पृष्ठ हैं जहाँ पाठक का धैर्य छूट जाता है।

'कब तक पुकारूँ'—भी एक वृहत् सामाजिक उपन्यास है जिसमें जरायम-पेशा समझी जानेवाली नटों की करनट उपजाति के जीवन का चित्रण है। लेखक के अनुसार इन जातियों की 'कोई नैतिकता नहीं होती। इनके मर्द औरत को वेश्या बनाकर उसके द्वारा धन कमाते हैं। ज्यादातर यह लोग चोरी करते हैं। ·· इनकी औरतें डोमिनियों की तरह नाचती हैं। ऊँची जातों के लोग अक्सर डोमिनियों से नाजायज ताल्लुक रखते हैं, पर डोमिनियाँ यह अपने पति को नहीं मालूम होने देतीं। करनटों में छूट है। वहाँ कोई बुराई 'सेक्स' के आधार पर नहीं मानी जाती।·· · पुराने जमाने में यहाँ के करनटों की हर लड़की जब जवान होती थी तब पहले उसे ठाकुरों के पास रात बितानी पड़ती थी। फिर वह करनटों की ही हो जाती थी।·· मैंने इनकी नैतिकता को समाज का आदर्श बनाकर प्रस्तुत नहीं किया है। बल्कि पाठकों को इनमें सेक्स की ऐसी जानकारी के रूप में हासिल करना चाहिए कि यह इनमें होता है। यह सारा खानाबदोश समाज घोर उत्पीड़ित है, शोषित है। न इनके यह सामाजिक नियम शाश्वत हैं, न हमारी नैतिकता के बन्धन ही शाश्वत हैं।'

उपन्यास का कथानायक सुखराम करनट है जो अपने को ठाकुर कह कर उच्च जाति के समान रहना चाहता है। उसका विवाह करनट जाति की प्यारी से होता है और वह सुखी है किन्तु प्यारी एक दारोगा द्वारा भ्रष्ट की जाती है और फिर एक सिपाही की रखेलिन बन जाती है और सिपाही की यौनबीमारियों का स्वयं भी शिकार बनती है। सिपाही और प्यारी सुखराम की दवा से ठीक होते हैं। कजरी अपने पति को छोड़कर सुखराम के साथ रहने लगती है। बाद में प्यारी भी उसके पास आ जाती है और कुछ दिनों बाद उसकी मृत्यु हो जाती है सम्पूर्ण उपन्यास में इन छोटी जाति वालों पर बड़ी जाति वालों के अत्याचार का वर्णन है। सम्पूर्ण वातावरण स्त्रीहरण, बलात्कार, बीमारी, मारपीट, गर्भपात, पुलिस के अत्याचार आदि से विपाक्त है। उपन्यास की वर्णन-शैली बड़ी तीखी होते हुए भी मनोरंजक है। लेखक ने मानव-दुर्दशा के प्रति संवेदना उभाड़ने का प्रयत्न किया है।

वर्णनों में सजीवता है। किन्तु कथानक पूर्णरूपेण सुगठित नहीं है और अनेक वर्णन अनावश्यक विस्तार से लगते हैं।

रांगेय राघव के उपन्यासों को पढ़ने से हमें अनुभव होता है कि इस लेखक के पास उपन्यास-लेखन के लिए ऐतिहासिक एवं सामाजिक जीवन की पर्याप्त सामग्री है। इनका अनुभव विस्तृत और संवेदना गम्भीर है। यथार्थ-वर्णन-कौशल का भी इनमें अभाव नहीं है किन्तु इनके वृहत् उपन्यासों को पढ़कर ऐसा लगता है कि अपने विस्तृत अनुभवों से मार्मिक प्रसंगों को संकलित कर एक सुगठित कथानक में ग्रथित करने की कला को पूर्णरूपेण नहीं अपना पाये हैं। इनकी प्रेरणा का रूप उत्तेजनात्मक अधिक है। फिर भी जीवन के विविध पक्षों के यथार्थ चित्रण की दृष्टि से इनके उपन्यासों का पर्याप्त महत्व है।

अमृतलाल नागर

अमृतलाल नागर में बड़ी मौलिक प्रेरणा, सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति, गहन अनुभूति, मानव-मनोविज्ञान में गम्भीर पैठ, व्यंजक ब्यौरों के द्वारा देश-काल-समाज के चित्रण की असामान्य प्रतिभा तथा विषयानुसार नूतन रूपविधानों की क्षमता है। इन्होंने सामयिक समाज का अनेक पहलुओं से अध्ययन किया है और सामाजिक समस्याओं का निर्भीकता से चित्रण किया है। 'नवाबी मसनद', 'सेठ बाँकेमल' 'महाकाल' तथा 'बूँद और समुद्र' उनकी उपन्यास कृतियाँ हैं और प्रायः प्रत्येक में अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। हास्य-व्यंगमय रेखाचित्र खींचने में नागर जी अद्वितीय हैं और उनके इस गुण से उपर्युक्त कृतियाँ बड़ी सरस हो उठी हैं।

'नवाबी मसनद'—बहुत पहले नागर जी ने हास्यरस का एक अभूतपूर्व साप्ताहिक 'चकल्लस' निकाला था। उसमें एक स्तम्भ था 'नवाबी मसनद' जिसमें धारावाहिक रूप से नवाब साहब और उनके मुसाहबों के जीवन्त रेखाचित्र निकलते रहते थे। इन रेखाचित्रों में पुराने लखनऊ (चौक) के साधारण जनों की बातचीत का बड़ा ही सजीव प्रयोग किया गया है। नवाबसाहब के रहन-सहन, वेषभूषा, खान-पान एवं विचार-व्यवहार के चित्रण में हास्य-व्यंग का पुट देकर लेखक ने बड़ी सजीवता ला दी है। पुरानी पीढ़ी के वातावरण में पले हुए नवाब साहब नई रोशनी के देखने-समझने का प्रयास तो करते हैं किन्तु उनके आसपास जिन खुशामदी एवं मतलबी लोगों का जमघट है वे उन्हें अन्धकार से प्रकाश में आने ही नहीं देते और उन्हें पुराना शानशौकत, विलासिता एवं फिजूलखर्ची के लिए उकसा कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। इस प्रकार दिनों-दिन नवाबी

ह्रास की ओर अग्रसर है। पतनोन्मुखी सामन्ती सभ्यता के चित्रण का यह एक बड़ा ही सफल प्रयत्न है।

'सेठ बाँकेमल'—केवल ११२ पृष्ठों का यह लघु उपन्यास एक अभिनव प्रयोग है। इस उपन्यास में आगरे के सेठ बाँकेमल अपनी दूकान पर बैठे-बैठे अपनी तथा अपने चौबेजी के जवानी के दिनों की मस्ती, जिन्दादिली तथा 'तरबेटी' की कहानियाँ अपने भतीजे (चौबेजी के पुत्र) को सुनाना आरम्भ करते हैं और दूकान बन्द होने तक सुनाते जाते हैं। बीच-बीच में जो ग्राहक आ जाते हैं सेठ जी उन्हें भी निबटाने चलते हैं। जवानी के दिनों में सेठ जी अपने मित्र चौबे जी के साथ जगह-जगह घूमते फिरे। कहीं तो उन्होंने चौबे जी का नाई बनकर जगह-जगह अपनी धाक जमाई और कहीं गोटे के व्यापारी बनकर अनेक लोगों के सम्पर्क में आये। इस दौरान में उनकी जिन्दादिली, बेफिक्री, रोजगार के दाँव-पेंच, रोमांटिक प्रवृत्ति आदि को लेखक ने अपने चित्रण-कौशल से सजीव कर दिया है। सेठजी की बोली खास आगरे की है और उनके लहजे में एक लोच है जो अनायास गुदगुदी उत्पन्न करती है। यद्यपि वह अपनी ओर से प्रत्येक बात गम्भीर बनाकर कहते हैं, स्वयं नहीं हँसते परन्तु पाठक बिना हँसे नहीं रह पाता। प्रत्येक पृष्ठ हास्य-व्यंग से छलक-सा रहा है। उपन्यास अत्यधिक सुगठित, सजीव एवं प्रभविष्णु है।

'महाकाल' में बंगाल के अकाल का वर्णन है। इस विषय पर लिखे गए हिन्दी के अन्य उपन्यासों—रामचन्द्र तिवारी कृत 'सागर, सरिता और अकाल' तथा रांगेय राघव कृत 'विषाद मठ'—में यह सर्वश्रेष्ठ है। इस उपन्यास में लेखक ने बंगाल के एक अकाल-पीड़ित गाँव की आर्थिक, सामाजिक अवस्था का यथातथ्य चित्र अंकित किया है। लोग दाने-दाने को मुहताज हो रहे हैं, भूख की ज्वाला में ठठरी मात्र रह गये हैं, गाँव के बनिए मोनाई की दुकान पर मुट्ठी भर चावल खरीदने के लिए भूखों की भीड़ लगी रहती है। बर्तन-भाँड़े तक बिक चुके हैं और स्त्री के लज्जा-वसन तक के बेंचने की नौबत आ गयी है। दिन-दिन लोग मर रहे हैं और लाशों के अन्तिम संस्कार की भी समस्या उठ खड़ी हुई है। स्वयं इन्हीं मुसीबतों में फँसा हुआ गाँव के स्कूल का अध्यापक पाँचू गोपाल मुकर्जी मूकद्रष्टा-सा बनकर इन हृदय-विदारक दृश्यों को देखता है। लेखक ने गाँव के बनिये मोनाई का चित्र इस कौशल से अंकित किया है कि उस वीभत्स तथा मनहूस वातावरण में भी वह हास्य का आलंबन बन गया है। यह दैवी प्रकोप मोनाई के भाग्योदय का कारण बन गया। अपने स्वार्थ के अतिरिक्त उसके सामने जैसे और कुछ है ही नहीं। नरकंकालों को देख क्षण भर के लिए भी उसके मन में वास्तविक

मानवीय करुणा का उद्रेक नहीं होता। लाशों को भी देखकर उसके मन में यह भावना उठती है कि उन्हें मेडिकल कॉलिज में बेच दिया जाय, चोर बाजारी, जालसाजी, औरतों का विक्रय किसी में भी उसको कुछ अनुचित नहीं दिखाई पड़ता। क्योंकि "व्यापार करने की आज्ञा तो गीता जी में भगवान् जी ने दे दीनी।" अधिक सम्पत्ति हो जाने पर उसके मन में जायदाद-जमीन्दारी खरीदने की इच्छा होती है। और वह जमींदार को भी नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है। सम्पूर्ण उपन्यास में मोनाई का व्यंग चित्र बड़ी ही सजीवता से अंकित है। गाँव के जमीन्दार राजा दयाल का विलास वैभव भी उस मानव-चीत्कारपूर्ण वातावरण में सफेद कोढ़ के समान चमकता है। यह उपन्यास महाजन तथा जमींदार के स्वार्थ-चंगुल में कराहती कंकाल—शेष जनता का मार्मिक चित्र है।

'बूँद और समुद्र' : यह ६०६ पृष्ठों का एक वृहत् उपन्यास है जिसे लेखक ने 'अपने देश के मध्यवर्गीय नागरिक समाज का गुण-दोष भरा चित्र' कहा है। वास्तव में विभिन्न मानसिक एवं सामाजिक अवस्था के स्त्री पुरुषों के बोल-चाल, रहन-सहन, आचार-व्यवहार तथा कार्यकलाप आदि के वर्णन को लक्ष्य बनाकर लिखा गया यह उपन्यास 'गोदान' की परम्परा में सामाजिक यथार्थ के चित्रण का एक उत्कृष्ट साहित्यिक आयोजन है। इस वृहत् उपन्यास में कहानी का अंश अति सूक्ष्म है, पात्रों की बहुलता है और वातावरण-चित्रण पर भी अधिक आग्रह है। एक विस्तृत पट पर विभिन्न परिपार्श्व एवं दृष्टिकोण से देखे गये अनगिनती रूप-चित्रों को एकत्र कर एक चित्र प्रदर्शनी सा उपस्थित कर दी गई है। या यों कहें कि लेखक इसमें विभिन्न कोणों से समाज के फोटो-चित्र लेता चला गया है। यद्यपि इस फोटो-चित्रण की अतिशयता ने कथानक-सौष्ठव में किंचित् बाधा पहुँचाई है किन्तु यथार्थ जीवन के इतने अधिक एवं विविध चित्र अन्यत्र कठिनता से मिलेंगे।

लखनऊ के चौक मुहल्ले या पुराने लखनऊ के सामाजिक जीवन को आधार बनाकर यह उपन्यास लिखा गया है। समुद्र के समान विस्तृत भारतीय जन-जीवन की प्रतिच्छाया को पुराने लखनऊ की सीमा में देखने के प्रयत्न में ही उपन्यास के नाम की सार्थकता है। यद्यपि कथा का सूत्र वृन्दावन तथा कुछ अन्य स्थानों तक फैला है किन्तु ये स्थान गौण हैं, कथा-केन्द्र तो लखनऊ का चौक ही है। इस चौक के अन्तर्गत ही भारतीय समाज के विभिन्न रूपों को, उनकी समस्त कुरूपता-सुरूपता के बीच देखने का प्रयत्न किया है। इस समाज के भीतर विभिन्न स्वभाव एवं चरित्रवाली नारियाँ हैं, अनेक प्रकार के पुरुष हैं।

नारियों में सर्वाधिक प्रभावपूर्ण पात्र है ताई जो लखनऊ के एक रईस की छोड़ी हुई पत्नी है। जीवन की विषम परिस्थितियों ने ताई के भीतर विचित्र प्रकार

की ग्रन्थियाँ डाल दी हैं और विश्वभर की हिंसा तथा घृणा उनके चरित्र में पुंजीभूत हो गई है। वह जादू, टोना, टोटका के द्वारा जैसे सबको मार डालने का संकल्प लिए बैठी हैं। पलग की पाटी में सेंदुर मलने, तकिए में काला डोरा पिरोकर सुई खोंसने, आटे के पुतले बनाकर मारण-मन्त्र चलाने आदि क्रियाओं में उनका अन्धविश्वास है और बराबर कोई न कोई इन क्रियाओं का लक्ष्य रहता है। ताई की हिंसा इतनी प्रबल है कि पति से बदला लेने के लिए वह जादू से उनके नाती को मार डालना चाहती हैं। बच्चे, बूढ़े, जवान सब उन्हें चिढ़ाने में, तग करने में मजा लेते और बदले में उनके द्वारा कोसे और सरापे जाते हैं। वास्तव में ताई के स्वभाव की स्त्रियोचित कोमलता एवं ममता को मिटा डालने में उनके रईस पति एव मुहल्ले वालों की ही पूरी जिम्मेदारी है। परिस्थितियों का चरित्र-निर्माण में कितना हाथ है इसका जीवन्त उदाहरण लेखक ने ताई के रूप में प्रस्तुत किया है। जिस प्रेम के बीज को मनुष्य के तिरस्कार, उपेक्षा, अत्याचार ने बिल्कुल झुलसा दिया था वह अनुकूल परिस्थितियों में अकुरित भी हो उठता है। बिल्ली के बच्चों के प्रति ताई का अनुराग, सजनन जिसे वह प्यार से कन्नोमल के पोते कहकर पुकारती थी—के प्रति उनकी ममता, तारा के प्रसव के समय उनकी उद्विग्नता आदि प्रसग इस तथ्य के सूचक हैं कि उनके भीतर प्रेम का स्रोत बिल्कुल सूख नहीं गया था। केवल ताई के चरित्र का वर्णन ही मानव-स्वभाव में लेखक की गभीर पैठ का सूचक है।

ताई के अतिरिक्त दर्जनों अन्य स्त्रियों के सजीव चित्र उपन्यास में अंकित हैं। इनमें नई, पुरानी, छिपकर घात करने वाली, खुलकर खेलने वाली, अनेक प्रकार की बानगी देखने को मिलेगी। 'नन्दो' जो घर में ही कुटनी का काम करती है, 'बड़ी' जो शराबी पति के प्रेम से वंचित होकर बिरहेश से प्रेम करती है, लाले की पत्नी जो 'एटम बम की तरह बीच में फूटकर भभूती के घर को हिरोशिमा बना देती है', श्रीमती राजदान तथा शीला स्विंग जो नए फैशन एवं नई शिक्षा में दीक्षित होकर पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करती हैं, पातिव्रत का प्रतीक महिपाल की पत्नी कल्याणी और इन सबके बीच कर्तव्य के प्रति जागरूक स्वावलम्बनी वनकन्या आदि के चित्रण में लेखक ने नारी-स्वभाव विश्लेषण का कुशल परिचय दिया है। इन स्त्रियों के स्वभाव-सस्कार, सोच-विचार, कार्य-व्यवहार, भाव ग्रन्थि एव बातचीत आदि के चित्रण में अत्यधिक स्वाभाविकता है।

पुरुष पात्रों में भी विविध प्रकार के, अनेक मनोभूमियों के बहुत से पात्र चित्रित किये गये है। गजक, मूँगफली और कुल्फी बेचनेवाले से लेकर सेक्रेटेरियट के

बाबू, मुहल्ले के सेठ, कथा-वाचक पंडित, डाक्टर, साहित्यकार, साधू, सन्यासी, अनेक वर्गों के व्यक्तियों के व्यंजक रेखाचित्र आँकने का सफल प्रयत्न किया गया है। इनमें सज्जन, महिपाल, कर्नल, रामजी बाबा आदि की कथा किंचित् जमकर अग्रसर हुई है। सज्जन एक चित्रकार है। वह सम्पन्न होते हुए भी सामाजिक विकास एवं सुधार में रुचि रखने के कारण चौक मुहल्ले में, ताई के पड़ोस में ही एक कमरा लेकर रहने लगता है। आज के शिक्षित नवयुवकों की जो मानसिक परेशानियाँ हैं वे सज्जन में भी हैं। वह रूढ़ परम्पराओं की बुराइयों से अवगत है और उसकी बुद्धि उसे प्रेरित करती है कि वह उनका विरोध करे किन्तु उसमें वह मनोबल एवं संकल्प-शक्ति नहीं है कि वह अपने जन्मजात संस्कारों, एव जनमत की उपेक्षा करके नये मार्ग पर अग्रसर हो। वह स्वयं अपने पर ही सयम नहीं रख पाता है—शराब पीता है, वनकन्या से प्रेम करते हुए भी चित्राराजदान के साथ रँगरेलियाँ करता है, समाजवादी होते हुए भी नौकरों के साथ कठोरता का व्यवहार करता है—और उसके भीतर ईर्ष्या, द्वेष, सामाजिक मर्यादा का भय आदि दुर्बलताएँ जड़ जमाकर बैठी हैं। अन्त में चलकर हम देखते हैं कि साधु के उपदेशों से उसके मन में परिवर्त्तन होता है और वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान कर देता है। वनकन्या से विवाह के उपरान्त उसकी जीवन-धारा त्याग के मार्ग पर अग्रसर होती है। उपन्यास में सज्जन के चरित्र एव प्रसंग का सर्वाधिक विस्तार से वर्णन है किन्तु ऐसा लगता है कि 'जहाज का पछी' के नायक की भाँति वह भी केवल तफरीह के लिए, मुहल्ले वालों के बीच रहता है। उसने स्वयं ही अपने लिए कठिनाइयों का सृजन किया है—वे परिस्थितिजन्य नहीं हैं। उसके चरित्र में बड़ा विरोध भी है। बुद्धिवादी होते हुए भी वृन्दावन में वह रहस्योन्मुख हो उठता है। उससे सबल चरित्र तो उसकी प्रेमिका वनकन्या का ही है जो रूढ़ियों से लड़ती हुई विषम परिस्थितियों में भी मानसिक सन्तुलन नहीं खोती और स्वय अपने कलाकार प्रेमी सज्जन के अस्थिर चित्र एवं स्वभाव को स्थिर करने का प्रयत्न करती है।

सज्जन से अधिक सजीव चरित्र महिपाल का है। वह एक बिगड़ा हुआ रईस है, विवाहित है, और है उपन्यासकार। सज्जन की भाँति वह भी विचारों में प्रगतिशील होते हुए भी संस्कार-स्वभाव से रूढ़िवादी है। वह बाहर समाजवाद की, व्यक्ति के अधिकारों की, सामाजिक स्वतंत्रता की चर्चा करता है किन्तु स्वयं अपने व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन में वह क्षुद्रता का आचरण करता है। वह अपनी पत्नी को पीटता है, उसे गाली देता है और पत्नी के होते हुए भी शीला के प्रेम में पागल है। वह सामाजिक सुधार एवं परिवर्तन का आकांक्षी तो है किन्तु उसमें न तो इतनी सूझ-बूझ है और न चरित्र की दृढ़ता है कि रूढ़ियों के बन्धन

को तोड़ सके। बाद में पता चलता है कि ननिहाल में जाकर पढ़ने के समय स्वय महिपाल ने बहुत से गहने चुरा लिए थे। इस रहस्य के उद्घाटन के उपरान्त वह एक पत्र में सारा वृत्तान्त लिख कर आत्म-हत्या कर लेता है। इस अस्थिर चित्त एव दुर्बल स्वभाव वाले कलाकार के मानसिक द्वन्द्वों का चित्रण सज्जन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एव स्वभावानुकूल है।

सज्जन और महिपाल दोनों से ही अधिक सशक्त एव प्रभावशाली पात्र कर्नल तथा रामजी बाबा हैं। कर्नल एक दूकानदार हैं जिनका वास्तविक नाम नगीनचन्द्र जैन है। वह व्यवहार में पूर्ण मानववादी हैं। किसीके कष्ट को देखते ही तुरन्त उसकी सहायता के लिए आगे आ जाते हैं। अपने कठोर परिवारवालों से तिरस्कृता वनकन्या को नगीनचन्द्र शरण और बहन का सा स्नेह देते हैं। पुराने विचारों के रूढ़िवादी उनकी इस सहृदयता एवं मानव-प्रेम पर उनसे कुपित होकर तंग करना चाहते हैं किन्तु वह साहस तथा दृढ़ता के साथ प्रत्येक परिस्थिति का सामना करते हैं। कलाकार सज्जन पर भी उनकी स्नेह-छाया रहती है। सत्य के लिए, मानव दु ख-मोचन के लिए कर्नल सदैव कमर कसकर तैयार रहते हैं। नितान्त बुद्धिवादियों की तरह वह मानसिक ऊहापोह में न रह कर समाज के द्वारा त्रस्त जनों के परित्राण में सलग्न रहते हैं। कर्नल के रूप में लेखक ने एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है जो बाधाओं से घबराता नहीं बल्कि डट कर उनका सामना करता है। रूढ़ियों के उत्पाटन के लिए ऐसे ही व्यक्तियों की आवश्यकता है।

कर्नल से भी अधिक कर्तव्यनिष्ठ, परोपकारी, गम्भीर एवं दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति रामजी बाबा हैं। वह मानव-सेवा को ही जीवन की चरम सार्थकता मानते हैं और पागलों की सेवा में समय बिताते हैं। मनुष्य एवं उसके सद्गुणों में उनका पूरा विश्वास है और मानवता के भविष्य के विषय में वह कभी शकाशील नहीं हुए। कोरे बुद्धिजीवियों के समान वह मानसिक तर्क-वितर्क अथवा ऊहापोह में न पड़कर समाज के बहिष्कृत एवं दुखी व्यक्तियों की सेवा को ही परम धर्म मानते हैं। लेखक ने उनका चरित्र इस रूप में चित्रित किया है कि वह कोरे आदर्श-वादी ही न रहकर बिल्कुल यथार्थ जीवन से लिए गए प्रतीत होते हैं।

यह उपन्यास हमारे समाज में व्याप्त दु ख, दयनीयता, घुटन, बेबसी, अत्याचार, अनाचार, पाशविकता, वीभत्सता आदि को अनावृत कर हमारे सामने रख देता है। अतृप्त प्रेम एव वासना मे घुटने वाली अत्याचारिता बहुएँ, मनुष्य की स्वार्थ-सकीर्णता एव भोगलिप्सा का शिकार बनी तिरस्कृता नारियाँ, रूज, पाउडर, क्रीम, बिन्दी, फैशन, सिनेमा आदि में भटकने वाली आधुनिकाएँ, अन्ध-

संस्कारों में जकड़ी टोना-टोटका, भूत-प्रेत, जन्तर-मन्तर आदि में रमने वाली स्त्रियाँ—जाने कितने प्रकार के नारी-चित्र उपन्यास में अंकित हैं। पुरुष वर्ग में स्वार्थी, दम्भी, शराबी, वेश्यागामी, पत्नी को छोड़ परस्त्री में रमने वाले भोगी, रुपए के बल पर न्याय, धर्म, कला सबको खरीद लेने वाले धनिक, दुर्बल चरित्र-वाले बुद्धिजीवी सुधारक और कलाकार आदि के बड़े ही सजीव चित्र इस उपन्यास में एकत्र हैं। समाज के अन्धकार पक्ष के साथ-साथ प्रकाश को भी देखने-दिखाने का प्रयत्न किया गया है और इसीलिए इसमें निस्वार्थ, त्यागी एवं परोपकारी व्यक्तियों के चित्र भी अंकित हैं। अनेक पात्रों की व्यथा से हमारा मन व्यथित हो उठता है, उदात्त कर्मों से हम प्रेरणा लेते हैं, हास्य-व्यंग प्रसंगों में पुलकित हो उठते हैं। अनेक भाव, अनेक रस उद्रिक्त करने की क्षमता उपन्यास में है। पात्रों की बातचीत ऐसी सजीव, ऐसी हास्य-व्यंग गर्भित हैं कि हम पुस्तक पढ़ते चलते हैं और मन ही मन मुस्कराते भी चलते हैं। छोटे-छोटे व्यंजक ब्योरों के द्वारा वातावरण-चित्रण में नागर जी बड़े ही सिद्धहस्त हैं। इनके वर्णन के प्रभाव से गलियाँ बोल उठी हैं, मुहल्ला जाग पड़ा है। पुरानी हवेली, पीपल के नीचे का चबूतरा, नदी किनारा आदि अनेक स्थान हमारे मानस नेत्रों के समक्ष झूल उठते हैं। देखिए—"कटी-फटी पतंगों, मकड़ी के जालों, घोसलों, चिड़ियों, गिलहरियों और पीपली के दानों से लदा, अनगिनत इन्सानों के चंचल मन-समूह सा हहराता हुआ घना पीपल कई सदियों से मुहल्ले का साथी है। आज के बड़े-बूढ़ों के बचपन तक यह पेड़ गंगे भूरिये के भाड़ का पीपल कहलाता था। मगर वह दीवाल, जो किसी समय किसी गंगे भूरिये का वैभव थी, अब बाबू छेदालाल इन्श्योरेन्स एजेन्ट की मिल्कियत है। म्यूनिसिपैल्टी के रजिस्टर के अनुसार उस मकान का नम्बर ४२० है जो सही तौर पर बाबू छेदालाल की ख्याति में चार चाँद लगाता है।" वास्तव में नागर जी में वातावरण चित्रण तथा व्यंग की अद्भुत क्षमता है। नगर के गली-कूचों, वहाँ की बोली-बानी का इन्हें उतना ही नजदीकी अनुभव है जितना प्रेमचन्द को खेतों-खलियानों का था। अपने समृद्ध अनुभव एवं चित्रण-कौशल से उन्होंने यथार्थवादी वर्णन शैली को विशेष गरिमा दी है।

नागार्जुन

आंचलिक उपन्यास-लेखकों में नागार्जुन तथा फणीश्वरनाथ रेणु ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। इन लेखकों ने उत्तरीबिहार (दरभंगा पूर्णिया) के जन-जीवन को आधार बनाकर अपने उपन्यासों की रचना की है। नागार्जुन का पहला उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' सन् १९४८ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके उपरान्त 'बलचनमा' (१९५२) 'नई पौध' (१९५३), 'बाबा बटेसर नाथ' (१९५४)

आदि अनेक उपन्यास निकल चुके हैं। नागार्जुन को मिथिला के गावों का निकट से परिचय प्राप्त है। निम्न तथा मध्यवर्ग की जनता को सामाजिक-आर्थिक सघर्षों मे घुटते हुए उन्होंने देखा है, देखा ही नहीं स्वयं भी उन्हीं संघर्षों को झेला भी है। उन्होने विभिन्न राजनीतिक पार्टियों की कार्यप्रणाली एवं तथाकथित जननेताओं के व्यक्तिगत जीवन की वंचना को भी निकट से परखा है। अपने राजनीतिक विश्वासों में वे साम्यवादी हैं। उनके उपन्यासों में कांग्रेसी नेताओं के व्यंग-चित्र प्रचुरता से मिलते हैं। उनकी उपन्यास-शैली यथार्थवादी एव व्यग-विद्रूप से पूर्ण है।

'रतिनाथ की चाची'—एक मैथिल विधवा के दुर्भाग्य की कहानी है। वह एक कुलीन ब्राह्मण घराने की संतानवती विधवा थी। उसका पुत्र उमानाथ कहीं बाहर पढ़ रहा था, और पुत्री प्रतिमा विवाहित होकर पतिगृह चली गई थी। घर में उसके जीवन का एक मात्र स्नेहावलम्ब उसके विधुर देवर जयनाथ का पुत्र रतिनाथ था। दरिद्र एवं क्रोधी पिता के लात-घूसों से पीड़ित मातृहीन रत्ती चाची की स्नेह-छाया में ही पला था। एक रात अकेले घर में जयनाथ ने अपनी विधवा भाभी के वैधव्य को बरबस खण्डित किया और उसे गर्भ रह गया। गाँव की स्त्रियों ने उसके इस दुर्भाग्य को कुत्सित चर्चा, व्यग एव विद्रूप का विषय बनाया और उसका सामाजिक बहिष्कार किया। इस अपमान एव लाछन से व्यथित वह बेचारी अपनी माँ के घर चली गई और वहाँ किसी प्रकार एक चमाइन ने उसका पेट हल्का किया और कुछ दिनों बाद वह अपने घर लौट आयी। किन्तु उसे आजीवन गाँव की स्त्रियों एवं अपने पुत्र तथा पुत्रवधू से तिरस्कार ही मिलता रहा और अंत में दुखों की मारी यह अभागी स्त्री अनेक दिनों तक मलेरिया ज्वर से पीड़ित रहकर इस सहानुभूतिशून्य जगत को सदैव के लिए छोड़ गई। उसके दुर्भाग्य का साक्षी, उसका एकमात्र सहारा रतिनाथ ही था। यह मातृहीन बालक चाची की मूकव्यथा को अपने स्नेह से सहला दिया करता था। चाची का अन्तिम संस्कार भी रत्ती के ही हाथों हुआ। लेखक ने चाची तथा रतिनाथ की निरीह सहृदयता, सरलता, उनके प्रपीड़ित एव लांछित हृदय को मनोव्यथा आदि के बड़े ही करुण-कोमल शब्द-चित्र अंकित किये हैं। रत्ती के प्रति चाची की ममता, तथा चाची के लिए रत्ती की भावाकुलता का वर्णन बड़ी सहृदयता से किया गया है।

इस उपन्यास में मैथिल ब्राह्मणों के सामाजिक स्वरूप एव समस्याओं—कुलीन-अकुलीन से उद्भूत समस्याएँ, अनमेल विवाह, बिकौआ वर, युवती विधवा, छूआछूत, भोजभात आदि, का अच्छा वर्णन मिलता है। विभिन्न रूप-स्वभाव वाली ग्रामीण स्त्रियाँ, दोपहर में किसीके आँगन मे जुटने वाली उनकी ज्ञान-गोष्ठी, किर्र्-किर्र् करके काँसों के कटोरों में नाचने वाली उनकी तकलियाँ और पूनी से निकल कर सर्र-सर्र

करता हुआ उनका सूत, चुटकी से नाक के पूड़ों में नस भरने का अभ्यास, एक दूसरे की सुख-दुख की चर्चा, जो उपस्थित न हों उनकी कुत्सा एवं निन्दा, अर्थ, धर्म, काशी, प्रयाग, गंगा, जमुना की बातें, किसका किस रूप में सामाजिक बहिष्कार किया जाय इसकी जुगत आदि को बड़ी सफलता से यथार्थ परिवेश में अंकित किया गया है। देखिए सभा जुटी है—"दम्मो फूफी अपने भतीजे की मसकी हुई चादर में जाली मढ़ रही थी। रामपुर वाली चाची और सन्नो की माँ अपनी-अपनी तकली लिए हुए आई थीं, शकुन्तला को तकिए के खोल पर रंगबिरंगे सूतों से नक्काशी निकालना था। जनककिशोरी के नाखून जरा बड़े-बड़े थे वह नहरनी लेती आयी थी। रामपुर वाली चाची के साथ उसकी दस साल वाली लड़की बागो भी थी। बागो के हाथ में हनुमान चालीसा था।" इन स्त्रियों के रूप-रंग, बोली-बानी, ईर्ष्या-द्वेष, वैयक्तिक एवं सामाजिक आचार-वैषम्य आदि के चित्रण में पर्याप्त सजीवता है। इसी प्रकार मिथिला के पंडितों, जमीन्दारों आदि के रहन-सहन, स्वभाव-संस्कार आदि भी सूक्ष्मता से परख कर वर्णित किये गये हैं।

'बलचनमा' भाषा-शैली की दृष्टि से एक नया प्रयोग है। इसका घटनास्थल है जिला दरभंगा, बिहार और घटनाकाल है १९३७ ई० के शुरू तक। इसका कथानायक बलचनमा (अपनी दादी का बालचन) निम्न श्रेणी का एक देहाती युवक है। बारह वर्ष की उम्र में ही जमीन्दारों के अत्याचार सहता हुआ उनका बाप मर गया और उसे छोटे मालिक के यहाँ भैंस चराने का काम मिला। वहाँ छोटी मलिकाइन गुलाम की तरह उससे काम लेती रहीं। कुछ दिनों के बाद वह मलिकाइन के भतीजे फूल बाबू का खवास होकर उनके साथ पटना, जहाँ वह पढ़ते थे, गया। उसे पहली बार रेलगाड़ी, और स्टीमर पर चढ़ने तथा नई नई जगहों को देखने का मौका मिला और मालिक की किंचित सहृदयता-सहानुभूति मिली। किन्तु फूल बाबू नमक कानून तोड़ते समय गिरफ्तार हो गये और बलचनमा उनके मित्र महेन बाबू के घर आ गया और सेवा-टहल करने लगा। फूलबाबू जब जेल से छूटकर आये और पढ़ाई छोड़कर पूरी तरह कांग्रेस के कार्यकर्ता हो गए तो बलचनमा भी अपने गाँव चला आया और पूरी मुस्तैदी से मजदूरी करके गुजारा करने लगा। किन्तु इसी बीच छोटे मालिक ने बलचनमा की छोटी बहन रेवनी पर बलात्कार करने का प्रयत्न किया और उसकी माँ को बुरी तरह पीटा। उसे भी चोरी के आरोप में फँसाने की कोशिश हुई। फूलबाबू से मदद की आशा में वह उनके पास लहरियासराय के आश्रम में पहुँचा और फूलबाबू को साक्षात गांधी महात्मा की मूर्ति बने देख उसकी सारी श्रद्धा उमड़ आयी। फूलबाबू उससे बड़ी आत्मीयता से मिले किन्तु अपने फूफा के पास पत्र लिखने से

साफ इन्कार कर दिया। आश्रम के व्यवस्थापक राधा बाबू ने उसे आश्रम में ही वालेंटियर रख लिया और वह सेवा-कार्य करने लगा। साथ ही उसे कांग्रेसी आश्रम की कार्यविधि का भी पूरा-पूरा परिचय मिला। पूस के महीने में वह राधा बाबू से ५०) लेकर और कपड़े-लत्ते खरीद कर अपना गौना कराने की उमंग में घर आया। धान की फसल अच्छी हुई थी। मेहनत-मजदूरी से उन्होंने कमा भी लिया था। गौना हुआ, नई वहू आयी और बलचनमा का जीवन रसमय हो उठा। सुगनी (बलचनमा की स्त्री) घर में आ गई तो रेवना का भी गौना हो गया। वह ससुराल चली गई। मेहनत-मजदूरी में बलचनमा की गृहस्थी के तीन साल कट गये। बीच में एक बार बाढ आई, भूचाल आया और लोग बे-घरवार हो गए और सरकारी, गैरसरकारी मदद के नाम पर अफसरों और नेताओं ने खूब खाया। राधा बाबू सोशलिस्ट हो गए थे और बलचनमा की श्रद्धा उनपर बढ़ गई थी। बलचनमा को बटाई पर बहुत सा खेत मिला और वह मेहनत से कमाई करने लगा। लेकिन उसी बीच जमीन्दारों की बेदखली से बचने का किसान आन्दोलन चला। बलचनमा ने इस आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया। मालिक-मलिकाइन की धमकियों का ध्यान न करके वह पूरे मनोयोग से किसानों की अधिकार-रक्षा के लिए जुट गया। एक रात जमीन्दार के आदमियों ने उस पर घातक प्रहार करके उसे धराशायी कर दिया।

लेखक ने बलचनमा को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर तथा भिन्न श्रेणी-स्वभाव वाले व्यक्तियों के सम्पर्क में लाकर एक विशेष (साम्यवादी) दृष्टिकोण से जमीन्दारों एवं राजनीतिक नेताओं के स्वभाव-संस्कार तथा स्वार्थ-संघर्ष को देखने-दिखाने का प्रयत्न किया है। उसकी दृष्टि अत्यन्त पूर्वग्रह-ग्रसित एवं व्यंग्यात्मक रही है। एक निर्धन अहीर परिवार में उत्पन्न होकर भी बलचनमा की चेतना बचपन से ही बड़ी प्रखर है। अपनी माँ और दादी की भाँति भाग्य पर सारा बल देकर मालिक-मलिकाइन को ईश्वर समझने वाला संस्कार उसमें नहीं है। उसमें विद्रोह की चिनगारी है, वस्तुओं के विश्लेषण की बुद्धि है। बचपन से ही जमीन्दार के जुल्म और गरीबी में पला हुआ बलचनमा अनास्तिक एवं कटु हो उठा है और बारह वर्ष की किशोर अवस्था में ही जमीन्दार के द्वारा भगवान की दुहाई दिए जाने पर वह सोचता है—"अच्छा तो भगवान करते ही है? चार परानी का परिवार छोड़कर मेरा बाप मर गया यह भी भगवान ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और माँ आम की गुठलियों का गूदा चूर-चूर कर फाँकती है, यह भी भगवान ठीक ही करते है। और सरकार आप कनकजीर और तुलसी फूल के खुशबूदार भात, अरहर की दाल, परवल की तरकारी, घी, दही, चटनी खाते है, सो भी

भगवान की ही लीला है। चौकोर कलम बाग के लिए आपको हमारा दो कट्ठा खेत चाहिए और हमें चाहिए अपने चौकोर पेट के लिए मुट्ठी भर दाना।" नमक सत्याग्रह (१९३०-३२) के लिए फूल बाबू तथा अन्य लोगों को जाते देख वह हैरान हो जाता है—"मगर भैया मेरी समझ में कुछ नहीं आया। बार-बार मैं यही सोचता कि बाबू को जब जेहल ही जाना था, तो मुझे भी साथ ले जाते। यह जो दस-दस, पाँच-पाँच आदमी कुर्ता, धोती, टोपी पहन कर गले में माला डाले चढ़उआ (बलि देने वाले) बकरे की तरह नमक बनाने जाते थे, सो मुझे बाबू लोगों का एक खिलवाड़ ही लगता था। ऐसे भी कहीं किसी को सुराज मिला है?" इन 'सुराजी' नेताओं के खान-पान, रहन-सहन, व्यवहार-बर्ताव आदि के वर्णन में सदैव उसकी व्यंग-वृत्ति उभर कर आगे आई है।

यह उपन्यास यथार्थवादी चित्रण-शैली का एक उत्कृष्ट नमूना है। बलचनमा ने स्वयं अपने मुख से अपनी जीवन-कथा वर्णित की है। उसके वर्णन में उसकी जनपदीय बोली का पर्याप्त पुट है। उस अंचल में बोले जाने वाले अधिकाधिक शब्दों का बलचनमा के द्वारा प्रयोग करा कर लेखक ने यथार्थता की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। ब्यौरेवार वर्णनों के द्वारा बलचनमा के घर, गाँव एवं वहाँ के निवासियों का चित्र मन पर अंकित हो उठता है। उसका नौ हाथ लम्बा, सात हाथ चौड़ा, दो छप्परों वाला घर और छोटा सा आँगन, पिछवाड़े गिरहथ का पक्की जगत वाला इनारा, दूर तक फैले हुए खेत और पोखरे, घर के बगल में छोटी सी उसकी बाड़ी, चौधरी लोगों की हवेलियाँ, गाछी, कलमबाग, बाँस, पोखर, खद्दोर और चरागाह, मैदान में चरती हुई भैंसे और 'कभी कौड़ी भाँजते, कभी बकरी की सूखी लेंड़ियों से सनघरा खेलते, कभी कंकड़ों से कौवा हुड्डी, मोगल-पठान या बाघ गोटी का खेल' खेलते हुए चरवाहे लड़के, हरे-हरे धान के खेतों में काम करने वाले मजदूर आदि सब एक बार आँख के आगे से गुजर जाते हैं और गाँव को उसके परिपार्श्व में प्रत्यक्ष कर देते हैं। इसी प्रकार बलचनमा ने पटना-यात्रा के अपने अनुभवों एवं सुराजी आश्रम के वातावरण का भी बड़ा सजीव वर्णन किया है।

व्यक्तियों के रूप-आकार, शील स्वभाव, विचार-व्यवहार तथा घटना-प्रसंगों आदि के चित्रण में पर्याप्त स्वाभाविकता है। जहाँ जमींदारों की नृशंसता, दुराचरण, क्रूरता, हृदयहीनता, रैयत को चूसने की चालों आदि का वर्णन है वहाँ लेखनी बड़ी तीखी हो उठी है और चित्र स्पष्ट उभर आये हैं। अपने जीवन की सबसे पहली हृदय-विदारक घटना जिसकी धुंधली स्मृति बलचनमा के हृदय पर अमिट छाप छोड़ गई है वह है ... ..."मालिक के दरवाजे पर मेरे बाप को खंभेला

के सहारे कसकर बाँध दिया गया है। जाँघ, चूनर, पीठ और बाँह—सभी पर बाँस की हरी केली के निशान उभर आए हैं। चोट से कहीं-कहीं खाल उधड़ गई है और आँखों से बहते आँसुओं की टघार गाल और छाती पर से सूखते नीचे चले गए हैं·· ····चेहरा काला पड़ गया है। होठ सूख रहे हैं। अलग कुछ दूर पर यमराज की भाँति मँझले मालिक बैठे हुए हैं। दायें हाथ की उँगलियाँ रह-रह मूँछों पर फिर जाती हैं·· ···उनकी लाल और गहरी आँख कितनी डरावनी है, बाप रे! मेरी दादी काँपते हाथों मालिक का पैर छाने हुए हैं। उसके मुँह से बेचैनी में बस यही एक बात निकल रही है कि दुहाई सरकार की मर जायगा। ललुआ। छोड़ दीजिए सरकार! अब कभी ऐसा न करेगा दुहाई मालिक की। दुहाई माँ-बाप की · और माँ रास्ते पर बैठी हाय हाय करके रो रही है, और मैं भी रो रहा हूँ। मेरी छोटी बहन की तो डर के मारे हिचकी बँध गई है।" और यह अमानुषिक अत्याचार इसलिए हुआ था कि उसका बाप दोपहर के समय दो किसुन-भोग तोड़ लाया था।

जहाँ तक यथार्थ चित्रण का प्रश्न है यह उपन्यास बड़ा सफल उतरा है। सुखी, सम्पन्न वर्ग एवं दुखी सर्वहारा वर्ग की जीवन-दशाओं तथा पहले के द्वारा दूसरे के शोषण, उत्पीड़न आदि के वर्णन बड़े प्रभावपूर्ण हैं। अधिकांश पात्र अपने वर्गों के प्रतीक हैं। किन्तु पुस्तक पढ़ कर लगता है कि लेखक पूर्वग्रहग्रसित है। उसमें वह सन्तुलित जीवन-दृष्टि नहीं है जो प्रेमचन्द में थी। एक वर्ग-विशेष के प्रति वह सहानुभूति से नितान्त शून्य है। जिस सर्वहारावर्ग की दलित, दयनीय अवस्था के चित्रण को उसने प्रमुखता दी है उसके प्रति भी करुणा की भावना जगाने में वह असमर्थ रहा है। लगता है कि लेखक की प्रेरणा नितान्त बौद्धिक है। हमारी आँखों के सामने निरन्तर यथार्थ जीवन के अनेकानेक चित्र आते रहते हैं किन्तु हम उनमें कुछ देर रमते नहीं। जीवन के प्रति एक नितान्त भौतिक दृष्टिकोण ही परिलक्षित होता है।

भाषा की दृष्टि से यह एक नया प्रयोग है। लेखक ने बलचनमा तथा अन्य पात्रों के मुख से जिस भाषा का प्रयोग कराया है उसमें उनकी बोली का बहुत अधिक पुट है। बलचनमा जैसे देहाती के मुख से यही भाषा शोभा देती है।

'नई पौध' में भी मिथिला के एक गाँव का सामाजिक जीवन चित्रित है। गाँव का वातावरण पुराना है, वहाँ के रीति-रिवाज तथा आचार-व्यवहार पुराने हैं। मैथिल ब्राह्मणों का पारिवारिक जीवन, विवाह-सम्बन्धी कुरीतियाँ आदि सभी उसी रूप में चित्रित किए गए हैं जिस रूप में सैकड़ों वर्षों से वहाँ प्रचलित हैं। किन्तु अब नई शिक्षा और रोशनी गाँवों में भी प्रवेश करने लगी है, वहाँ भी

पाठशाला और समाचार-पत्र की सुविधा हो गई है। नगरों में पढ़ने वाले गाँवों के लड़के नया प्रकाश देख आए हैं। यह नई पौध अपेक्षाकृत अधिक उदार एवं मानवीय दृष्टि लेकर गाँव के रंगमंच पर अवतरित हुई है और सामाजिक अन्याय, अत्याचार के उत्पाटन में प्रयत्नशील है। एक गाँव की छोटी सी पट भूमि पर प्राचीन और नवीन का यह संघर्ष बड़ी सजीवता से चित्रित किया गया है।

पुराने मैथिल पंडितों के वंशज, खोखाई झा का पेशा भी पंडिताई था। जथा-जाल मामूली था। विद्या से ही उनकी असल आमदनी थी। भागलपुर, मुंगेर, संथाल परगना और पूर्णियाँ इन चारो जिलों में खोखा पण्डित का नाम था। आवाज सुरीली और मीठी होने से भागवत की उनकी कथा लोग कान पाथकर व मन लगाकर सुना करते थे।' दूर-दूर तक जजमनिका थी। उनकी नतिनी बिसेसरी काफी खूबसूरत थी। रुपये के लोभी खोखा पंडित ने अपनी ६ रूपवती कन्याओं को अपात्रों के हाथ बेच डाला था। और अब बिसेसरी का नम्बर था। फसल तैयार खड़ी थी, कटने भर का विलम्ब था। जेठ के दिन थे। सौराठ (एक स्थान जहाँ ब्याह की बात पक्की होती है) में शादी के उम्मीदवारों का मेला लगा था। वहीं से खोखा पंडित अपनी चौदह वर्षीया नतनी के लिए पाँच लड़कों के बाप, साठ वर्ष के बूढ़े, पंडित चतुरानन चौधरी को, ९००) लेकर ठीक कर लाए। गाँव में यह खबर कानो-कान पहुच गई। नवयुवकों की मंडली ने इसे सारे गाँव का अपमान समझा और इसे रोकने के लिए सचेष्ट हुए। उन्होंने पहले खोखा पण्डित तथा वर को समझाया बुझाया किन्तु कोई परिणाम न देखकर उन्होंने लठैतों को बुलाया और चतुरानन पंडित को गाँव छोड़कर भागना ही पड़ा। बाद में इन्हीं नवयुवकों के प्रयत्न से विश्वेश्वरी का विवाह हँसी-खुशी वाचस्पति नामक एक प्रगतिशील विचारों वाले नवयुवक के साथ हो गया।

नागार्जुन का यह उपन्यास भी यथार्थ जीवन-चित्रण की दृष्टि से उत्कृष्ट है। इसका कथानक सुगठित तथा वर्णन प्रवाहपूर्ण एवं मनोरंजक है। वैयक्तिक तथा सामाजिक विकृतियों के प्रति प्रच्छन्न व्यंग से उपन्यास और भी सरस हो उठा है। व्यक्तियों की रूपाकृति, वेशभूषा, बोली-बानी आदि का ऐसा वर्णन हुआ है कि वे सजीव हो उठे हैं।

'बाबा बटेसरनाथ' : रूप-शिल्प की दृष्टि से यह उपन्यास एक नया प्रयोग है। इसमें एक बट वृक्ष ने रूप धारण कर स्वप्न में एक व्यक्ति से अपनी कहानी कही है। यह कहानी उसकी उतनी नहीं है जितनी गाँव के उत्थान-पतन की, सामाजिक, राजनीतिक, दाँव-पेंच की है। मौजा रूपउली में एक बहुत पुराना बट वृक्ष है। जैकिसुन के परदादा ने इसे रोपा था और यह गाँव के सभी वर्ग के

व्यक्तियों का विश्रामस्थल सा बन गया था। किन्तु जमीन्दारी उन्मूलन के समय टुनाइ पाठक और जैनरायन झा ने राजा बहादुर से बरगद वाली यह जमीन और उधर वाली पुरानी पोखर चुपचाप बन्दोबस्त में ले ली। गाँव वालों ने सुना तो वे क्रोध में सुलग उठे। जैकिसुन को सबसे अधिक चिन्ता हुई और दिन भर का थका-माँदा वह बटवृक्ष के नीचे सोचता-सोचता सो गया। रात को शाखाओं की घनी-हरी झुरमुटों में से बड़े-बड़े सफेद बालों वाला एक विशालकाय मानव निकल आया। वह इस बरगद का मानव-रूप था। उसने जैकिसुन से अपने जन्म एवं विकास की कहानी कहते-कहते रुपौली गाँव के सौ वर्षों का इतिहास कह डाला।

कथन का ढंग परम आत्मीय एवं रमणीय है और रुपौली गाँव अपने प्राकृतिक एवं सामाजिक परिवेश में प्रत्यक्ष सा हो उठा है, पूरब की ओर लहराने वाली झील, खेतों में धान और पाट के लहलहाते पौधे, लिपी-पुती भीतों वाले जगमगाते घर, गाँव के बीच-बीच में बाँसों की झुरमुटें, आम, इमली, जामुन और पाकर-पीपल के छिटपुट पेड़, दूर तक फैला हुआ रजबाँध, भैंस की पीठ पर बैठे गाते हुए चरवाहे, मैला-चीकट, दसियों पैबन्द लगा, घुटनों तक का कपड़ा, सिर पर घोंसलों जैसे बालों के सूखे गुच्छे, गले में नीले काँच के बारीक दानों की एकाध लड़ी, बाहों में, घुटनों पर हाथों पर और पेट पर गुदना गुदाए चौदह-चौदह, सोलह-सोलह साल की छोकरियाँ, गाँव के मामले-मुकदमें, जमीन्दार और उनके गुर्गों की ज्यादतियाँ, टुनाई और जैनरायन पाठक जैसे स्वार्थ-लिप्त व्यक्तियों की कूट चातुरी आदि के ब्योरेवार वर्णन से रुपौली ग्राम का वातावरण अच्छी तरह स्पष्ट हो उठा है। बटेसर बाबा ने भूचाल, बाढ़ आदि का आँखों देखा विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने देवी-देवता के प्रति लोगों की अन्ध श्रद्धा, पूजा-पाठ के ढंग, पशुबलि के रोमांचकर तरीके, बरगद के नीचे जुटने वाली पंचायतों आदि का भी सूक्ष्म-निरक्षित वर्णन किया है। रुपौली के इतिहास का पूर्वार्ध—गाँव के विगत जीवन का वर्णन तो बाबा ने स्वयं किया है किन्तु वर्तमान का वर्णन स्वयं जैकिसुन ने किया है। इसके अन्तर्गत काँग्रेसी शासन एव काँग्रेसी कार्यकर्ताओं की तीव्र व्यंग्यात्मक आलोचना का भी अवसर निकाल लिया गया है।

'वरुण के बेटे' नामक उपन्यास में नागार्जुन ने मछुओं के जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। तरह-तरह की मछलियों के नाम, इन्हें फँसाने की विधि, मछुओं के सामाजिक-जीवन एवं प्रेम-व्यापार आदि का इस उपन्यास में अच्छा चित्रण किया गया है। यहाँ भी नागार्जुन ने राजनीतिक हलचलों का सन्निवेश किया है और किसान-सभा आदि का वर्णन किया है। मधुरी और मंगल का अकृत्रिम प्रेम, मधुरी की कर्तव्यभावना आदि के चित्रण में पर्याप्त रसमयता है।

'दुख मोचन' : इन उपन्यास में नागार्जुन ने एक गाँव की मुसीबतों का वर्णन किया है। इसका नायक स्वयं कष्टों से परेशान होते हुए भी पर-सेवा-रत रहता है। उसके गाँव का नाम है टनका कोइली। यह "कोई छोटा गाँव नहीं है, पाँच हजार से ऊपर की जनसंख्या वाली यह एक भारी बस्ती है। दर-असल यह छोटी-छोटी कई बस्तियों का एक समूह था। बीच-बीच में खेत और बाग फैले हुए थे। उत्तर-पूरब तरफ से कन्नी काटकर एक नदी निकल गई थी। इधर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की पक्की सड़क उधर मीटर गेज की रेलवे लाइन।" इसी गाँव में पला हुआ, मुसीबतों का मारा दुखमोचन वस्तुओं के वास्तविक मूल्य को समझ गया है। उसकी "मुसीबत आडम्बरों को चीर-फाड़ डालती है। झूठ-मूठ की लाज, फिजूल का गुमान, अनावश्यक भावुकता आदि तो उनके सामने टिक ही नहीं सकते।" गाँव में कहीं भी मुसीबत पड़ी, किसीने गुहार लगाई और दुखमोचन वहाँ हाजिर है। वह सच्चा जन-सेवक है और सेवा के मार्ग में कोई भेद-भाव नहीं रखता। उसके सामने गाँव के सुधार का, उसकी उन्नति का स्वप्न है "आगे हम बाँध तैयार करेंगे, पोखरों की मरम्मत करेंगे, कुओं की खोदाई होगी, गाँव की तरक्की के दसों काम होंगे। एक जुट होकर हमें सब करना है।" यह उपन्यास मुसीबतों के मारे गाँवों की उठती हुई नवचेतना को स्वर देता है। स्थानीय रंगों का इसमें भी बाहुल्य है। कथा का केन्द्र-बिन्दु दुखमोचन है और सारी घटनाएँ उसी के चारों ओर घूमती हैं।

नागार्जुन के उपर्युक्त उपन्यासों को पढ़कर लगता है कि उन्होंने मिथिला के गाँवों का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया है। वहाँ के स्त्री-पुरुषों की मनस्थिति, उनकी पुरानी परम्पराओं, जमीन्दार-किसान-संघर्ष, नई राजनीतिक चेतना आदि के साथ-साथ उस शस्यश्यामल भूमि के प्राकृतिक दृश्यों का भी इनके उपन्यासों में सुन्दर चित्रण मिलता है। आंचलिक बोलियों के प्रयोग से इनके वर्णित स्त्री-पुरुष सजीव हो उठे हैं। समाज के प्रति, व्यक्ति के संकुचित स्वार्थों के प्रति इनकी दृष्टि व्यंग्यात्मक है। उन्होंने कांग्रेस, समाजवादी तथा अन्य पार्टी के कार्यकर्त्ताओं की वैयक्तिक कमजोरियों का अधिकाधिक वर्णन करने का प्रयत्न किया है। सामंती जीवन-विधि एवं पूँजीवादी हथकण्डों पर इन्होंने निर्भय प्रहार किया है। आंचलिक उपन्यास-लेखकों में नागार्जुन अग्रगण्य हैं। इनके उपन्यासों में मिथिला-अंचल की भौगोलिक, प्राकृतिक, सामाजिक, राजनीतिक स्थिति के जीवन्त चित्र प्रस्तुत किए गए हैं।

धर्मवीर भारती

भारती के दोनों उपन्यास—'गुनाहों का देवता', तथा 'सूरज का सातवाँ

घोड़ा' पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके हैं—पहला अपने अत्यधिक मनोरम एवं करुणा-सजल प्रेमकथा के कारण और दूसरा नितान्त नूतन रूप-शिल्प के कारण। एक नहीं अनेक सुसंस्कृत रुचिवाले सहृदय पाठकों को कहते सुना गया है कि उन्होंने जितनी बार 'गुनाहों के देवता' को पढ़ा आसुओं के रस में डूब उठे। आज के युग में जब उपन्यास से कथानक-सौष्ठव एव रमणीयता के गुण निकलते जा रहे हैं और वह यथार्थजीवन का विश्रृङ्खल फोटो-चित्र बनता जा रहा है तब भारती के इन उपन्यासों को देख सन्तोष होता है। भारती में 'चिर जाग्रत चिर निर्माणशील कल्पना', 'देश-काल या युग-सत्य के प्रति सतर्कता' और साथ हो अपनी भारतीय परम्परा का ज्ञान एवं उसमें निहित शाश्वत सत्य एव कल्याण को आयत्त करने का आग्रह है।

'गुनाहों का देवता' एक दुःखान्त प्रेम-कथा है। इसका नायक है चन्द्रकुमार कपूर जो प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी रहा है और अब रिसर्च स्कालर है। चन्दर के ऊपर उसके सीनियर टीचर डाक्टर शुक्ला का बड़ा स्नेह है और वह उनके परिवार का सदस्य-सा हो गया है। डाक्टर शुक्ला की एक-मात्र कन्या सुधा आठवीं कक्षा से ही चन्दर के स्नेह-शासन में रही है और वह अनायास उसके अनुराग में रँग उठी है। चन्दर के साथ हँसते-खेलते, लड़ते-झगड़ते, रीझते-खीझते उसके दिन बीते हैं और उसका सम्पूर्ण हृदय, सारा व्यक्तित्व चन्दरमय हो उठा है। चन्दर भी सुधा को बहुत प्यार करता है और डाक्टर शुक्ला तथा सुधा के निश्छल विश्वास एव सहज स्नेह से एक गौरव का अनुभव करता हुआ अपने प्रेम को बहुत ऊँचाई पर रखता है। जाति-व्यवस्था, कुल-मर्यादा, विवाह-सम्बन्ध आदि के विषय में डाक्टर शुक्ला के विश्वास पुराने हैं। सुधा के विवाह की बात चलती है। वह इसका बड़ा विरोध करती है किन्तु चन्दर पापा के प्यार की, अपने अधिकार की चर्चा करके एक प्रकार से जबर्दस्ती उसका विवाह करा देता है। सुधा के जाने के बाद डाक्टर चन्द्रकुमार कपूर में एक विचित्र परिवर्तन आ जाता है। उसका विश्वास खो जाता है और वह सुधा के साथ बड़ी रुखाई का व्यवहार करता है। बाद में वह एक ईसाई लड़की पम्मी के रूपाकर्षण में अपने हृदय को बहलाने लगता है जो कुछ दिनों के बाद स्वयं उसे छोड़कर चली जाती है। दिल्ली में एक बार एकान्त में सुधा से मिलने पर वह उसके प्यार का घृणापूर्वक मजाक उड़ाता है जिससे सुधा अत्यधिक व्यथित हो उठती है। किन्तु बाद में चन्दर के अन्तर्मन ने ही उसे बड़ा धिक्कारा और वह पश्चात्ताप करता है। अन्तिम बार दो दिन के लिए सुधा चन्दर के पास अपने पति के साथ प्रयाग आती है और एक दिन तथा एक रात उस अकेले

चन्दर के साथ रहने का मौका मिलता है। चन्दर अपने अपराधों को स्वीकार करता है और यह भी स्वीकार करता है कि सुधा को खोकर वह टूटता गया है। सुधा बड़े स्नेह से उसे जता देती है कि वह अब भी चन्दर की ही है और वैवाहिक जीवन उसका बड़ा कष्टमय है, यद्यपि पति तथा घर के लोग उसका काफी ध्यान रखते हैं। वह गर्भवती है और अस्थिशेष रह गई है। चन्दर इस बार बड़े स्नेह से उसे तथा कैलाश को विदा करता है। थोड़े ही दिनों बाद दिल्ली से डाक्टर शुक्ला का तार पाकर वह वहाँ पहुँचता है। सुधा का गर्भपात हो गया जिससे वह मरणासन्न है। बेहोशी की हालत में वह बार-बार चन्दर की याद करती है और होश आने पर उसके चरणरज लेती है, किन्तु डाक्टर उसे बचा नहीं पाते और वह पापा को, बिनती को, तथा चन्दर को बिलखता छोड़ चल देती है। चन्दर जो उसका देवता था और जिसने गुनाहों के मार्ग पर चलकर उसे मृत्यु की ओर अग्रसर किया बिल्कुल शून्य-सा हो जाता है।

मुख्य कथा तो यही है किन्तु इससे प्रगाढ़ भाव से आबद्ध, बिनती, गेसू, पम्मी की किंचित् प्रासंगिक कथाएँ भी हैं। बिनती का चन्दर के प्रति भक्तिभाव अथवा चन्दर से पम्मी का प्रेम प्रासंगिक न होकर प्रधान कथा का ही एक अंग है। बर्टी के निष्फल प्रेम एवं पागलपन के वर्णन में भी एक विशेष आकर्षण है। जहाँतक कथानक का प्रश्न है वह बड़ा ही सुगठित एवं सुनियोजित है। कहीं भी कथा को अवरुद्ध करने वाले स्थल नहीं हैं और वह मनोरम भूमियों से होती हुई सरसता के साथ अग्रसर रहती है। चन्दर तथा सुधा के सरस-सुखद व्यवहार, दोनों के प्रेमाकर्षण, तथा भाव-द्वन्द्वों के चित्रण में पर्याप्त रमणीयता है। कथा का केन्द्रबिन्दु सुधा है और आद्यन्त पाठक की दृष्टि उसी पर रहती है। विवाह के पूर्व के प्रसंग सुखद हैं किन्तु विवाह के बाद सारी कथा एक ऐसी व्यथा में डूबकर आगे बढ़ती है कि पाठक का हृदय आर्द्र हो उठता है। मरणासन्न सुधा के जीवन का अन्तिम दृश्य तो बड़ा ही करुणापूर्ण है। सुधा के मुख से निकला हुआ प्रत्येक वाक्य हमारे हृदय को वेदना से भर देता है। पुस्तक बन्द करने पर भी बहुत दिनों तक सुधा की स्मृति सजीव रहती है।

प्रस्तुत पात्रों के चरित्र को पूरा विकास-स्वातन्त्र्य मिला है। चन्दर के स्वभाव, सुधा के प्रति उसके प्रेम, अपने दायित्व के बोध एवं प्रेम-सम्बन्ध में एक उच्च आदर्शात्मक भावना तथा भावुकता के कारण सुधा के विवाह के लिए आग्रह, इस विवाह से उसके हृदय की मूक वेदना, लड़कियों के सम्बन्ध में बर्टी के विचारों की उसके मन पर प्रतिक्रिया तथा तदनुकूल आचरण, पम्मी के मांसल-सौन्दर्य के प्रति उसका सहज मानवोचित आकर्षण, सुधा से एकान्त में मिलने पर उसका नितान्त

अप्रत्याशित आचरण, इस आचरण पर उसके मन की भर्त्सना एवं भाव—परिवर्त्तन, प्रयाग में आई हुई सुधा के स्नेह से पुन उसके देवत्व के उदय एवं निर्वाणोन्मुखी दुखिनी प्रिया के हृदयद्रावक प्रलापों की उसके मन पर प्रतिक्रिया आदि के चित्रण में मानव-मनोविश्लेषण की शक्ति का सुन्दर परिचय मिलता है। आदर्श प्रेम-भावना एवं यथार्थ मानवीय वासना के द्वन्द्व का बड़ा सहज सुन्दर चित्रण चन्दर के चरित्र में मिलता है।

सुधा में द्वन्द्व नहीं है। किशोरावस्था से ही चन्दर उसके जीवन का सर्वस्व बन बैठा है। उससे लड़ने-झगड़ने, रीझने-खीझने, रूठने मनाने में ही उसके प्रारम्भिक जीवन के दिन बीते हैं। चन्दर की कल्पनाओं मे ही वह सोती-जागती है और उसके सुख-स्वास्थ्य की चिन्ता ही उसकी प्रधान चिन्ता है। चन्दर उसके प्राणों में इतना रम गया है कि वह कभी उससे भिन्न जीवन की कल्पना ही नहीं कर पाती। किन्तु जब अपने आदर्शवाद, कर्तव्यभावना एव आत्मगौरव की प्रेरणा से चन्दर ने सुधा को विवाह के लिए बाध्य कर दिया तो उसने अत्यधिक विवशता का अनुभव किया और उसका सारा उल्लास समाप्त-सा हो उठा। वह बहुत रोई, बहुत खीझी। यदि चन्दर विवाह के समय तक निरन्तर उसे बल न देता रहता तो सम्भव है किसी भी क्षण वह विवाह से इन्कार कर देती। विवाह के बाद भी पति ने उसके शरीर को भले ही पा लिया मन को न पा सका। किन्तु चन्दर का अनुगता सुधा ने ससुराल से लौटने पर जब चन्दर की उदासी, खिन्नता, झुँझलाहट देखी, जब उल्लास में भरकर पास आई हुई सुधा को चन्दर ने व्यंग बाणों से विद्ध किया तो सुधा ने हाथ से व्याह वाले चूड़े उतार कर छत पर फेंक दिए, बिछिया उतारने लगी—और पागलों की तरह फटी आवाज में बोली—"जो तुमने कहा मैंने किया, अब जो कहोगे वही करूँगी। यही चाहते हो न!" और अन्त में उसने अपनी बिछिया उतार कर छत पर फेंक दी।' सुधा के सम्पर्क में, उसके निश्छल स्नेह में चन्दर की खिन्नता छूमन्तर हो गई, उसका विश्वास लौट आया। किन्तु उसके जाते ही पिशाच ने पुन उसकी आत्मा को धर दबाया और जब वह दिल्ली में सुधा से मिला तो उसका व्यवहार बड़ा रूखा हो उठा। उसके इस व्यवहार से अत्यधिक पीड़ित हो जब सुधा ने एक दिन एकान्त पाकर अपनी व्यथा निवेदित की तो निराशा में टूटे हुए चन्दर का पशु अपने नग्न रूप में प्रकट हुआ। सुधा मर्माहित सी होकर बोली—"चन्दर, मैं किसीकी पत्नी हूँ। यह जन्म उनका है। यह माग का सिन्दूर उनका है। मुझे गला घोंट कर मार डालो। मैंने तुम्हें बहुत तकलीफ दी है। लेकिन—"

"लेकिन—" चन्दर हँसा और सुधा को छोड़ दिया—मै तुम्हे स्नेह करती हूँ,

लेकिन यह जन्म उनका है। यह शरीर उनका है—ह ! ह क्या क्या अन्दाज हैं, प्रवंचना के ! जाओ सुधा—मैं तुमसे मजाक कर रहा था। तुम्हारे इस झूठे तन में रखा ही क्या है।"

सुधा अलग हटकर खड़ी हो गई। उसकी आँख से चिनगारियाँ झरने लगीं "चन्दर, तुम जानवर हो गये हो; मैं आज कितनी शर्मिन्दा हूँ। इसमें मेरा कसूर है चन्दर ! मैं अपने को दण्ड दूँगी चन्दर ! मैं मर जाऊँगी ! लेकिन तुम्हें इन्सान बनना पड़ेगा चन्दर !" और सुधा ने अपना सर एक टूटे खम्भे पर पटक दिया—"

अपनी देव-प्रतिमा को इस प्रकार पतित होते देख सचमुच ही सुधा ने मृत्यु का व्रत लिया। पूजन-भजन और व्रत-उपवास का सहारा ले वह एक ओर तो अपने मन को शान्ति, विश्वास और पवित्रता से आलोकित करने लगी और दूसरी ओर शरीर को घुलाने लगी। वह सूख-सूखकर काँटा होती गई। इसी बीच उसे नारी-जीवन के दण्डस्वरूप गर्भ भी रह गया और उसका स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया। चन्दर के मन ने स्वयं ही उसे धिक्कारा और धीरे-धीरे उसका विश्वास भी लौटने लगा। कैलाश रीवा जाते हुए सुधा के साथ प्रयाग आया और उसे एक दिन के लिए चन्दर के पास छोड़कर चला गया। चन्दर ने पाया कि विवाह हो जाने पर भी सुधा मन से पूर्ववत् उसी की है, उसका प्यार वेदना से और भी निखर उठा है। उसके मन की ग्रन्थि खुल गई और उसने अपने गुनाहों तथा उनके कारणों को उसके सामने खोल कर रख दिया और बोला—"तुम जो रास्ता बताओ वह मैं अपनाने के लिए तैयार हूँ। मैं सोचता हूँ अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठूँ · · लेकिन मेरे साथ एक शर्त है। तुम्हारा प्यार मेरे साथ रहे !" 'तो वह अलग कब रहा चन्दर। तुम्हीं ने जब चाहा मुँह फेर लिया, लेकिन अब नहीं। काश कि तुम एक क्षण को भी अनुभव कर पाते कि तुमसे दूर वहाँ, वासना की कीचड़ में फँसी हुई मैं कितनी व्याकुल कितनी व्यथित हूँ, तो तुम ऐसा कभी न करते। मेरे जीवन में जो कुछ अपूर्णता रह गई है चन्दर, उसकी पूर्णता, उसकी सिद्धि तुम्हीं हो। तुम्हें मेरे जन्म-जन्मान्तर की शान्ति की सौगन्ध है, तुम अब इस तरह न करना ··· ।" और दोनों का मन पुनः उत्फुल्ल हो उठा। किन्तु कौन जानता था कि सुधा का जीवन-दीपक जल-जल कर क्षीण हो चुका है। उसके जाने के कुछ ही दिनों बाद जब डाक्टर शुक्ला का तार पाकर वह दिल्ली पहुँचा तो वहाँ उसके प्यार की वह अमूल्य प्रतिमा अन्तिम साँसें गिन रही थी। लेखक ने उन क्षणों के वर्णन में कुछ उठा नहीं रखा। मरणासन्न सुधा की बेहोशी में निकले एक-एक शब्द उसकी मर्मान्तिक व्यथा के सूचक हैं। प्रेम की पीड़ा एवं महत्ता उनमें साकार हो उठी है।

इन दो प्रधान पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्र भी बड़े प्रभावपूर्ण हैं। माँ की

गालियों को मूकभाव से सहन करने वाली, गाँव में पली बिनती की सूझ-बूझ, सुधा के प्रति उसके अत्यधिक स्नेह, चन्दर के लिए पूज्य प्रेमानुराग के साथ-साथ उसके चुलबुलेपन आदि के चित्रण में पर्याप्त सरसता है। प्रेम एवं विवाह के कटु-अनुभवों से आहत, अतृप्त प्रेम-वासना का शिकार पम्मी (पामेला डेक्रूज) का चरित्र भी पूर्ण प्रस्फुटित हुआ है। प्रेमिका द्वारा प्रवंचित उसके भाई बर्टी के असगत प्रलापों में भी हृदय की वेदना पूरी तरह उभर आई है। दिन-रात अपनी लड़की को कोसने, सरापने, गाली देने वाली सुधा की बुआ का चित्र एक वर्गविशेष का प्रतिनिधित्व करता है। इस उपन्यास के पात्रों के चित्रण की विशेषता यह है कि किसी-न-किसी रूप में सभी को पाठक के हृदय की सहानुभूति मिली है।

उपन्यास में प्रेम के उदात्त रूप का चित्रण है। इस कथा से यह सहज ही ध्वनित होता है कि प्रेम वही सार्थक है जिससे व्यक्ति के विकास को सहायता मिले, उसका देवत्व जाग्रत हो, जो समाज की उपेक्षा करके नितान्त एकान्तिक न हो उठे, वरन् समाज के कल्याण में जिसका योग हो। जो प्रेम मनुष्य की शक्ति न बनकर उसकी दुर्वलता बने, उसे देवत्व की ओर न ले आकर पशुता की ओर ले जाय उसमें कहीं कोई कमी हैं, दुर्वलता है। इसी दुर्वलता के प्रायश्चित्त का वर्णन करते हुए सुधा ने कहा था "दुर्वलता—चन्दर। तुम्हें ध्यान होगा एकदिन हम लोगों ने निश्चय किया था कि हमारे प्यार की कसौटी यह रहेगी चन्दर कि दूर रहकर भी हम लोग ऊँचे उठेंगे, पवित्र रहेंगे। दूर हो जाने के बाद चन्दर तुम्हारा प्यार तो मुझमें एक दृढ़ आस्था और विश्वास भरता रहा, उसीके सहारे मैं अपने जीवन के तूफानों को पार कर ले गई, लेकिन पता नहीं मेरे प्यार में कौन-सी दुर्वलता रही कि तुम उसे ग्रहण नहीं कर पाए·· ··मैं तुमसे कुछ नहीं कहती। मगर अपने मन में कितनी कुंठित हूँ कि कह नहीं सकती····।" सुधा ने अपने जीवन को होम करके चन्दर के मन की अशान्ति को, पाप को, दुर्वलता को मिटा दिया।

उपन्यास की कथन-शैली अत्यन्त रोचक, रमणीय एव प्रवाह अनवरुद्ध है। पुस्तक पढ़ने के उपरान्त पाठक एक बड़ी ही कोमल करुण अनुभूति से रससिक्त हो उठता है। पुस्तक की भाषा 'रूमानी, चित्रात्मक इन्द्रधनुष और फूलों से सजी हुई' है। रूप के वर्णन में बड़ी कोमल काव्य-कल्पना मिलती है। संवाद बड़े ही सरस, प्रभविष्णु एव भावाभिव्यजन में समर्थ हैं।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' : लेखक के ही शब्दों में 'एक नवीन कथा-प्रयोग', 'एक नए ढंग का लघु उपन्यास' है। इसका नयापन इस बात में है कि कहानी का ढग बहुत पुराना है—"अलफलैला वाला ढंग, पचतन्त्र वाला ढग, बोकेच्छियों वाला ढग, जिसमें रोज किस्सागोई की मजलिस जुटती है, फिर कहानी

में से कहानी निकलती है।"[1] किन्तु भारती ने यह ढाँचा इसलिए अपनाया है कि वह बात को सीधे और खुले ढंग से कह सकें। यह प्रयत्न केवल 'फुरसत का वक्त काटने या दिल बहलाने वाली नहीं है, हृदय को कचोटने, बुद्धि को झंझोड़ कर रख देने वाली है।"[2] भारती के अनुसार "बहुत छोटे से चौखटे में काफी लम्बा घटना-क्रम और काफी विस्तृत क्षेत्र का चित्रण करने की विवशता के कारण यह ढंग अपनाया गया है।"

प्रारम्भिक 'उपोद्घात' में घटनाओं के द्रष्टा एवं वक्ता माणिकमुल्ला का परिचय दिया गया है। माणिकमुल्ला मुहल्ले के मशहूर व्यक्ति थे और पूरे घर में अकेले रहते थे। वहीं दोपहर में मुहल्ले के लड़कों का अड्डा जमता था जिनके लिए माणिकमुल्ला जाड़ों में मूँगफलियाँ और गर्मियों में खरबूजे मौजूद रखते थे। 'पहली दोपहर' को बैठक में माणिक ने जो कहानी सुनाई उसका शीर्षक है "नमक की अदायगी। अर्थात् जमुना का नमक माणिक ने कैसे अदा किया" इसमें बीस वर्षीया यमुना का पन्द्रह वर्षीय माणिक को नमकीन पूए खिलाकर अपने पास बुलाने तथा बातचीत करने का वर्णन है। 'दूसरी दोपहर' को माणिक ने जो कहानी कही उसका शीर्षक था 'घोड़े की नाल, अर्थात् किस प्रकार घोड़े का नाल सौभाग्य का लक्षण सिद्ध हुई।' इसमें एक वृद्ध परन्तु सम्पन्न पति से जमुना के विवाह, उसकी ऊपरी पतिनिष्ठा तथा पूजा-पाठ, रामधन ताँगे वाले के साथ गुप्त सम्बन्ध एवं पुत्र प्राप्ति, पति की मृत्यु, यमुना का रोना-धोना, तथा अन्त में वैधव्य वेश, रामधन का कोठी में ही रहने लगना तथा रामधन के ठाट-बाट का वर्णन है। 'तीसरी दोपहर' को जो कहानी कही गई उसका 'शीर्षक मुल्ला ने नहीं बताया।' इसमें जमुना के प्रिय साथी तन्ना, जिसके साथ वह विवाह की सुखद कल्पनाएँ किया करती थी और जिससे बातें करने में उसे बड़ा आनन्द मिलता था के, दुखद जीवन की कहानी कही गई है। किस प्रकार तन्ना के पिता महेसर दलाल ने पत्नी की मृत्यु के बाद एक रखैल रख ली और उसके प्रभाव से लड़के-लड़कियों पर शासन कितना कठोर हो गया। भूखे रहकर, मार खाकर तन्ना किस प्रकार जमुना की सहानुभूति से अपना दुःख भुलाते, किस प्रकार दोनों के विवाह की बात टूट गई, और तन्ना का विवाह एक इन्टर पास लड़की लीला से हो गया, महेसर दलाल पुलिस से बचने के लिए घर छोड़ कर भाग निकले और किस प्रकार सारा गृहस्थी का भार आर० एम० एस० में एक साधारण क्लर्क तन्ना पर पड़ गया।

---

१. अज्ञेय की भूमिका से।

२. वही।

बेचारे सूख कर काँटा हो गए, बीमार पड़ गए और नौकरी से भी जब बर्खास्त हो गए तो तन्ना की सास उनकी स्त्री को आकर लिवा गई। बाद में जब यूनियन वालों के प्रयत्न से फिर नौकरी लगी तो एक बार कंकाल शेष तन्ना टंकी की झूलती हुई बाल्टी से टकरा कर ट्रेन से गिर गए, उनकी दोनों टाँगे कट गईं और अस्पताल में उनकी मृत्यु हो गई। 'चौथी दोपहर' को माणिक ने जो कहानी सुनाई उसका शीर्षक था 'मालवा की युवरानी देवसेना की कहानी!' इसमें माणिक और लीला के इन्द्रधनुषी रूमानी प्रेम तथा तन्ना के साथ लीला के विवाह के कारण उसके दुखद अन्त का वर्णन है। 'पाँचवीं दोपहर' को माणिक ने 'काले बेंट का चाकू' नामक कहानी सुनाई। इसमें 'पहिया छाप साबुन' के मालिक चमन ठाकुर (जो जाति का नाई और फौज का पेंशनयाफ्ता था) की पोषिता कन्या सत्ती के साथ माणिक की घनिष्ठता का वर्णन है। सत्ती माणिक को अत्यधिक प्यार करने लगी थी। और चमन ठाकुर तथा महेसर दलाल की काम-लोलुपता से बचने के लिए एक रात अपना सब कुछ लेकर माणिक के घर चली आई किन्तु मर्यादाभीरु माणिक ने भाई को खबर दी जिसने सत्ती को चमन के हवाले कर दिया। लोगों का कहना था कि चमन और महेसर ने मिलकर रात को सत्ती का गला घोंट दिया। 'छठवीं दोपहर' को यही कहानी आगे चलती है। सत्ती की मृत्यु के अनुमान से माणिक बेहद व्यथित हुए। उनका स्वास्थ्य बुरी तरह गिर गया और उनका स्वभाव बहुत असामाजिक, उच्छृङ्खल और आत्मघाती हो गया था। एक दिन जब वे चायघर से निकल रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक लकड़ी की गाड़ी में चमन ठाकुर बैठा था और सत्ती गोद में एक भिनकता बच्चा लिए गाड़ी खींचते चली आ रही थी। माणिक को देखते ही सत्ती का हाथ कमर पर गया शायद चाकू की तलाश में, पर चाकू न पाकर उसने फिर प्याला उठाया और खून की प्यासी दृष्टि से माणिक को देखती हुई आगे बढ़ गई।" सत्ती को जीवित देख माणिक के हृदय का बोझ उतर गया और उन्होंने तन्ना के रिक्त स्थान पर आर० एम० एस० में नौकरी कर ली। 'सातवीं दोपहर' को जो कहानी माणिक ने सुनाई उसका शीर्षक था 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' अर्थात् वह जो सपने भेजता है। इसमें माणिक ने सूरज के सात घोड़ों का तात्पर्य स्पष्ट किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि अनेक दोपहरी को मुल्ला ने भिन्न-भिन्न कहानियाँ कहीं किन्तु इन सबमें एकसूत्रता है। प्राय ये सभी कहानियाँ माणिक मुल्ला के व्यक्तित्व से जुड़ी हैं। आर्थिक विषमता, अतृप्त-वासना एवं प्रेम की विभिन्न समस्याओं को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक कहानी के बाद

'अनध्याय' या विराम है। जिसमें मन्ध्या समय लड़के दोपहर में सुनी हुई माणिक मुल्ला की कहानी पर अपने मत व्यक्त करते हैं। यहीं पर लेखक ने समस्या के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। पहली दोपहर को जमुना की कहानी सुनने पर जब शाम को सोते समय चबूतरे पर उसकी चर्चा हुई तो श्याम रुँधे गले से बोला—"नहीं, मैं जमुना को नहीं जानता, लेकिन आज ९० प्रतिशत लड़कियाँ जमुना की परिस्थिति में हैं। वे बेचारी क्या करें। तन्ना से उसकी शादी हो नहीं पाई, उसके बाप दहेज जुटा नहीं पाये, शिक्षा और मनबहलाव के नाम पर उसे मिलीं, 'मीठी कहानियाँ', 'सच्ची कहानियाँ', 'रसभरी कहानियाँ' तो बेचारी और कर ही क्या सकती थीं··· '। दूसरे दिन जमुना और रामधन के गुप्त सम्बन्ध की चर्चा होने पर प्रकाश ने कहा "जमुना निम्न मध्यवर्ग की एक भयानक समस्या है। आर्थिक नींव खोखली है उसकी वजह से विवाह, परिवार, प्रेम सभी की नींवे हिल गई हैं। अनैतिकता छाई हुई है। पर सब उस ओर से आँखें मूँदे हैं। असल में पूरी जिन्दगी की व्यवस्था बदलनी होगी। तन्ना के दुखद अन्त वाली कहानी के उपरान्त 'अनध्याय' के अन्तर्गत लेखक के अर्द्धसुप्त मन में उठे असम्बद्ध स्वप्न-विचारों का वर्णन है जिसमें जमुना, रामधन, घोड़े की नालें, तन्ना, उनके कटे पाँव, टाँगों पर आर० एम० एस० के रजिस्टर, तन्ना का रोता हुआ बच्चा आदि विभिन्न भूमिकाओं में आते-जाते रहते हैं। माणिक और लीला के असफल रूमानी प्रेम की कथा के उपरान्त 'अनध्याय' के अन्तर्गत माणिक के असम्बद्ध स्वप्न का वर्णन है जिसमें जमुना, तन्ना, सत्ती के बच्चों का तन्ना के कटे पैरों के नीचे कुचले जाने तथा माताओं के सिसकने आदि के दृश्य हैं।

'सूरज के सातवें घोड़े' का अर्थ स्पष्ट करते हुए मुल्ला ने बताया—"देखो ये कहानियाँ वास्तव में प्रेम नहीं, वरन् उस जिन्दगी का चित्रण करती हैं जिसमें आज का निम्न मध्यवर्ग जी रहा है। उसमें प्रेम से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विशृङ्खलता और इसीलिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता और अन्धेरा मध्यवर्ग पर छा गया है। पर कोई न कोई ऐसी चीज है जिसने हमें हमेशा अन्धेरा चीर कर आगे बढ़ने, समाज-व्यवस्था को बदलने और मानवता के सहज मूल्यों को पुन. स्थापित करने की प्रेरणा और ताकत दी है। चाहे उसे आत्मा कह लो चाहे कुछ और। और विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा उस प्रकाशवाही आत्मा को उसी तरह आगे ले चलते हैं जैसे सात घोड़े सूर्य को आगे बढ़ा ले चलते हैं।" हमारे जीवन में अनेक बुराइयाँ आ गई हैं किन्तु अब भी जीवन के प्रति आदिम आस्था बनी हुई है। यह अडिग आस्था ही सूरज का सातवाँ घोड़ा है "जो हमारी पलकों में भविष्य के सपने और वर्तमान

के नवीन आकलन भेजता है ताकि हम वह रास्ता बना सकें जिन पर होकर भविष्य का घोड़ा आयेगा।

यह उपन्यास प्रधानतया सामाजिक विकृतियों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है और कुछ बड़ी ही विषम जीवन-स्थितियों को उनके यथार्थ परिवेश में विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से इसमें देखने का प्रयत्न है। इसमें वर्णित अधिकांश प्रसंग दुखांत हैं क्योंकि आज का आर्थिक-सामाजिक ढाँचा ही ऐसा है कि मनुष्य अपने मनोनुकूल अपनी जीवन-गति का संचालन नहीं कर पाता। सामाजिक एवं आर्थिक कारणों से ही जमुना अपने प्रथम प्रेम की कल्पना-मूर्ति तन्ना से न व्याही जाकर एक बूढ़े से व्याह दी जाती है जहाँ वह पति को, समाज को तथा स्वय अपने को धोखा देकर रामधन के द्वारा अपनी वासना-तृप्ति करती है। पढ़ी लिखी, सम्पन्न परिवार की लीला प्यार करती है माणिक को किन्तु सामाजिक निषेधों के कारण व्याह दी जाती है तन्ना से। तन्ना और सत्ती का जीवन भी आर्थिक संघर्षों एवं सामाजिक विकृतियों के बीच नष्ट हो जाता है। "वास्तव में आर्थिक ढाँचा हमारे मन पर इतना अजब-सा प्रभाव डालता है कि मन की सारी भावनाएँ उससे स्वाधीन नहीं हो पातीं और हम जैसे लोग जो न उच्च वर्ग के हैं, न निम्न वर्ग के, उनके यहाँ रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, मर्यादाएँ भी ऐसी पुरानी और विषाक्त हैं कि कुल मिलाकर हम सबों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि हम यन्त्र मात्र रह जाते हैं। हमारे अन्दर उदार और ऊँचे सपने खत्म हो जाते हैं और एक अजब सी जड़ मूर्च्छना हम पर छा जाती है।"

जहाँ तक इस उपन्यास के टेकनिक का प्रश्न है यह सचमुच हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में अकेला है। काल्पनिक कथाकार माणिक मुल्ला को इस रूप में चित्रित किया गया है कि उनके जीवन से सम्बन्धित इन कहानियों में यथार्थता का भ्रम उत्पन्न करने की पूरी क्षमता आ गई है। कुल १२७ पृष्ठों में, सात दिन के भीतर अनेक वर्षों तथा अनेक जीवन-प्रसगों को इस कौशल से चित्रित किया गया है कि प्रत्येक प्रसग तो अपने आपमें पूर्ण है ही सब एक दूसरे से भी सम्बद्ध होकर कथा को एकान्विति प्रदान करते हैं। प्रत्येक कहानी का शीर्षक अजीब एवं आकर्षक है और मूल कथा को बड़ी होशियारी से इस शीर्षक के अन्दर लाने का प्रयत्न किया गया है। एक ही सामाजिक चित्र को अनेक दृष्टि कोणों से दिखाने का कौशल भी निराला है। माणिक मुल्ला के यहाँ की महफिली चहल-पहल, उनके कहानी कहने के नितान्त अनौपचारिक ढंग, अन्त के मनोरंजक निष्कर्ष, समाज एवं व्यक्ति के व्यग विद्रूप तथा हास्य-गर्भित चित्र और सबके अन्तर में व्याप्त

मानव दुःख एवं दयनीयता के प्रति हृदय को कचोटने वाली वेदना आदि ने मिलकर इस उपन्यास को शैलीगत एक विशेष आकर्षण प्रदान कर दिया है।

फणीश्वरनाथ 'रेणु'

नागार्जुन के समान ही रेणु ने भी एक विशेष अंचल को आधार बनाकर उपन्यासों की रचना की है। पूर्णिया जिले के एक छोटे से गाँव में मध्यवित्तीय किसान परिवार में जन्म लेकर तथा सक्रिय राजनीति में भाग लेकर उन्होंने जीवन को अनेक पहलुओं से देखा है। इनके दो उपन्यास—'मैला आंचल' (१९५४) तथा 'परती : परिकथा' (१९५७) प्रकाशित हो चुके है। इन उपन्यासों को पढ़कर विदित होता है कि 'रेणु' ने मैथिल प्रदेश के ग्राम्य-जीवन को बड़े निकट से देखा है। उस अंचल-विशेष के जन-जीवन को सूक्ष्मता से परख कर एवं अपनी तूलिका से स्थानीय रंग भर कर उन्होंने ऐसा वर्णन किया है कि मिथिला की मिट्टी बोल उठी है, वहाँ का लोक-जीवन मुखर हो उठा है। जहाँ तक यथार्थ चित्रों की प्रचुरता का सम्बन्ध है इन उपन्यासों का महत्त्व असंदिग्ध है।

'मैला आँचल' "धूमिल क्षेत्र के एक गाँव के धूमिल, मटमैले, दागदार, जीवन का यथातथ्य, हूबहू''' '' चित्र है। यह गाँव है मेरीगंज (किसी निल्हे साहब की प्रिया का स्मारक) जहाँ 'बारहो बरन' के लोग रहते हैं। गाँव के पूरब कमला नदी है। कमला मैया के 'महातम' के बारे में लोग तरह-तरह की कहानियाँ कहते हैं। गाँव में तीन प्रमुख दल हैं—कायस्थ, राजपूत और यादव। ब्राह्मण लोग तृतीय शक्ति के रूप में हैं। इनमें बराबर मनमुटाव रहा है और झगड़े होते आये हैं। कायस्थ टोली के मुखिया विश्वनाथ प्रसाद मल्लिक राज परवंगा के तहसीलदार हैं। उसी बल पर वह एक हजार बीघे जमीन के काश्तकार हो गये हैं। अंग्रेजी जमाने में रियाया पर काफी अत्याचार किया, जमाना बदलने पर, जमींन्दारी उन्मूलन की तैयारी होने पर तहसीलदारी से इस्तीफा दे दिया। ठाकुर रामकृपाल सिंह राजपूत टोली के मुखिया हैं और खेलावन यादव यादव टोली के नेता। गाँव में एक मलेरिया सेन्टर खुला है और उसमें एक उत्साही नवयुवक डाक्टर प्रशान्त नियुक्त होकर आए हैं। गाँव में एक मठ भी है जहाँ बूढ़े तथा अन्धे महन्थ सेवादास अपनी दासी लछिमी के साथ सत्संग करते हैं। गाँव में राजनीतिक पार्टियाँ भी हैं। बालदेव यादव गन्धी महराज, रजिन्नर बाबू का भक्त काँग्रेसी है, नवयुवक कालीचरन यादव पाखण्ड, अन्याय एवं अत्याचार का निर्भीक विरोधी 'सोशलिस्ट' पार्टी का झंडा लिये फिरता है, सच्चा देश प्रेमी निस्पृह जनसेवक बावनदास (बौना) चर्खा सेन्टर का व्यवस्थापक है। प्रमुख पात्र तो यह। हैं किन्तु इनके अतिरिक्त दर्जनों छोटे-मोटे पात्र हैं।

के नवीन आकलन भेजता है ताकि हम वह रास्ता बना सकें जिन पर होकर भविष्य का घोड़ा आयेगा।

यह उपन्यास प्रधानतया सामाजिक विकृतियों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है और कुछ बड़ी ही विषम जीवन-स्थितियों को उनके यथार्थ परिवेश में विभिन्न दृष्टि-विन्दुओं से इसमें देखने का प्रयत्न है। इसमें वर्णित अधिकांश प्रसंग दुखांत हैं क्योंकि आज का आर्थिक-सामाजिक ढाँचा ही ऐसा है कि मनुष्य अपने मनोनुकूल अपनी जीवन-गति का संचालन नहीं कर पाता। सामाजिक एवं आर्थिक कारणों से ही जमुना अपने प्रथम प्रेम की कल्पना-मूर्ति तन्ना से न व्याही जाकर एक बूढ़े से व्याह दी जाती है जहाँ वह पति को, समाज को तथा स्वय अपने को धोखा देकर रामधन के द्वारा अपनी वासना-तृप्ति करती है। पढ़ी लिखी, सम्पन्न परिवार की लीला प्यार करती है माणिक को किन्तु सामाजिक निषेधों के कारण व्याह दी जाती है तन्ना से। तन्ना और सत्ती का जीवन भी आर्थिक सघर्षों एवं सामाजिक विकृतियों के बीच नष्ट हो जाता है। "वास्तव में आर्थिक ढाँचा हमारे मन पर इतना अजब-सा प्रभाव डालता है कि मन की सारी भावनाएँ उससे स्वाधीन नहीं हो पातीं और हम जैसे लोग जो न उच्च वर्ग के हैं, न निम्न वर्ग के, उनके यहाँ रुढ़ियाँ, परम्पराएँ, मर्यादाएँ भी ऐसी पुरानी और विषाक्त हैं कि कुल मिलाकर हम सबों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि हम यन्त्र मात्र रह जाते हैं। हमारे अन्दर उदार और ऊँचे सपने खत्म हो जाते हैं और एक अजब सी जड़ मूर्च्छना हम पर छा जाती है।"

जहाँ तक इस उपन्यास के टेकनिक का प्रश्न है यह सचमुच हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में अकेला है। काल्पनिक कथाकार माणिक मुल्ला को इस रूप में चित्रित किया गया है कि उनके जीवन से सम्बन्धित इन कहानियों में यथार्थता का भ्रम उत्पन्न करने की पूरी क्षमता आ गई है। कुल १२७ पृष्ठों में, सात दिन के भीतर अनेक वर्षों तथा अनेक जीवन-प्रसगों को इस कौशल से चित्रित किया गया है कि प्रत्येक प्रसग तो अपने आपमें पूर्ण है ही सब एक दूसरे से भी सम्बद्ध होकर कथा को एकान्विति प्रदान करते हैं। प्रत्येक कहानी का शीर्षक अजीब एवं आकर्षक है और मूल कथा को बड़ी होशियारी से इस शीर्षक के अन्दर लाने का प्रयत्न किया गया है। एक ही सामाजिक चित्र को अनेक दृष्टि कोणों से दिखाने का कौशल भी निराला है। माणिक मुल्ला के यहाँ की महफिली चहल-पहल, उनके कहानी कहने के नितान्त अनौपचारिक ढंग, अन्त के मनोरंजक निष्कर्ष, समाज एवं व्यक्ति के व्यग विद्रूप तथा हास्य-गर्भित चित्र और सबके अन्तर में व्याप्त

मानव दु:ख एवं दयनीयता के प्रति हृदय को कचोटने वाली वेदना आदि ने मिलकर इस उपन्यास को शैलीगत एक विशेष आकर्षण प्रदान कर दिया है ।

फणीश्वरनाथ 'रेणु'

नागार्जुन के समान ही रेणु ने भी एक विशेष अंचल को आधार बनाकर उपन्यासों की रचना की है । पूर्णिया जिले के एक छोटे से गाँव में मध्यवित्तीय किसान परिवार में जन्म लेकर तथा सक्रिय राजनीति में भाग लेकर उन्होंने जीवन को अनेक पहलुओं से देखा है । इनके दो उपन्यास—'मैला आंचल' (१९५४) तथा 'परती · परिकथा' (१९५७) प्रकाशित हो चुके हैं । इन उपन्यासों को पढ़कर विदित होता है कि 'रेणु' ने मैथिल प्रदेश के ग्राम्य-जीवन को बड़े निकट से देखा है । उस अंचल-विशेष के जन-जीवन को सूक्ष्मता से परख कर एव अपनी तूलिका से स्थानीय रग भर कर उन्होंने ऐसा वर्णन किया है कि मिथिला की मिट्टी बोल उठी है, वहाँ का लोक-जीवन मुखर हो उठा है । जहाँ तक यथार्थ चित्रों की प्रचुरता का सम्बन्ध है इन उपन्यासों का महत्त्व असंदिग्ध है ।

'मैला आँचल' "धूमिल क्षेत्र के एक गाँव के धूमिल, मटमैले, दागदार, जीवन का यथातथ्य, हूबहू ‥ · " चित्र है । यह गाँव है मेरीगज (किसी निलहे साहब की प्रिया का स्मारक) जहाँ 'बारहो बरन' के लोग रहते हैं । गाँव के पूरब कमला नदी है । कमला मैया के 'महातम' के बारे में लोग तरह तरह की कहानियाँ कहते हैं । गाँव में तीन प्रमुख दल हैं—कायस्थ, राजपूत और यादव । ब्राह्मण लोग तृतीय शक्ति के रूप में हैं । इनमें बराबर मनमुटाव रहा है और झगड़े होते आये हैं । कायस्थ टोली के मुखिया विश्वनाथ प्रसाद मल्लिक राज परबगा के तहसीलदार हैं । उसी बल पर वह एक हजार बीघे जमीन के काश्तकार हो गये हैं । अंग्रेजो जमाने में रियाया पर काफी अत्याचार किया, जमाना बदलने पर, जमीन्दारी उन्मूलन की तैयारी होने पर तहसीलदारी से इस्तीफा दे दिया । ठाकुर रामकृपाल सिंह राजपूत टोली के मुखिया हैं और खेलावन यादव यादव टोली के नेता । गाँव में एक मलेरिया सेन्टर खुला है और उसमे एक उत्साही नवयुवक डाक्टर प्रशान्त नियुक्त होकर आए हैं । गाँव में एक मठ भी है जहाँ बूढ़े तथा अन्धे महन्थ सेवादास अपनी दासी लछिमी के साथ सत्संग करते हैं । गाँव में राजनीतिक पार्टियाँ भी हैं । बालदेव यादव गन्धी महराज, रजिन्नर बाबू का भक्त कॉंग्रेसी है, नवयुवक कालीचरन यादव पाखण्ड, अन्याय एव अत्याचार का निर्भीक विरोधी 'सोशलिस्ट' पार्टी का झंडा लिये फिरता है , सच्चा देश प्रेमी निस्पृह जनसेवक बावनदास (बौना) चर्खा सेन्टर का व्यवस्थापक है । प्रमुख पात्र तो यहा हैं किन्तु इनके अतिरिक्त दर्जनों छोटे-मोटे पात्र हैं ।

लगते हैं। वास्तव में जितेन्द्र से सम्बन्धित कथा—उसका बचपन, उसका अध्ययन-मनन, स्वतन्त्रता-सग्राम में सक्रिय भाग, प्रगतिशील समाजवादी पार्टी की सदस्यता, कुबेरसिंह के द्वारा अपमानित होना, पिता शिवेन्द्रनाथ मिश्र, रानी माँ, मेम-माँ आदि की कथा, गाँव में पुन आगमन, गाँववालों का विरोध, ताजमनी का स्नेह इरावती का आकर्षण आदि—ने ही पुस्तक का अधिकांश घेर रखा है। जितेन्द्र का चरित्र-वर्णन पर्याप्त सुन्दर एवं सशक्त है। नगर के राजनीतिक कुचक्रों एवं छलकपट ने उसके हृदय को रिक्त सा कर दिया है। वह थका-हारा सा गाँव आता है। किन्तु यहाँ का स्वार्थ-सघर्ष और भी गर्हित है। वह कारणों पर विचार करता है। ताजू और इरासे उसे स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती है। वह मनुष्य के साथ मनुष्य के प्राण का योगसूत्र स्थापित करने को सचेष्ट हो उठता है। "प्रतिबन्धन के खोये हुए सूत्र को खोजकर निकालना होगा। नहीं तो इस सार्वभौम रिक्तता से मुक्ति की कोई आशा नहीं।" वह गाँव में अपमानित होता है, गाली सुनता है, चोट खाता है किन्तु बड़े ही सयम एव धैर्य से काम लेकर, गाँव के भूले हुए सांस्कृतिक आयोजनों को पुनरुज्जीवित करके लोगों में आशा, उत्साह एवं उल्लास का बीजारोपण करता है। गाँव वाले उसे पागल कहते हैं, लुत्तो के अनुयायी जालिम, मक्कार, गिरगिट, शराबी, जुआड़ी आदि जाने क्या-क्या कहते हैं। स्त्रियाँ चरित्रहीनता का दोष लगाती हैं। किन्तु उसे कोई जानता नहीं। इतना शान्त, स्वस्थ, सन्तुलित, सरल, लोककल्याणकामी, व्यक्ति गाँव में दूसरा नहीं है। सामन्ती स्वार्थ के कीचड़ में वह कमल के समान खिला है। अन्य लेखकों के समान पूर्वग्रह-ग्रसित होकर रेणु ने उसे चित्रित नहीं किया है। उसके ऊपर पिता से अधिक अपनी आस्थामयी माँ के सस्कार है। लुत्तो उसका विरोध करता है किन्तु लुत्तो के मन के घाव की पीड़ा को समझता है सिर्फ जितेन्द्र नाथ अकेला। ताजू में माँ की प्रतिच्छवि देख वह विभोर हो नठता हैं। ताजू से उसे बड़ा ही सहज स्नेह है। भरी कचहरी में उसने निस्संकोच स्वीकार किया था कि ताजू उसकी रक्षिता है किन्तु वास्तव में बालकों के समान जितेन्द्र ताजू के स्नेह-शासन में स्वयं ही रक्षित है। इन दोनों के प्रेम में कहीं कोई कलुप नहीं। जितेन्द्र के चरित्र में बड़ी उदारता, सदाशयता, विनम्रता एव सरलता है। उसका हृदय मानव प्रीति से भरा हुआ है। वह रघ्घू रामायनी को बुलाने स्वयं जाता है, श्यामा सकीर्त्तन, शामा चकेवा तथा नेका सुन्नरि आदि मार्मिक प्रसंगों में तन्मय हो उठता है। अपने कारिन्दे पुजलधारी लाल के जुल्मों से वह गाँव की रक्षा करता है।

और नायिका ताजमनी उसी के उपयुक्त है। नटिन माँ से उत्पन्न होकर भी उसके सस्कार आभिजात्य है। वह हवेली में पली है। मालकिन माँ का स्नेह पाया

है, उनके विश्वास के योग्य सिद्ध हुई है और अपने 'जिद्दा' को ही अपने जीवन का सर्वस्व समझा है। गाँव वाले उसके सम्बन्ध में कुत्सित संकेत करते हैं किन्तु वह इन सबसे ऊपर है, परे है, पवित्र सुन्दरता की प्रतिमा है। सम्पूर्ण पुस्तक में जित्तन ने इनेगिने चुम्बन ही उसके मुख पर अंकित किये हैं किन्तु उनमें कोई विकार नहीं है। 'सत्त भंग' नहीं हुआ है। उसने जिद्दा को संयता रखा है, ऊँचे उठाया है। जित्तन तथा ताजू दोनों ही वंश-संस्कार के अपवाद हैं। ताजमनी के समान ही इरावती का चरित्र भी बड़ा सशक्त है। वह रिफ्यूजी लड़की है और उसने मानव की पाशविकता के नग्ननृत्य देखे हैं, बलात्कार की वेदना से कितनी ही बार चीखी-चिल्लाई है और जितेन्द्र में उसे प्रथम बार मनुष्यता के दर्शन हुए हैं। वह मन-प्राण से उसे चाहती है। किन्तु उसने कभी उसे नीचे नहीं आने दिया, ऊपर ही उठाया। वह आस्था का प्रतीक है, प्रेरणा का स्रोत है। इन दो महिलाओं के अतिरिक्त रानी माँ, मेम माँ तथा मलारी के चित्र भी बड़े उज्ज्वल एवं सशक्त हैं। रानी माँ की धर्मनिष्ठा, आस्था, पतिप्रेम, मेम माँ का विदेशी महिला होते हुए भी भारतीय पातिव्रत के आदर्शों का पालन, चमार कन्या मलारी का सामाजिक विद्रोह, सवर्ण से विवाह तथा लोकापवाद की उपेक्षा कर अडिग खड़े रहने की क्षमता आदि के चित्रण में बड़ी सजीवता है।

उपर्युक्त पात्रों के अतिरिक्त दर्जनों अन्य स्त्री-पुरुषों के सजीव रेखाचित्र उपन्यास में वर्णित है। जमीन्दार का कारिन्दा मु० जलधारी लाल, जमादर पखारन सिंह, जितेन्द्रनाथ के पिता शिवेन्द्रनाथ मिश्र के खवास लरेना का पुत्र लुत्तो जो गाँव का नेता है और जो जितेन्द्र को गाँव से भगा कर ही छोडेगा, सबसे बड़ा महाजन रोसन बिस्वाँ, गाँव का नारद गरुड़ धुज झा, कतरनी की तरह जीभ चलानेवाली गंगा काकी, गाँव की घरघुमनी सामबत्ती पीसी, नए-नए शब्द तथा विलक्षण विचार प्रकट करने वाले गाँव के 'सिनिक' भिम्मल मामा, 'शेड्यूल' बनाकर ही काम करनेवाले वीरभद्र बाबू सभी अपनी-अपनी विशेष आकृतियों, चेष्टाओं, वेषभूषा, बोली-बानी तथा स्वभाव-संस्कार में सामने घूम जाते हैं। शब्द-चित्र खींचने में रेणु सिद्धहस्त हैं। देखिए :—"कागज लिखते समय मुं० जलधारी लाल कान के बालों को बार बार चुटकी से पकड़े तो समझो किसी रैयत का हक हड़पा जा रहा है। दाद के चकत्तों को आँखें बन्द कर कलम के पिछले हिस्से से खुजलाते समय कानूनी दाव-पेंच सुलझाता है और हठात् मुस्कराये तो समझो मन ही मन कह रहा है—हा हा हा हा हा! तः मारा। जित्तन बाबू के सिवा यह बात कोई नहीं जानता कि मुं० जलधारी लाल छद्मबधिर है।" रेणु के रेखाचित्रों में सर्वत्र प्रच्छन्न व्यंग रहता है और वे मानव-स्वभाव के ऐसे

पारखी हैं कि मनुष्य की कमजोरियाँ उनसे छिप नहीं पातीं। परानपुर का शायद ही कोई व्यक्ति हो जो उनकी हास्य-व्यंगगर्भित लेखनी से बच पाया हो। किन्तु उस लेखनी में कटुता कहीं नहीं है। मानव की दुर्बलताओं के प्रति सहानुभूति से वह लेखनी सरस है। चरित्र-वर्णन के समान ही वातावरण चित्रण-कौशल भी इस उपन्यास में देखते ही बनता है। परानपुर का प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण शब्दचित्रों के सहारे सजीव हो उठा है। यथार्थता की अनुकृति के प्रयत्न में लेखक ने आंचलिक शब्दों एवं ध्वनि-अनुकरण का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है।

उपन्यास का नाम है 'परती परिकथा' अर्थात् परती से सम्बन्धित कथा—धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती · ···। लेखक ने आरम्भ में जनश्रुतियों एवं लोकगीतों के सहारे कोसी मैया के क्रोध की कहानी कही · तदुपरान्त परती के एक छोर पर बसे परानपुर गाँव की वर्तमान अवस्था का चित्र दिया। वर्तमान के साथ ही साथ स्मृत्यालोक तथा सुरपतिराय को मिली मिस रोज उड की डायरी तथा अन्य लोक-कथाओं के सहारे गाँव के अतीत का—जितेन्द्रनाथ के पिता शिवेन्द्रनाथ मिश्र, अंग्रेजी प्लांटर्स, अंग्रेज़ी हाकिमों के रियाया पर जोर-जुल्म आदि का भी विस्तार से चित्रण कर वर्त्तमान पात्रों तथा स्थितियों के लिए जैसे भूमिका सी बनाई। जितेन्द्र के मस्तिष्क में सर्वप्रथम परती को उपजाऊ बनाने की बात उठती है और वह अपने ट्रैक्टर से परती जोतता है और उसमें पेड़ लगाता है। बाद में कोसी-विकास-योजना तैयार होती है और सरकारी प्रयत्न से बाँध बनते हैं और परती के उपजाऊ होने की आशा बँधती है। अन्तिम अध्याय में जितेन्द्र द्वारा आयोजित लोकनाट्य 'पचचक्र' में कोसी क क्रोध—डूबते हुए गाँव, बहती हुई लाशें, करुण-पुकार के दृश्य से लेकर बांध बांधने के प्रयत्न तथा वीरान धरती के रंग बदलने का वर्णन है। दर्शक देखता है "हरे भरे खेत! परती पर रंग की लहरें। × × × सेमल वनी के आकाश में अबीर गुलाल उड़ रहा है। आसन्नप्रसवा परती हँसकर करवट लेती है।" परती की हरियाली के साथ ही साथ रेत के समान रसशून्य मानवहृदय को भी रस से भरने का प्रयत्न किया गया है। इस उपन्यास में परानपुर का प्रत्येक व्यक्ति झूठा, बेईमान, कलहप्रिय, सन्देहशील, स्वार्थरत सा लगता है। मनुष्य पर से मनुष्य का विश्वास जैसे बिलकुल उठ गया है। स्त्रियाँ झगड़ती हैं, पुरुष झगड़ते है। जितेन्द्र ने गाँव के इस कालकूट को पीकर उसमें अमृत रस भरने का प्रयत्न किया और इसके लिए उसने लोकसंस्कृति एव कला का सहारा लिया। इस प्रकार उपन्यास में आस्था का एक प्रबल स्वर है।

यथार्थ वर्णन कला की दृष्टि से यह उपन्यास एक अभिनव प्रयोग है। किन्तु

'मैला आँचल' की शिल्प सम्बन्धी कमजोरी यहाँ भी आ गई है। उपन्यास की वर्णनशैली बिखरी-बिखरी सी लगती है, उसमें प्रवाह नहीं है। शायद जमकर क्रमबद्ध कहानी कहना लेखक को उद्दिष्ट भी नहीं। वह केवल व्यक्ति-वैचित्र्य, यथार्थ सामाजिक वातावरण ही चित्रित करना चाहता है। अतएव वह जल्दी-जल्दी चित्र परिवर्तित करता चला गया है। इतिवृत्तात्मक प्रसंगों, कथा को जोड़ने वाली कड़ियों को उसने पाठक के लिए छोड़ कर अधिकतर शब्दचित्र अंकन में ही सम्पूर्ण कौशल दिखाया है। इस त्रुटि के होते हुए भी यथार्थवादी परम्परा का यह एक उत्कृष्ट आंचलिक उपन्यास है।

'रेणु' के दोनों उपन्यासों से यह धारणा तो दृढ़ हो जाती है कि लेखक में आंचलिक चित्रण की अभूतपूर्व क्षमता है। आंचलिक स्पर्शों के कारण ही, इन उपन्यासों में एक नवीनता और ताजगी का अनुभव होता है। मेरीगंज और 'परानपुर' ही नहीं सारा पूर्णिया जिला अपने भौगोलिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक परिवेश में हमारे सामने से गुजर जाता है। किन्तु इन सब गुणों के होते हुए भी जहाँ तक एक सुगठित कथानक के सहज, क्रमिक एवं मनोरम विकास तथा स्थाई एवं प्रभावपूर्ण चरित्र-सृष्टि का सम्बन्ध है 'रेणु' असफल रहे हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि उन्होंने 'डाकुमेन्टरी' चलचित्रों तथा 'रिपोर्ताज' वाली शैली अपनायी है। जिसके कारण चित्र एव चरित्र स्थिर एव स्थायी रूप में हमारे सामने नहीं रह पाते। बाह्य एवं आन्तरिक द्वन्द्वों के परिणामस्वरूप चरित्र का पूर्ण विकास दिखाना मानों कथाकार का उद्देश्य ही नहीं है। आंचलिकता के आग्रह एवं अतिरेक ने लेखक का कलात्मक संतुलन नष्ट कर दिया है, वह स्थानीय विशेषताओं के विवरण में ही खो गया है।

प्रभाकर माचवे

माचवे जी साहित्य के पंडित एवं एक विद्वान् आलोचक हैं। इन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन और साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया है और सामयिक समस्याओं पर विचार किया है। पाश्चात्य उपन्यासों की रूपाकृति एव वर्णन-प्रणाली का भी आप ने सूक्ष्म निरीक्षण किया है। इन्होंने अनेक 'लघु' उपन्यास लिखे हैं जिनके रूप-शिल्प में नवीनता का आकर्षण तथा विषय-व्यवस्था में पांडित्य का प्रचुर दर्शन है। इन उपन्यासों में वर्णन-बाहुल्य के स्थान पर भावों और विचारों की अभिव्यक्ति ही प्रधान है। विस्तार की अपेक्षा सघनता ही उनकी प्रधान विशेषता है। आपने अनेक लघु उपन्यास लिखे हैं जिनमें 'परन्तु' (१९४०), 'साँचा' (१९५५) तथा 'छाभा' उल्लेखनीय हैं।

'परन्तु' में निरन्तर ह्रासोन्मुख नैतिक मूल्यों के चित्रण का प्रयत्न किया गया है। आर्थिक विवशता का लाभ उठाकर बूढ़ा सेठ लक्ष्मीचन्द बेचारी विधवा हेमवती के यौवन का रस चूस डालता है और वह बेबसी में सिवाय घुटने के कुछ कर नहीं पाती। किन्तु इस उपन्यास की "समस्या व्यक्तिगत अविनाश की ट्रेजेडी नहीं, सारे समाज के गतिरोध की समस्या है और इसलिए इसका हल भी व्यक्तिगत नहीं हो सकता।" प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में आनेवाला 'परन्तु' समाज के उपर्युक्त गति-रोध का ही संकेत करता है। समस्या की अभिव्यक्ति पात्रों के जीवन से उतनी नहीं होती जितनी उनके विचार-वर्णन से। इसके सभी पात्र संभ्रान्त, सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित हैं जिनका अनेक भाषाओं पर अधिकार है और अवसर आते ही वे गीता से लेकर टी० एस० इलिएट और शंकराचार्य से शॉपेनहावर तक की उद्धरणी दे जाते हैं। ८४ पृष्ठ के इस उपन्यास में प्राय बीस-बाइस पृष्ठ उद्धरणों ने ही घेर लिये हैं। 'चेतना-धारा' वाली पाश्चात्य प्रणाली का उपन्यास में सफलता से निर्वाह हुआ है। सम्पूर्ण उपन्यास में व्याप्त तीव्र व्यंग भी इसकी एक विशेषता है।

'साँचा' में आत्मा के यान्त्रिकीकरण (mechanization of soul) की समस्या उठाई गई है। "हम सीधे-सीधे कहना चाहते हैं कि साँचे में आप मिट्टी के लोदों को डाल लीजिए, आत्मा का यान्त्रिकीकरण सम्भव नहीं। जीवन्त की जीवन्तता भी शेष रहे और उसका समूहीकरण भी हो जाय—यह सम्भव नहीं। सारे विश्व में साहित्य और कला इस कृत्रिम 'मेकेनाइजेशन' के खिलाफ विद्रोह कर रही है।" × × × × "जिस व्यक्तिवाद आदर्शवाद की आलोचक खिल्ली उड़ाते आये हैं, उसे नपुंसक और अप्रभावी और निर्वीर्य और बचकाना कहा जाता है—उससे मनुष्य का पूरी तरह वंचित हो जाना, आदमी को काठ का घोड़ा बना देना है, उसे साँचे का आदमी देना है।" उपन्यास में चतुर्दिक-समाज-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था में—व्याप्त यान्त्रिकीकरण के विरुद्ध मनोहर तथा केशो नाम के पात्रों के स्वतन्त्र प्रयासों का वर्णन है। इसमें प्रेम और विवाह की समस्या, नौकरी की समस्या, मिल मजदूरों की समस्या को उठाया गया है और यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इस मशीन-युग में मानव का भी मशीनीकरण हो गया है। पुरुष-स्त्री सभी यन्त्रवत, वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था में कार्य करते चले जा रहे हैं। मनुष्य की स्वतन्त्र सत्ता जैसे लुप्त होती जा रही है। आत्म प्रवचना, झूठ, बेइमानी के द्वारा ही मनुष्य सांसारिक प्रगति कर रहा है। सामाजिक एवं वैयक्तिक नैतिकता का नितान्त ह्रास हो गया है। पढ़ा लिखा मनोहर तथा गाँव का अपढ़ केशो दोनों की आत्मा इसके विरुद्ध विद्रोह

करती है। वे आदर्श एवं नैतिकता को अपना कर चलने का प्रयत्न करते हैं किन्तु दुख पाते हैं। इस उपन्यास में भी पात्र केवल विचारों की व्यंजना के लिए लाए गए हैं। अन्तिम परिच्छेद अस्पष्ट एव क्लिष्ट हो गया है।

'द्वाभा' का कथानक अधिक मर्मस्पर्शी है। इसकी नायिका आभा स्नेह की प्रतिमा है जो निरन्तर अपनी ही ज्वाला से जलती रही। नायक श्री इधर-उधर भटकता फिरता है और अन्त में 'भुवाली सैनेटोरियम' से परित्यक्ता आभा का पत्र पाकर उसकी ओर उन्मुख होता है किन्तु भाग्य-विडम्बना से वह सैनिटोरियम के पास पहुँच कर एक खड्ड में गिर जाता है और आभा तक नहीं पहुँच पाता। इस प्रकार प्रेम की पुनीत प्रतिमा आभा "मिस्र के पुण्य-पक्षी" की भाँति ही जलती जाती है "और अपनी राख में से ही फिर से उसका उदय होता है।" उपन्यास की समस्या पुरानी है, वही समाज द्वारा प्रवंचित नारी की समस्या। वास्तव में आभा जैसी नारियों की वेदना का दायित्व मात्र उन्हीं पर न होकर समाज पर भी है—वल्कि समाज पर अधिक है। "समाज में खुले माथे से प्रतिष्ठा और गौरव से लदे वे लोग घूमते हैं, जो स्त्रियों के साथ जिम्मेदारी का व्यवहार नहीं करते जो नारी को निरा खिलौना समझते हैं—और पापिनी कहलाती हैं वेचारी स्त्रियाँ। लेखक ने इस समस्या का समाधान यह वताया है कि नारी का मोक्ष पुरुष में नहीं है। नारी का 'समूचे अनवटे व्यक्तित्व में से जगना होगा' तभी उसकी मुक्ति होगी।

इस उपन्यास में पर्याप्त प्रभविष्णुता है। वर्णन शक्ति सजीव, शब्द सशक्त एवं सरस हैं किन्तु उद्धरणों की इस उपन्यास में भी भरमार है। माचवे के उपन्यासों को पढ़कर उनकी विद्वत्ता की धाक तो वैठती है, उनके साहित्यिक सामर्थ्य का परिचय तो मिलता है किन्तु उनकी जीवनानुभूति की सीमाएँ स्पष्टत सामने आ जाती हैं। इनके उपन्यासों में सुनिश्चित कथानक, सुव्यवस्थित पात्र-निर्माण, प्लान, तखमीना आदि पाठकों को नहीं मिलेगा × ×।" उनमें चेतना-धारा वाली प्रणाली के माध्यम से लेखक किसी सामयिक विचार की अभिव्यक्ति करना चाहता है। उद्धरणों के विना जैसे लेखक आगे बढ़ ही नहीं सकता। शैली का चमत्कार इनके उपन्यासों की विशेषता है।

उदयशंकर भट्ट :

भट्ट जी के तीन उपन्यास 'वह जो मैंने देखा' (१९४५), 'नये मोड़', तथा 'सागर, लहरें और मनुष्य' मेरे देखने में आए हैं और उनसे पता चलता है कि अपने समाज के स्वरूप तथा उसमें जीने वाले मनुष्यों की जीवन-रीति एवं

अनेकमुखी समस्याओं का भट्ट जी को ज्ञान है और उनके चित्रण की क्षमता। उपन्यास के क्षेत्र में भट्ट जी की कला निरन्तर विकासमान रही है और उनका 'सागर, लहरें और मनुष्य' जीवनानुभूति एवं वर्णनकौशल दोनों ही दृष्टियों से पहले के उपन्यासों से कहीं अधिक सुन्दर एवं महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत उपन्यास में बम्बई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा नामक मछुओं के गाँव की कथा वर्णित है। इधर के नवयुवक उपन्यास लेखकों ने देश के अंचल-विशेष को आधार बनाकर अनेक उपन्यासों की रचना की है। भट्ट जी जैसे प्रौढ़ साहित्यकार ने भी उसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर इस उपन्यास की रचना की है। इसकी कथा-वस्तु किंचित् जटिल है। जीवन में स्त्री-पुरुष का आकर्षण, प्रेम, एवं यौन सम्बद्ध अनेक बातों पर निर्भर रहता है जिनमें साहचर्य, यौन-वासना, यौनग्रन्थि, सुखमय जीवन की कामना, द्रव्यलाभ आदि आते हैं। भट्ट जी ने इस उपन्यास में नैतिक पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर मछलीमारों के इस गाँव के अनेक जटिल प्रेम तथा यौन-सम्बन्धों का वर्णन किया है जिनमें पर्याप्त सजीवता है। इसकी कथानायिका है एक सम्पन्न मछलीमार की लड़की रत्ना। वह थोड़ा पढ़-लिख गई है और अब अपने जीवन-स्तर को कुछ ऊँचा करना चाहती है। उसका प्रेम पहले यशवन्त से होता है जो उसे बहुत चाहता है किन्तु अशिक्षित है। रत्ना अपनी महत्त्वकांक्षा में माणिक से सम्बन्ध जोड़ती है और बम्बई के जीवन का आनन्द लेती है। उसके बाद उसका और डाक्टर का प्रेम-सम्बन्ध होता है। रत्ना ही नहीं उसकी माँ वंशी भी अपने पति विट्ठल के अतिरिक्त उपपति जागला से सम्बन्ध रखती है। जागला इट्ठा से और इट्ठा वर्लीकर से रागात्मक लगाव रखती है। लेखक ने इन अशिक्षित तथा अर्धशिक्षित व्यक्तियों के रागात्मक सम्बन्धों, भावभूमियों, अन्तर्द्वन्द्वों का सुन्दर चित्रण किया है। उनके भीतर राग-द्वेष की वासना और असूया की बड़ी सहज एव यथार्थ विवृत्ति इस कृति में मिलेगी। लगता है जैसे लेखक उनके बीच रहकर उनकी अनुभूतियों को अपना चुका है।

नैतिक पूर्वाग्रह से यद्यपि लेखक मुक्त है फिर भी सम्पूर्ण कथा के भीतर एक नैतिक स्वर है। जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टि है। शैली किंचित् पुरानी होने पर भी, जिसमें विस्तार एव वर्णनबाहुल्य है, स्थान-स्थान पर काव्योचित मनोरमता से पूर्ण है। सर्वत्र प्रच्छन्न व्यंग एव हास्य की धारा मिलेगी। स्थानीय रंग देने के लिए प्राकृतिक दृश्य एवं विभिन्न जातियों की बोली का प्रयोग कराया गया है। समुद्र के विभिन्न रूपों का भिन्न दृष्टियों से देखा गया वर्णन हिन्दी में अनुपम है।

देवराज

डाक्टर देवराज का 'पथ की खोज' (१९५१) नामक उपन्यास भी पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुका है। इसमें एक मध्यवर्गीय युवक के पारिवारिक जीवन, साहित्यिक प्रयासों, प्रेम के आदर्श तथा समाज-व्यवस्था के प्रति वैयक्तिक दृष्टि आदि का वर्णन है। चन्द्रनाथ एक बुद्धि-विचारवान प्रतिभाशाली नवयुवक है जिसके भाई ने एक साधारण सी कपड़े की दूकान की आय से परिवार का भरण-पोषण करते हुए उसे उच्च शिक्षा दी है और वह एम० ए० प्रथम श्रेणी में करके 'रिसर्च' कर रहा है। उसकी पत्नी सुशीला रूपवती है। 'नारी के रूप में, गृहिणी और शरीर-सहचरी की भूमिका में सुशीला उसे पूर्ण जान पड़ती है।' उसके 'व्यक्तित्व में भारतीय नारी की, और शायद नारी मात्र की, वे समग्र विशेषताएँ हैं जो पति या प्रेमी को आन्तरिक तृप्ति का सिंचन देती हैं' किन्तु जब उसका ध्यान सुशीला की बुद्धि और सांस्कृतिक चेतना पर जाता है तब उसे क्षोभ और निराशा होती है। सुशीला की सखी साधना उससे भिन्न है। वह पढ़ी-लिखी, विचारशील एवं अधिक संवेदनशील लड़की है। 'सुशीला का व्यक्तित्व दर्शक पर स्निग्ध कोमलता की छाप डालता है, साधना का नाजुक स्वच्छता की। सुशीला तुरन्त ही दूसरे व्यक्ति से घुली-मिली दीखने लगती है, इसके विपरीत साधना का व्यक्तित्व, आत्मीयता की अभिव्यक्ति के क्षणों में भी, जैसे अपने अलगाव और स्वतन्त्रता को अक्षुण्णसा बनाये रखता है।'' साधना की बुद्धि, सांस्कृतिक चेतना तथा उसके व्यक्तित्व ने चन्द्रनाथ को आकर्षित किया और उसके हृदय में उसके प्रति स्नेह उदय हुआ। पत्रों में चन्द्रनाथ उसे 'बहिन' तथा वह चन्द्रनाथ को 'भाई' सम्बोधित करती है। 'साधना' का प्रथम पत्र पाकर चन्द्रनाथ उत्फुल्ल हो उठा था।' 'उसकी भाव-भूमि में एक नई नारी मूर्ति ने बहुत ही अन्तरंग, कोमल, स्निग्ध, और स्वच्छ सम्बन्ध-ग्रन्थि के रूप में प्रवेश किया था जिससे उसका सारा अस्तित्व अनिवर्चनीय ढग से आन्दोलित हो उठा था।' यह आत्मीयता पत्रों के माध्यम से तथा यदाकदा सामीप्य-सम्पर्क से बढ़ती गई थी। 'उसे लगता है मानो वह अनन्तकाल से इसी अपने पन की अनुभूति के लिए प्रार्थी रहा है। मानो यह उसकी एक निरंतन प्यास थी जो अब बुझती नजर आ रही थी।' साधना के निकट होने पर दोनों में प्रेम और आसक्ति आदि के सम्बन्ध में गम्भीर विचार-विनिमय होता है। अकेले रहने पर चन्द्रनाथ बराबर अपने तथा साधना के सम्बन्धों पर विचार करता है, अपने मनोभावों का विश्लेषण करता है और प्रेम को एक ऊँचाई पर रखकर उसके द्वारा पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिफलन चाहता है। इसी बीच साधना का अरुणकुमार से विवाह-सम्बन्ध निश्चित हो जाता है और चन्द्रनाथ के मन में भावनाओं का तूफ़ान उठ

खड़ा होता है। उसे ज्वर हो आता है। साधना जब उसे देखने जाती है तो वह साधना के आसन्न वियोग की कल्पना से व्यथित अपना हृदय खोल कर रख देता है। भावावेश में वह वहन के स्निग्ध तरल आँखों तथा जुड़े हुए अधरों को नितान्त हल्के स्पर्श से चूम लेता है और साधना भी प्रतिदान की आशा लगाए उसके नेत्रों और माथे पर चुबन अंकित कर देती है। वाद में उसने अनुभव किया कि साधना ने उसे जिस स्नेह-आवेग से चुम्बित किया था उसका उचित नाम वात्सल्य है।

उसके उपरान्त विवाह होकर साधना अपने डिप्टीकलक्टर पति के साथ चली जाती है। चन्द्रनाथ विवाह में सम्मिलित नहीं होता। सुशीला के अनुरोध से वह उसे लेकर एलाहाबाद चला आता है और एक घर लेकर रहने लगता है। दोनों की गृहस्थी वड़े आर्थिक कष्टों में अग्रसर होती है। जिससे प्राय सुशीला के मन में असन्तोष रहता है और दोनों में कहा-सुनी हो जाती है। साधना को लिखे गए पत्रों का उत्तर न पाकर चन्द्रनाथ बड़ा व्यथित होता है। इधर पैसे-पैसे की मुहताजगी है। वह बरेली के एक कालेज में आवेदन भेजता है। वहाँ के प्रिन्सिपल देव उसकी प्रतिभा को अच्छी तरह जानते हैं। साधना के पति अरुणकुमार वहीं नियुक्त हैं और प्रिन्सिपल देव के भतीजे हैं। चन्द्रनाथ तथा सुशीला को पूरी आशा है कि वह नियुक्त हो जायगा और दुःख के दिन वीत जायेंगे। साधना और अरुणकुमार की सहायता का उन्हें पूरा विश्वास था। किन्तु जब चन्द्रनाथ को विदित होता है कि उस कालेज में अरुणकुमार की सिफारिश से एक द्वितीय श्रेणी का व्यक्ति नियुक्त हो गया तो उसे बड़ी निराशा होती है और मनुष्य पर से उसका विश्वास डिग जाता है। प्रसववेदना से सुशीला की अकस्मात् अस्पताल में मृत्यु हो जाती है, बच्चा जीवित रहता है।

मुख्य कथा तो यही है किन्तु इसके साथ साथ आर्थिक समस्याओं से ग्रस्त सम्मिलित कुटुम्ब, कालेज-युनिवर्सिटी के वातावरण, साहित्यिक-सामाजिक संस्थाएँ, साहित्यकारों के सभा-समारोह, कविता-निबन्ध, कहानी, गोष्ठियाँ, पत्र-पत्रिकायें, पूँजीपति प्रकाशकों द्वारा लेखकों का शोषण, आदि अनेक विषयों को सन्निविष्ट किया गया है और उन पर मूल्यवान मत और विचार व्यक्त किये गए हैं। चन्द्रनाथ की उर्मिल चेतना-धारा को शब्दबद्ध करने में पर्याप्त कौशल का परिचय मिलता है। यथार्थ जीवन-चित्रण करते हुए भी नैतिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं की गई है। साधना के प्रति चन्द्रनाथ के आकर्षण को वहिन के प्रेम का पुनीत रूप देने का प्रयत्न एक आदर्शवादी का अपने मन को झुठलाने का प्रयत्न सा लगता है किन्तु है वह यथार्थ। पुस्तक का प्रारम्भिक भाग किंचित् इतिवृत्तात्मक

हो गया है। विचारवैभव एवं नवीन मूल्यों की दृष्टि से उपन्यास महत्त्वपूर्ण है डाक्टर देवराज का 'बाहर-भीतर' नामक एक लघु उपन्यास भी है।

लक्ष्मीनारायण लाल

आपके तीन उपन्यास 'धरती की आँखें' (१९५१), 'बया का घोंसला और साँप' तथा 'काले फूल का पौधा' (१९५१) प्रकाश में आये हैं। 'धरती की आँखें' एक रोमानी उपन्यास है। वैसे तो इसका विषय कृषकों और जमीन्दारों का संघर्ष है किन्तु कथा का मूलस्रोत प्रेम-कहानी ही है। प्रेम की रोमान्टिक कथा या फिल्मी कहानियों का शाश्वत त्रिकोण—एक नायिका, उसके दो चाहने वाले और उनका सघर्ष। विजय गाँव के जमीन्दार का बिगड़ा हुआ लाड़ला लड़का है। ग्रामीण सुन्दरियों का शिकार उसका प्रमुख मनोविनोद है। संघर्ष का केन्द्र शेखपट्टी की अप्रतिम सुन्दरी जैनब है। एक रात जैनब तथा गोविन्द का नाटकीय परिस्थिति में साक्षात्कार होता है। यही आकस्मिक मिलन जिसे विजय देख लेता है अनेक घटना-चक्रों की सृष्टि करता है जिनमें अधिकांश असम्भव नहीं तो विचित्र अवश्य हैं। विजय गाँववालों की अन्धभक्ति, अन्धविश्वास पर गोविन्द की बलि चढ़ाने का जाल रचता है। किन्तु उसके सारे हथकण्डे रद हो जाते हैं और जैनब तथा गोविन्द का गन्धर्व विवाह हो जाता है। यह विवाह भी विचित्र-सा है। धान के मचान पर धान की बालियों का श्वेत सिन्दूर पहनाना कल्पना की दुनियाँ के चित्र हैं। एक विचित्रता यह और है कि हिन्दू तो इस विवाह का विरोध करते हैं किन्तु मुसलमान कोई विरोध नहीं करते। उपन्यासकार की रोमानी दृष्टि इस ओर नहीं जाती। गाँववालों के भोलेपन, अज्ञान और अन्ध-विश्वासों का भी अतिरंजित वर्णन है जो परिस्थितियों से मेल नहीं खाता। ग्रामीणों की दशा के चित्रण के लिए घटना-बहुलता का आश्रय लिया गया है। अनेक मौतों तथा बलात्कारों के वर्णन के बिना भी वांछित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता था। विजय को अत्यन्त कालिमायुक्त और गोविन्द को अत्यन्त धवल प्रदर्शित करने की परम्परा भी पुरानी है।

यह उपन्यास वैसे पठनीय एवं शिक्षाप्रद है तथा गाँव को प्रकाश-मार्ग दिखाने वाला है। वातावरण चित्रण में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है।

'बया का घोंसला और साँप' यदि 'धरती की आँखें' सम्पूर्णतया रोमानी उपन्यास है तो यह प्रेमचन्द की परम्परा का एक आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कृति है। उपन्यास में प्रमुख पात्र चार हैं—सुभागी, उसकी माँ यमुना, आनन्द और रामानन्द। ये चारों पात्र अपनी पङ्किल परिस्थितियों में कमलवत् चरित्र-निर्मल बने

रहते हैं और अन्त में विजयी होते हैं। विधवा ब्राह्मणी यमुना की एकमात्र सन्तान है सुभागी जो पिता की मृत्यु के उपरान्त पैदा हुई। बेचारी यमुना गाँव की धर्म-परायणता के ठेकेदारों के अत्याचार एवं कामलोलुप व्यक्तियों की कुदृष्टियों एवं प्रयासों से बचकर भाग निकलती है और तहसीलदार कामताप्रसाद की पत्नी सत्यवती के यहाँ आश्रय पाती है। सत्यवती के इकलौते पुत्र आनन्द के साथ सुभागी भी काफी लाड़-प्यार में पलने लगती है। सत्यवती जिसे यमुना और सुभागी 'वती जीजी' के नाम से पुकारती हैं सौजन्य की प्रतिमा हैं और सुभागी को पुत्रीवत् ही मानती हैं। किन्तु तहसीलदार का तबादला हो जाता है, वती जीजी अकस्मात् दिवंगत होती हैं और यमुना पुनः निस्सहाय हो जाती है। गाँव के कुचक्रियों एव अपनी असहाय परिस्थिति का धैर्यपूर्वक सामना करती हुई यमुना सुभागी का विवाह रामानन्द से करके निश्चिंत हो जाती है। रामानन्द एक योग्य वर था किन्तु विवाह के एक वर्ष बाद ही वह बीमार पड़ता है और धीरे-धीरे पाण्डुरोग एव कुष्ट का शिकार हो जाता है। बेचारी सुभागी बड़े प्रेम तथा निष्ठा से उसकी सेवा करती है। गाँव के अनेक नौजवान—किरपाल सिंह, अवधू सिंह तथा सुमेर—उस पर लोलुप दृष्टि रखते हैं और उसे अपने चंगुल में न फँसा सकने के कारण उसे भाँति-भाँति से तंग करते हैं—खलिहान में आग लगा देते हैं, चोरी का इल्जाम लगा कर पंचायत से दण्ड दिलवाते हैं, मुकदमा चलाते हैं। सुभागी बड़े धैर्य से पातिव्रत को अक्षत् रखती हुए सबकुछ झेलती जाती है। मुकदमें के सिलसिले में वह फिर तहसीलदार के सम्पर्क में आती है और उनके यहाँ खाना बनाने के लिए नियुक्त होती है। किन्तु तहसीलदार की लोलुप दृष्टि उस पर पड़ती है और वह उसे अपनी कामवासना का शिकार बनाना चाहता है। तहसीलदार के संकेत पर डाक्टर द्वारा विष दिलवा कर उसका कोढ़ी पति मार डाला जाता है। किन्तु सुभागी का बाल सखा आनन्द हर प्रकार से उसकी रक्षा करने का प्रयत्न करता है और अपने पिता से भी संघर्ष मोल लेता है। अन्त में सिकन्दरपुर में पड़ी असहाय सुभागी के पास आनन्द पहुँचता है और आशावाद में उपन्यास का पर्यवसान होता है। हम सोचते हैं कि अब सुभागी और आनन्द नया जीवन आरम्भ करेंगे और परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना सकेंगे।

यद्यपि यह उपन्यास भी अनेक असंगतियों एव अस्वाभाविक घटना-प्रसंगों से भरा हुआ है किन्तु इसमें स्थान-स्थान पर ग्रामीण-जीवन की झाँकियों, कस्बे की आत्मा का चित्रण बड़ा ही मार्मिक है। सीमाओं के बावजूद पात्रों की रेखाएँ काफी स्पष्ट हैं। ताड़ के पेड़ पर बया के घोंसले जिनमें पक्षी न थे प्रतीकात्मक ढंग से समाज एवं भाग्य के अजगरों द्वारा बया जैसी निरीह एवं निष्कलुष सुभागी के सुहाग के

लुटने का संकेत देते हैं। आँगन की घूमती छायाएँ, आकाश के बादलों की फटी चूनरी का प्रतीकात्मक प्रयोग भी प्रभावोत्पादक है। कहानी सरस, सुगठित एवं मनोरम है। कथन का ढंग आत्मीय एवं बहुत ही ठीक-ठिकाने का है।

'काले फूल का पौधा' की विषय-वस्तु नगर से सम्बन्धित है। इसमें उच्च मध्यवर्गीय पति-पत्नी-सम्बन्धों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास का नाम भी सांकेतिक है। काले फूल का पौधा—तुलसी का पोधा है। तुलसी का बिरवा भारतीय नारी-जीवन में एक पवित्र स्थान रखता है। गीता काशी के एक धार्मिक परिवार की सुशिक्षित युवती है। उसका विवाह लखनऊ में देवन से होता है जो प्रगतिशील आधुनिक सभ्यता का प्रतीक है। वह लखपती पिता का पुत्र है। यद्यपि विमाता के कारण पिता से प्राय अलग रहता है और एक फर्म का प्रोप्राइटर है। उसकी पूर्व प्रेयसी चित्रा का विवाह ओम से हो गया है। उपन्यास में चित्रा, देवन तथा गीता के बाह्य तथा मानसिक संघर्षों की कथा वर्णित है। पुराने संस्कारों में पली गीता अत्यधिक पतिपरायण तथा अनुगता है। देवन उसे आधुनिका बनाना चाहता है—पूर्ण सामाजिक एव प्रगतिशील। वह चित्रा के साथ भी घनिष्ठता का सम्बन्ध रखता है। चित्रा बिल्कुल स्वतन्त्र एवं पाश्चात्य संस्कारों में ढली युवती है। चित्रा और देवन के सम्बन्ध में गन्दी गालियों से जब बिजली के खम्भों को रँगा देखती है तथा आया और अन्य परिचितों से चित्रा और देवन के सम्बन्ध में गंदी बातें सुनती है तो गीता एकाध वार देवन से इसका जिक्र भी करती है किन्तु देवन 'सेक्स' को उच्चमध्यवर्गीय जीवन में अत्यन्त आनुषंगिक समझता है। बहुत दिनों तक धैर्य के साथ सब कुछ देखने-सुनने और सहते रहने के उपरान्त, अपने और देवन के बीच की दूरी को बढ़ते देख गीता मायके जाने का निश्चय करती है। इससे देवन आहत होता है किन्तु विद्रोह की मानसिक स्थिति में गीता को स्टेशन छोड़ने भी नहीं जाता। पिता के गृह में ही गीता का एकमात्र पुत्र 'सागर' बीमार पड़ता है किन्तु वह अपनी ऐंठ में पति को तार भी नहीं देने देती। देवन स्वयं आता है किन्तु बच्चा बच नहीं पाता। देवन और गीता के अन्तर का कुछ टूट जाता है। उपन्यास के अन्त में देवन गीता को लखनऊ ले जाने का प्रस्ताव करता है, गीता पूर्णत सहमत नहीं होती। देवन पथभ्रष्ट हो रहा था किन्तु सागर की मृत्यु से मानो वह अपनी गलती को समझता है।

इस उपन्यास में लेखक ग्रामीण क्षेत्र से जिसे उसने अपना प्रिय क्षेत्र माना था—हटकर नागरिक जीवन-चित्रण की ओर उन्मुख हुआ है। इस उपन्यास की घटना का क्षेत्र लखनऊ और बनारस है—'डी हैविन' के फ्लैट और बनारस की गलियाँ हैं। उपन्यासकार जैसे नागरिक जीवन की नाड़ियों की पूरी तरह पहचान

नहीं कर पाया है। लखनऊ के जीवन के पूरे प्रवाह को भी वह अंकित नहीं कर पाया है। इस उपन्यास में उसे वातावरण उपस्थित करने में सफलता नहीं मिली है। उच्च मध्यवर्गीय जीवन का अध्ययन भी दर्शक का है, भोक्ता का नहीं। अतएव इस वर्ग का चित्रण विश्वसनीय नहीं हो सका है। 'ओम' का चित्र भी उभर कर सामने नहीं आता, यौन-निर्वन्धता और एक अंश तक पवित्रता ही उसके जीवन में चित्रित की गई है। देवन के भी कलुषित पक्ष की ओर मात्र संकेत करके लेखक रह गया है। गीता जैसी धर्मप्राण पत्नी के पति के दोषों का व्यापक विवरण लेखक के आदर्शों के प्रतिकूल पड़ता था अतएव उसकी ओर संकेत मात्र पर्याप्त समझा गया। क्लवों, और नाचघरों के जीवन का आन्तरिक ज्ञान न होने के कारण लेखक एक द्रष्टा का ही—दूर के द्रष्टा का ही, विवरण दे सका है। उपन्यास एक आदर्शवादी पूर्वग्रह के साथ लिखा गया है अतएव चित्रण में लेखक पूर्ण स्वतन्त्र नहीं रह गया है। जहाँ पर 'रोती नदी की कछार' लेखक के रोमान्टिक स्वप्नों से गीली है वहाँ लखनऊ का 'डी हेविन' दूर से देखा गया एक पैलेस है। उसकी आत्मा में लेखक का प्रवेश नहीं है।

पहले दो उपन्यासों में लेखक स्वयं कथाकार है। इस उपन्यास में कहीं तो पात्र स्वयं अपनी आप बीती सुनाते हैं और कुछ अध्यायों में लेखक उनकी जीवनी का निरूपण करता है। किन्तु यह मिश्रित शैली अधिक प्रभावोत्पादक नहीं हो सकी है। भाषा-शैली की दृष्टि से यह उपन्यास पिछले उपन्यासों से किंचित् परि-मार्जित है किन्तु कहीं-कहीं विच्छिन्न शब्दों से प्रभाव सृष्टि का प्रयास सर्वथा विफल रहा है।

शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'

'रुद्र' जी अपने एक मात्र उपन्यास वहती 'गगा' (१९५२) के द्वारा पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुके हैं। जैसा आगे कहा जा चुका है शिल्प की दृष्टि से यह एक नवीन प्रयोग है। इसमें १७ कहानियों के द्वारा जो अपने आप में पूर्ण और स्वतन्त्र हैं काशी के दो सौ वर्षों का इतिहास वर्णित है ? ये कहानियाँ हैं—१ 'गाइए गणपति जगवन्दन' (लगभग १७५०), २ 'घोड़े पे हौदा औ हाथी पे जीन' (१७८०), ३. 'नागर नैया जाला काले पनियाँ रे हरी' (१८००), ४. 'मूली ऊपर सेज पिया की' (लगभग १८०५), ५. 'आये, आये, आये' (१८१०), ६. 'अल्ला तेरा महजिद अव्वल वनी' (१८७८), ७. 'रोम रोम में वज़गल' (लगभग १८७५), ८. शिवनाथ वहादुर सिंह वार का गूंज घना जोड़ा (लगभग १८८०), ९. 'एही ठैया झुलनी हेरानी हो राम'

(लगभग १९२१), १०. 'रामकाज छन भंगु सरीरा' (आधुनिक काल), ११. 'एहिपार गंगा ओहि पार जमुना', १२. 'चैत की नीदिया जिया अलसाने', १३. 'इस हाथ दे उस हाथ ले' १४. 'दिया क्या जले जब जिया जल रहा है', १५ नारी तुम केवल, श्रद्धा हो', १६ मृषा न होइ देव रिसि बानी', १७. 'सारी रंग डारी लाल ।'

"प्रस्तुत पुस्तक का नाम 'वहती गंगा' अकारण नहीं है । जीवनगंगा की धारा भी भागीरथी गंगा के ही समान पवित्र है । यदि उसमें एक ओर सड़ी गली लाशें हैं, आवर्जनाका स्तूप है, उसके तल में हिंसक जन्तु हैं तो उसी के साथ दूसरी ओर उसमें शीतलता है, पवित्रता है और व्यापक उपयोगिता भी है । प्रस्तुत 'वहती गंगा' में सत्रह तरंगें हैं—एक दूसरी से अलग परस्पर स्वतन्त्र । परन्तु धारा और तरंगन्याय से आपस में बँधी हुई भी हैं । इसी स्थल पर यह वता देना भी अप्रासंगिक न होगा कि 'वहती गंगा' की प्रत्येक तरंग का आधार कोई न कोई ऐतिहासिक घटना, व्यक्ति, प्रथा या परम्परागत जनश्रुति है । जैसे व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है, उसी प्रकार काशो नगरी की भी अपनी विशेपता है । अद्‌भुत मस्ती, निपट निर्द्वन्द्वता, उत्कट स्वातन्त्र्य-प्रेम और परम प्राचीनतावाद उक्त विशेपता के ही अंग हैं । × × × × × प्रस्तुत पुस्तक में 'वनारसियों' की इसी विशेपता का चित्रण किया गया है । सन् १७५० से लेकर १९५० ई० अर्थात् दो सौ वर्षों की घटनाओं ने 'वहती गंगा' में प्रतिनिधित्व प्राप्त किया है ।"[1]

इसकी प्रयोगात्मकता इसी वात में है कि किसी एक सम्बद्ध कथा को न लेकर अनेक कहानियों के द्वारा काशी-अचल की विशेपताओं को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है । इस कथा का कोई नायक नहीं है—काशी ही इसका नायक है । सम्पूर्ण पुस्तक पढ़कर काशीवासियों के प्रति एक निश्चित धारणा वनती है । दो सौ वर्षों के समय-प्रवाह के भीतर ये आचलिक विशेपताएँ सुरक्षित हैं । साथ ही काशी का साहित्यिक माध्यम से एक प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है जिसमें एक से एक सशक्त, सजीव मूर्तियाँ एव माहसिक प्रसग हैं । इसमें विभिन्न वर्गों—राजवर्ग, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग—के अनेक पात्र हैं जिनका अपना व्यक्तित्व है । लेखक ने वड़े ही सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट स्पर्शों से इन्हे रूप दिया है, रग भरा है । प्रत्येक की परिस्थिति भिन्न है, प्रकृति और प्रवृत्ति भिन्न है किन्तु सहृदयता, उदारता, मस्ती, वेफिक्री, आन, साहस आदि कुछ गुण ऐसे हैं जो भिन्न परिमाण में सवमें वर्तमान हैं । इनके जीवन की अधिकांश घटनाएँ वास्तविक हैं, इतिहासानुमोदित हैं किन्तु अपनी अलौकिकता के कारण वे काल्पनिक सी लगती हैं । उनमें अद्‌भुत रमणीयता है ।

---

१ पं० सीताराम चतुर्वेदी—पुस्तक की सन्दर्शिका पृष्ठ ११ ।

इन पात्रों के रोमांचमय जीवन को पढ़कर थोड़ी देर के लिए हम अपने को उनके स्थान में रखकर भूल जाते हैं। काशी राज्य के संस्थापक राजा बलवन्त सिंह का पौरुष, नागर और मंगड़ भिक्षुक, जो गुण्डे कहे जाते थे, किन्तु जिनका हृदय मोम के समान दूसरे के दुख से पिघल उठता था और दूसरे की प्राणरक्षा में जो अपने जीवन को नगण्य समझते थे, की अद्भुत नम्रता और सजीवता, गाड़ीवान् सिंगुर सिंह की भावुकता एवं कलाप्रियता, मंगड़ भिक्षुक की रानी पत्नी मंगला गौरी का संयम एवं सतीत्व, अपने सरस कंठ और कटाक्ष से भावुक हृदयों को विद्ध करनेवाली दुलारी मोहनहारिन की कमलपत्रवत् निर्लिप्तता एवं कला-साधना; गंगा पानवाली की मादक रहस्यमयता आदि बहुत दिनों तक हमारी स्मृति में सुरक्षित रहते हैं।

लेखक ने परिच्छेदों के नामकरण में भी यह ध्यान रखा है कि वे आकर्षक, कुतूहलवर्धक एवं सार्थक हों। 'नागर नैया जाला काले पनिया रे हरी', 'सूली ऊपर सेज पिया के', 'एहो दैया झुलनी हेरानी हो रामा' जैसे शीर्षक परिचित होते हुए भी विशेष भावव्यंजक हैं। इनका मर्म सहृदयों पर सहज ही व्यक्त हो जाता है। साथ ही घटनाओं के विन्यास एवं विकास में सहज प्रवाह के साथ ही पाठक की उत्सुकता को उद्बुद्ध रखने एवं उसके मन को तल्लीन करने की अद्भुत क्षमता है। घटना-प्रवाह में बड़े ही सहज ढंग से प्रत्येक पात्र डूबता-उतराता अग्रसर होता है और यथासमय अपने सबल व्यक्तित्व से घटनाओं को नए मोड़ भी देता है। उपन्यास की महत्ता के मापदण्डों में उसकी रमणीयता को सर्वप्रमुख स्थान मिला है और इस दृष्टि से 'बहती गंगा' एक उत्कृष्ट कथाकृति है।

"इस 'बहती गंगा' की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी भाषा, जिसमें तनिक क्लिष्टता नहीं, बनावट नहीं, सीधी, मुहावरेदार सरस सूक्तियों और लहरियादार शब्दावली से भरी, भावों के साथ ऐसी मचलती, इठलाती, बलखाती, लचकती, लहरें लेती, झूमती, मचलती चलती है कि आप एक-एक वाक्य को दस-दस बार भी पढ़ें तो जी न भरे। वर्णन ऐसे सजीव कि जिसका वर्णन करना प्रारम्भ करें कि उसे हम दुहराते तिहराते रह जाँय।"[1] वस्तुतः में काशी की बोल-चाल भी बड़ी स्वाभाविकता से इस उपन्यास में अंकित हुई है।

अमृत राय

स्वर्गीय प्रेमचन्द जी के सुपुत्र अमृतराय में भी बड़ी अच्छी औपन्यासिक प्रतिभा है। 'बीज', 'नागफनी का देश' तथा 'हाथी के दाँत' आदि अनेक उपन्यास हैं। 'बीज' ७२७ पृष्ठों का एक वृहद उपन्यास है जिसमें

---

१ पं० गंगाराम चतुर्वेदी—भूमिका से।

युद्धकालीन (१९४२ के बाद) भारत की राजनीतिक, सामाजिक गतिविधि का चित्रण है। कथानायक सत्यवान एम० ए० में पढ़ ही रहा था कि सन् बयालीस का आन्दोलन छिड़ा और उसे जेल जाना पड़ा। वहाँ उसकी घनिष्ठता वीरेन्द्र से बढ़ी जो कम्युनिजम का पोषक था और वह भी साम्यवाद की ओर झुक गया। जेल से बाहर आने पर उसने एम० ए० पास किया और उसका विवाह उषा नाम की पढ़ी-लिखी लड़की से हो गया। तदुपरान्त उसके तथा उषा के दाम्पत्य जीवन, आर्थिक संघर्षों, एवं राजनीतिक गतिविधि का वर्णन है। कम्यूनिस्ट होने के कारण सत्य को नौकरी मिलनी मुश्किल हो जाती है और वह पुन नजरबन्द कर लिया जाता है। उषा अध्यापिका का कार्य करके जीविका चलाती है और वह भी मेहतरों और मजदूरों के आन्दोलनों में भाग लेती है। ऐसे ही एक आन्दोलन में उसे लाठी-चार्ज से बड़ी चोट आती है और जब वह घायल पड़ी है तो उसका पति जेल से छूट कर आता है और कहता है "उषी तू नहीं जानती, तेरे इस घाव में हमारे नए जीवन के विराट अश्वत्थ का बीज छिपा हुआ है, हमारे नये सुख का बीज, नये प्रभात का बीज।" इस आधिकारिक कथा के साथ-साथ राजेश्वरी की अतृप्त प्रेम-वासना, सत्य और राजेश्वरी का आकर्षण आलिंगन, महेन्द्र द्वारा राजेश्वरी का भोग, गर्भ और हत्या आदि का भी वर्णन है।

उपन्यास यद्यपि पूर्वग्रहग्रसित है, साम्यवादी सिद्धान्तों के पोषणार्थ लिखा गया प्रतीत होता है, जिसमें कांग्रेस, तथा कांग्रेसी नेताओं के कार्यक्रम पर व्यंग-प्रहार किया गया है किन्तु इसमें नागरिक जीवन के अनेक पहलुओं का बड़ा ही यथातथा चित्रण मिलता है। स्कूल-कालेज का वातावरण, आधुनिक प्रेम-प्रसंग, विवाह और पत्नीत्व की समस्याएँ, घरेलू वातावरण, आर्थिक समस्याएँ, ब्लैकमारकेटिंग आदि विषयों का वर्णन बड़ा ही यथार्थ एव सजीव है। लेखक को मध्यवर्गीय जीवन का अच्छा परिचय है। पुस्तक की भाषा बड़ी ही चलती हुई दैनिक जीवन के व्यवहार की भाषा है। वार्तालापों में बड़ी चुस्ती तथा सजीवता है। कथा-प्रवाह को अवरुद्ध करने वाले वे ही स्थल हैं जहाँ लेखक राजनीतिक सिद्धान्तों की चर्चा करता है। पुस्तक में विस्तार तो है किन्तु गहराई की कमी है।

'नागफनी का देश' एक लघु उपन्यास है। इसमें कथानक तो अत्यल्प है केवल कुछ पात्रों की बातचीत है, उनकी भावनाओं के उतार-चढ़ाव का वर्णन है। उपन्यास में केवल चार पात्र हैं—रंजीत, उसकी पत्नी वेला, उसका मित्र श्रीकान्त तथा मदालसा। डाक्टर रंजीत और उसकी पत्नी वेला के मन का मेल नहीं है। साथ रहते हुए भी दाम्पत्य का प्रेमोल्लास नहीं है। रंजीत का मित्र श्रीकान्त कलात्मक रुचि का ऐसा नवयुवक है जिसकी ओर स्त्रियाँ स्वतः आकर्षित हो जाती हैं। रंजीत

वेला का अपने इस मित्र से परिचय कराता है और उसके व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण है कि वेला का मन प्राण उसका हो उठता है, वह स्वप्न की रंगीन दुनियाँ में विचरण करने लगती है, उसके जीवन की उदासी, रिक्तता छूमन्तर हो जाती है और उमंग में वह भर उठती है। उसके अनुसार वेला उसे प्यार नहीं करती किन्तु यदि श्रीकान्त प्राण भी माँगे तो दे सकती है। किन्तु उस नागफनी के देश में प्रविष्ट होने के पहले ही मदालसा उसके स्वप्नों को चूर-चूर कर देती है। वेला की भाँति ही मदालसा भी श्रीकान्त की ओर आकर्षित हुई थी और अपना सर्वस्व लुटा चुकने के बाद यह जान पाई थी कि श्रीकान्त की पत्नी भी है, तीन बच्चे हैं और चौथा होने वाला है। उसका प्यार, उसका विश्वास सभी झूठे थे। वेला की आँख खुल जाती है और वह अपने पति की ओर पुन उन्मुख होती है किन्तु इस बीच वह चला गया होता है।

प्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु बड़ी गठी हुई तथा प्रभावोत्पादक है। प्रत्येक पात्र के चित्र का यथार्थपरक अकन किया गया है। श्रीकान्त के प्रति घृणा से हम भर उठते हैं और वेला भी हमारी नजरों में गिर जाती है। श्रीकान्त जैसे शरीफ बदमाशों से जिनके जाल में अनायास अनेक औरतें पड़ जाती हैं बचने के लिए यह उपन्यास अच्छा संकेत करता है। वर्णन में रमणीयता है।

'हाथी के दाँत' भी एक लघु उपन्यास है। इसमें सामती सभ्यता के प्रतीक ठाकुर साहब परदुमन सिंह का व्यगचित्र अकित किया गया है। लेखक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि जमीन्दार-जागीरदार लोगों की स्थिति में स्वतन्त्रता के बाद भी कोई परिवर्तन नहीं आया है। ठाकुर साहब अंग्रेजी राज्य मे पर्याप्त अन्याय-अत्याचार किया करते थे। अब वह एम० एल० ए० होकर ऊपर से जनता के सेवक बने फिरते हैं किन्तु भीतर-भीतर उनके अत्याचार एवं विलास-व्यभिचार में कोई अन्तर नहीं आया है। हाथी के दाँत दिखाने के और हैं खाने के और। ठाकुर साहब चम्पा को अपने जाल में फँसाते हैं और बाद में अनेक अन्य कुकृत्य भी करते हैं। लेखक ने अलग-अलग उनका वर्णन किया है। कोई एक कथा नहीं है। आद्यन्त उनका रेखाचित्र व्यग से पूर्ण है। इस रेखा-चित्रण के उपयुक्त ही प्रवाहमयी भाषा प्रयुक्त हुई है। शैली में बड़ा तीखापन है। लेखक के राजनीतिक पूर्वाग्रह ने ठाकुर साहब के चित्र के एक ही पहलू को देखने-दिखाने का प्रयत्न किया है।

गिरिधर गोपाल

प्राय नब्बे पृष्ठों का 'चाँदनी के खण्डहर' नामक लघु उपन्यास एक

नया प्रयोग है। प्रयोग इस कौशल में है कि "प्रस्तुत उपन्यास की सारी कथा चौबीस घण्टे की सीमित अवधि के भीतर ही समाप्त हो जाती है। विलायत से डाक्टरी पास करके लौटा हुआ वसंत विगत जीवन की मीठी किन्तु वचकानी स्मृतियों, वर्त्तमान की अस्पष्ट उल्लासभरी अनुभूतियों और भविष्य के अनिश्चित और अनगढ़ सपनों को लिये हुए अपने घर पहुँचता है। स्नेह-प्रेम से भरा, बचपन से लेकर जवानी तक की मीठी और प्यारी स्मृतियों के मधुर सभार से बोझिल निम्न मध्यवर्गीय परिवार का दुलारा लड़का रहा है वह। दुख में भी हँसते रहने वाला, मुसीबतों की जंग को पारस्परिक स्नेह की स्निग्धता से साफ करते रहनेवाला वह छोटा-सा ससार उसके कितने रंगीले सपनों और पुलकभरे अरमानों को बराबर अपने भीतर समाहित किये रहा है। पर पाँच वर्ष के प्रवास के बाद जब वह उसमें फिर प्रवेश करता है तब उसका सारा ढाँचा ही उसे एकदम बदला हुआ दिखाई देता है। लगता है जैसे इस बीच सारे मकान को, समूचे घर को ही टी० बी० हो गया है। न उसमें स्नेह की वह सजलता शेप रह गई है न वह राग की रंगीनी। उसकी स्नेहशीला भाभी काम करते-करते सूखकर काँटा हो गई हैं, बहन बीना खून थूकने लगी है, छोटा भाई राजू फटे पैन्ट और फटे जूते पहन कर मुरझाया हुआ चेहरा लेकर स्कूल जाता है। आठ साल की बहन मीना गुड्डे-गुडियों की शादी रचाना और अपने साथ की ब[च्चि]यों से खेलना भूल कर दिन भर घर के काम-काज में पिसी जा रही है, नन्हा सा कुंवर भी अत्यन्त उपेक्षित जीवन बिताता हुआ बचपन के सहज भोलेपन से वंचित होता चला जा रहा है, कर्मठ पिता बच्चों की तरह भावुक हो गए हैं और जरा-जरा सी बात पर रो देते हैं, बड़े-बड़े संकटों में भी प्रसन्न रहनेवाली माँ के चेहरे पर से हँसी जैसे सदा के लिए छीन ली गई है, चिरस्नेही भैया या तो अपने ही भीतर खोये खोये से लगते हैं या बात-बात पर खीझते रहते हैं, और प्यारी कतो तो पाँच साल तक उसके आगमन की प्रतीक्षा करती-करती कुछ और की और ही हुई चली जा रही है--अब भी वह यद्यपि उससे पहले की ही तरह खेलवाड़ की बातें करती है, तथापि उस खेलवाड़ के झीने परदे के भीतर उसका काँटों से बिंधा हृदय साफ दिखाई देता है। वसंत दिन भर में सब कुछ देखता है, सब कुछ करता है, सबसे मिलता है, पुरानी स्मृतियों को ताजा करता है और फिर रात में अपने उस चिरप्रिय घर के अन्धकार के भीतर बन्द हो जाता है जो अब मौत का कुँआ बना हुआ है। यह सोच-सोचकर उसका हृदय छलनी बना जाता है कि सारे घर की आत्मा में छायी हुई टी० बी० का एक मात्र कारण वही है। उसकी पाँच साल की पढ़ाई का खर्च जुटाने के लिए सारा परिवार अपना सब कुछ देकर

निःस्व बन चुका है। सबकी आँखें अकेले उसी पर लगी हुई हैं। भयानक तूफ़ान का झोंका उसके अन्तर को बुरी तरह झकझोर जाता है। उसका आत्म-विश्वास डगमगाने लगता है। दिन भर की सारी अनुभूतियाँ आतंकित करने वाले सपनों के रूप में उसके आगे आती हैं। चारों ओर' बाहर और भीतर ''छाया हुआ अन्धकार उसके प्रति अट्टहास करने लगता है। पर ''और इसी एक 'पर' पर नायक के व्यक्तित्व के साथ सारे उपन्यास का अस्तित्व टिका हुआ है।

चारों ओर की गहन निराशा की कालिमा से पुते हुए अँधेरे का वह भैरव अट्टहास, उपन्यास के नायक वसंत की आत्मा को हिला देने पर भी उसे लीलने में समर्थ नहीं होता। अपने परिपूर्ण यौवन की सारी अपरिपक्वता के बावजूद उसके भीतर आशा की अग्नि का ऐसा वज्रकण वर्तमान है जो किसी भी हालत में बुझना नहीं चाहता। और उसी चिरदीप्त अग्निकण के बल पर वह उस महामोहमग्न निराशान्धकार के अट्टहास से भी होड़ लगाता हुआ, स्वप्न ही में उससे भी तीव्र स्वर में ठहाका लगाता है "हा हा हा हा हा हा हा हा!" और फिर कहता है "मैदान छोड़ कर भाग रहे हो मिस्टर अँधेरे! कायर! नपुसक! तुम हार गये, मैं जीत गया!"[1]

इस लघुकाय उपन्यास में लेखक ने निम्न मध्यवर्गीय जीवन की आर्थिक दुरवस्था का, उससे उद्भूत पारिवारिक विशृङ्खलता का बड़ा ही यथातथ्य और साथ ही मन को कचोटने वाला चित्र अंकित किया है। वसंत का स्नेहसिक्त एवं प्रसन्न-प्रफुल्ल परिवार अर्थाभाव से किस प्रकार रोगग्रस्त हो गया है इसके मार्मिक शब्द-चित्र उपन्यास में अंकित हैं। पारिवारिक-जीवन की मिठास, देवर-भौजाई के स्नेह सम्बन्ध, किशोर हृदय की आशा-आकांक्षा, उमंग-तरंग, छोटे बच्चों की चेष्टाएँ आदि की मनोरम झलक मिलती है। वसंत और उसकी भाभी की बात तथा घर की स्थिति के वर्णन को पढ़ते-पढ़ते मन भर आता है। पुस्तक में अनुभूति की गहराई से बड़ी प्रभविष्णुता आ गई है। निम्न मध्यवर्ग को निगल जाने वाले सर्वग्रासी अन्धकार को देखते हुए भी लेखक की आस्था बनी हुई है, जीवन के प्रति विश्वास बना हुआ है, वह हारा नहीं है, जीवन के नये प्रभात की सूचना दी है, आभास दिया है। कथानक अत्यधिक गठा हुआ, चित्र बड़े ही यथार्थ और मार्मिक, अनुभूति बड़ी ही तीव्र, भाषा नितान्त व्यावहारिक किन्तु अर्थगर्भ है। पढ़ते-पढ़ते हृदय भावमग्न हो उठता है। इस उपन्यास में "थीम नयी है, पात्र नये हैं, शैली नयी है और कला-कौशल नया है। यह सब होने पर भी उसमें अंकित सारे चित्र और उसमें वर्णित सारी घटनाएँ सहज स्वाभाविक लगती हैं।"[2]

---

१. इलाचन्द्र जोशी कृत भूमिका से। २. वही।

राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादव में बड़ी तीव्र अनुभूति, कुशल कल्पना, तथा सजीव चित्र-विधायिनी प्रतिभा है। उनके दोनों उपन्यास—'उखड़े हुए लोग' तथा 'प्रेत बोलते हैं', सामाजिक यथार्थ के चित्रण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में भारतीय समाज एवं व्यक्ति के अन्तर्बाह्य जीवन में अभूत-पूर्व परिवर्तन हो गए हैं। मनुष्य का स्वार्थ इतना प्रमुख हो उठा है कि नैतिकता के परम्परित मानदण्ड बिखर गये हैं। सर्वत्र अनीति, पाखण्ड, छलकपट तथा यौन-कुंठा का प्राधान्य है। 'उखड़े हुए लोग' में राजेन्द्र यादव ने एक बड़े पूँजीपति के मिथ्याडम्बर का निर्मम विश्लेषण करते हुए ऐसे लोगों के चित्र अंकित किये हैं जो समझ-बूझ रखते हुए भी अपनी दुर्बलताओं के तथा कपटाचारियों के शोषण के शिकार हुए हैं, छोटे-मोटे समझौतों में टूटे हैं और जिनका भविष्य अन्धकारमय हो उठा है।

कहानी का आरम्भ शरद और जया से होता है। शरद वकालत की ट्रेनिंग ले रहा है और जया मास्टरनी हैं। दोनों में परस्पर प्रेमाकर्षण होता है और वे विवाह कर लेते हैं। उनकी दृष्टि से सामाजिक धरातल पर विवाह एक नितान्त व्यक्तिगत प्रश्न है और वे व्यक्तिगत रूप में ही इस प्रश्न को हल भी कर डालते हैं। किन्तु समाज तो ऐसे समझौतावाले विवाहों की स्वीकृति नहीं देता अतएव उनके सामने नवीन समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। बेचारा शरद अपनी ट्रेनिंग बीच में ही छोड़कर जया के साथ कहीं गृहस्थी बसाने को बाध्य होता है और अपने वकील के पूँजीपति मित्र देश-बन्धु जी की शरण में जाता है जो उसे अपना पर्सनल सेक्रेटरी बना लेते हैं। वह बौद्धिक ढंग से विवाहिता अपनी पत्नी जया को भी यहीं ले आता है और दोनों जमने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि जया अपनी आन्तरिक प्रेरणा से, स्वेच्छा से, अपने चारित्रिक तेज और साहस से शरद के साथ जाती है किन्तु समाज की प्रचलित धारणा तो इसे 'भगाना' ही समझती है। देश-बन्धु जी की छत्रछाया में पहुँच कर शरद को पता चलता है कि यहाँ उसे बिल्कुल अपनी आत्मा को कुचल कर 'नेता भैया' की यशोवृद्धि का यन्त्र मात्र बनकर रहना है। उनके लिए लेख और भाषण, जीवनी और आत्मकथा तैयार करना ही उसका काम हो जाता है। उसे यह भी पता नहीं कि उसे वेतन क्या मिलेगा क्योंकि देशबन्धु जी पैसे जैसे साधारण प्रश्न को महत्त्व नहीं देते।

देश-बन्धु जी कांग्रेस के पूँजीपति नेता हैं—एम० पी० हैं। बाहरवालों की दृष्टि में वे त्याग की प्रतिमूर्ति, समाज के सच्चे सेवक, उदाराशय तथा धर्मात्मा

व्यक्ति हैं। किन्तु निकट आने पर मालूम पड़ता है कि उनकी देश-सेवा, उदारता, विनम्रता, धार्मिकता आदि सब ऊपरी आडम्बर हैं। वह पक्के धूर्त, पूंजीपति, शोषक, स्वार्थी तथा कामुक व्यक्ति हैं। अपनी मीठी बोली से सीधे सादे लोगों को फाँसकर उनका रक्त चूसने में नेता जी सिद्धहस्त हैं। उनकी नेतागिरी तो उनके धन कमाने का साधन-मात्र है। किसी व्यक्ति पर, किसी क्षेत्र में यदि वह रुपया खर्च करते हैं तो उसमे कई गुना वसूल भी कर लेते हैं। उनके कमीनेपन का साक्षात् उदाहरण माया देवी हैं। वह आन्दोलन में देश-बन्धु जी के साथ रहीं और यह न जानते हुए कि वह विवाहित हैं, उनसे प्रेम करने लगीं। माया देवी का पति स्वयं लाखों का आदमी है, वह माया देवी को डाँटता-धमकाता भी है किन्तु देशबन्धु जी का कुछ ऐसा जादू है कि वह उनके पीछे दीवानी हैं! उन्हें लाखों की सम्पत्ति दी, अपने पति से उनकी मित्रता कराई, पूँजीपति बनने में पूरी सहायता दी किन्तु देशबन्धु जी ने माया देवी के पति को विष दिया और स्वयं माया देवी उनकी 'रखेली' से अधिक पद न पा सकीं। बाद में, जब उन्हें देश-बन्धु जी के असली स्वरूप का, उनकी लम्पटता का, नारी मात्र के प्रति उनकी कमजोरियों का पता चलता है तो माया देवी निराशा एवं विद्वेष से विक्षुब्ध हो उठती हैं। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप उनके मन में ऐसी ग्रन्थियाँ बन जाती हैं कि वह हर पुरुष को आकर्षित करने का, फँसाने का प्रयत्न करती हैं। उनकी पुत्री पद्मा एम० ए० बड़ी उदास, खिन्न एवं दुखी रहती है। उसकी यह धारणा बन गई है कि वह अभागिन है और उसका दुनिवार दुर्भाग्य उसके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक प्राणी को ग्रस लेगा। वह किसीको प्यार करती है किन्तु चाहती है कि आजीवन उसे मात्र प्यार करती रहे—पाने का प्रयत्न न करे। माया देवी चाहती हैं कि उनकी पुत्री भी देशबन्धु जी को फँसाने का प्रयास करे। एक दिन जब कि सद्य नृत्य करके पद्मा अलसाई हुई अपने कमरे में लेटी थी देशबन्धु जी वहाँ पहुँच जाते हैं और भीतर से दरवाजा बन्द कर लेते हैं। घबरा कर पद्मा खिड़की से कूद पड़ती है। इस घटना का जया और शरद पर ऐसा आतंक होता है कि वे घबरा कर वहाँ से निकल भागते हैं, बिल्कुल उखड़े हुए से।

मुख्य कथा तो यही है किन्तु देशबन्धु जी के सम्पर्क में आनेवाले, उनके जाल में फँसने वाले अनेक व्यक्तियों की वैयक्तिक विशेषताओं के बड़े ही सजीव चित्र उपन्यास में वर्णित हैं। इनमें सर्वप्रमुख हैं 'बिगुल' के सम्पादक और शरद के पड़ोसी सूरज जी जो उखडे हुए लोगों का नेतृत्व-सा करते हैं। सूरज जी किंचित् असाधारण हैं—देशबन्धु जी उन्हें सनकी, झक्की और मुँहफट कहते हैं। उन्हें सनकी और झक्की बनाने का बहुत कुछ दायित्व उनकी प्रेयसी चन्दा को है जिसने

प्यार करके उनका साथ नहीं दिया और अब पहचानती तक नहीं। बेचारे सूरज जी जो कभी 'बिगुल' जैसे क्रान्तिकारी पत्र के प्रधान स्वर थे अब देशबन्धु जी के 'कलम घसीट' भर रह गये हैं। सूरज जी को बचपन से ही पेट भरने की चिन्ता हो गई थी क्योंकि उनके माँ-बाप का पता नहीं। उन्होंने जेब काटने से लेकर, कुलीगिरी तथा अखबार बेचने के अनेक काम किये और परिस्थितियों से लड़ते हुए, मुसीबतों मे आगे बढ़े हैं। इन विषम परिस्थितियों ने उनके चरित्र का स्वास्थ्य नष्ट कर दिया है, उनके व्यक्तित्व को कुंठित कर दिया है। देशबन्धु जी के असली रूप को जानते हुए भी वह उनके आश्रय को छोड़ नहीं पाते। आज के आर्थिक, सामाजिक ढाँचे की विडम्बना व्यक्ति के तेज को नष्ट कर देती है, समझौतों मे उसे तोड़ देती है।

चरित्रवर्णन की दृष्टि से यह उपन्यास पूर्ण सफल है। वर्त्तमान सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों एवं उनसे उद्भूत जीवन-कुंठाओं के संदर्भ में मनुष्य के बहुपक्षीय व्यक्तित्व, उसकी दुर्बलताओं, उसके नवीन बौद्धिक एवं भावनागत आदर्शों और यथार्थ जीवनस्थितियों के संघर्ष से उद्भूत उसकी विवशताओं के चित्रण में लेखक ने बड़े कौशल का परिचय दिया है। नवीन परिप्रेक्ष्य में प्रेम तथा यौन-सम्बन्धों के अनेक प्रसंगों का वर्णन करके उनकी अच्छाई-बुराई को प्रकाशित कर दिया गया है। आज की जटिल सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य स्वयं कितना दुरुह हो गया है, उसके चरित्र के कितने पर्त हो गए हैं राजेन्द्र यादव ने इसे कलाकार की पूरी सचाई के साथ अनावृत करने का प्रयत्न किया है। पात्रों की रूपाकृति, उनकी वेशभूषा, बोलचाल आदि के व्यंजक वर्णन से पात्र सजीव हो उठे हैं। बिना किसी पूर्वाग्रह के प्रत्येक पात्र की अच्छाई-बुराई को ज्यों का त्यों वर्णन करके कथाकार के दायित्व का सफल निर्वाह किया गया है। अधिकांश पात्र 'टाइप' होते हुए भी अपनी व्यक्तिगत विशेषता रखते हैं। हीन से हीन चरित्रों के प्रति भी लेखक निर्मम अथवा सम्वेदना शून्य नहीं है। परिस्थितियों को, चरित्र-विकास की प्रक्रिया को जान जाने के बाद हम किसीके प्रति असहिष्णु हो ही नहीं सकते। उपन्यास के शिल्प में भी नवीनता और ताजगी का आकर्षण है। सारी कथा सात ही दिन में समाप्त हो जाती है। ये सात दिन बड़े ही घटनापूर्ण हैं और इन्हीं के भीतर शरद-जया के सामने से संसार के कई चित्र बदल जाते हैं। उनका वह साहस और उत्साह, प्रेम की वह उमंग, वह विश्वास, जिसे लेकर वह नया नीड़ बनाने उड़ चले थे, समाप्त सा हो जाता है, उनके पैरों के नीचे की धरती खिसकती सी मालूम पड़ती है, जीवन मूल्य बदल जाते हैं। कथानक-योजना, चरित्र-वर्णन, परिस्थिति-वातावरण चित्रण, वर्णन-कौशल, एवं

जीवनानुभूति आदि दृष्टियों से राजेन्द्र यादव की यह कृति नये उपन्यासों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

राजेन्द्र यादव का दूसरा उपन्यास 'प्रेत बोलते हैं' भी मध्यवर्गीय जीवन का यथार्थ वर्णन करता है। इसमें भी वर्तमान आर्थिक-सामाजिक जटिलताओं से उद्भूत मध्यवर्गीय कुंठाओं का सुन्दर चित्रण हुआ है। कथाकथन में सजीवता, सक्रियता और ताजगी का आकर्षण है।

विष्णु प्रभाकर

विष्णु प्रभाकर एक स्वस्थ मानवतावादी लेखक हैं। आपके 'निशिकान्त' तथा 'तट के बन्धन' नामक उपन्यासों की पर्याप्त चर्चा हुई है। 'निशिकान्त' तो उनके पिछले उपन्यास 'ढलती रात' का नवीन संस्करण-सा है। इसमें जो समस्याएँ उठाई गई हैं वे किंचित् पुरानी हैं—प्रेमचन्द युगीन। सन् १९२० से १९३९ के बीच देश की जो राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था थी उसीके चित्रण का प्रयत्न उपन्यास में किया गया है। हिन्दू मुस्लिम एकता, जात-पाँत तथा छूआछूत के भेद-भाव, विधवाओं की दयनीय स्थिति, आर्यसमाज तथा काँग्रेस के सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन, वर्ग-वैषम्य के परिणाम, सरकारी अफसरों-कर्मचारियों की धाँधली तथा देशव्यापी अशिक्षा-अज्ञान का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उपन्यास में वर्णन हुआ है। लेखक ने तत्कालीन समाज का उसके यथार्थ परिवेश में सर्वेक्षण करने का सफल प्रयत्न किया है। उसने समाज को ऊपर से, खुली आँखों जैसा देखा वैसा ही पूरी ईमानदारी के साथ चित्रित किया। उसकी आन्तरिक जटिलताओं में जाने का उसने प्रयत्न ही नहीं किया।" इसीलिये कुछ लोग इसके वर्णन को 'सतही' बताते हैं जिसमें गम्भीरता का अभाव है। वास्तव में लेखक इस उपन्यास में एक ओर वर्ग-वैषम्य के प्रति विद्रोह और दूसरी ओर आर्य-समाजी सुधार को साथ-साथ लेकर चला है किन्तु नायक के जीवन और आचरण से वर्ग-वैषम्य-विनाश को अधिक बल नहीं मिलता। उसका समाज-सुधारक रूप ही अधिक स्पष्ट होकर सामने आता है। निशिकान्त में समाज-सुधार का आर्यसमाजी जोश है। वह नौकरी छोड़कर अन्त में विधवा कमला से ब्याह कर लेता है। हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए लेखक ने एक हिन्दू का मुसलमान लड़की से विवाह कराया है। निशिकान्त प्रत्येक सामाजिक कुरीति के विरुद्ध पूरे उत्साह से खड़ा होता है। उसमें विचार की अपेक्षा भावना की प्रधानता है। नायक के चेतना-विकास में पर्याप्त कलात्मकता है। तत्कालीन समाज एवं उसकी समस्याओं को सहज-सरल ढंग से प्रस्तुत करने में उपन्यास सफल रहा है।

'तट के बन्धन' में प्रधानतया नारी-समस्याओं के चित्रण का प्रयत्न है। दहेज के कारण विवाह में कठिनाइयाँ, बिना इच्छा के लड़कियों का विवाह, दूसरी जाति वालों से विवाह करने में सामाजिक अड़चनें, पुरुष द्वारा स्त्रियों के अपहरण एवं बलात्कार आदि अनेक बातों, जिनसे आधुनिक लड़कियाँ पीड़ित हैं, का चित्रण उपन्यास में किया गया है। समस्या का समाधान यह दिया गया है कि लड़कियाँ स्वयं साहस के साथ आगे आवें और समाज की उपेक्षा करके अपने जीवन एवं भविष्य का दिशा-निर्देश करें। पुरुषों से पूर्ण सुधार की आशा करना दुराशा मात्र है। उन्हें तो स्वयं ही रूढ़ि-बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके अपना उद्धार करना होगा। इसी तथ्य को चरितार्थ करने के लिए अग्रवाल जाति की शशि ब्राह्मण सुनील से विवाह करती है, मालती अपने पति को पत्र द्वारा दहेज न लेने के लिए राजी कर लेती है और उसका पिता दहेज का झूठा वादा करके उसे धनी परिवार में ब्याह देता है, अनीला और नीलम भी साहस करके अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करती हैं। इस प्रकार लेखक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि नारियों को तट के बन्धनों को तोड़ कर अग्रसर होना चाहिए तभी उनका कल्याण होगा। इस उपन्यास में भी लेखक का सुधारवादी दृष्टिकोण स्पष्ट है यद्यपि वह सुधारवाद भी परम्परित न होकर भावनागत है। चित्रण में पर्याप्त स्वाभाविकता एवं मनोरमता है।

अन्य उपन्यासकार

उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त अनेक अन्य नये तथा पुराने लेखकों ने विभिन्न सामाजिक-वैयक्तिक समस्याओं तथा विविध जीवनानुभूतियों पर आधारित उपन्यासों की रचना की है। इन सबका विस्तृत विवेचन एवं मूल्यांकन यहाँ संभव नहीं। अतएव, कुछ प्रसिद्ध लेखकों तथा उनकी कृतियों का परिचयमूलक उल्लेख करके ही हमें सन्तोष करना पड़ेगा।

राहुल सांकृत्यायन

राहुल जी हिन्दी के पुराने लेखकों में से हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है और उन्होंने विभिन्न विषयों पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी हैं। प्रायः एक दर्जन उपन्यास भी आप लिख चुके हैं जिनमें कुछ ये हैं—'सोने की ढाल' (१९३७), 'विस्मृति के गर्भ में' (१९३७), 'जादू का मुल्क' (१९३८) 'जीने के लिए' (१९४०), 'सिंह सेनापति (१९४२), 'जय यौधेय' (१९४४), 'विस्मृत यात्री के देश में' (१९४८), 'मधुर स्वप्न' (१९५०), आदि। इनमें 'सिंहपति' तथा 'जय यौधेय' अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध हुए। ये दोनों ही ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

अपने समृद्ध ऐतिहासिक ज्ञान के आधार पर राहुलजी ने इन उपन्यासों में तत्काली समाज का अच्छा चित्रण किया है।

उषा देवी मित्र

वंग साहित्य की सम्पूर्ण सुकुमारता लेकर उषा देवी हिन्दी-उपन्यास साहित्य की ओर आई' और नारी की भावनाओं का बड़ा ही सजीव एवं कोमल चित्रण किया। आपके उपन्यास है—'वचन का मोल', (१९३६), 'जीवन की मुस्कान' (१९३९), 'पथचारी' (१९४०), तथा 'पिया' आदि। प्रायः इन सभी उपन्यासों में नारी-जीवन की किसी न किसी समस्या का चित्रण है। 'वचन का मोल' की नायिका है कजरी। इसमें हमें नारी के समस्त गुण मिल जाते हैं, प्रेम, दया, माया, ममता, करुणा आदि भावों की प्रतिमूर्ति यह कजरी है। उसमें प्रेम की वेदना है किन्तु वह कर्तव्य-ज्ञान से संयत है। देश-सेवा की ओर उसका झुकाव नारी की सेवाभावना की भित्ति पर ही आश्रित है। भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति का संघर्ष भी जगह-जगह परिलक्षित होता है। 'जीवन की मुस्कान' की नायिका सविता की सगाई बचपन में ही कमलेश से हो जाती है। बाद में कमलेश का विवाह अन्यत्र हो जाता है किन्तु सविता एक बार वाग्दत्ता होकर फिर दूसरे से विवाह करना पाप समझती है और आजीवन अविवाहित रह कर प्राचीन भारतीय आदर्शों का पालन करती है। 'पिया' की कथानायिका की समस्या बड़ी विषम है। वह एक विवाहित पुरुष से प्रेम करने लगती है किन्तु विवाहित होने के कारण जब वह उससे विवाह करने की असमर्थता दिखाता है तो वह देश-सेवा की ओर उन्मुख होती है और अपने प्रेम के आदर्श का निर्वाह करती है। उषा देवी के उपन्यासों में बड़ी भावुकता होती है। इनकी सभी नायिकाएँ रूढ़ियों से सताई हुई स्वयं में बड़ी करुण हो उठी है। बीच-बीच मे इन रूढ़ियों के प्रति नायिका ने तीव्र व्यंग भी किये है।

अनूपलाल मंडल

मंडल जी में पर्याप्त औपन्यासिक प्रतिभा है। वह बहुत दिनों से उपन्यास लिख रहे है और उनके 'निर्वासित', 'समाज की वेदी पर', 'साकी' 'रूपरेखा', 'ज्योतिर्मयी', 'गरीबी के वे दिन', 'ज्वाला', 'वे अभागे', 'मीमांसा', 'अभिशाप' आदि अनेक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से कुछ के तो दो-दो तीन-तीन संस्करण निकल चुके हैं। इनकी सर्वप्रियता का यही प्रमाण है। 'मीमांसा' बिल्कुल मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। इसकी भाषा और शैली दोनों ही जैनेन्द्र की भाषा-शैली की अनुगामिनी है। 'अरुणा' एक पतिता माँ की संतान है। उसकी सरल सुन्दरता पर मोहित होकर 'विजय उसे व्याह लाता है। परन्तु विजय

को पाकर भी उसका हृदय अपने अतीत इतिहास का स्मरण करके बँधा-बँधा सा ही रहता है। वह विजय को अत्यन्त प्यार करती है परंतु फिर भी उसके सामने अपने को पूर्ण रूप से अनावृत नहीं कर सकती। इधर विजय उसको पूरी पाना चाहता है और बहुत प्रयत्न करके भी जब सफल नहीं होता तो उदासीन सा हो जाता है। 'मल्लिका' की ओर आकर्षण विजय की उदासीनता का परिणाम है। अन्त में जब अपने पति का प्रेम दूसरे पर देख अरुणा मरने-मरने हो जाती है उसी समय मल्लिका की विवेक बुद्धि जागती है, वह हट जाती है और विजय फिर से अरुणा की ओर झुकता है। अपने पति पर अपने रहस्य को उद्घाटित करके अरुणा हलकी हो जाती है और फिर उनके हृदय पर विजय की पैठ हो जाता है। इस उपन्यास में विजय एवं अरुणा की आंतरिक ऊहापोह की सुन्दर मीमांसा की गई है। 'समाज की वेदी पर', 'चंद हसीनों की खुतूत' की भाँति पत्रों के रूप में लिखा गया है। इसमें एक वेश्या-बालिका एवं एक प्रोफेसर साहब के प्रेम की अलौकिक कहानी वर्णित है। जनता के द्वारा इस उपन्यास का बहुत स्वागत हुआ है। इसकी कहानी बड़ी मार्मिक एवं मनोरंजक है। वर्णन का ढंग बहुत ही हरदिल अजीज है। कथोपकथन बड़े ही सरस और चुस्त हैं। 'ज्योतिर्मयी' उपन्यास में एक हिन्दू-परिवार की करुण कथा अंकित है। लेखक का हृदय परिवार की कहानी में पूरी तरह रमा हुआ है। इस उपन्यास के कथानक का प्रधान पुरुष-पात्र 'सुशील' है और प्रधान स्त्री-पात्र उसकी छोटी भाभी 'ज्योतिर्मयी'। सुशील की बड़ी भाभी की दुष्टता से इस परिवार में बड़ी अशांति हो जाती है। बड़ी भाभी अपने देवरानी के बच्चे की हत्या कर डालती है। वह पागल हो जाती है। बड़े भाई योगी हो जाते हैं। इधर 'सुशील' 'उषा' के प्रेम में पड़कर उससे ब्याह कर लेता है। अन्त में 'उषा' की संपत्ति से एक मातृ मंदिर की आयोजना होती है जहाँ छोटी भाभी, ज्योतिर्मयी, उषा तथा सुशील के प्रयत्नों से परिवार के अन्य सदस्य इकट्ठे होते हैं और दुखी, निराश्रिता स्त्रियों की सेवा में अपना जीवन अर्पण करने का संकल्प करते हैं।

इस उपन्यास में घटनाओं की प्रधानता हो गई है जिसके जंजाल में चरित्र खो से गये हैं। अधिकांश चरित्र अपरिवर्तनशील हैं। शैली में कोई नवीनता नहीं है। अंत में भी नाटकीय आकर्षण का अभाव है। पात्रों के बाह्य का ही अधिकतर चित्रण हुआ है, उनके मन में पैठने का प्रयत्न नहीं मिलता। उपन्यास का सारा सौंदर्य और आकर्षण घटनाओं की संघटना में ही है, पात्रों में बहुत कम। इसमें जीवन के किसी गहन रहस्य का उद्घाटन भी नहीं हुआ है। फिर भी लेखक का हृदय परिवार की कहानी में पूरी तरह रमा हुआ है। उपन्यास में अनुभूति की कमी है।

कुछ चरित्रों का चित्रण भी सुन्दर हुआ है। 'किशोरी', 'सुशील' एवं उसकी मामी की लड़ाई भी बड़ी स्वाभाविक रीति से चित्रित की गई है।

अंचल

कविवर अचल ने 'चढ़ती धूप' 'उल्का' एवं 'नई इमारत' नामक उपन्यासों की रचना की है। यद्यपि 'उल्का' के मुखपृष्ठ पर बने हुए नग्नपुरुष एवं स्त्री के चित्र को देखकर यह धारणा होता है कि उपन्यास बाजारू है किन्तु बात ऐसी नहीं है। 'मंजु' नामक एक निर्धन लड़की की सहायता एक सहृदय नवयुवक करता है जिसे मंजु भाई की तरह मानती है। यह भाई जब मंजु के प्रति अपने प्रेम की घोषणा करता है तो वह उसे समझा-बुझाकर कर्तव्य समझाती है। वह इंगलैण्ड चला जाता है जहाँ मोटर दुर्घटना से उसकी मृत्यु हो जाती है। मंजु का विवाह एक कुपात्र से हो जाता है जिसके अत्याचारों को न सह सकने के कारण मंजु माँ के घर चली आती है। कवि प्रकाश को लेकर मंजु की बड़ी बदनामी हुई किन्तु वास्तव में वह कभी भी धर्म से च्युत न हुई। कहानी में काल्पनिकता अधिक है। मानव की कमजोरियों को पहचानते हुए भी सांस्कृतिक अनुशासनों के प्रति मिथ्या वफादारी दिखाई गई है। भाषा में काव्यात्मकता है जिसने संवादों को कृत्रिम बना दिया है। 'नई इमारत' सन् १९४२ के आन्दोलन को चित्रित करता है। इसमें मुसलमान महमूद एवं हिन्दू आरती के पवित्र प्रेम का वर्णन एव महमूद, आरती, प्रतिमा, बलराज आदि के अद्भुत त्याग एवं साहस का वर्णन है। प्रायः सन १९४२ के क्रान्ति की मोटी-मोटी सभी बातें ले ली गई हैं। किन्तु इस उपन्यास में भी काल्पनिकता अधिक है यथार्थता कम। आदर्शवाद का भी निर्वाह दिया गया है।

मन्मथनाथ गुप्त

प्रसिद्ध क्रांतिकारी मन्मथनाथ गुप्त भी अनेक उपन्यास लिख चुके हैं और इनके प्रत्येक उपन्यास में समाज की किसी बुराई पर आघात करने का प्रयत्न है। 'अवसान' नामक उपन्यास में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि मनुष्य को बुरा बनाने में अधिकतर समाज ही का दोष है व्यक्ति का नहीं। इस उपन्यास में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों, नारी की आर्थिक पराधीनता, सतीत्व के मापदण्ड तथा वेश्यावृत्ति आदि पर भी मानववादी सहानुभूति से विचार किया है। 'जययात्रा' की समस्या मुख्यतया हिन्दू मुसलमान के आपसी सम्बन्ध की है। साथ ही इस उपन्यास में जबरदस्ती गर्भिणी बनाई गई नारी की दयनीय परिस्थितियों को चित्रित करते हुए यह दिखाया गया है कि यद्यपि भ्रूणहत्या

अपराध है किन्तु कुछ परिस्थितियाँ ऐसी भी हो सकती हैं जिनमें गर्भपात एवं भ्रूण-हत्या क्षम्य हो। 'सुधार' में एक साहित्यकार के जीवन-संघर्षों का वर्णन है। वह बड़ी विषम परिस्थितियों में आगे बढ़ता है। 'गृह-युद्ध' में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि जब तक धर्म से छुटकारा न होगा, उसके प्रति विरक्ति न होगी तब तक हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य बना रहेगा और झगड़े होते रहेंगे। 'होटल डि ताज' में वेश्याओं के प्रति सहानुभूति दिखाते हुए उनके शोषण की कथा वर्णित है। वास्तव में उनके अनैतिक व्यापार का अधिकांश लाभ होटल के मालिक उठाते हैं और बेचारी वेश्या अपने शरीर की दुर्दशा करा करके भी अपना पूरा हिस्सा नहीं पाती। 'दुश्चरित्र' का कथानक गाँवों से सबधित है और उसमें पचों और पंचायतों की बुराइयों का वर्णन है। जब तक पचों को उचित ढग की शिक्षा नहीं मिलेगी गाँवों में वास्तविक न्याय नहीं हो पायेगा। 'अन्धेर नगरी' में लेखक ने चोरबाजारी तथा मुनाफाखोरी से मोटे बने हुए लोगों की सामाजिक स्थिति का सफल चित्रण किया है। ऐसे लोग अपने पैसे के बल से समाज के बने बैठे हैं और सामान्य जनता पिसती जा रही है। इस उपन्यास में पुन. गर्भपात की समस्या को उठाया गया है। 'जिच' में सन् १९४२ में जो देशव्यापी राजनीतिक क्रान्ति हुई उसकी सबलताओं-दुर्बलताओं का चित्र दिया गया है। 'चढ़ी' नामक उपन्यास में भी धर्म के अहितकर स्वरूप एवं इसके नाम पर किये गये उत्पातों का वर्णन है। लेखक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि साम्प्रदायिक वैमनस्य एव उत्पातों के मूल में साम्राज्यवादी प्रेरणा रहती है। कोरे अहिंसा के द्वारा साम्प्रदायिकता के विष को नहीं दूर किया जा सकता। 'रक्षक भक्षक' में डाक्टरों तथा ऐसे अन्य लोगों पर प्रहार किया गया है जो दूसरों का मुसीबतों से ही मोटे बनते हैं। 'दो दुनियाँ' में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि पाकिस्तान और हिन्दुस्तान बन जाने पर भी गरीबों और अमीरों की दुनियाँ पूर्ववत् है। गरीबों का स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। 'बहता पानी' में एक टूटे हुए क्रान्तिकारी के उद्देश्यहीन जीवन के भटकने की कहानी वर्णित है। 'काजल की कोठरी' में आधुनिक कलाकार का संघर्ष चित्रित है। वर्तमान युग में सर्वत्र यौन वासना तथा अर्थ-संचय की ही प्रधानता है और कला पर भी उसका बड़ा व्यापक तथा बुरा प्रभाव पड़ा है।

समाज का यथार्थ चित्र अंकित करने में गुप्ताजी को अच्छी सफलता मिली है। यद्यपि इतिवृत्तात्मक स्थूल वर्णनों से कहीं-कहीं पाठक का धैर्य खो जाता है किन्तु सीधी-सादी एवं सरल शैली में कथा कहने की कला में आप सिद्धहस्त हैं। रमणीय कथा-प्रसंगों, भावना-संवलित रूपचित्रों एवं मार्मिक व्यंगों से इनके उपन्यासों की रंजक शक्ति बढ़ गई है।

था। इसमें एक वेश्यापुत्री के जीवन-संघर्षों की कथा अंकित है। वह पापपंक से निकल कर पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहती है किन्तु विषम सामाजिक परिस्थितियाँ पग-पग पर उसे बाधा देती हैं। उपन्यास में विशेष चमत्कार न होते हुए भी वह सहज संवेदना एवं मर्मस्पर्शिता से पूर्ण है। **यादवेन्द्रनाथ शर्मा 'चन्द्र'** ने 'पथ-हीन' तथा 'दिया जला दिया बुझा' नामक उपन्यास लिखे हैं। इनमें दूसरा उपन्यास ह्रासोन्मुखी सामन्ती संस्कृति का सूक्ष्मता से वर्णन करता है। इसमें राजस्थान के एक ठाकुर की कामलिप्सा का सजीव चित्रण हुआ है। उपन्यास में ताजगी का आकर्षण है। **इन्द्रविद्या वाचस्पति** के 'सरला की भाभी' तथा 'अपराधी कौन' नामक उपन्यास मार्मिक हैं। 'अपराधी कौन' में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार एक बुद्धिमान उत्साही बालक गरीबी के कारण अपराध के पथ पर चलता हुआ पक्का चोर हो जाता है। **कर्त्तार सिंह दुग्गल** ने 'चोली दामन' तथा 'चील और चट्टान' आदि उपन्यास लिखे हैं। 'चोली दामन' में सन् १९४७ के भारत-विभाजन के समय का परिस्थितियाँ चित्रित हैं। साम्प्रदायिक विष फैलाने वाले मुसलमानों की कट्टरता, दंगे-फसाद तथा कैम्प जीवन के जीते-जागते चित्र इस उपन्यास में अंकित हैं। इसमें मनुष्य की पाशविकता तथा देवत्व दोनों की झाँकियाँ हैं। यद्यपि पात्रों के जमघट में किसीका व्यक्तित्व पूरी तरह विकसित नहीं हो पाता फिर भी अनेक पात्र अपनी सजीवता के कारण मन पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं।

शुद्ध प्रयोग की दृष्टि से लिखे गये उपन्यासों में **सर्वेश्वर दयाल सक्सेना** का 'सोया हुआ जल' तथा **नरेश मेहता** का 'डूबते मस्तूल' उल्लेखनीय हैं। 'सोया हुआ जल' 'सिनेरियो शिल्प में लिखा हुआ नवीन कथा-प्रयोग' है। डिमाई साइज के ३७ पृष्ठों की कृति को—जिसके प्रथम तथा अन्तिम पृष्ठों पर दो रेखाचित्र भी हैं—'सम्पूर्ण लघु उपन्यास' कहा गया है। उपन्यास की अवधि रातभर की है। किसी ताल के किनारे एक पान्थशाला के विभिन्न कमरों में भिन्न प्रकार के लोग ठहरे हुए हैं—विवाहित पति-पत्नी, घर से भाग खड़े होने वाले प्रेमी-प्रेमिका, शोरगुल, कहकहे मचाने वाले 'ब्रिज' के खेल में मशगूल अलमस्त नवजवान जिनमें शराबी भी हैं, साम्यवादी भी हैं। 'बीच के गलियारे में एक बूढ़ा पहरेदार टहलता है जिसके कानों में कमरे में होनेवाली बातचीत पड़ती है, या घटित होनेवाले दृश्य दीख जाते हैं। वह मानों उपन्यासकार की सर्वग्राही किन्तु मूल्यादर्शों की अन्वेषक दृष्टि की भाँति कभी-कभी बाग की बेंच पर बैठ कर स्वप्न देखता है' ····और इस प्रकार सीनेरियो शिल्प के छोटे-छोटे स्नैपशॉट, प्रतीकात्मक प्रभाव, और फैन्टेसी के धरातल पर कथानक विकसित होता चलता

है।" इस कृति के परिचय में बताया गया है "कि हिन्दी के नये लेखन में जो महत्त्वपूर्ण मानवीय धरातल उभर रहा है, टूटती हुई मर्यादाओं और बिखरती हुई निष्ठाओं के बीच मानवीय मूल्यों के प्रति जो आस्था पनप रही है, सामाजिक रूढ़ियों और राजनीतिक भ्रान्तियों को चीर कर मनुष्य की आन्तरिकता पर आधारित जिस नई मर्यादा का उदय हो रहा है उसकी ओर लेखक ने बड़े साहस से संकेत किया है।" किन्तु वास्तव में नवीन रूप-शिल्प—प्रयोग की आकांक्षा ही इस कृति की मूल प्रेरक वृत्ति है। बहुत थोड़े से अवकाश में अनेक पात्रों के रेखा-संकेत द्वारा तथा छायाओं और स्वप्नों के सहारे कुछ बातें व्यंजित की गई हैं जिनमें कोई वैचारिक नवीनता नहीं है। किसी पात्र का व्यक्तित्व उभर कर सामने आया भी नहीं है। यदि कृति को उपन्यास कहा जाय तो उपन्यासों का नया वर्गीकरण करना होगा और सम्भव है कभी नाटकों को भी उसके अन्तर्गत समेट लिया जाय।

'डूबते मस्तूल' रूप-शिल्प तथा विषय-वस्तु दोनों ही दृष्टियों से एक नवीन प्रयोग है। इसमें कथा-कथन की अवधि एक दिन तथा रात दो बजे तक है। स्वामीनाथन नामक एक व्यक्ति लखनऊ अपने एक मित्र पुरी के यहाँ आता है। वहाँ पुरी तो नहीं मिलते किन्तु उनके ही बँगले के आधे भाग में रहने वाली रंजना नाम की एक परम रूपवती नारी मिलती है। अपने विगत जीवन के इतिहास को इस अपरिचित व्यक्ति को सुनाने के लिए वह उसे अपने पूर्व प्रेमी अकलंक बताती है। बेचारा स्वामिनाथन हैरत में पड़ जाता है किन्तु रंजना ऐसा अभिनय करती है कि वह भी अकलंक बनकर उसकी कथा सुनता है। बाद में रंजना पत्र द्वारा उसे बता भी देती है 'आमि जानी के तुमि अकलंक नेई, कारण अकलंक नाम के व्यक्ति को तो अंडमान से भागने के अपराध में आज से दस वर्ष पूर्वई गोली मार दी गई थी।" यही इस उपन्यास की शिल्पगत नवीनता है।

इस उपन्यास की कथा नारी-शरीर की दुर्गति की कथा है। रंजना से अनेक पुरुष प्यार करते हैं, विवाह करते हैं और भोग करते हैं। यौवन की प्रथम रश्मि में वह कबीले पठान के लड़के सैयद से प्यार करती है, चुपके-चुपके निकाह कर लेती है, उसकी उपभोग्या बनती है और यह जानकर कि वह उसे बेचना चाहता है गोली मार देती है। पिता के साथ लाहौर भाग आकर वह कालेज में पढ़ती है—नन्दलाल और अकलंक से प्यार करती है और एम० ए० पास करके एक 'सर' के लड़के से ब्याह दी जाती है। वहाँ उसे एक लड़की पैदा होती है किन्तु बदले के भाव से सैयद का भाई वहाँ से उसे गायब कर देता है और वह उसकी मार और वासना-तृप्ति का साधन बनती है। बाद में वह मिलिट्री

अस्पताल की सिस्टर बनती है जहाँ उसे कर्नल टामस का प्यार मिलता है साथ ही बटैलियन अफसर रेनाल्ड उसके साथ बलात्कार करता है। अन्त में मेजर जान्स्टीन से विवाह करके वह हालैण्ड पहुँचती है। वहाँ जान्स्टीन का मित्र कलाकर वान निकोलस उसके रूप पर रीझ उठता है। उसे वहाँ एक लड़का पैदा होता है। जान्स्टीन लड़ाई के सिलसिले में बाहर जाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है और रंजना वान के प्यार से बच कर पुन भारत आती है। यहाँ उसका सम्बन्ध मेजर कुलकर्णी से होता है और विवाह हो जाता है। इसके शरीर का उपभोग कर लेने के उपरान्त इसकी विगत जीवन गाथा जानकर कुलकर्णी भी उसे घृणा करता है और उसे छोड़ देता है। उधर वान प्रेम में निराश होकर—धीरे-धीरे जलता हुआ जीवन समाप्त कर देता है। इस प्रकार लेखक ने अपनी कल्पना के अनुसार रजना को एक परिस्थिति से निकाल कर दूसरी परिस्थिति में रखते हुए सीमा प्रान्त से लाहोर, लाहोर से बम्बई, वहाँ से विभिन्न सैनिक छावनियों, फिर हालैण्ड मे घुमाते हुए बम्बई और लखनऊ में पहुँचा दिया है।

उपन्यास पर्याप्त मनोरंजक है। इसमें नारी रूप का, उसकी चेष्टाओं का तथा वातावरण का मनोरम वर्णन है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को अनेक दृष्टियों से देखकर उस पर विचार करने का प्रयत्न किया गया है। पुरुष के द्वारा अत्याचारिता नारी का अपने तथा कामुक पुरुषों के विश्लेषण का विस्तार से प्रयास है। किन्तु रंजना हमारी करुणा नहीं प्राप्त कर पाती। लगता है उसकी जीवन-गति का निर्देशन नियति नही लेखक कर रहा हो इसलिए सम्पूर्ण कथा काल्पनिक एवं मिथ्या सी मालूम पड़ती है।

उपर्युक्त उपन्यासकारों के अतिरिक्त इधर अनेक नवीन लेखक उदित हुए हैं जिनकी कृतियाँ जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रण करती हैं। **कृष्णबलदेव वैद**—'मेरा बचपन', **कमलेश्वर**—'एक सड़क सत्तावन गलियाँ', **गिरीश अस्थाना**—'धूल भरे चेहरे', **ओमप्रकाश**—'लकीरें', **जितेन्द्र**—'ये घर ये लोग', **गोविन्द सिंह**—'एक आदमी दो चेहरे', 'मधुछदा', 'लाल बाग', 'अस्वीकृत, १९५७, नादिरशाह', **हर्षनाथ**—'उड़ती धूल', 'धरती धूल', 'बादल', **करुणेन्द्र**—'इन्सानियत फिर भी जीवित है', **अरुणप्रकाश जैन**—'तीसरा नेत्र', 'कठपुतली के धागे', **राधाकृष्ण**—'फुटपाथ', **भिक्खु कृष्णचन्द्र शर्मा**—'सक्रांति', **बलवन्त सिंह**—'कालेकोस', **शिवरानी विश्नोई**—'भीगी पलकें', **इन्दिरा नुपुर**—'सपने मान और हठ', **रामप्रकाश कपूर**—'प्लेटफार्म', आदि की कृतियों में अच्छी सम्भावना निहित है।

उपसंहार

पिछले दो दशकों में रचित उपन्यासों के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी के इस साहित्य-रूप ने विभिन्न दिशोन्मुखी प्रगति की है। प्रेमचंद-युग प्रधानतया सामूहिक समस्याओं एवं प्रयत्नों का युग था। ये समस्याएँ स्पष्ट थीं और जनसाधारण के सामने थीं। ये मुख्यतया निम्न तथा मध्यवर्ग से सम्बन्धित थीं। युग का नैतिक आग्रह प्रबल था। युग-पुरुष प्रेमचन्द ने भारतीय जीवन को अपेक्षाकृत स्थायी प्रवृत्तियों एवं संस्कृति के परम्परित मूल्यों को चुनकर वर्णन किया। उनकी कृतियों में आस्था का स्वर है, उनकी दृष्टि बड़ी ही स्वस्थ एवं सन्तुलित है किन्तु परिस्थितियाँ बड़े वेग से परिवर्तित हो रही थीं और उनके बाद के अधिकांश उपन्यास इन सामयिक स्थितियों को उनकी विविधता-विभिन्नता में चित्राधार बनाकर चले। प्रेमचंदोत्तर उपन्यास अधिकांश साधारण से विशेष, समूह से व्यक्ति, आदर्श से यथार्थ, परम्परा से प्रयोग, आस्था से अनास्था की ओर उन्मुख हैं। इस युग में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व्यवस्था में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए हैं और नित नवीन जीवन-स्थितियाँ सामने आयी हैं। धर्म पर काम और अर्थ हावी हो गये हैं और व्यक्तिगत स्वार्थ ने नैतिक आग्रहों को पराभूत कर दिया है। चारों ओर अस्तव्यस्तता, बिखराहट, शंका, संघर्ष, कुंठा का वातावरण व्याप्त है। इन दो दशकों के उपन्यासों में इन परिस्थितियों की छाया है।

प्रेमचन्द ने अधिकतर समूह और वर्ग की मनोवृत्तियों का वर्णन किया था। आलोच्य युग में आकर व्यक्ति-मन का विश्लेषण आरम्भ हुआ। लेखक ने यह अनुभव किया कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वभाव-संस्कार होता है, विशेष जीवन-स्थितियाँ एवं समस्याएँ होती हैं और इन्हीं के अनुसार उसके मन, वचन एवं कर्म का संचालन होता है। अतएव मनोवैज्ञानिक की भाँति उसने मानव-मन के मूल स्रोतों तक पहुँचने का प्रयास किया और मनुष्य के विचार, वचन एवं कर्म की असंगतियों के कारणों की ओर संकेत किया। ताप-मापक यन्त्र की भाँति लेखक ने मानव-मन के सूक्ष्मतम कम्पन-स्पन्दन के अंकन का प्रयत्न किया और मनुष्य का आन्तरिक यथार्थ, उसका मनोजगत अपनी सम्पूर्ण विचित्रताओं में प्रकाशित हो उठा। इस प्रकार व्यक्ति को अधिक वैयक्तिकता प्राप्त हुई और चरित्रों में विविधता आयी। हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में जैनेन्द्र, जोशी और अज्ञेय ने मानव-मन की विभिन्न संचरण-भूमियों का मार्मिक विश्लेषण किया। इनके चित्रण में पर्याप्त गम्भीरता, यथार्थता एवं रमणीयता है। इनके द्वारा निर्दर्शित मनोविश्लेषणात्मक पद्धति का आगे चलकर अच्छा उपयोग हुआ और यत्र-तत्र दुरुपयोग भी हुआ। जहाँ उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक पूर्वाग्रहग्रस्त होकर अग्रसर हुआ, सिद्धान्तों के प्रति-

पादनार्थ चरित्रांकन करने लगा वहाँ कला दब गई और चरित्रों में प्राणवत्ता नहीं आ सकी। स्वय जोशी में कहीं-कहीं मनोविश्लेषण का पूर्वाग्रह प्रमुख हो उठा है। अज्ञेय ने शेखर में यत्रतत्र मनोग्रथियों के उदाहरण प्रस्तुत कर दिये हैं। किन्तु यह मानना होगा कि इस पद्धति ने चरित्र चित्रण की एक नवीन मानवीय कला की उद्भावना की और आगे चलकर इसका बड़ा ही स्वस्थ एव सतुलित प्रयोग हुआ। यशपाल, अश्क, द्विवेदी तथा इधर के लेखकों की कृतियों में विभिन्न मनोभूमियों के मनोरम शब्द-चित्र अंकित किये गये।

प्रेमचन्द्र तथा उस युग के अन्य उपन्यासकारों ने अधिक्तर गान्धीवादी आन्दोलनों का चित्रण किया जिसमें नेताओं की त्याग-तपस्या का ही आदर्शवादी ढंग पर वर्णन है। आगे चलकर क्रान्तिकारी एव साम्यवादी प्रयत्नों तथा सिद्धान्तों का भी वर्णन हुआ। और राजनीतिक पार्टियों तथा नेताओं की कार्य-प्रणालो के विवेचन-विश्लेपण में व्यंग-शैली का प्रादुर्भाव हुआ। इस शैली का सर्वाधिक प्रयोग यशपाल ने किया और आगे चलकर नवयुवक लेखकों ने इसे खूब निखार दिया। वर्त्तमान युग में जब कि राजनीति स्वार्थ-साधन का प्रधान माध्यम बन गयी है हमारे उपन्यासकारों ने राजनीतिक गतिविधि एवं नेताओं के विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से बड़े ही सजीव चित्र अंकित किये जो आद्यन्त व्यग से ओत-प्रोत हैं। पुरानी पीढ़ी के लेखकों में भगवती चरण वर्मा, यशपाल, अश्क, तथा नवीनों में नागार्जुन, रेणु आदि के इस विषय के शब्द-चित्र बड़े ही मार्मिक एवं जीवनवत् हैं। किन्तु यहाँ भी प्राय पूर्वाग्रहों ने लेखक की दृष्टि को चित्र के दूसरे पहलू पर नहीं जाने दिया है और उनके वर्णन में एकांगिता एवं व्यंग में कटुता उभर आयी है। यह बात प्राय उन्हीं लेखकों में अधिक है—जैसे यशपाल, अमृतराय तथा नागार्जुन आदि—जो किसी राजनीतिक पार्टी से सम्बन्धित हैं और अपनी कृति को किंचित् प्रचारात्मक मूल्य भी देना चाहते हैं। अन्य लेखक, जो मात्र चित्रकार हैं चित्र के भले-बुरे सभी पहलुओं के अनावरण के प्रयत्न करते हैं। इस दृष्टि से अमृतलाल नागर, तथा रेणु आदि अधिक संतुलित हैं।

इस युग में नैतिक पूर्वाग्रह बहुत कुछ शिथिल हुए हैं और नवीन नैतिक मूल्यों की स्थापना हुई है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को विशेष परिस्थितियों के प्रकाश में, उदारतापूर्वक देखने का प्रयत्न किया गया और काम-प्रवृत्ति को एक अनिवार्य मानवीय भूख के रूप में ग्रहण किया गया। यौन-स्खलन को पाप घोषित कर पापी के प्रति घृणा की भावना उद्बुद्ध करने के स्थान पर स्खलित व्यक्ति की दुर्निवार परिस्थितियों के प्रति सहानुभूति जागृत करने का प्रयत्न इस युग की प्रमुख औपन्यासिक प्रवृत्ति बन गया। जैनेन्द्र से लेकर रेणु तक प्रायः सभी प्रमुख लेखकों की

यही प्रवृत्ति रही। जिनमें कलात्मक तटस्थता, एवं सन्तुलन का अभाव रहा, सामाजिक स्वास्थ्य के प्रति उपेक्षा रही, उन्होंने यौन विकृतियों का रस लेकर वर्णन किया किन्तु सहानुभूतिशील होते हुए भी सामाजिक आवश्यकताओं के प्रति जो कलाकार सजग एवं सतर्क रहे उन्होंने स्त्री-पुरुष-आकर्षण एवं सम्बन्धों को अधिकतर मानसिक स्तर पर ही रखा और उससे उद्‌भूत वेवसी एवं मानवीय वेदना पर ही अधिक जोर दिया। धर्म एवं सामाजिक नैतिकता के ह्रास का चित्रण भी इस युग के उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्ति रही। इन सवका परिणाम यह हुआ कि हमारे उपन्यासों में अनास्था का स्वर प्रवल पड़ता गया किन्तु साथ ही ऐसे उपन्यास भी प्रचुर परिमाण में आये जिनमें मानवीय सद्‌भावना एव नियति के प्रति आस्था की मनोरम, स्वस्थ एवं कल्याणकारिणी अभिव्यक्ति मिली। वास्तव में मानव-विकृतियों के यथार्थ फोटो-चित्रण से कला के उच्चतम आदर्श की अभिव्यक्ति संभव नहीं। हमें सन्तोष होता है यह देखकर कि इस चतुर्मुखी ह्रास, विखराहट, कुंठा, अनास्था एवं यौन-अराजकता के युग में भी सुनीता, शशि, भट्टिनी, निउनियाँ, सुधा, ताजमनी जैसी चरित्र-सृष्टि हो सकी। वास्तव में यथार्थ के आग्रह से केवल मानवीय दुर्वलताओं के नग्न चित्रण में साहित्य की सिद्धि नहीं है। मानवीय आत्मा के इस पतनोन्मुख युग में यदि साहित्यकार भी पतन का ही यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता रहेगा तो मनुष्य की महत्ता में हमारा विश्वास विल्कुल ही समाप्त हो जायगा और हमारे जीवन का मूलाधार ही खिसक जायगा। 'घेरे के वाहर' जैसे अश्लील उपन्यासों से हमें सतर्क हो जाना है।

आज के उपन्यास की वड़ी ही सहज लक्ष्य प्रवृत्ति है सामान्य के स्थान पर विशेष का चित्रण। लगता है जैसे जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देख लेने के उपरान्त कलाकार उसके विभिन्न अङ्गों का निरीक्षण कर रहा है। सामाजिक यथार्थ की तीव्र अनुभूति ने उसे यह प्रेरणा दी है। पश्चिम के प्रकृतिवाद से भी वह प्रभावित हुआ है। परिणामस्वरूप विभिन्न वर्ग, जाति, अवस्था, स्वभाव-पेशा, परिस्थिति वाले व्यक्तियों की आकृतियों, मुद्राओं, पहनावे, वोली-वानी, क्रिया-कलाप आदि के सूक्ष्म व्योरों के वर्णन द्वारा यथार्थता की अनुभूति उत्पन्न कराने की प्रवृत्ति प्रवल पड़ती जा रही है। अश्क ने अपने उपन्यासों में छोटी-छोटी तफसीलों पर वड़ा जोर दिया। आगे चलकर देश-काल-चित्रण में व्योरों की प्रवृत्ति और भी वढ़ी और आंचलिक संस्पर्श तथा स्थानीय रंग देने के प्रयास में अनेक लेखकों ने यथार्थ चित्रण-कौशल को एक विशेष गरिमा दी। देश के किसी विशेष भूभाग को आधार वनाकर वहाँ की भौगोलिक स्थिति, प्रकृति—ताल-पोखर, नदी-नाले, मैदान-टीले, वाग-वगीचे, खेत-खलिहान, जीव-जन्तु, चिरई-चुनमुन—

सामाजिक रीति-व्यवहार, आर्थिक अवस्था, राजनीतिक हलचल, वेषभूषा, लोक-गीत, बोली-बानी आदि का छोटे-छोटे ब्योरों में विशद चित्रण, जिससे वह अंचल अपनी भेदक विशेषताओं में प्रत्यक्ष हो उठे, इस युग की एक प्रमुख प्रवृत्ति हो गई है। आंचलिक उपन्यास-लेखकों में नागार्जुन तथा रेणु का वर्णन-कौशल अद्वितीय है। स्थानीय विशेषताओं को उभार कर उनमें रूप-रंग भर कर किसी स्थान की संस्कृति सजीव कर देने की दिशा में 'बहती गंगा', 'बूँद और समुद्र' तथा 'सेठ बाँकेमल' महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इधर के अनेक अन्य उपन्यासों में आंचलिक संस्पर्श तथा स्थानीय रग बड़ी ही स्पष्टता से अङ्कित हुए हैं। इस सम्बन्ध में भी थोड़ी सतर्कता अपेक्षित है। प्राय देखा गया है कि ब्योरों के मोह में, फोटो-चित्रण के प्रयास में लेखक संतुलन खो बैठता है। वह वस्तु, पात्र एवं वातावरण में सामंजस्य नहीं रख पाता और परिणाम यह होता है कि कथानक-सौष्ठव, एवं व्यक्तित्व-निर्माण की दृष्टि से उपन्यास पूर्ण नहीं बन पाता। जीवन्त चित्रों की विविधता तथा आंचलिक सस्पर्श की दृष्टि से अनुपम होते हुए भी 'मैला आँचल' का कथानक बिखरा हुआ-सा लगता है। विभिन्न प्रकार के स्त्री-पुरुषों के जमघट में एक भी पात्र ऐसा नहीं जो अपने सबल व्यक्तित्व से हमें प्रभावित करे। वह इतनी जल्दी में आते और चले जाते हैं कि उनका स्थायी प्रभाव हम पर नहीं पड़ता। कथा का प्रवाह भी वर्णन बाहुल्य में अवरुद्ध हो उठता है। आज के इन प्रतिभावान उपन्यासकारों को कथानक-सौष्ठव, प्रभावपूर्ण सशक्त चरित्र-सृष्टि, एवं रमणीयता की दृष्टि से ओझल न होने देना चाहिए।

जहाँ तक रूप शिल्प का सम्बन्ध है यह युग प्रयोग का रहा है। उपन्यासों के नाम अधिकाधिक आकर्षक, प्रभावपूर्ण, प्रतीकात्मक तथा व्यंजनात्मक रखे गए हैं। नवीन विषयवस्तु, नूतन चेतना, सूक्ष्मतम संवेदना, कुंठित व्यक्तित्व, जटिल परिस्थिति आदि के वर्णन-प्रयास में पुरानी शैली असफल सिद्ध हुई और प्रतिभावान कलाकारों ने कथ्य के अनुरुप नूतन कथन-प्रणाली का प्रयोग किया और भाषा-शैली अत्यधिक व्यंजक एवं समर्थ हो उठी। इसके लिए प्राचीन कथा-कथन, संस्मरण, डायरी, नाट्य-कौशल, 'सिनेरियो फोटोग्राफी', काव्य आदि से उपकरण एकत्र किये गये और उपन्यासों के अनेक रूप-विधान सामने आये। इनमें कुछ तो कथ्य के अनुरोध एवं वास्तविक कला-प्रेरणा से उद्भूत होने के कारण बड़े ही मार्मिक एवं मनोरम हैं किन्तु साथ ही केवल नवीनता और प्रयोग की भावना से प्रेरित कतिपय उपन्यास अपनी विचित्रता और अनोखेपन को ही लेकर रह गये। इस प्रकार की कृति में नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' का उल्लेख किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी उपन्यास ने इस युग में अपूर्व प्रगति की

है। पुरानी पीढ़ी के अनेक लेखक आज भी सक्रिय हैं और बदली हुई परिस्थिति के अनुसार जीवन-चित्रण का प्रयास कर रहे हैं। साथ ही नई पीढ़ी के दर्जनों प्रतिभावान लेखक अपने समय की कटु-मधुर अनुभूतियों, उलझनों, समस्याओं से अवगत हो अभूतपूर्व उत्साह, आत्मविश्वास एवं वर्णन-कौशल लेकर इस क्षेत्र में अवतरित हुए हैं। परिणामस्वरूप भारतीय जीवन के अनेक अछूते अङ्ग वर्णन के विषय बने हैं और नवीन सामाजिक सन्दर्भ में उठते-उभरते हुए नये मानव की आशा-आकांक्षा, एवं जीवन-संघर्षों को स्वर मिला है। ये सब हमारे साहित्य विकास के बड़े ही स्वस्थ एवं आशाप्रद लक्षण हैं।

———

परिशिष्ट

पंचम प्रकरण

उपन्यास के उपकरण

अपने वर्त्तमान रूप में उपन्यास पश्चिम की देन है। अन्य साहित्य-रूपों की अपेक्षा इसमें अब भी नवीनता का रंग है। साहित्य के पण्डितों ने इसके मूल उत्स को ढूँढ निकालने का श्रमसाध्य प्रयत्न किया है। वास्तव में कथा-कहानियों के प्रति मनुष्य के सहजात कुतूहल ने ही विभिन्न कथा-काव्यों को जन्म दिया। भारतवर्ष में वैदिक काल से ही यह प्रवृत्ति विभिन्न रूप-रंगों में अभिव्यक्त होती रही। वैदिक कहानियों में, महाकाव्यों तथा पुराणों में, बौद्ध जातकों में, परवर्ती संस्कृत के मनोरंजक, उपदेशात्मक तथा काव्यात्मक कथाओं में, अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों में, हिन्दी के 'रासों' ए' प्रेमाख्यानकों में कथा के माध्यम से जीवनानुभूतियों के अभिव्यंजन का प्रयत्न होता रहा। यूनान में 'इलिएड' और 'ओडेसी', फ्रांस में 'ट्रूवेयर्स', जर्मनी में 'मिनेसिंगर्स के गाने' तथा इंगलैण्ड की ऐतिहासिक दतकथाएँ 'क्रॉनिकिल्स' और गीत 'बैलेड्स' इस प्रवृत्ति के प्रमाण हैं। 'रोमांस' के नाम से अभिहित प्रेम तथा साहस की कल्पनाप्रधान एवं आदर्शात्मक पद्यबद्ध कहानियों के स्थान पर जब गद्य के माध्यम से वास्तविक जीवन की जटिलताओं का चित्रण आरम्भ हुआ तो उसे नावेल नाम से अभिहित किया गया क्योंकि उसका रूप-रंग नितान्त 'नया' था। उपन्यास शब्द आज अंग्रेजी 'नावेल' के ही अर्थ में व्यवहृत होता है। रोमांस और उपन्यास का अन्तर स्पष्ट करते हुए क्लेरा रीव ने लिखा "उपन्यास यथार्थ जीवन और व्यवहार का तथा उस युग का जिसमें वह निर्मित हुआ एक चित्र है। उन्नत और उदात्त भाषा में रोमांस उन सबका वर्णन करता है जो न कभी घटित हुए हैं और न जिनके घटित होने की सम्भावना है। उपन्यास उन परिचित वस्तुओं का वर्णन करता है जो प्रतिदिन हमारे सामने घटित होती हैं, जो हमारे या मित्रों के अनुभव की हैं। उपन्यास की परिपूर्णता इसी में है कि वह हरेक दृश्य का वर्णन ऐसे सहज-सरल रूप में करे कि वह पूरी तरह सम्भाव्य हो उठे और हमें (कम से कम उपन्यास पढ़ते समय)

यथार्थ की प्रतीति या भ्रम होने लगे। हम सोचने लगें कि उपन्यास के पात्रों के सुख दुख हमारे सुख-दुख हैं।"[1]

इस प्रकार काव्य तथा रोमांस के विपरीत उपन्यास यथार्थ जीवन का चित्र है। मनुष्य की जीवन-धारा चिर प्रवाहशील, प्रगतिशील है। देश और काल के अनुसार उसमें सदैव परिवर्तन हुए हैं। उसके क्रिया-कलाप, पारस्परिक व्यवहार, मनोदशा, रागात्मक आकर्षण-विकर्षण के रूप एवं क्षेत्र समय के प्रवाह में बदलते रहे हैं। उसके मन पर असंख्य संस्कार पड़ते गये हैं, मनोग्रन्थियाँ बनती गई हैं और उसके व्यवहार में विविधता विचित्रता आती गई है। उपन्यास इस प्रगतिशील मानव को यथार्थ परिवेश में चित्रित करने का प्रयत्न करता है। यही कारण है कि उपन्यास भी बराबर प्रगतिशील रहा है। सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन के सूक्ष्मतम परिवर्तनों को ग्रहण करते चलने की आकांक्षा में उपन्यास भी चित्रण की नवीन शैलियों को अपनाता चला है। लेखक की प्रतिभा, अनुभूति एवं सवेदना के अनुसार उपन्यास अपनी निजी विशिष्टता बनाते गये। यही कारण है कि यह साहित्य का सबसे स्वच्छन्द, सबसे निर्बन्ध स्वरुप माना गया और इसकी समीक्षा के मापदण्ड कभी स्थिर तथा सर्वमान्य नहीं हो सके। उपन्यास के जो तत्व निश्चित किये गये हैं उनकी इतनी ही उपयोगिता है कि उनके सहारे हम एक सीमा तक उपन्यास की वस्तु एवं शिल्पगत विशेषताओं का परिचय प्राप्त कर सकें। इसके पूर्व कि हम उपन्यास के तत्वों का वर्णन करें हमें उपन्यास तथा कथात्मक साहित्य के अन्य-रूपों—महाकाव्य, नाटक, छोटी कहानी—के अन्तर को समझ लेना चाहिए।

उपन्यास और महाकाव्य

कविता का जो रूप उपन्यास के कुछ समीप है वह है महाकाव्य। उपन्यासों

---

[1] दी नॉविल इज ए पिक्चर ऑफ रियल लाइफ एण्ड मैनर एण्ड ऑफ टाइम इन व्हिच इट इज रिटन। दी रोमान्स इन लॉफ्टी एण्ड एलीवेटेड लैंग्वेज, डिस्क्राइबज व्हिच नेवर हेप्पण्ड नॉर इज लाइकली टू हैपेन दी नोवेल गिव्ह्ज ए फेमिलियर रिलेशन ऑफ सच थिंग्स् एज पास एवरी डे बिफोर अवर आइज सच एज मे हैपेन टु अवर फ्रेण्ड्स ऑर टु अवरसेल्व्ज् एण्ड दी परफेक्शन ऑफ इट इज टु प्रेझेंट एवरीसीन इन सो इजी एण्ड नेचुरल ए मैनर एण्ड टु मेक देम ऐपियर सो प्रोबेबिल एज टु डिसीव अस इन टु परस्वेशन (एट लीस्ट व्हाइल वी आर रीडिंग) दैट ऑल इज रियल अण्टिल वी आर एफेक्टेड बाइ जॉयज एण्ड डिस्ट्रेसेज ऑफ परसन्स इन दि स्टोरी एज इफ दे वेअर अवर ओन,"—दि प्रोग्रेस ऑफ रोमान्स।

को गद्यमय महाकाव्य (एपिक इन प्रोज) कहा भी गया है। इसी प्रकार महाकाव्यों को भी हम पद्यमय उपन्यास (नॉविल इन् वर्स) कह सकते हैं। उपन्यास और महाकाव्य दोनों में ही कुछ व्यक्तियों के साथ कुछ घटनाएँ किसी विशेष क्रम से घटित होती हैं। दोनों में ही वर्णन की प्रधानता रहती है। उपन्यास और महाकाव्य दोनों ही विषय-प्रधान होते हैं। कवि अपनी कृति में छिपा-सा रहता है। दोनों तरह के काव्यों में जीवन की विविध दशाएँ सामने लानेवाले घटनाचक्र, वस्तु-वर्णन और भावव्यंजना के ठीक ठीक परिमाण की व्यवस्था अपेक्षित होती है। कथा-प्रवाह या संबंध-निर्वाह उपन्यास और महाकाव्य दोनों की प्रधान आवश्यकता है।

उपन्यास और महाकाव्य इतने समीप होते हुए भी दो भिन्न कृतियाँ हैं। महाकाव्यों का अलग ही आदर्श होता है। अधिकतर महाकाव्यों में महान् व्यक्तियों तथा महान् कार्यों का ही संनिवेश होता है। स्थल-स्थल पर कवि अद्भुत तथा अलौकिक का भी प्रयोग करने में नहीं हिचकता। परन्तु उपन्यास साधारण से साधारण व्यक्तियों को भी लेकर लिखा जा सकता है और लिखा जाता है। उपन्यास तो हमारे प्रतिदिन के जीवन की वस्तु है। उसमें हमारे ही समान मनुष्य और प्रतिदिन के जीवन में घटित होनेवाली घटनाएँ होती हैं। उसमें अधिकतर यथार्थ का ही चित्रण होता है और सजीवता ही उसकी सफलता का रहस्य है। 'तुलसी' के राम का शासन समुद्र की लहरें मानती हैं, वहाँ रत्नाकर के वक्ष पर शिलाएँ तैरती हैं, आकाश में कपि उड़ते हैं और मानव-उदर में पयोधि समा जाता है। परन्तु यदि कोई 'प्रेमचंद' या 'जैनेन्द्र' ऐसी विलक्षणताओं का संनिवेश अपनी रचना में करे तो 'चद्रकाता' की भाँति उसकी रचना का प्रचार भले ही हो जाय किंतु वह साहित्य-कोटि से वंचित ही रहेगी। उपन्यासकार की कल्पना के पंख कवि-कल्पना की भाँति उन्मुक्त नहीं होते, उसके परों में यथार्थता का बंधन होता है। उपन्यासकार की दिव्य दृष्टि रवि-रश्मियों से स्पर्धा नहीं करती, वह तो अपने घर को ही, अपने जगत को ही, भली भाँति देखकर संतुष्ट हो जाती है।

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि महान् व्यक्तियों और महान् घटनाओं का वर्णन महाकाव्य का लक्षण नहीं उपलक्षण मात्र है। यदि उपन्यास के वर्तमान रूप का विकास महाकाव्यों के उस सुदूर युग में हो गया होता तो संभव है कि महाकाव्यों में भी इसी आदर्श की स्थापना होती। आज दिन तो महाकाव्यों का अर्थ ही रूढ़-सा हो गया है, परंतु महाकाव्य में भी अब सामान्य व्यक्तियों के जीवन की घटनाओं के सनिवेश की रुचि स्पष्ट लक्षित हो रही है और योरप में तो ऐसे कई महाकाव्यों की रचना भी हो चुकी है। इसलिए महाकाव्यों को अवनति का एक प्रधान कारण उपन्यासों की वृद्धि भी बताया जाता है।

उपन्यास और नाटक

उपन्यास साहित्य के जिन अंगों के अत्यधिक निकट है वे हैं नाटक और छोटी कहानियाँ। नाटक और उपन्यास के मूलतत्व प्राय एक ही हैं, परंतु उपन्यासकार को जिन परिस्थितियों में कार्य करना पड़ता है उनसे नाटककार की परिस्थितियाँ नितांत भिन्न हैं। इसी परिस्थिति-भेद के कारण नाटक और उपन्यास में बड़ा अंतर पड़ जाता है। वास्तव में नाटक तो कोई अकेली कला है ही नहीं। वह तो कलाओं का एक समन्वय है जिसमें कई भिन्न-भिन्न तत्वों का योग है। काव्य-तत्व के अतिरिक्त रंग-मंच के विधान तथा अभिनय की सहायता से ही यह कला पूर्ण होती है। बिना इन बाह्य उपकरणों के उसका पूरा रस या आनद लिया ही नहीं जा सकता। परंतु उपन्यास में इन तत्वों का बाहर से आरोप करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह तो स्वत सिद्ध है। मेरियन क्रॉफोर्ड के अनुसार 'उसकी रंगशाला उसी में निहित है'। पुस्तक के भीतर ही हमें नाटक के सभी प्रधान अवयव मिल जाया करते हैं। रंग-मच के नियमों से स्वतंत्र, उपन्यासों में जो अबाध गति, जो विस्तार-व्यापकत्व तथा जो अनेकरूपता होती है वह नाटकों के स्वच्छदातिस्वच्छंद विकास में भी नहीं हो सकती। उपन्यास में प्रत्यक्ष-दर्शन के स्थान पर केवल वर्णन पर ही आश्रित होने के कारण नाटक की अपेक्षा सजीवता और यथार्थता की कमी अवश्य ज्ञात होती है, परंतु वह अन्य साधनों द्वारा पूरी हो जाती है। यही कारण है कि काव्य-क्षेत्र से उपन्यास ने कुछ हद तक नाटकों को हटा दिया है और अब यह हमारे आधुनिक जटिल और रंग-बिरंगे ससार के साहित्य का एक प्रधान अंग माना जाने लगा है। नाटककार का क्षेत्र सकुचित होता है, वह नियमों से जकड़ा रहता है। एक निर्धारित सीमा के भीतर ही अपनी कला के द्वारा उसे अपनी कृति को प्रभावोत्पादक बनाना रहता है। उपन्यासकार की भाँति अपने प्रधान पात्रों में प्रभावोत्पादकता लाने के लिए वह अपने मन के अनुसार अन्य छोटे-छोटे पात्रों की अवतारणा नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त दोनों में एक बहुत बड़ा अंतर यह भी है कि उपन्यास में लेखक अपने चरित्रों के मुँह से बोलने के अतिरिक्त स्वयं भी आगे आकर अपनी आत्मा का अभिव्यजन कर सकता है परंतु यह स्वतत्रता नाटक में सभव नहीं। नाट्यकला के नियमों ने नाटककार की जुबान पर ताला लगा रखा है। विश्व के लिए जो कुछ उसका संदेश है, अतर और बहिर्जगत के अनुभवों का जो उसका संचित वैभव है, उसको अपना कहकर वह नहीं दे सकता, उसे अपने पात्रों के मुँह से बोलना होगा। परंतु उपन्यासकार पर कोई ऐसा बधन नहीं। अपनी

सृष्टि के रंग-मंच पर आकर वह अपने पात्रों, उनके क्रिया-कलापों आदि की व्याख्या कर सकता है और विश्व के लिए अपना जो संदेश है उसे वह अपनी वाणी से ही सुना सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि नाटक साहित्य का सबसे नियन्त्रित और उपन्यास सबसे उन्मुक्त रूप है।

उपन्यास और छोटी कहानियाँ

जीवन में संघर्ष और जटिलता की वृद्धि के साथ ही साथ मनुष्य को अवकाश की कमी होती गई अतएव मनुष्य ने थोड़े से थोड़े समय में अपने अनुरंजन के उपाय निकाले। छोटी कहानी भी इसी उपाय का एक रूपेय है। उपन्यासों के पढ़ने और लिखने दोनों में ही समय की अधिक अपेक्षा होती है परंतु कहानियों के पढ़ने में समय कम लगता है। 'पो' के अनुसार कहानी वह है जो आध घंटे से लेकर एक या दो घंटे में पढ़ी जा सके। इसीको बढ़ाकर हम यों कह सकते हैं कि कहानी वह है जो एक बैठक में पढ़ी जा सके। परंतु कहानी और उपन्यास का भेद केवल यह आकार-भेद ही नहीं है। कहानी का लघु आकार तो उसके विषय-संकोच का परिणाम है। वास्तव में उपन्यास और छोटी कहानी दोनों का अलग-अलग उद्देश्य होता है, वैसे ही जैसे महाकाव्यों और मुक्तकों का। उपन्यास संपूर्ण जीवन का चित्र है। अतएव जीवन की ही भाँति वह व्यापक भी है। परतु छोटी कहानी का उद्देश्य संपूर्ण जीवन पर प्रकाश डालना नहीं है, जीवन की किसी एक झलक का परिचय कराना मात्र है। गूढ़ और अतिगुंफित कथानक कहानी की विशेषता नहीं है। उसका कार्य तो प्रकृति और जीवन की झलक दिखाना और छोटे-छोटे चित्र खींचना है जो देखने में सुंदर और विचार करने पर उपादेय सिद्ध हों। जीवन के पूर्ण रूप को चित्रित करने के लिए अथवा जीवन को पूर्णता प्रदान करने के लिए उपन्यासकार छोटी-छोटी अनेक घटनाओं और बातों का चित्रण करता है जिन्हें एक कहानी लेखक छोड़ देता है। उपन्यास की अपेक्षा छोटी कहानी की कथा-वस्तु सरल तथा कार्य-प्रवाह अविरल, संगत और चरित्र-चित्रण के अनुकूल होता है। देश, काल और दृष्टि प्राय एक ही रहती है। पात्र थोड़े से किंतु अधिक प्रभावशाली होते हैं और अपेक्षाकृत असाधारण परिस्थितियों में उपस्थित किये जाते हैं। प्रभाव की अन्विति उपन्यास और कहानी का बड़ा भारी भेद है। उपन्यासों में आधार-स्वरूप भाव की अपेक्षा नहीं होती, परंतु कहानी में वह नितांत आवश्यक है, क्योंकि आधुनिक कहानियों का ध्येय एक पूर्वनिश्चित भाव या प्रभाव का चित्रण होता है। कहानियों की कथावस्तु एक स्थितिमात्र होती है। अच्छी कहानी का विषय इतना सीधा-सादा होता है कि उसके विभाग नहीं हो सकते।

कदाचित् ही किसी कहानी में मुख्य और गौण पात्रों के ऐसे समूह मिलेंगे जैसे उपन्यासों में होते हैं; और कदाचित् ही उसमें कोई प्रासंगिक कथा-वस्तु या आकर्षण की गौणधारा मिलेगी।

उपन्यास के तत्त्व

नाटक और उपन्यास के भेद से यह स्पष्ट हो गया होगा कि नाटक के नियम ढूँढ निकालना अथवा बना लेना और उसकी आलोचना का मापदंड निर्धारित कर लेना उतना कठिन नहीं जितना उपन्यास का। परंतु साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्यिक अभिव्यंजना के इस सबसे उच्छृङ्खल और अस्थिर रूप को भी नियमों से बाँधने का प्रयत्न किया है तथा इसके भीतर निहित विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण करके उन पर अलग-अलग विचार किया है। वे ही उपन्यास के प्रधान अवयव माने गए हैं। ये अवयव नाट्यकला के अवयवों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, परतु इनके आदर्श भिन्न हैं।

मनुष्य गतिशील और क्रियाशील है। इसी गतिशीलता और क्रियाशीलता का नाम है जीवन। घटनाओं, व्यापारों तथा क्रियाकलापों के बीच बहता हुआ जीवन अपना सौंदर्य प्रत्यक्ष किया करता है। उपन्यास जीवन की प्रतिकृति है इसलिए उसका संबध मानव-व्यापारों, क्रिया-कलापों और घटनाओं से होता है इसीको उपन्यास की 'कथा-वस्तु' कहते हैं। इन घटनाओं का विधाता मानव उपन्यास-सृष्टि का 'पात्र' कहलाता है। उपन्यास-जगत में पात्रों की बातचीत को 'कथोपकथन' कहते हैं। ये जीवन-घटनाएँ किसी विशिष्ट समय और किसी विशिष्ट स्थान पर घटित होती हैं। इस समय और स्थान को ही परिस्थिति, वातावरण अथवा 'देश-काल' कहते हैं। उपन्यासकार की अभिव्यंजना के ढग को 'शैली' कहते हैं। यह उपन्यास का पाँचवाँ तत्त्व है। इन पाँच तत्त्वों के अतिरिक्त एक छठा तत्त्व भी माना जाता है। प्रत्येक उपन्यास में लेखक जाने या अनजाने जीवन और उसकी कुछ समस्याओं का उद्घाटन तथा विवेचन करता है, अर्थात् उपन्यासकार घटनाओं, पात्रों, मनोवेगों आदि को इस प्रकार उपस्थित करता है जिससे थोड़ा-बहुत इस बात का पता चलता है कि वह संसार को किस दृष्टि से देखता है और जीवन के प्रति उसके क्या विचार है। इसको हम उपन्यासकार द्वारा प्रस्तुत आलोचना, व्याख्या अथवा जीवन-दर्शन कह सकते हैं। इसे ही उद्देश्य भी कहते हैं।

वस्तु

उपन्यास का विषय उसकी 'वस्तु' कहलाता है और उसकी संघटना तथा

निर्वाह में उपन्यास की कला होती है। उपन्यासकार किसी विशेष योजना की दृष्टि से अपनी कथा को संघटित करता है, घटनाओं को एक विशेष क्रम से रखता है। उसकी इस विशिष्ट योजना को ही कथा-वस्तु कहते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि उपन्यास में कथा-वस्तु अनावश्यक है। हमारे जीवन का सञ्चालन किसी पूर्वनिश्चित योजना से तो होता नहीं, फिर उपन्यास में—जो जीवन का प्रतिरूप मात्र है—इस विशिष्ट योजना अथवा वस्तु की आवश्यकता ही क्या? निट्शे ने एक बार कहा था कि पूर्वनिश्चित सभी बातें अयथार्थ होती हैं।* इसमें संदेह नहीं कि जीवन के अधिकतर अनुभव किसी योजना से सबद्ध नहीं होते तथा जीवन के स्वच्छन्द प्रवाह में कोई निश्चित क्रम नहीं होता, तो भी लेखक का यह कर्तव्य है कि जीवन की इस विशृङ्खलता में भी वह कोई शृङ्खला, कोई क्रम, कोई योजना ढूँढ निकाले। इस अनेकरूपात्मक वैचित्र्यपूर्ण जगत का सौंदर्य स्पष्ट करने के लिए उसे किसी विशेष क्रम से ही हमारे सामने रखना होगा। वैसे तो सभी उपन्यासों में कुछ घटनाएँ घटित होती ही हैं परन्तु वे प्रत्येक में किस क्रम से घटित होती हैं इसीसे उनकी पहचान होती है और उनमें भेद बताया जाता है।

जीवन और जगत बहुत व्यापक है, उपन्यासकार छोटा-सा मानव। इस विस्तृत-क्षेत्र से उसे क्या-क्या चुनना चाहिये, कैसे सजाना चाहिए इस रहस्य-ज्ञान में ही उसकी सफलता का भी रहस्य निहित है। यदि उपन्यासकार जीवन की सभी अनुभूतियों को स्मरण रखे और उन सबको चित्रित करने की चेष्टा करे तो संभवत उसका ग्रंथ कभी पूर्ण ही न हो और यह वृहत् सूची पाठक के लिए पहाड़ हो जाय। इसलिए उपन्यासकार को चाहिए कि वह केवल उन्हीं अनुभूतियों को स्मरण रखे जो उसकी संवेदना पर सबसे अधिक आघात करती हों। वास्तव में साहित्यकार के लिए आवश्यक की सहज और निपुण विस्मृति के बिना उसकी स्मृति भी एक कलंक बन जाती है।

उपन्यास में कहानी की रोचकता का बड़ा महत्त्व होता है। जी बहलाने के लिए ही तो प्राय हम घड़ी दो घड़ी उपन्यास लेकर बैठ जाते हैं। अपनी दुनिया से श्रांत-क्लांत होकर हम उपन्यासकार की दुनिया में जी बहलाने चले जाते हैं। इसलिए उपन्यास में कहानी इतनी रोचक होनी चाहिए कि थोड़े समय के लिए पाठक अपनी असली दुनिया को, उसके असंतोष तथा हाहाकार को भूल जाय। उपन्यासकार की यह मन कल्पित सृष्टि हमारे एक बहुत

---

* ऑल दैट इज़ प्रीअरेंज्ड इज़ फाल्स।

बड़े अभाव की पूर्ति करती है। परंतु यह ध्यान रहे कि उपन्यासकार अपनी योजना-शक्ति की सहायता से जो नई सृष्टि करे वह विलक्षण होने पर भी सलक्षण और असगत होने पर भी सुसंगत हो अन्यथा बुद्धि उसको हेय समझेगी। इसके लिए आवश्यकता होती है कि उपन्यासकार अपने तथा अपनी अनुभूतियों के साथ पूर्ण सचाई का व्यवहार करे। उपन्यासकार का ज्ञान उसके अनुभव के आश्रित होना चाहिये। जीवन का पूर्ण अनुभव किये बिना उसमें हाथ ही न डाले। उत्कृष्ट अँगरेजी उपन्यास-लेखिका श्रीमती इलिएट ने एक बार उपन्यास-लेखिकाओं को बड़ी फटकार बताई थी।* पुरुष और स्त्री में प्रकृति भेद है। इसलिए स्त्रियों को कभी पुरुषों की भाँति, उनके दृष्टिकोण के अनुसार लिखने का प्रयत्न न करना चाहिए। उनका अपना ही क्षेत्र क्या कम है जो वे इसके बाहर आने का प्रयत्न करती हैं। कोई लेखिका स्त्री-समाज का, उसकी आशा, आकाक्षा, प्रेम, करुणा, नैराश्य आदि का जितना सफल अंकन कर सकती है उतना पुरुष-समाज का नहीं। यह बात पुरुषों के विषय में भी कही जा सकती है। स्त्री-चरित्र की दुरूहता का बिना अनुभव किये हुए जो लोग उसका चित्रण करते हैं वे अपने ही को भ्रम में डालते हैं। अतएव लेखक को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस बात से वह अनभिज्ञ है, जिसका उसे अनुभव नहीं उधर हाथ ही न बढ़ाए। हेनरी जेम्स ने इन्हीं विचारों को बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त किया है—"अगर किसी लेखक की बुद्धि, कल्पना कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है। वह वायु के स्पदन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुण-लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं कि आप सैनिक-जीवन में हाथ न डालें"।‡ परतु अनुभव को व्यक्ति-अनुभव तक ही सीमित न रखना चाहिए। हमें वस्तुओं का ज्ञान पुस्तकों द्वारा भी होता है। कभी-कभी दूसरों से बातचीत करके भी हम बहुत-सी बातों का अनुभव प्राप्त करते हैं।

यह तो हुई कथा-सामग्री की बात। इस सामग्री के सफल उपयोग अर्थात्

---

* "दे ट्राइड टु राइट लाइफ मेन ऐंड फ्राम मैन्स प्वॉइंट आव् व्यू, इस्टेड आव् टेकिंग देयर स्टैंड ऑन दि फंडामेंटल डिफरेंसेज़ ऑव सेक्स, विद ऑल दैट दिस इंप्लाइज़, ऐंड इंडेवरिंग टु पोरट्रे लाइफ फ्रैंकली ऐंड सिंसियरली ऐज़ ए ओमन नोज़ इट"।

‡ देखिए 'उपन्यास' पर श्रीप्रेमचंद का निबंध।

कथा-वस्तु के निर्वाह में भी एक कला होती है और इस कला पर ही उसकी रंजन-शक्ति निर्भर रहती है। घटनाओं की कुशल संघटना की ओर लेखक का ध्यान सदैव रहना चाहिए। घटनाओं को एक दूसरे से इस कौशल से सवद्ध होना चाहिए कि उनकी सभी वातों को देखने पर कोई वात छूटी हुई या असंगत न जान पड़े तथा उनके सभी अंगों में साम्य और समीचीनता हो। घटनाओं की शाखाओं-प्रशाखाओं को अपने मूल से तथा एक दूसरी से सहज रीति से प्रस्फुटित होना चाहिए। घटनाएँ चाहे जितनी असाधारण हों परंतु उनका प्रवाह इस प्रकार नियोजित होना चाहिये कि चाहे हम उनका आभास पहले पा गये हों या नहीं वे हमें पूर्वकथित घटनाओं का तर्क-सगत फल प्रतीत हों।

कथा-वस्तु को दृष्टि से उपन्यासों के दो भेद किये जाते हैं—एक तो वे जिनकी कथा-वस्तु असवद्ध या शिथिल होती है (नॉविल्स ऑव् लूज़ प्लॉट) और दूसरा वे जिनकी कथा-वस्तु संबद्ध या सुगठित (नॉविल्स ऑव ऑरगेनिक प्लॉट)। पहले में वहुत-सी घटनाओं का घटाटोप मात्र होता है, उनमें आपस में कोई सहज अथवा तर्कसंगत संवध प्राय नहीं होता। वर्णनान्विति (यूनिटी ऑव् नैरेटिव) कार्य-कलापों पर नहीं निर्भर रहती वरन् नायक के व्यक्तित्व पर निर्भर रहती है। नायक ही इन विखरे हुए तत्त्वों और घटनाओं में संवंध स्थापित करता है और उसीके चरित्र को लेकर उपन्यास के भिन्न-भिन्न अवयवों का ढाँचा खड़ा किया जाता है। ऐसा उपन्यास एक प्रकार से किसी व्यक्ति के जीवन की फुटकल घटनाओं का इतिहास-सा होता है। उसमें अनेक रोचक घटनाओं का विवरण मात्र होता है, किसी व्यापक ढाँचे की योजना नहीं। यह उपन्यास लेखक की इच्छाओं का प्रतिबिंव मात्र होता है, वह उसे जैसा चाहता है गढ़ता चला जाता है। भिन्न-भिन्न घटनाओं में कोई युक्तिसंगत संवंध है या नहीं इस पर उसका ध्यान नहीं रहता। 'जहाज का पछी' जैसी रचनाएँ इसी कोटि में आयेंगी। शिथिल कथानक वाले उपन्यास के ही अन्तर्गत 'मैला आँचल' तथा 'परती परिकथा' जैसी कृतियाँ भी आयेंगी। इनमें तो कोई केन्द्रीय नायक भी नहीं है जो विखरे हुए सूत्रों को एकत्र करे। यहाँ तो डाक्यूमेन्टरी फिल्मों के स्फुट शॉट्स की भाँति ग्रामीण-जीवन के विभिन्न चित्रों को अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। इन उपन्यासों से भी अधिक असम्वद्ध कथानक 'वहती गंगा' का है। वास्तव में वह तो उपन्यास न होकर अनेक कहानियों का सग्रह है। वह उपन्यास इसीलिए कहा गया कि उसके भीतर काशी नगरी का दो सौ वर्षों का इतिहास अंकित है। वही इतिहास तथा काशी की विशेष संस्कृति इन कहानियों का सम्वन्ध सूत्र है। अव धीरे-धीरे उपन्यास से कथानक-प्रौष्ठव समाप्त होता जा रहा है।

सुगठित कथा-वस्तु में घटनाएँ एक दूसरी से इस प्रकार संबद्ध रहती हैं कि वे साधारणतः अलग नहीं की जा सकतीं और सब अंतिम परिणाम या उपसंहार की ओर अग्रसर होती हुई इस उपन्यास को ऐसा रूप दे देती हैं जिनमें उसके भिन्न-भिन्न अवयव एक दूसरे से मिले हुए प्रतीत होते हैं और उनको अलग-अलग करने से सबकी महत्ता नष्ट हो जाती है। ऐसे उपन्यासों की रचना एक व्यापक विधान के अनुसार की जाती है और उनकी सफलता घटना-समूहों पर निर्भर रहती है। इतना होने पर भी दोनों प्रकारों का भेद बहुत साधारण है, सूक्ष्म नहीं। किसी भी वस्तु-योजना के संबंध में केवल दो बातें देखनी चाहिये—एक तो यह कि उसका प्रवाह स्वाभाविक है और उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है और दूसरी यह कि उसके विकास में जो उपाय काम में लाये गये हैं वे कम-से-कम उन परिस्थितियों में विश्वासजनक प्रतीत होते हैं।

चरित्र-चित्रण

स्वर्गीय प्रेमचन्द्रजी ने कहा है कि 'मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र समझता हूँ'। उनके इस छोटे से वाक्य में ही उपन्यास कला का सारा रहस्य निहित है। उपन्यास के पूर्वकथित समस्त तथ्यों का मूलाधार एकमात्र चरित्र ही तो है। यहाँ चरित्र का अर्थ वह नहीं है जो साधारणतया आचार-शास्त्र (एथिक्स) में समझा जाता है। काव्य के क्षेत्र में चरित्र-चित्रण का अर्थ है रागों और मनोवेगों के आधार-स्वरूप मानव-पात्रों का चित्रण। इसलिए सफल चरित्र-चित्रण की क्या-क्या विशेषताएँ हैं और उसके लिए उपन्यासकार किन-किन साधनों का प्रयोग करता है यह जान लेना भी आवश्यक है।

यदि उपन्यास मानव-चरित्र का चित्र है तो इसका सबसे बड़ा गुण है पात्रों की सजीवता। उपन्यासकार की मन कल्पित सृष्टि में यदि हम अपनी वास्तविक सृष्टि की अनुरूपता न पा सकें, यदि इस नवीन सृष्टि के पात्र हमें किसी अनजाने देश के लगें और यदि उनके साथ हमारी वैसी ही सहानुभूति न हो सकी जैसी अन्य मानवों के साथ होती है तो वे मानव-सृष्टि के चित्र नहीं—किसी अन्य सृष्टि के भले ही हों। यदि हम पात्रों में अपने ही जैसा राग, द्वेष, क्रोध, करुणा, प्यार, घृणा आदि भाव देखें, यदि वे विशेष परिस्थितियों में मानव जैसा आचरण करते हुए दिखलाई पड़ें, यदि हम स्वयं उनके सुख में सुख और दुःख में दुःख का अनुभव करें तो वे हमें अपने जैसे लगेंगे और यही मानव का सफल चित्र कहा जायगा। यदि पात्रों में अपनी स्वच्छंद गति न हो, कोई संकल्प-शक्ति न हो और वे लेखक के संकेत पर ही नाचनेवाले हों तो उन्हें हम कठपुतली भले ही कह लें मानव नहीं कह सकते।

चरित्राङ्कन की सफलता तो यह है कि पुस्तक बंद कर देने तथा सूक्ष्म विवरण भूल जाने पर भी उसके पात्र हमारी स्मृति में जीवित रह सकें। यह सजीवता तभी आ सकती है जब उपन्यासकार मानवता की सामान्य पीठिका पर अपनी कल्पना की कूँची से रूप उरेहे, रंग भरे, जिसमें न तो अतिरंजना ही हो और न अव्याप्ति ही।

नाटकों में पात्रों का परिचय देने के अनेक साधन हैं, उपन्यासों में एक। अभिनय-कौशल, वेशभूषा तथा दृश्यावली के द्वारा नाटकीय पात्रों का हमें पूर्ण परिचय मिल जाता है, परंतु उपन्यास में ये सब साधन सुलभ नहीं। उपन्यास-पाठकों को अपनी कल्पना से ही पात्रों की चालढाल, वेशभूषा, बातचीत का अनुमान करना पड़ता है और इस अनुमान की एकमात्र सहायिका है लेखक की वर्णन-प्रणाली। अपने वर्णन के द्वारा ही उपन्यासकार अपने पात्रों को प्राण-शक्ति संपन्न करके हमारे मनोजगत् में प्रत्यक्ष कर सकता है। इसके लिए पात्रों की बाह्य एवं आंतर विशेषताओं का सूक्ष्म ज्ञान अपेक्षित होता है। इन विशेषताओं को परख कर कुशल कलाकार उन्हींको चुनता है जो उसके पात्रों पर अधिक से अधिक प्रकाश डाल सकें। इसलिए लेसिंग के कथनानुसार यह आवश्यक नहीं कि पात्रों के चरित्र-संबंधी साधारणतम विवरण दिये जायँ, क्योंकि छोटी-छोटी अनावश्यक बातों के विवरण से उपन्यास में सजीवता की अपेक्षा नीरसता ही अधिक आएगी।* पात्रों के चरित्र को स्पष्ट करने के लिए उनके क्रिया-कलाप, रीति-नीति, बोलचाल तथा मनोवृत्ति का कितना और कैसा वर्णन अपेक्षित है इसका ज्ञान अत्यंत आवश्यक है।

चरित्र-चित्रण के लिए आजकल प्रधानतः दो रीतियाँ प्रयुक्त होती हैं—विश्लेषणात्मक (एनेलिटिक) और कार्य-कारण-सापेक्ष या नाटकीय (ड्रामेटिक)। पहले में उपन्यासकार अपने पात्रों को निःसंग दृष्टि से देखता है, उनके भावों, विचारों, प्रवृत्तियों आदि का विश्लेषण करता है और कभी-कभी आधिकारिक निर्णय भी दे डालता है। परंतु आधुनिक प्रवृत्ति दूसरी ही है। आजकल चरित्र-चित्रण की सबसे उत्कृष्ट कला तो यह है कि अपने पात्रों को प्राण-शक्ति से संपन्न करके लेखक उनको जीवन की रंगस्थली में सुख-दुख से आँखमिचौनी करने के लिए छोड़ दे। जीवन के घात-प्रतिघात, उत्कर्ष-अपकर्ष में बहता हुआ चरित्र स्वयं ही अपने को अनावृत्त करे—अपनी दुर्बलता-सबलता एवं सुरूपता-कुरूपता का प्रदर्शन करे। लेखक का कार्य केवल दूर से बैठकर उसकी गति-विधि का निरीक्षण करना और उसमें सतत प्राणधारा प्रवाहित करते रहना मात्र है। विधाता की सृष्टि के समान ही कलाकार की यह सृष्टि एकबार सृष्ट होकर कार्य कारण के नियमों

* लैकून २०।

से स्वयं संचालित हो जाती है। इस सृष्टि के प्राणी अपने चरित्र-विकास के लिए लेखक की लेखनी की अपेक्षा नहीं करते, वे तो स्वयं ही अपनी बातचीत और क्रिया-कलापों से अपने को प्रकाशित करते चलते हैं। लेखक को उनके बीच में पड़ने, बोलने या व्याख्या करने की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है और यदि पड़ती भी है तो वह अन्य पात्रों के मुख से ही बोल लेता है, व्याख्या कर लेता है। इस रीति से भावों और विचारों के सूक्ष्मतम भेद भी बड़ी सफलता से चित्रित किये जा सकते हैं। यद्यपि वास्तविक जीवन में मनुष्य के क्रिया-कलाप ही मुख्यतः उसके चरित्र के विज्ञापक होते हैं परंतु उपन्यास-सृष्टि में पात्रों की बातचीत से ही अधिकतर इस उद्देश्य की सिद्धि होती है। भावों का प्रवाह, प्रवृत्तियों का विरोध आदि अनेक आंतरिक व्यापारों का—जो हमारे चरित्र की कार्य-रूप में अभिव्यंजना के पहले होते हैं—संकेत पाठक को दे देना आवश्यक होता है। कथोपकथन के समान इसके लिए अन्य साधन नहीं। लंबा-चौड़ा व्याख्यात्मक वर्णन आकर्षण को कम करके कथा-प्रवाह को रोक देता है। चरित्र-विकास की नाटकीय रीति अधिक सजीव तथा अधिक वास्तविक होती है, और इसीलिए हमारे विश्वास को भी वहाँ अधिक आश्रय मिलता है।

रुचि समय की अनुगामिनी होती है। काव्य के चित्रों के विषय में भी इधर मानव की रुचि बहुत कुछ बदल चली है। काव्य-क्षेत्र में बहुत दिनों से अनोखे, असाधारण, महत् और आदर्श चरित्रों के देखते-देखते उनका आकर्षण घटने लगा है। मानव में काव्य-लोक को भी अपने लोक-सा ही देखने की जिज्ञासा हुई और उसने उसे जन-मन के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के फल-स्वरूप उपन्यास सृष्टि में जन-साधारण की ही बस्ती बसाई गई। इस नवीन कला-जगत में समुद्र को फाँद जानेवाले पवनसुत हनुमान, भरी सभा में अंबर को अनत बना देनेवाले भगवान् कृष्ण तथा देवकीनंदन के ऐंद्रजालिक तेजसिंह न रहे। इसके बदले इस लोक में भी झोपड़ों में रहनेवाले श्रमजीवी, खेतों और खलियानों में विचरनेवाले किसान, महलों में रहनेवाले भू-स्वामी तथा अट्टालिकाओं को शोभित करनेवाले नागरिकों की प्राण-प्रतिष्ठा हुई। अब वैभव, ख्याति तथा रूप-सौंदर्य मुख्य पात्रों के आवश्यक अंग न रहे। वास्तविकता और सजीवता ही आज की चरित्रचित्रण-कला का आदर्श है।

दूसरी रुचि जो स्पष्ट लक्षित होती है वह यह है कि वर्तमान कथावाङ्मय में बाह्य परिस्थितियों का जो प्रभाव जीवन और चरित्र पर पड़ता है उस पर कम ध्यान दिया जाता है, तथा आंतरिक द्वंद्वों को दिखाने की ओर अधिक रुचि रहती है। आधुनिक नायकों को दुष्ट संसार और स्वार्थी मनुष्यों से इतना युद्ध नहीं करना

पड़ता जितना अपने ही हृदय की कुप्रवृत्तियों से। आधुनिक नायक किसी विशेष प्रकार के चरित्र का प्रतिबिंब नहीं होता, न तो किसी विशेषता का मूर्त रूप होता है। कठपुतलियों की तरह उसका उद्देश्य किसी निश्चित कार्य-कौतुक का प्रदर्शन भी नहीं होता। वह तो पूर्ण एवं वास्तविक मनुष्य होता है, न तो सर्वांग सुदर, न निरा असुंदर। उसके सामने जटिल समस्याएँ होती हैं, जिनके साथ उसे निरंतर युद्ध करना पड़ता है। प्रलोभन भी उसके सामने आया जाया करते हैं, जिन्हें वह कभी-कभी अपना भी लेता है। ऐसे विकासमान पात्र अथ से इति तक आकर्षक होते हैं।

कथा-वस्तु और पात्रों का उचित योग उपन्यासों का एक बड़ा प्रश्न है। यदि वस्तु-विन्यास पात्रों का ध्यान रखकर न किया जायगा तो पात्र कठपुतलियों के समान स्थिति की आवश्यकता के अनुमार सूत्र-संचालित से मालूम पड़ेंगे। दोनों के सामंजस्य की उचित रीति यह है कि दोनों को उपन्यास के प्रवाह में योग देनेवाली एवं एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करनेवाली शक्तियों के रूप में देखा जाय। कथा-वस्तु चाहे सीधी-सादी हो या जटिल उसका विकास इसीके फल-स्वरूप होता है कि कुछ विशेप भावों, प्रवृत्तियों और विचारों वाले मनुष्य साथ-साथ ऐसी परिस्थिति में रख दिये जाते हैं जिससे एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है अथवा आपस में स्वार्थों का द्वंद्व उत्पन्न हो जाता है। सभव है ये परिस्थितियाँ बहुत आवश्यक हों फिर भी परिस्थितियों के प्रति वैयक्तिक प्रतिक्रिया सदैव आकर्षण का केंद्र रहेगी। इस प्रकार घटना का मूल पात्रों में होता है। अत उसकी भी व्याख्या उसी प्रकार होनी चाहिए।

कथोपकथन

पात्रों के चरित्र-निर्माण में कथोपकथन का बहुत महत्त्व होता है। एक लेखक ने कथोपकथन की परिभाषा इस प्रकार दी है—

कम्पोजीशन व्हिच प्रोड्यूसेज दी इफेक्ट ऑव ह्यूमन टॉक—ऐज् नियर्ली ऐज पॉसिबिल दी इफेक्ट ऑव कनवरसेशन व्हिच इज ओवरहर्ड।*

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार वास्तविक जीवन की बातचीत की अनुरूपता ही कथोपकथन का मापदड है। उपन्यास के पात्र मानव के प्रतिबिंब होते हैं, अतएव उनकी बातचीत की कसौटी भी मानव की बातचीत ही होती है। किसी भी उपन्यास की सफलता के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि उसके पात्रों की बातचीत

* आलेंबेटस्—"टॉक्स ऑन राइटिंग ऑव इंगलिश", सीरीज २, पेज २३०।

वाभाविक तथा प्रसंगानुकूल हो। स्वाभाविकता से आशय यह है कि वह बोलनेवाले पात्र के उपयुक्त हो और परिस्थिति-विशेष में संगत तथा सहज प्रतीत हो। कथोपकथन के इस अनुरोध की रक्षा करने के साथ ही साथ लेखक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कथोपकथन नीरस न हो जाय—उसमें पर्याप्त रमणीयता हो। परंतु वास्तविकता और रमणीयता दोनों ऐसे विरोधी गुण हैं कि इनका साथ-साथ निर्वाह कुशल कलाकार ही कर सकते हैं। यदि मनुष्य के साधारणतम दैनिक जीवन की वातचीत को ही अंकित कर दिया जाय तो उससे बढ़कर वास्तविकता दूसरी कहाँ मिलेगी? परंतु ऐसी वातचीत नितात नीरस और प्रभावशून्य होगी। उसमें हमारा मन रम ही न सकेगा। इसके विपरात यदि जान-बूझकर कथोपकथन को नाटकीय तथा प्रभावशाली वनाने का प्रयत्न किया जायगा तो उसमें कृत्रिमता आ जाने की वहुत सभावना रहेगी। ऐसे कृत्रिम कथोपकथन में हमारा विश्वास कभी न टिक सकेगा और उसे हम केवल लेखक द्वारा गढ़ा हुआ शब्द-कौतुक ही समझेंगे। अतएव उपन्यासकार को वहुत सँभलकर चलने की आवश्यकता है। अतिरंजना करके न तो उसे नीरस वाग्जाल की रचना करनी चाहिए और न रमणीयता के अधिक चक्कर में पड़कर जीवन की सहज अभिव्यक्ति की अवहेलना। इस द्विधा 'अति' के बीच, दोनों के सफल सामंजस्य में ही उसकी कला होती है। वास्तविक जीवन की बातचीत को नवीन रूप, नवीन साँचे में ढालना ही पड़ेगा, परंतु ऐसा करने में इस वात का ध्यान रहे कि उसके प्राणों की रक्षा हो। साधारण नर-नारियों की वातचीत को ही इस प्रकार उपस्थित करना चाहिए कि उनमें एक नाटकीय गति, नाटकीय शक्ति आ जाने पर भी वे हमें सहज, स्वाभाविक और युक्तिसंगत प्रतीत हों।

दूसरी ध्यान देने योग्य वात यह है कि लेखक को निरर्थक कथोपकथन से बचना चाहिए। कथोपकथन का उतना ही प्रयोग होना चाहिए जितने से कथा की प्रगति में अथवा चरित्रों के विकास मे सहायता मिले। जिस कथोपकथन से इन उद्देश्यों की पूर्ति न होती हो वह असंबद्ध तथा विशृङ्खल-सा लगेगा। आदर्श कथोपकथन पात्रों के भावों, प्रवृत्तियों, मनोवेगों तथा घटनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया दिखाने के साथ-साथ कार्यप्रवाह को भी आगे बढ़ाता जाता है। उपन्यास के अन्य अवयवों की भाँति कथोपकथन का लक्ष्य भी प्रभावान्विति की ओर ही रहना चाहिए।

कथोपकथन में वैयक्तिकता की रक्षा भी एक वहुत वड़ा प्रश्न है, लेखक प्रायः जिसका ध्यान नहीं रखते। परिस्थितियों के अनुसार पात्रों की बातचीत भी बदलती रहती है, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा परिवर्तन भी पात्रों के अनुरूप हो, उसमें उनका अपनापन, अपनी विशेषताएँ वनी रहें। कथोपकथन की सबसे बड़ी

विशेषता तो यह है कि उपन्यास के किसी भी अंग को पढ़कर हम कह दें कि यह अमुक-अमुक पात्र की बातचीत है, दूसरे की हो ही नहीं सकती। प्रभावशाली पात्रों के लिए एक विशेष प्रकार से बोलने अथवा विचार करने की आदत उतनी ही आवश्यक है जितनी एक विशेष प्रकार से काम करने की आदत।

प्राय देखा जाता है कि वहुत से लेखक सवादों के द्वारा ही अपने निश्चयों, सिद्धान्तों, कल्पनाओं तथा ज्ञान-भंडार का दिग्दर्शन कराने लगते हैं। यह अधिकार का दुरुपयोग है। पाठक को ज्ञान की ऐसी धोखा-धड़ी की खूराक के विरुद्ध शिकायत करने का अधिकार है। यदि लेखक को किसी बात की विवेचना करनी है तो वह निबन्ध लिख सकता है। उसको यह जानना चाहिए कि उद्धरण-चिह्न लगा देने से ही कोई उक्ति कथोपकथन नहीं हो जाती।❀

देश-काल

उपन्यास-सृष्टि को अधिक सजीव, सलक्षण तथा सुसंगत वनाने के लिए देश, काल अथवा बाह्य-परिस्थिति-चित्रण का आधार लिया जाता है। अन्यथा पात्र केवल शून्य में खड़े से प्रतीत होंगे और उनमें मानवता की अनुरूपता न आ सकेगी। देश-काल के अन्तर्गत कहानी के सभी बाह्य उपकरण अर्थात् उसकी योजना में सहायता देनेवाले आचार-विचार, रीति-नीति, रहन-सहन, प्राकृतिक पीठिका और परिस्थिति आदि आ जाते हैं। इस तरह हम देश काल अथवा बाह्य सविधान के दो भेद कर सकते हैं—सामाजिक, भौतिक या प्राकृतिक।

आधुनिक कथा-वाङ्मय की प्रवृत्ति विशिष्टता की ओर अधिक पाई जाती है। वर्तमान उपन्यास-वाङ्मय की यह एक प्रधान प्रवृत्ति है कि वह सभी दिशाओं में अपना सूत्र-जाल फैलाकर जीवन की व्यापकता से होड़ लेने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रवृत्ति के फल-स्वरूप उपन्यासों की वर्ण्य वस्तु के भी विभाग तथा उपविभाग करने की रीति चल पड़ी है। इनके बीच कभी-कभी विस्तृत विधानवाले उपन्यास भी दिखाई पड़ जाते हैं, परन्तु अधिकतर भिन्न-भिन्न उपन्यासों में जीवन के किसी विशेष अंग, उपाग अथवा रूप का ही वर्णन पाया जाता है। इस प्रकार कुछ उपन्यासों का सम्बन्ध समाज के उच्च, मध्य अथवा निम्न वर्ग से रहता है, कुछ का मजदूरों और पूँजीपतियों से और कुछ का उद्योग-व्यवसाय अथवा कलात्मक जीवन से। इस प्रकार प्रत्येक उपन्यास जीवन की एक या दो विशेष दशाओं को लेकर चलता है। पाश्चात्य उपन्यास-वाङ्मय में तो उपन्यासों का भौगोलिक वर्गीकरण

❀ "दी यूज ऑव कोटेशन-मार्क्स डज नॉट कन्वर्ट ए पैसेज इन्टू डायलॉग"

—आर्लो बेटस।

भी होता है, जैसे स्क्वाच उपन्यास, आयरिश उपन्यास तथा वेसेक्स उपन्यास आदि। इसी तरह हिंदी के उपन्यासकार वृन्दावनलाल की कृतियों को 'बुन्देलखंडी उपन्यास' भी कहा जा सकता है। हिन्दी में इधर आंचलिक उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इनमें स्थानीय रंगों की प्रचुरता रहती है। ऐसे उपन्यासों में, जिनमें जीवन की किसी दशा-विशेष का अकन ही उपेय हो, चरित्र-चित्रण और सामाजिक परिस्थितियों का पूर्ण एव मार्मिक सवध होता है, जिससे एक के विना दूसरे का विचार करना कठिन हो जाता है। परंतु ऐसे भी उपन्यास होते हैं जिनका प्रधान आकर्पण और साहित्यिक मूल्य उनके द्वारा किये गये विशेप श्रेणियों, सामाजिक वर्गों अथवा स्थानों के कुशल चित्रण में ही होता है। यहाँ उपन्यासकार की कृति की परख उसके वर्णनों की यथार्थता, सूक्ष्मता एवं प्रभावोत्पादकता के बल पर ही होनी चाहिए।

भौतिक या प्राकृतिक संविधान कहानी को अधिक मार्मिकता तथा पात्रों को अधिक स्पष्टता देने एवं जगत और जीवन की विशालता का परिचय कराने के लिए किया जाता है। इस पीठिका का प्रयोग कलाकार भिन्न-भिन्न भाँति से कर सकता है। कहीं तो वह एक मनोमय चित्र दिखाने की भावना से ही प्रेरित होता है जिसका जीवन से कोई लगाव नहीं होता, कहीं किसी स्थिति-विशेप को अधिक स्पष्ट करने के लिए आवश्यक आधार-तथ्य के रूप में ही वाह्य दृश्यों का विधान करता है और कहीं भावना-क्षेत्र मे और आगे वढ़कर मानव-रागों आदि का वाह्य प्रकृति से संवध स्थापित करता है। परंतु उपन्यासकार को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह वाह्य चित्रण उसकी कला का एक अंग हो। ऐसे वर्णनों को जिनका कथा-प्रवाह के विस्तार अथवा चरित्र-विकास से कोई संवध न हो अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए, अन्यथा वे कथा के स्वाभाविक प्रवाह को अवरुद्ध करेंगे। कुछ लेखक ऐसे भी होते हैं जो पात्रों की प्रत्येक भगिमा के साथ-साथ उनके चारों ओर की वस्तुओं का विवरण उपस्थित करने लगते हैं। फल यह होता है कि ऐसे वर्णनों से कथा का प्रवाह रुक जाता है और पाठक या तो उन पर सरसरी निगाह डाल लेते हैं या उन्हें बिलकुल छोड़ देते हैं।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्णनों की योजना की ही न जाय, प्रत्युत उचित स्थान पर उचित रीति से वर्णनों की भी अपेक्षा होती है। किसी स्थिति-विशेप का सफल अकन न हो सकने के कारण कभी-कभी भावों की पूर्ण व्यंजना नहीं हो पाती और कोई अभाव-सा खटकता रहता है। सूक्ष्म निरीक्षण के छोटे-छोटे चमत्कार द्वारा ही इतनी शीघ्रता और पूर्णता के साथ वास्तविक जीवन का भ्रम उत्पन्न कराया जा सकता है। वातावरण के सफल तथा मनोरम चित्रण का कहानी के लिए वहुत

मूल्य होता है। कभी-कभी सामान्य सड़कों, गलियों तथा बरसात में टपकनेवाले घरों के वर्णन से भी कहानी में विलक्षण मनोमोहकता आ जाती है।

भौतिक या प्राकृतिक दृश्य-विधान का सबसे सुंदर उपयोग वह है जब उपन्यासकार अपनी विशेष कला से मानव-भावनाओं के साथ प्रकृति का विरोध या साम्य दिखलाता है। कभी-कभी तो उपन्यासकार विपत्ति-ताण्डव के समय प्रकृति का सुंदर सुरम्य रूप दिखाकर मानव के हर्ष-विषाद की ओर से प्रकृति की व्यंग्यात्मक उदासीनता का परिचय देता है और कभी-कभी इसके विपरीत उसके संवेदनशील रूप के दर्शन कराता है। मृत पति के शव पर क्रंदन करती हुई विकल अनाथा के लिए आँगन में फैली हुई शुभ्र शीतल चंद्रिका नियति का व्यंग्यात्मक हास ही तो है। ऐसे वैषम्य का भी अपना महत्त्व होता है और इससे कथा की मार्मिकता बहुत बढ़ जाती है। परंतु अधिकतर कलाकार इस वैषम्य-प्रदर्शन की अपेक्षा प्रकृति का संवेदनशील रूप ही अधिक चित्रित करते हैं और यह युक्ति मानवमन से अधिक परिचित भी है। यहाँ प्रकृति उदासीन न रहकर मानव के हर्षोल्लास तथा विषाद में योग देती है। अपने अंतिम अवलंब रोहित के शव को लिये हुए महारानी शैव्या के तमसाच्छादित हृदय के झंझावात के साथ श्मशान की उस भयानक रात्रि का पूरा योग है। इस बाह्य प्रलयंकर चित्रण से पाठक की विपत्ति-भावना और भी तीव्र हो उठती है। प्राकृतिक भूमिका के संवेदनमय प्रयोग में प्रकृति प्रतीकात्मक होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह बाह्य दृश्यविधान कई प्रकार से कहानी में विशालता, विस्तार, गाम्भीर्य, शक्ति तथा सौंदर्य उपस्थित कर सकता है। परन्तु जब तक इस तत्त्व का समावेश सुरुचि और सुबुद्धि से प्रेरित न होगा तब तक उसके साहित्यिक मूल्य में सन्देह ही रहेगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह बाह्य परिस्थिति-चित्रण तभी सफल हो सकता है जब वह कहानी के प्रधान उद्देश्य के अधीन और गौण हो।

जीवन की व्याख्या

'काव्य जीवन की व्याख्या, आलोचना या रहस्य है'—ऐसे वाक्यों का यथार्थ भाव ग्रहण न कर सकने के कारण ही लोग प्राय काव्य का मूल्य इस मापदण्ड द्वारा आँकने में भूल कर बैठते हैं। अत उपन्यास में जीवन की व्याख्या या आलोचना का क्या अर्थ है, उपन्यासकार इसे किस प्रकार स्पष्ट करता है, इसका वास्तविक मूल्य क्या है, इन बातों को समझ लेना आवश्यक है। यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि काव्य के अन्य रूपों के समान ही उपन्यास का सम्बन्ध भी पूर्णरूपेण

मानव-जीवन से ही है। नर और नारी, उसके सांसारिक नाते-रिश्ते, उनके विचार एवं मनोवृत्तियाँ अर्थात् राग-द्वेप, क्रोध-करुणा, सुख-दु ख, जीवन-संघर्प और उनकी जय या पराजय ही उपन्यास-सृष्टि के आधार हैं। इस तरह जब जीवन के ताने-बाने से ही उपन्यासकार अपनी सृष्टि बुनता है, उसके ही रंग में उसे रँगता है तो यह कैसे संभव है कि उसमें जीवन के प्रति उपन्यासकार की अपनी भावनाओं की छाया न हो, संकेत न हो ? किसी नैतिक तथ्य या आदर्श के प्रतिपादन की ओर से वह कितना ही उदासीन क्यों न हो परंतु उसकी निजी भावनाओं की प्रतिच्छाया उसकी कृति पर पड़ ही जायगी। छोटी से छोटी कहानी की छानबीन करने पर भी हमें उसके पात्रों और घटनाओं में निहित किसी न किसी नैतिक भावना की झलक मिल ही जायगी। इसी प्रकार साधारण से साधारण उपन्यास का भी जीवन को किसी निश्चित दिशा की ओर संकेत होता है। अपनी कृति में बहुत से सामान्य नियमों का समाहार करके उपन्यास-लेखक कम से कम जीवन का एक धुँधला सा चित्र उपस्थित करता है। बड़े-बड़े प्रतिभावान उपन्यासकारों ने जीवन का निरीक्षण ही नहीं किया है वरन् उस पर मनन भी किया है। उनका मानव-चरित्र का ज्ञान, उसकी प्रवृत्तियों और मनोवेगों की सूक्ष्म परख, अनुभूत सत्यों और समस्याओं का सुन्दर समाहार तथा विलक्षण रचना-कौशल सब मिलकर उनकी कृति को एक नया ही गांभीर्य दे देते हैं, जिससे जगत् के प्रति उनकी जो अपनी भावना होती है उसमें एक नवीन नैतिक मूल्य आ जाता है। उनकी कृतियों में इस दर्शन या रहस्य-तथ्य का कितना महत्त्व है यह इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि किसी उत्कृष्ट उपन्यास का विचार करते हुए हम जीवन पर ही विचार करने लगते हैं।

उपर्युक्त दर्शन-तथ्य का यह आशय नहीं है कि उपन्यास का कोई पूर्वनिश्चित उद्देश्य होता है। यह अवश्य है कि उपन्यासकार की जीवन के प्रति जो भावनाएँ हैं वे जान या अनजान में उसके पात्रों या घटनाओं का सचालन करती हैं परंतु उसकी कला का आधार ये भावनाएँ नहीं होतीं, बल्कि प्रतिदिन के मानव-व्यापार और क्रिया-कलाप ही होते हैं। कोई उपन्यासकार किसी मत का खंडन-मंडन या किसी सिद्धांत का प्रतिपादन करने के लिए उपन्यास-रचना नहीं करता। वह तो मानव-जीवन का निरीक्षण करके केवल उसके बहुत से छाया-चित्र उपस्थित करता है। इन छाया-चित्रों में ही वह मूलभूत सत्य लिपटा होता है जिसे ढूँढ निकालना आलोचक का काम होता है। अतएव किसी भी बड़े उपन्यास में केवल लेखक के मानव-जीवन-संबंधी निरीक्षण मात्र होते हैं जिनमें सर्जन-शक्ति निहित होती है। इन्हीं निरीक्षणों का मनन तथा प्रतिपादन करके हमें एक नित्य सत्य का दर्शन होता है। उपन्यासों में जीवन-दर्शन का यही अर्थ है।

जीवन के रहस्य की यह झलक उपन्यासकार हमें दो प्रकार से दे सकता है। एक तो नाटककार की भाँति पात्रों तथा घटनाओं द्वारा ही, दूसरे बीच-बीच में स्वय परिचय या आलोचना के रूप में। पहले प्रकार में उपन्यासकार केवल मानव-जीवन से सामग्री चुनकर उसे संघटित भर कर देता है और चरित्रों के संवाद तथा कहानी के विकास के द्वारा हमें साधारणतया यह आभास दे देता है कि जीवन को वह किस दृष्टि से देखता है, क्या समझता है। इन छितरे-बिखरे तथ्यों को जुटाकर उनमें से किसी सिद्धात को ढूँढ निकालना समालोचक का काम होता है। उपन्यासकार को नाटककार की अपेक्षा इस क्षेत्र में अधिक स्वतंत्रता होती है। वह व्यक्त एव प्रच्छन्न दोनों रूपों में अपनी भावना हम तक पहुँचा सकता है। जहाँ वह इस अधिकार का उपयोग करता है वहाँ वह स्वयं ही अपने इस काल्पनिक जगत का व्याख्याता बन बैठता है और समालोचक को उसकी भावनाओं को ढूँढ निकालने में कठिनाई नहीं होती।

उपन्यासों में जीवन की व्याख्या का विचार हमें दो प्रकार से करना चाहिए—एक तो उनकी सत्यता के आधार पर और दूसरे उनमें निहित सदाचार, धर्म अथवा आदर्श के आधार पर।

उपन्यास का सत्य

काव्य और विज्ञान के सत्य में भेद होता है। सर्वप्रथम यूनानी आचार्य प्लेटो ने इन दोनों प्रकार के सत्य का भेद न समझकर ही सम्पूर्ण कल्पना-सम्भूत साहित्य को मिथ्या कह दिया था, परन्तु थोड़े ही दिनों बाद अरस्तू ने इस भ्रम का निराकरण कर दिया और यह स्पष्ट कर दिया कि काल्पनिक कृतियों में एक 'काव्योचित सत्य' भी होता है जो ऐतहासिक तथ्यों की अक्षरश वर्णनवाली सत्यता से गूढ़ और व्यापक होता है। इतिहास का सम्बन्ध केवल जो 'था' या 'है' उससे ही होता है, परन्तु उपन्यास थोड़ा और आगे बढ़कर जो 'हो सकता है' उसपर भी विचार करता है। कलाकार की सीमा सम्भाव्य आदर्शों तक ही होती है। इसी कारण विद्वानों ने साहित्य के दो भेद किये हैं, एक ज्ञान का साहित्य और दूसरा शक्ति का साहित्य। शक्ति के साहित्य को ही विधायक साहित्य या काव्य की संज्ञा मिली है। ज्ञान का साहित्य हमें जीवन के तथ्य देता है, शक्ति का साहित्य जीवन के चित्र। शुक्लजी के विचारात्मक निबन्ध अथवा पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का 'राजपूताने का इतिहास' ज्ञान के साहित्य के अन्तर्गत आएँगे। इनकी व्याख्या वैज्ञानिक ढंग पर होगी और इनका मापदंड होगा तथ्यों की यथार्थता। तथ्यों की यथार्थता पर ही निर्भर रहने के कारण ज्ञान-विज्ञान के प्रसार के साथ-साथ ऐसा

साहित्य पुराना पड़ता जाता है। परन्तु शक्ति के साहित्य की सत्यता मानव-जीवन को प्रभावित करनेवाले रागों, मनोवेगों, नियमों, सिद्धान्तों आदि के उचित चित्रण पर निर्भर रहती है। इसीलिए ऐसा साहित्य प्राचीन होते हुए भी नित्य नूतन होता है। शकुंतला नाटक पढ़कर आज भी हमारे हृदय में वे ही भाव उठते हैं जो उसके निर्माता कविकुलगुरु के हृदय में उठे थे। तुलसी का 'मानस' चिरकाल तक हमारी नसों में एकरस जीवन का स्रोत प्रवाहित करता रहेगा।

"गल्प-साहित्य में नाम और तिथियों के अतिरिक्त सब सत्य होता है और इतिहास में नाम और तिथियों के अतिरिक्त कुछ सत्य नहीं होता।" इस प्रसिद्ध उक्ति का आशय इतिहास की निन्दा करना नहीं है, वरन् यह विरोधाभास विलक्षणतापूर्वक उस सत्य को हृदयंगम करा देता है जिस पर उपन्यासों की महत्ता निर्भर रहती है। उपन्यासकार अपने विषय को जिस प्रकार चाहे उपस्थित कर सकता है, पर जब तक वह सम्भाव्य आदर्शों तथा जीवन के महान् तात्त्विक तथ्यों और शक्तियों के घेरे में रहता है तब तक हम उसकी कृति की निंदा नहीं करते।

आजकल सत्य और आनन्द में जितना वैभिन्य समझा जा रहा है वास्तव में उतना है नहीं। काव्य के क्षेत्र में भाव और पद्य में जितना सूक्ष्म भेद है वैसा ही सत्य और आनन्द में भी। जिस प्रकार भाव को पद्य से अलग करके भी समझा जा सकता है परन्तु उसका पूर्ण रस तो कवि के शब्दों में ही भावमग्न होकर लिया जा सकता है उसी प्रकार सत्य को सौंदर्य अथवा आनन्द से पृथक् करके देखा अवश्य जा सकता है, परन्तु उस अवस्था में वह केवल कुछ अन्वेषक विद्वानों की वस्तु रह जाएगा, सामान्य मानवता के लिए तो उसकी उपयोगिता तभी होगी जब वह जन-मन-रंजक होकर आये और आते ही हृदय में उतर जाय।

उपन्यास और नीति

उपन्यासों में नैतिक तत्त्व को भी, सत्यता के तत्त्व के समान, व्यापक दृष्टि से देखना चाहिए और उसकी यथोचित उपयोगिता पर जोर भी देना चाहिए। किसी विशेष उद्देश्य को सामने रखकर अर्थात् किसी विशेष विषय के प्रतिपादन के लिए लिखे गए उपन्यासों को हम लोग साधारणत संदेह की दृष्टि से देखने लगते हैं; और यह ठीक भी है। अपवादों के रहते हुए भी यह कहा जा सकता है कि दो काम—अच्छी कहानी लिखना और साथ साथ उपदेश देना या दार्शनिक निबन्ध अथवा राजनीतिक प्रबन्ध उपस्थित करना—एक साथ करने में कभी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि लेखक का कोई साधारण उद्देश्य न हो। साधारण और विशेष उद्देश्यों में भेद होता है और इसे

समझने में भूल न करनी चाहिए। स्पष्ट उपदेश देना और बात है तथा किसी कृति के अन्तर्गत एक व्यापक नैतिक भावना का समन्वय होना और। यद्यपि कुछ विद्वानों का यह कहना है कि उपन्यास नीति की ओर से उदासीन होते हैं और नीति से उनका कोई प्रयोजन न होना चाहिए, फिर भी यह सत्य है कि ससार के बड़े-बडे उपन्यासकार बडे नीतिविद् हुए हैं और अपनी रचनाओं में उपस्थित किये गए वास्तविक तथ्यों के नैतिक रूप पर उन्होंने पर्याप्त ध्यान दिया है। अतएव उनकी रचनाओं में एक साधारण नैतिक-दार्शनिक तथ्य सदैव मिला रहता है।

इसके साथ ही उपन्यास में कला की रक्षा के साथ इस प्रकार के नैतिक उद्देश्यों की प्रतिपादन-पद्धति को भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। नीति कहानी के विन्यास में ही निहित होनी चाहिए, उपन्यासकार को प्रचारक अथवा उपदेशक का रूप नहीं धारण करना चाहिए। अतएव उपन्यास की सारभूत नीति को हमे उसकी स्पष्टकथित शिक्षाओं में उतना नहीं ढूँढना चाहिए जितना उसकी समस्त जीवन-व्याख्या, विचार, पात्र, क्रिया-कलाप और प्रसगगत टीकाओं में। उपन्यास की व्यक्त अथवा अव्यक्त दार्शनिक नीति का निरूपण करते समय हमें सपूर्ण कृति के भावार्थ, प्रकृति और सारांश का ध्यान रखना चाहिए।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि उपन्यास पर अपना अन्तिम निर्णय देते समय हमें उद्देश्यमूलक नीति पर भी विचार करना चाहिए। विना इसके तत्त्वदर्शन अधूरा रह जायगा। 'काव्य जीवन की व्याख्या है' इस उक्ति की आलोचना करते हुए एक विद्वान् ने लिखा है—"आज तक यदि साहित्य के इतिहास द्वारा कोई वात निश्चित रूप से सिद्ध हुई है तो वह यह कि मानव-जाति की आत्मरक्षक प्रवृत्ति उस कला का कभी स्वागत नहीं करती जिसके द्वारा उसकी मानसिक अथवा नैतिक उन्नति न होती हो। उन भावों के साथ जो उसकी उन्नति के नियमों के विरोधी हैं, वह अधिक काल तक नहीं चल सकती। कला को वास्तविक महत्ता प्रदान करने के लिये नीति का प्रयोग आवश्यक होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कलाकार को जान-बूझकर उपदेशक हो जाना चाहिए अथवा वरबस नीति का समावेश कर देना चाहिए। कला और नीति के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। एक का कार्य है विश्लेषण करना और शिक्षा देना, दूसरी का सकलन करके मूर्तिमान करना और आनन्दोद्रेक करना। परन्तु सभी कलाएँ विचारों और भावों की स्वरूप-प्रतिष्ठा करती हैं। अतएव सबसे महान कला वही होगी जो अपने संकलन में विचारों और भाव की गहनतम उलझन का भी समावेश कर ले। मानव-प्रकृति समझने की जितनी ही अधिक क्षमता कवि में होगी, जीवन की सुव्यवस्थित उलझन जितनी ही पूर्णता के साथ वह उपस्थित कर सकेगा, उतना ही महान वह होगा। मानव-जाति

का वर्बरता से सभ्यता की ओर बढ़ने का सारा उद्योग अपने नैतिक गौरव को बनाए रखने और बढ़ाने का उद्योग है। नैतिक गुणों की रक्षा और भरण-पोषण द्वारा ही हम उन्नति करते हैं। हमारी सारी शक्तियों का निर्दोष पूर्णता के रूप में संविधान नैतिक सवाद है। अतएव वे कलाकार जो महत्ता की आकांक्षा रखते हैं, नीति के विरुद्ध अथवा उससे उदासीन नहीं हो सकते।"*

उपर्युक्त कथन उपन्यासों के विषय में भी सगत है। उपन्यासों और अन्य कल्पना-संभूत साहित्य के विषय में यह कहा जाता है कि कला का नीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका उत्तर यही है कि नीति का जो अर्थ उपर्युक्त उद्धरण में लिया गया है उस अर्थ में कला और नीति का मार्मिक सम्बन्ध है। कला जीवन से उत्पन्न होती है, जीवन द्वारा पोषित होती है और जीवन पर उसकी प्रतिक्रिया होती है। अतएव उसका बड़ा भारी उत्तरदायित्व है। अत कलाकार मात्र को नीतिक्षेत्र से अलग बतलाना भूल है। उपन्यासकार के विषय में तो यह और भी नहीं कहा जा सकता कि उसका नीति से कोई सम्बन्ध नहीं। क्योंकि जीवन का विवेचन करते समय यह आवश्यक है कि वह नैतिक तथ्यों और प्रश्नों का भी जिनका जीवन के साथ सम्बन्ध है विचार करे। और उसकी कृति की महत्ता बहुत कुछ उसकी नैतिक शक्ति और अन्तर्दृष्टि तथा उसकी सम्पूर्ण दार्शनिक व्याख्या के भावार्थ और प्रवृत्ति पर निर्भर रहती है।

उपन्यास के प्रकार

उपन्यास-वाङ्मय की वृद्धि के साथ ही साथ उपन्यासों के प्रकार में भी असाधारण वृद्धि हुई है। आज दिन तो उपन्यासों के अनेक विभेद किये जाते हैं। इनमें कुछ तो किसी विशेष तत्त्व, यथा घटना, चरित्र आदि की प्रधानता के आधार पर किये जाते हैं और कुछ वर्ण्य वस्तु के आधार पर। तत्त्वों की प्रधानता के आधार पर घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और घटना चरित्र-सापेक्ष्य (नाटकीय) ये तीन मुख्य भेद किये जाते हैं। वर्ण्य वस्तु के विचार से धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रागैतिहासिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, यौन और प्राकृतिक (प्रकृति का अकन करनेवाले) आदि अनेक भेद किये जा सकते हैं। इन सभी प्रकार के उपन्यासों की प्रधान विशेषताओं का ध्यान रखते हुए इनके मुख्य चार भेद करना सुविधाजनक होगा; यथा घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, घटना-चरित्र-सापेक्ष या नाटकीय और ऐतिहासिक। घटना-प्रधान उपन्यासों में तो प्राय चमत्कार मात्र दिखलाना लक्ष्य

---

* जॉन एडिंगटन सीमोण्ड्स्—"ऑन पोयट्री ऐज क्रीटिसीजम ऑव लाइफ", पेज २२५–२२६।

होता है। उनमें बहुधा किसी विशेष परिवार, समाज अथवा देश के चित्रण का प्रयास नहीं मिलता। जासूसी उपन्यासों का भले ही समाज से कुछ सम्बन्ध होता हो परन्तु समाज का चित्रण उनका भी ध्येय नहीं होता। चरित्र-प्रधान तथा नाटकीय उपन्यासों का विषय सामाजिक, राजनीतिक अथवा पारिवारिक कोई भी हो सकता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में चरित्र-चित्रण भी होता है और घटनाएँ भी घटित होती हैं, परन्तु उनका प्रधान उद्देश्य किसी दूरस्थ अतीत की झलक दिखाना होता है, जिसका विवेचन दूसरे ही आदर्शों पर किया जाता है। अतएव उन्हें एक अलग कोटि में रखना ही अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है।

उपन्यास के उपर्युक्त चार भेद तो उसके रूपभेद के आधार पर किये जाते हैं। आजकल लोग उपन्यासों में आदर्शवादी और यथार्थवादी भेद भी करने लगे हैं। परन्तु वास्तव में इस विभाजन का कोई तर्कसंगत आधार नहीं। लेखक के दृष्टिभेद के आधार पर ही यह विभाजन किया जाता है, अन्यथा यथार्थवादी और आदर्शवादी उपन्यासों के रूप में कोई तात्विक अन्तर नहीं होता।

घटना-प्रधान

कहानी का सबसे सरल और प्राचीन रूप वह है जिसमें एक के बाद दूसरी बहुत सी अलौकिक एवं आश्चर्योत्पादक घटनाओं का वर्णन होता है। यह दादी-नानी वाली कहानियों का परिवर्द्धित और विकसित रूप-सा होता है। हिंदी की कहानियों और उपन्यासों के आरंभिक काल में ऐसी ही घटना-प्रधान कहानियों का बोलबाला था। ऐसी कहानी हम लोगों के सहज कुतूहल को ही जागरित और शांत करती है। उसमें केवल घटनाओं का घटाटोप होता है। उसमें बहुधा न तो कोई क्रम होता है न व्यवस्था। आदिम कहानियों की भाँति हम लोग उसमें यही सोचा करते हैं कि 'तब फिर आगे क्या हुआ।' हम लोगों का आकर्षण नायक के प्रति नहीं, घटनाओं के प्रति होता है और ये घटनाएँ अवश्य ही आश्चर्योत्पादक होती हैं, क्योंकि इसका कुछ ठिकाना नहीं कि वे क्या होंगी। चन्द्रकान्ता संतति में ही हम लोगों का आकर्षण इन्द्रजीत सिंह, आनन्द सिंह, राजा गोपाल सिंह या माया रानी आदि पात्रों के चरित्रों में नहीं होता। हम तो यही देखने को उत्सुक रहते हैं कि फिर माया रानी उस बन्द कोठरी से कैसे निकली, इन्द्रजीत सिंह ने कैसे तिलस्म में प्रवेश किया, गोपाल सिंह कूएँ में दफनाए जाकर भी कैसे माया रानी को चकित करने के लिए जीवित निकल आये इत्यादि। बाबू देवकीनन्दन खत्री की दिमागी टकसाल से निकले हुए वे पात्र सर्व-शक्तिशाली हैं। वे दावे के साथ कह सकते हैं—'हम क्या नहीं कर सकते'। उनके लिए सब कुछ

सम्भव है। ऐसे उपन्यासों में यह आवश्यक नहीं कि कार्य और स्थान में आधार-आधेय का संबंध हो। क्रिया-कलापों में लेखक अपनी विस्मयकारिणी घटनाओं वाली रुचि की निरंतर ही स्वच्छंदतापूर्वक तुष्टि करता है। यही उनको उनका सरल आकर्षण प्रदान करता है। एक से बचकर दूसरी घटना में उलझ जाना ही उनका कार्यकलाप है।

इस शुद्ध आकर्षण को आधुनिक लेखक नहीं पा सकते। यह वस्तुविन्यास के अभाव और अनियंत्रित, अव्यवस्थित, स्वच्छंदता पर निर्भर रहता है। वस्तु-विन्यास और चरित्र-विकास के अधिकाधिक अन्योन्याश्रित होने के कारण यह विशेषता तिरोहित हो गई। परन्तु इससे मिलता-जुलता एक प्रकार का उपन्यास और होता है जिसकी सीमाएँ अधिक नियंत्रित होती हैं और जिसमें अधिक कुशलता की अपेक्षा होती है। इसको अँगरेजी में रोमांस कहते हैं। इसका भी उद्देश्य कुतूहल-जागर्ति ही है। कुतूहल की मात्रा घटनाओं का निश्चित क्रम स्थापित करके बहुत बढ़ाई जा सकती है। पाठक सोचने लगता है कि देखो अब क्या होता है। घटनाओं की माला अथवा अवली में यदि पूर्वापर संबंध स्थापित कर दिया जाय तो लेखक पाठकों में आशा, निराशा, भय, आशंका आदि की तीव्रतर भावनाएँ उद्बुद्ध कर सकता है। साथ ही आनंद को बनाए रखने के लिए ऐसा आभास देता है कि उनकी पुन. शांति हो जाती है। ऐसे उपन्यासों का अंत सुखद होना चाहिए।

अतएव घटना-प्रधान उपन्यासों में ओज एवं वीरतापूर्ण घटनाओं द्वारा प्राप्त सहज प्रसन्नता ही हमारे आकर्षण का कारण होती है। ऐसा क्यों होता है, क्यों लोग 'चंद्रकांता' की कपोल-कल्पित कथाओं के पढ़ने में नहाना-खाना भूल जाते हैं, यह प्रश्न मनोवैज्ञानिकों का है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि ऐसा होता अवश्य है। ऐसे उपन्यासों में एक साधारण सी घटना के अप्रत्याशित परिणाम फैलते चले जाते हैं। एक जटिल सघन दुरूह जाल-सा बुन जाता है जो अंत में अलौकिक ढंग से स्पष्ट किया जाता है। क्रिया-व्यापार, उसका जटिल विकास या वृद्धि तथा उसके स्पष्टीकरण में ही हमारी वृत्ति लीन रहती है और यही हमारे मनोरंजन का कारण होता है। इसमें चरित्र भी होते हैं और घटनाएँ भी। परंतु घटनाएँ ही मुख्य वस्तु होती हैं। पात्रों का स्वरूप एवं चरित्र प्रासंगिक और कथा-वस्तु का सहायक होता है। पात्रों का चरित्र वैसा ही और उतना ही होता है जितना घटनाएँ अपेक्षा रखती हैं।

ऐसी कहानियों में साधारण सभ्य जीवन से भिन्नता होती है। यह भिन्नता उनके स्वरूप और प्रकृति के ही फलस्वरूप है। जीवन की दैनिक नीरस घटनाओं

की सीमा से निकल भागना ही इन लेखकों की प्रवृत्ति होती है। परंतु यह निकल भागना सुरक्षित होना चाहिए। नायक को विपत्तियों, दुर्घटनाओं आदि के आवर्त में पड़कर भी अक्षत, सुरक्षित रूप में वापस आ जाना चाहिए। नायक की सुख-समृद्धि की प्राप्ति के लिए कुछ गौण पात्र काल-कवलित हो जाते हैं, दुर्जन मार डाले जाते हैं और यदि ऐसा करने से कार्यसिद्धि होती हो तो कुछ सज्जनों का भी बलिदान कर दिया जाता है। अर्थात् कथा-वस्तु का उतार-चढ़ाव हम लोगों की इच्छा के अनुसार होता है, तर्कबुद्धि के अनुसार नहीं। आपदाओं और संकटों के रहते हुए भी सुरक्षित रहने, आकाश-पाताल एक करके, यथासंभव नियमों का उल्लंघन करके भी, उनके परिणामों से बच जाने की हमारी स्वाभाविक इच्छा को वह और भी अधिक शक्ति के साथ प्रकट करता है। वह जीवन का चित्र नहीं, इच्छाओं का काल्पनिक मूर्त विधान होता है। ऐसे उपन्यासों का तब तक साहित्यिक मूल्य कुछ भी नहीं होता जब तक वे किसी हद तक चरित्र-प्रधान भी न हों। ऐसे उपन्यासों की हिंदी में भरमार है। 'चंद्रकांता', 'भूतनाथ', 'जासूस' ऐसे तिलस्मी, ऐयारी और जासूसी उपन्यास इसी कोटि में आएँगे।

चरित्र-प्रधान

जिस प्रकार घटना-प्रधान उपन्यासों का सारा आकर्षण विभिन्न रोमांचकारी घटनाओं पर निर्भर रहता है और उनमें पात्रों का विशेष स्थान नहीं होता, उसी प्रकार चरित्र-प्रधान उपन्यासों में संपूर्ण आकर्षण भाँति-भाँति के चरित्रों, उनके पारस्परिक व्यवहार और प्रतिक्रियाओं द्वारा होता है। इनका कोई निश्चित कार्यक्रम अथवा पूर्वनिर्धारित अंत नहीं होता, जिसकी ओर उपन्यास की अन्य वस्तुएँ द्रुतगति से जाती जान पड़ें। यह गतिहीनता ही इस प्रकार के उपन्यासों की विशेषता है। श्री जैनेंद्रकुमार का 'सुनीता' उपन्यास इस प्रकार के उपन्यासों का अच्छा उदाहरण है। 'सुनीता' पढ़ते चले जाइए, पता न चलेगा कि कहानी किस ओर जा रही है, इसका कहाँ और कैसे अंत होगा।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों के चरित्र कथा-वस्तु का ही एक भाग नहीं होते, उनकी पृथक् सत्ता होती है और घटनाएँ उनके अधीन होती हैं। 'सुनीता' के श्रीकांत, हरिप्रसन्न तथा सुनीता अपना-अपना अलग अस्तित्व रखते हैं। वे परि-स्थितियों या घटनाओं के दास नहीं वरन् पारस्थितियाँ या घटनाएँ स्वयं उनके इशारे पर नाचती हैं। ये चरित्र प्रायः आदि से अंत तक एक रस रहते हैं। आरंभ से ही इनमें एक पूर्णता तथा अपरिवर्तनशीलता रहती है। 'सुनीता' के आरंभिक पृष्ठों में ही हमें इसके प्रधान पात्रों का जो परिचय मिलता है उसमें अंत

तक हमें उलटफेर करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यही इन पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता है। वे एक सुपरिचित भूदृश्य के समान होते हैं, जो कभी-कभी छाया-प्रकाश के विशेष प्रभाव द्वारा परिवर्तित-सा होकर अथवा किसी दूसरे कोण से देखने पर हमें आश्चर्यान्वित कर देता है। पात्रों के गुण-दोष आदि उनमे आरंभ से ही रहते हैं, वे नहीं बदलते। केवल बदलता है तद्विषयक हमारा ज्ञान।

कुछ लोग इस अपरिवर्तनशीलता को दोष मानते हैं, उनका कहना है कि पात्रों को जीवन के अधिक अनुरूप होना चाहिए। घूमते रहकर उन्हें अपने सभी अगों का प्रदर्शन करना चाहिए, स्थिर रहकर केवल एक का नहीं। संभव है कि यह वास्तविकता के विरुद्ध हो, परंतु फिर भी ऐसे चरित्र होते हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में वे अनेक की संख्या में मिलेंगे। तो क्या जितने इस प्रकार के महान उपन्यासकार हुए हैं उनकी वे गलतियाँ हैं ? नहीं, यह समझना अधिक उचित और सगत है कि उनकी इस गतिहीनता में भी एक नियम है। चरित्र गतिहीन न हों, इसका इसके सिवा कोई कारण नहीं कि आजकल समालोचना की प्रवृत्ति इस ओर नहीं है। बिना अपरिवर्तनशीलता के लेखक रीति-नीति, रहन-सहन और चरित्रों की इतनी विभिन्नता इतनी स्पष्टता से हमें नहीं दिखला सकता है। इस प्रकार सीमाबद्ध रूप से स्थिर होना, प्रत्येक पात्र की निरतर पूर्णता ही है, जिससे विभिन्नता का सकेत हमें मिलता है और उसे स्वत सिद्ध बनाता है। जीती जागती वस्तुओं के एक समूह में स्पष्ट अतर देखने के लिए हमें उनकी गति रोकनी ही पड़ेगी। जब तक हम उन्हें देखते रहते हैं तब तक उन्हें बदलना नहीं चाहिए, नहीं तो हम भेद नहीं कर सकेंगे। अथवा दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि चरित्रों की भिन्नता का भाव, अधिक से अधिक प्रभाव के साथ उत्पन्न करने के लिए, पात्रों को गतिहीन बनाना ही पड़ता है।

चरित्र-प्रधान उपन्यास की घटनाएँ या स्थितियाँ विशिष्ट होती हैं और उनका समावेश पात्र-विषयक हमारे ज्ञान की वृद्धि के ही लिए किया जाता है। जब तक ऐसा होता रहता है तब तक कोई भी संभाव्य घटना घटित हो सकती है। फलाफल किसी आंतरिक विकास अथवा पात्रों के आंतरिक परिवर्तन द्वारा उत्पन्न नहीं होता, और न कथा-वस्तु का ही काम पात्रों का विकास चित्रित करना होता है। गतिहीन होने के कारण वे विकसित हो ही नहीं सकते। कथावस्तु का काम केवल पात्रों की, आरंभ से ही उपस्थित भिन्न-भिन्न विशेषताओं को सामने लाकर रख देना तथा उन्हें नई-नई स्थितियों में रखकर और उनके पारस्परिक संबंध में परिवर्तन करके उनका एक जाति अथवा वर्गगत व्यवहार दिखलाना होता है। परिस्थिति के द्वारा उनके चरित्र में परिवर्तन बहुत कम लक्षित होता है। आदि

अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ हो चुकी हैं, जिनका जानना हमारे लिए आवश्यक है। परन्तु चरित्र-प्रधान उपन्यासों में यह बात नहीं होती। 'गबन' के रमानाथ को जब हम उपन्यास के अन्त में देखते हैं तो बिलकुल ही वह एक दूसरा रमानाथ सा मालूम होता है। उसके चरित्र के इस विकास या परिवर्तन को समझने के लिए हमें बीच की जीवन-घटनाओं को जानने की आवश्यकता होती है। परन्तु 'सुनीता' के हरिप्रसन्न या श्रीकांत का जो परिचय हमें आदि में मिलता है, अन्त में भी हम उन्हें उसी परिचय की दृष्टि से देखते हैं। हमें उनमें बहुत थोड़ा परिवर्तन मिलता है। इस प्रकार चरित्र-प्रधान उपन्यासों में एक पात्र जैसा आदि में था वैसा अन्त में भी रहेगा। वह वैसा ही व्यवहार करेगा, चाहे जितना समय बीच में बीत गया हो। समय रुका-सा रहता है, केवल स्थान-परिवर्तन होता है।

इसी समय-सापेक्षता के कारण नाटकीय उपन्यासों का अन्त असाधारण रीति से महत्वपूर्ण होता है। चरित्र-प्रधान उपन्यासों की तरह वह सूत्र-संकलन मात्र नहीं होता है। वह केवल घटनाओं का ही नहीं चरित्र-चित्रण का भी अन्त होता है। 'रंगभूमि' में विनय और सोफिया की मृत्यु इन दोनों के चरित्र पर अन्तिम प्रकाश डाल इनका चित्र तो पूरा कर ही देती है परन्तु साथ साथ घटनाओं का भी अन्त हो जाता है। अतएव घटना-चक्र को आरम्भ करने वाली समस्या की पूर्ति ही नाटकीय उपन्यासों का अन्त है। वह विशेष कार्य या तो सम-भूमि पर आकर अथवा आगे न बढ़ सकने वाले परिणाम पर पहुँचकर पूर्ण हो जाता है। पर्यवसायी एकत्व या मृत्यु ही दो अन्त हैं जिनकी ओर नाटकीय उपन्यास अग्रसर होते हैं। पर्यवसान का एकत्व प्राय विवाह के अनुकूल स्थिति के रूप में लाया जाता है। नाटकीय उपन्यासों का यह अन्त चित्रकार के अन्तिम स्पर्श के समान होता है जिसमे मूर्तियाँ पूर्ण और स्पष्ट हो जाती हैं।

पहले यह कहा जा चुका है कि नाटकीय उपन्यास बड़े ही प्रगतिशील होते हैं। यह प्रगति अधिकांश में घटनास्थल की संकीर्णता के कारण होती है। घटनास्थल की यह संकीर्णता इन उपन्यासों की एक बड़ी विशेषता है। सारा कार्य-कलाप एक निश्चित छोटी-सी परिधि के भीतर घिरा रहता है। चरित्र-प्रधान उपन्याम अपने स्थिर पात्रों को निरतर बदलते हुए स्थानों में, सामाजिक जीवन के भिन्न-भिन्न रूपों को दिखाते हुए, ले जाता है। नाटकीय उपन्यास स्थान को न बदलते हुए मानव-अनुभूतियों की सम्पूर्ण श्रेणी हमें पात्रों में ही दिखा देता है। वहाँ चरित्र अपरिवर्तनशील रहते हैं और स्थान बदला करता है, यहाँ घटनास्थल अपरिवर्तनशील होता है और पात्र पारस्परिक घात-प्रतिघात द्वारा बदला करते हैं। 'गोदान' में होरी के चरित्र का उत्थान-पतन

प्रायः उसके गाँव की सीमा के अन्दर ही लेखक हमें दिखा देता है। इस तरह हम देखते हैं कि चरित्र-प्रधान उपन्यास जीवन की रीतियों का चित्र होता है और नाटकीय उपन्यास अनुभव की रीतियों की प्रतिमूर्ति।

हिंदी में नाटकीय ढंग के उपन्यासों का प्रणयन प्रेमचंदजी के द्वारा ही आरंभ हो गया। उनकी आरंभिक कृतियों में तो हमें कुछ चरित्र-प्रधानता लक्षित होती है परन्तु बाद में घटनाओं और चरित्रों का उचित सामजस्य रहने लगा। गबन, गोदान, रंगभूमि आदि उपन्यासों में हम देखते हैं कि चरित्र घटनाओं की सृष्टि करते हैं और फिर उन घटनाओं या नवीन परिस्थितियों द्वारा ही उनके चरित्र में भी परिवर्तन हो जाता है। इस तरह बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग पर घटनाओं और चरित्र का घात-प्रतिघात चला चलता है और कथा के अन्त में हम देखते हैं कि घटनाओं के अन्त के साथ-साथ चरित्र-चित्रण भी अपनी पूर्णता पर पहुँच जाता है। प्रेमचन्दजी के अतिरिक्त उनके ढर्रे के अन्य कई लेखकों ने भी कला के इस आग्रह को पूरी तरह समझा है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि घटना प्रधान, चरित्र-प्रधान और नाटकीय उपन्यासों का यह वर्गीकरण कागज पर सैद्धांतिक रूप में जितना सरल जान पड़ता है उतना वास्तव में नहीं है। कुछ उपन्यासों में इस सभी वर्गों के कुछ सिद्धांत इस तरह मिले रहते हैं कि उन्हें न एक कह सकते हैं न दूसरा। उनमें घटनाएँ पर्याप्त रहती हैं, उनका तारतम्य भी रहता है और उलझन की आनंदमय सिद्धि की भी चेष्टा की जाती है। साथ ही साथ उसके सफलतम चरित्र मुख्य घटना-क्रम से स्वतंत्र होते हैं और घटनाओं के प्रति उनका उत्तर जातिगत या वर्गगत होता है। ऐसी अवस्था में उन्हें किसी विशेष वर्ग के अन्दर रखने में सावधानी की अपेक्षा होती है।

ऐतिहासिक

यद्यपि ऐतिहासिक उपन्यासों में भी घटना, चरित्र अथवा दोनों का समन्वय करने वाले नाटकीय ढग का ही समावेश होता है, परंतु फिर भी इनका एक अलग विभाग मानने का कारण यह है कि इनकी एक ऐसी विशेषता होती है जो अन्य उपन्यासों में नहीं होती और साथ ही इनकी उत्तमता का मापदण्ड भी भिन्न होता है। इन उपन्यासों की यह भेदक विशेषता है। यों तो देश-काल-चित्रण का प्रयोग सभी उपन्यासों में किया जाता है, परंतु उसका स्थान गौण रहता है और उपन्यास की समीक्षा करने में अन्य तत्त्वों की अपेक्षा इस पर कम ध्यान दिया जाता है। परंतु ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल का यह चित्रण ही उनका प्राण है। यही उनको विभिन्नता प्रदान करके उनकी पृथक् पृथक् कोटि स्थापित कर देता है।

अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ हो चुकी हैं, जिनका जानना हमारे लिए आवश्यक है। परन्तु चरित्र-प्रधान उपन्यासों में यह वात नहीं होती। 'गवन' के रमानाथ को जव हम उपन्यास के अन्त में देखते हैं तो विलकुल ही वह एक दूसरा रमानाथ सा मालूम होता है। उसके चरित्र के इस विकास या परिवर्तन को समझने के लिए हमें वीच की जीवन-घटनाओं को जानने की आवश्यकता होती है। परन्तु 'सुनीता' के हरिप्रसन्न या श्रीकांत का जो परिचय हमें आदि में मिलता है, अन्त में भी हम उन्हें उसी परिचय की दृष्टि से देखते हैं। हमें उनमें वहुत थोड़ा परिवर्तन मिलता है। इस प्रकार चरित्र-प्रधान उपन्यासों में एक पात्र जैसा आदि में था वैसा अन्त में भी रहेगा। वह वैसा ही व्यवहार करेगा, चाहे जितना समय बीच में बीत गया हो। समय रुका-सा रहता है, केवल स्थान-परिवर्तन होता है।

इसी समय-सापेक्षता के कारण नाटकीय उपन्यासों का अन्त असाधारण रीति से महत्वपूर्ण होता है। चरित्र-प्रधान उपन्यासों की तरह वह सूत्र-संकलन मात्र नहीं होता है। वह केवल घटनाओं का ही नहीं चरित्र-चित्रण का भी अन्त होता है। 'रंगभूमि' में विनय और सोफिया की मृत्यु इन दोनों के चरित्र पर अन्तिम प्रकाश डाल इनका चित्र तो पूरा कर ही देती है परन्तु साथ साथ घटनाओं का भी अन्त हो जाता है। अतएव घटना-चक्र को आरम्भ करने वाली समस्या की पूर्ति ही नाटकीय उपन्यासों का अन्त है। वह विशेष कार्य या तो सम-भूमि पर आकर अथवा आगे न बढ़ सकने वाले परिणाम पर पहुँचकर पूर्ण हो जाता है। पर्यवसायी एकत्व या मृत्यु ही दो अन्त हैं जिनकी ओर नाटकीय उपन्यास अग्रसर होते हैं। पर्यवसान का एकत्व प्राय विवाह के अनुकूल स्थिति के रूप में लाया जाता है। नाटकीय उपन्यासों का यह अन्त चित्रकार के अन्तिम स्पर्श के समान होता है जिससे मूर्तियाँ पूर्ण और स्पष्ट हो जाती हैं।

पहले यह कहा जा चुका है कि नाटकीय उपन्यास बड़े ही प्रगतिशील होते हैं। यह प्रगति अधिकांश में घटनास्थल की संकीर्णता के कारण होती है। घटनास्थल की यह संकीर्णता इन उपन्यासों की एक बड़ी विशेषता है। सारा कार्य-कलाप एक निश्चित छोटी-सी परिधि के भीतर घिरा रहता है। चरित्र-प्रधान उपन्यास अपने स्थिर पात्रों को निरतर वदलते हुए स्थानों में, सामाजिक जीवन के भिन्न-भिन्न रूपों को दिखाते हुए, ले जाता है। नाटकीय उपन्यास स्थान को न वदलते हुए मानव-अनुभूतियों की सम्पूर्ण श्रेणी हमें पात्रों में ही दिखा देता है। वहाँ चरित्र अपरिवर्तनशील रहते हैं और स्थान वदला करता है, यहाँ घटनास्थल अपरिवर्तनशील होता है और पात्र पारस्परिक घात-प्रतिघात द्वारा वदला करते हैं। 'गोदान' में होरी के चरित्र का उत्थान-पतन

प्राय उसके गाँव की सीमा के अन्दर ही लेखक हमें दिखा देता है। इस तरह हम देखते हैं कि चरित्र-प्रधान उपन्यास जीवन की रीतियों का चित्र होता है और नाटकीय उपन्यास अनुभव की रीतियों की प्रतिमूर्ति।

हिंदी में नाटकीय ढंग के उपन्यासों का प्रणयन प्रेमचंदजी के द्वारा ही आरंभ हो गया। उनकी आरंभिक कृतियों में तो हमें कुछ चरित्र-प्रधानता लक्षित होती है परन्तु बाद में घटनाओं और चरित्रों का उचित सामजस्य रहने लगा। गबन, गोदान, रंगभूमि आदि उपन्यासों में हम देखते हैं कि चरित्र घटनाओं की सृष्टि करते हैं और फिर उन घटनाओं या नवीन परिस्थितियों द्वारा ही उनके चरित्र में भी परिवर्तन हो जाता है। इस तरह बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढग पर घटनाओं और चरित्र का घात-प्रतिघात चला चलता है और कथा के अन्त में हम देखते हैं कि घटनाओं के अन्त के साथ-साथ चरित्र-चित्रण भी अपनी पूर्णता पर पहुँच जाता है। प्रेमचन्दजी के अतिरिक्त उनके ढर्रे के अन्य कई लेखकों ने भी कला के इस आग्रह को पूरी तरह समझा है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि घटना प्रधान, चरित्र-प्रधान और नाटकीय उपन्यासों का यह वर्गीकरण कागज पर सैद्धांतिक रूप में जितना सरल जान पड़ता है उतना वास्तव में नहीं है। कुछ उपन्यासों में इस सभी वर्गों के कुछ सिद्धात इस तरह मिले रहते हैं कि उन्हें न एक कह सकते हैं न दूसरा। उनमें घटनाएँ पर्याप्त रहती हैं, उनका तारतम्य भी रहता है और उलझन की आनदमय सिद्धि की भी चेष्टा की जाती है। साथ ही साथ उसके सफलतम चरित्र मुख्य घटना-क्रम से स्वतंत्र होते हैं और घटनाओं के प्रति उनका उत्तर जातिगत या वर्गगत होता है। ऐसी अवस्था में उन्हें किसी विशेष वर्ग के अन्दर रखने में सावधानी की अपेक्षा होती है।

ऐतिहासिक

यद्यपि ऐतिहासिक उपन्यासों में भी घटना, चरित्र अथवा दोनों का समन्वय करने वाले नाटकीय ढग का ही समावेश होता है, परंतु फिर भी इनका एक अलग विभाग मानने का कारण यह है कि इनकी एक ऐसी विशेषता होती है जो अन्य उपन्यासों में नहीं होती और साथ ही इनकी उत्तमता का मापदंड भी भिन्न होता है। इन उपन्यासों की यह भेदक विशेषता है। यों तो देश-काल-चित्रण का प्रयोग सभी उपन्यासों में किया जाता है, परंतु उसका स्थान गौण रहता है और उपन्यास की समीक्षा करने में अन्य तत्त्वों की अपेक्षा इस पर कम ध्यान दिया जाता है। परतु ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल का यह चित्रण ही उनका प्राण है। यही उनको विभिन्नता प्रदान करके उनकी पृथक् पृथक् कोटि स्थापित कर देता है।

विना इसके ऐतिहासिकता का कोई अर्थ नहीं। इन उपन्यासों का आकर्षण और साहित्यिक मूल्य बहुत कुछ उनके द्वारा किये गये भूभाग और काल-विशेष के जीवन, रीतिनीति, रहन-सहन आदि के वर्णन पर निर्भर रहता है और उनकी उत्तमता यहाँ पर वर्णनों की यथार्थता, तद्रूपता और शक्ति पर निर्भर रहती है।

इन ऐतिहासिक उपन्यासों में भी हमें दो प्रकार मिलेंगे। एक तो वे जिनमें देश और समय के साथ पात्र भी मुख्यत ऐतिहासिक होते हैं। ये शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास कहे जा सकते हैं और दूसरे वे जिनमें देश-काल तो अवश्य ऐतिहासिक होता है परन्तु उसके पात्र समयानुरूप होते हुए भी काल्पनिक होते हैं। इनको हम 'ऐतिहासिक प्रेमाख्यानक उपन्यास' कह सकते हैं। ये अधिकतर ऐतिहासिक चौखटे में जड़े प्रेम-चित्र होते हैं। श्रीवृन्दावनलाल वर्मा का 'गढ़कुंडार' पहले प्रकार का है और उन्हीं का 'विराटा की पद्मिनी' उपन्यास दूसरे प्रकार का। 'गढ़कुंडार' का कथानक, पात्र और देश-काल सभी ऐतिहासिक हैं परतु 'विराटा की पद्मिनी' में देश-काल या वातावरण ऐतिहासिक होते हुए भी पात्र तथा घटनाएँ कल्पित हैं।

चाहे जिस प्रकार का ऐतिहासिक उपन्यास हो, उसका प्रभाव और आकर्षण सदैव अंशत. उसके द्वारा किये गये अतीत काल के जीवन के निर्मल और सजीव चित्रण पर ही निर्भर रहेगा, क्योंकि एक प्रकार से यही उनके अस्तित्व का औचित्य है। ऐतिहासिक उपन्यासकार का कार्य है कि वह इतिहासज्ञों और पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा एकत्र किये गये नीरस तथ्यों पर अपनी उत्पादक कल्पना-शक्ति का प्रयोग करे। यही नहीं, उसे चाहिए कि वह इन भिन्न-भिन्न स्थानों से प्राप्त बिखरी हुई सामग्री से एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करे जिसमें कला कृति की पूर्णता और एकता हो। सभ्यता के किसी युग को, नीरस तथ्यों और पांडित्य का प्रदर्शन किये विना, वास्तविक चित्रोपम सजीवता देने की शक्ति का ही साधारण पाठक ऐतिहासिक उपन्यास-लेखकों में आदर करते हैं। उसके पुरातत्त्व-ज्ञान और पाडित्य का भी आदर उस उपन्यास में हो सकता है जिसमें एक ऐसे अतीत युग का वर्णन हो जिसका ज्ञान साधारण पाठकों को बहुत कम है। राखाल बाबू के 'करुणा' और 'शशांक' ऐसे ही उपन्यास हैं। परन्तु ऐसा उपन्यास कभी सर्वप्रिय नहीं हो सकता।

यह तो स्पष्ट हो हो गया कि ऐतिहासिक उपन्यासों में कल्पनाशक्ति की पूर्ण आवश्यकता होती है। कल्पना के बिना वह कोरा इतिहास हो जायगा, उपन्यास नहीं। कल्पना और इतिहास का सामंजस्य इन उपन्यासों के लिए नितान्त आवश्यक है। इनकी समीक्षा में हमें इसका भी ध्यान रखना होता है। ऐतिहासिक उपन्यासकार को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उसके उपन्यास में इतिहास अथवा काल-विरुद्ध बातें न आ जायें। इस तथ्य की उपेक्षा करने के

कारण ही पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के 'तारा' आदि ऐतिहासिक उपन्यासों का कोई मूल्य नहीं रह गया है। उपन्यासकार अपनी कल्पना का उपयोग कर सकता है, परंतु इतिहास-सिद्ध तथ्यों की सत्यता का ध्यान रखते हुए। यदि कोई ऐतिहासिक चरित्र इतिहास द्वारा दुष्ट और नीच सिद्ध हो चुका है तो उसका सज्जनोचित रूप चित्रित करना इतिहास-विरुद्ध होगा और वह उपन्यास अच्छा न कहा जायगा। कल्पना का उचित प्रयोग वह इस प्रकार कर सकता है कि पात्र के गुण-दोष को विकसित करनेवाली अथवा उनका स्पष्टीकरण करनेवाली नवीन घटनाओं की योजना करे, ऐसी घटनाएँ चाहे ऐतिहासिक न भी हों। यदि कोई वास्तविक इतिहास-प्रसिद्ध घटना उपन्यास के वृत्त में आती है तो उसके वर्णन में उसे सत्यता, ऐतिहासिक सत्यता का ही आधार लेना चाहिए।

इससे भी अधिक आवश्यक कदाचित् यह बात होती है कि वह उस काल के आचार, प्रकृति, स्वभाव, परिस्थिति आदि का यथार्थ चित्रण करे। यदि कोई उपन्यासकार अकबर और जहाँगीर को कोट पतलून पहनाकर चित्रित करे तो उसके घोर अज्ञान का भंडाफोड़ तो होगा ही, साथ ही उपन्यास का सारा गौरव भी लुप्त हो जायगा। अतएव सफलता प्राप्त करने के लिए लेखक को तत्कालीन परिस्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए। यहीं पर पुरातत्व-विभाग की उपयोगिता ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिए आवश्यक हो जाती है। किसी दूसरे काल के वातावरण में अन्य काल के पात्रों का समावेश भद्दा होगा। यदि मुगलकाल में मिलों की हड़ताल का चित्रण होने लगे तो ऐसे ऐतिहासिक उपन्यासों का न होना ही अच्छा है। ऐसे उपन्यासों में परिस्थितियों और पात्रों का सामंजस्य न होने के कारण हमारा विश्वास कभी टिक न सकेगा।

प्रमुख 'वाद'

साहित्य के लक्ष्य, उपादान एवं जीवन-दृष्टि के आधार पर कथा-वाङ्मय में अनेक सिद्धांत विकसित हुए जिनका वस्तु एवं रूप शिल्प दोनों ही पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। आदर्शवादी, रूमानी, यथार्थवादी तथा प्रकृतिवादी आदि नामों से विभिन्न कथाकृतियों एवं कथाकार अभिहित किये गये और विभिन्न वादों का विरोध व्यक्त किया गया। योरोप में उद्भूत, प्रयुक्त एवं प्रचारित इन वादों का हिन्दी उपन्यास पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वास्तव में इन्हें विरोधी वादों के रूप में देखना-समझना ठीक नहीं। विचारों के विकास में विरोध और मिलाप की निश्चित रेखाओं को न ढूंढ कर विकास-प्रक्रिया को समझने का प्रयत्न ही अधिक श्रेयस्कर होता है। आदर्श तथा यथार्थवाद के बीच भी कालगत अथवा स्थानगत कोई

विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। ये ऐसी व्यापक प्रवृत्तियाँ हैं जिनका जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किसी अंश तक प्रभाव है। साथ ही युगीन विचारधाराएँ इन्हें निरंतर प्रभावित करके इनकी भावना को किंचित् परिवर्तित भी करती रहती हैं।

आदर्शवाद :

दार्शनिकों के द्वारा निरूपित 'आदर्शवाद' एक नित्य तथा सर्वांगपूर्ण आध्यात्मिक सत्य की स्थापना का प्रयत्न करता है। कविता में 'चिरतन अनुभूतियों की अमर प्रतिमाओं' के चित्रण को ही आदर्शवाद की सज्ञा दी जाती है। राम और कृष्ण, सीता और सावित्री ऐसी ही प्रतिमाएँ हैं। सामान्य बोलचाल में भी 'आदर्श' शब्द निर्दोपता, सर्वांगपूर्णता सर्वोच्चता तथा सर्वोत्तमता के भाव को व्यजित करता है। वास्तव में आदर्श चरित्र-सृष्टि के मूल में अपूर्ण मनुष्य को संपूर्ण देखने की कामना निहित रहती है। मनुष्य गुण-दोषों का समूह है। उसमें जहाँ एक ओर आहार-मैथुन जैसी पशु-प्रवृत्तियों, संकुचित स्वार्थों, ईर्ष्या-द्वेष, क्रूरता-कठोरता, एव असत् आचरणों का प्राबल्य है, वहीं दूसरी ओर प्रेम, करुणा, परोपकार, त्याग, वीरता आदि सात्त्विक प्रवृत्तियाँ भी वर्त्तमान हैं। परन्तु सामान्य दैनिक जीवन में मनुष्य की सात्त्विक वृत्ति पर प्राय रज और तम हावी हो जाते हैं, उसकी दुर्बलताएँ ऊपर उठकर उसकी सबलता को दबा देती हैं। यह भी देखा जाता है कि सत्कर्मों का परिणाम सदैव शुभ एव सुखद ही नहीं होता। इसके प्रतिकूल अधिकतर सन्मार्ग-गामी व्यक्ति जीवन मे दुख पाता है और बेईमान, धूर्त तथा दुराचारी प्रायः सुखी एवं समृद्ध होते हैं। यदि साहित्यकार वस्तु-जगत को ही चित्रित करे तो उसके चित्रों में भी उन्हीं दुर्बलताओं का प्राधान्य हो जायगा। ऐसा साहित्य लोक-कल्याण की दृष्टि से श्रेयस्कर न होगा। मानव दुर्बलताओं को, दुराचरण एवं तज्जन्य सफलताओं को देख मानव की महत्ता पर से हमारा विश्वास उठ जायगा, धर्म में हमारी आस्था न रहेगी। अतएव आदर्शवादी लेखक साहित्य में ऐसे पात्रों की अवतारणा करता है जो समाज के कीचड़ में भी कमलवत पवित्र एव प्रफुल्ल बने रहते हैं। दुनियाँ की दुर्बलताएँ उन्हें छू नहीं पातीं, प्रवृत्तियाँ उन्हें डिगा नहीं पातीं। वे प्रलोभनों के बीच रहकर भी उन्हें परास्त करते हैं, सद्भावना एव सद्वृत्तियों के प्रतीक होते हैं और उनके शुभ कर्मों का परिणाम भी शुभ ही होता है। इस प्रकार आदर्शवादी आशावादी होता है। वह केवल तर्क पर ही आश्रित न रहकर भावना और कल्पना का भी सहारा लेता है और वस्तुस्थिति से आगे बढ़कर संभाव्य स्थितियों का भी चित्रण करता है। जब तक उसकी कल्पना, संभावना की परिधि का उल्लंघन नहीं करती, जबतक वह मानव-स्वभाव एवं क्षमता का

विश्वसनीय चित्र उरेहता है तब तक हमें आपत्ति का कोई कारण नहीं। ऐसा साहित्य सदैव ही कल्याणकारी होगा। किन्तु यदि लेखक की दृष्टि मानवीय धरातल को छोड़कर केवल कल्पना के धरातल पर टिक जायगी, यदि वह मनुष्यों का नहीं देवताओं का निर्माण करने लगेगा तो वहीं पर उसका कार्य आपत्तिजनक हो उठेगा। देवता की कल्पना कठिन नहीं, कठिन है उनमें प्राणों का कंपन-स्पन्दन भरना। आदर्शों की निर्जीव प्रतिमाओं की स्थापना का साहित्यिक मूल्य नगण्य होगा।

'रोमांस'

'आदर्शवाद' के समान ही 'रोमांस' की भी यथार्थवाद के साथ तुलना की जाती है। यह शब्द अंग्रेजी का है और हिन्दी में भी बहुत प्रचलित हो उठा है। सामान्यतः 'रोमांस' उन कथाओं को कहते हैं जिनमें प्रेम, साहस एवं वीरता का ही प्रमुख रूप से वर्णन रहता है। आधुनिक उपन्यास के आविर्भाव के पूर्व अंग्रेजी कथा-साहित्य में 'रोमांस' की ही प्रधानता थी। इसमें अद्भुत, आश्चर्यजनक एवं असम्भव घटनाओं का रोचक वर्णन रहता है। वह जीवन का यथार्थ चित्र न होकर लेखक की इच्छा का मूर्त्त विधान होता है जिसमें कल्पना की स्वच्छन्द क्रीड़ा देखते ही बनती है। वास्तविक जगत से भिन्न इस 'रोमांस' जगत का वातावरण बड़ा ही जटिल एवं रोमांचकर होता है किन्तु पात्रों के मनोराग बहुत कुछ इस जगत के मनुष्यों के से ही होते हैं। 'रोमांस' का सारा वातावरण काव्यमय, कल्पनाश्रित एवं भावावेग से पूर्ण होता है। उसकी एक निश्चित योजना होती है और पर्यवसान सुखद होता है। वास्तव में काव्य का सत्य ही रोमांस का भी सत्य होता है। 'रोमांस' में एक विशेष अनुरंजनकारी शक्ति होती है। वह पाठक के मन में एक स्फूर्ति, उल्लास एवं ताजगी भर देने की क्षमता रखता है। निम्नांकित पंक्तियों में रोमांस के सफल उपकरणों का अच्छा वर्णन किया गया है।

" .. .. रोमांस के पात्र तथा उनकी कथा के विषय बहुत कुछ सीमित हैं। नायक व्यक्ति नहीं है, पर एक उच्चकुल समुद्भूत नायक है। उसका व्यवहार, सदाचार, आचरण इत्यादि एक साँचे में ढला हुआ है। वह राजा है, धर्मात्मा है, अपने भड़कीले वस्त्रों से सुसज्जित वीर ('नाइट') है, यदि नायिका हुई तो वह सुन्दरता की देवी होगी और अपनी रक्षा के लिए लोगों के हृदय में 'शिवेलरी' के भावों को जगाने की उसमें शक्ति होगी अर्थात् पात्र टाइप होंगे और व्यक्ति नहीं। उनके कार्यकलाप तथा उनकी प्रतिक्रिया के ढंग भी टिपिकल होंगे। वे सदा किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु की खोज में निरत होंगे। प्रतिद्वन्द्विता ('होलीग्रेल) उनके जीवन का अंग होगा, सदा सामने एक उच्च आदर्श की लौ जगमगाती और उन्हें प्रेरित

करती रहेगी, विपन्नों विशेषत निरीह नारियों का उद्धार उनके जीवन का व्रत होगा, प्रतिज्ञा के लिए प्राणों की बाजी लगा देना उनके लिए बायें हाथ का खेल होगा। प्रेम के लिए कठिन परीक्षाएँ, क्रीड़ा-समारोह, विवाह की धूम-धाम, रण-प्रयाण, श्मशान-यात्रा के दृश्य, राक्षसों से युद्ध, धार्मिक युद्ध इत्यादि का वर्णन अधिकता से होगा, तिस पर भी इन सबके बीच एक सुन्दरी कन्या का हाथ अवश्य होगा।''[1]

यथार्थवाद

यथार्थवाद न तो पूर्ण एवं निर्दोष मानव के चित्रण की आकांक्षा रखता है और न प्रेम तथा साहस के मनोरंजक क्रिया-कलाप दिखाने का उत्साह ही रखता है। वह तो जीवन को उसके यथार्थ रूप मे चित्रित करने का संकल्प लेकर चलता है। यह गद्य साहित्य की एक विशेष प्रवृत्ति है। प्रत्येक देश की कविता में शताब्दियों तक महान व्यक्तियों के महान् कार्यों के महाकाव्य निर्मित होते रहे जिनमें जीवनानुभूति के श्रेष्ठतम निष्कर्षों, मानवीय महत्ता के आदर्शों, प्रेम तथा साहस के रोमांचकर प्रसंगों के अलकृत, रमणीय एवं रसात्मक वर्णन हुआ करते थे। कारण, कविता में ऐसी शक्ति है कि वह हमारी तीव्रतम अनुभूतियों को, हमारे भाव सत्य को सरस और संवेदनीय बनाकर अभिव्यक्त कर सके। फिर प्राचीन तथा मध्ययुगीन मानव की जीवन रीति इतनी जटिल नहीं थी, उसके मन में परिस्थितियों के कारण इतनी ग्रन्थियाँ नहीं पड़ी थी, वह अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ, संतुलित, धर्मभीरू, एवं आदर्शप्रिय था। उसके नैतिक मूल्य निर्भ्रान्त थे। किन्तु विज्ञान की प्रगति, मशीनचालित उद्योगों की वृद्धि, योरोपीय सामाजिक एवं राजनीतिक क्रान्तियों, नवीन लोकचेतना एव मानववादी आदर्शों के विकास, डारविन, मार्क्स तथा फ्रायड की समाज, राज्य एवं मानव-मन-सम्बन्धी स्थापनाओं आदि के सम्मिलित प्रभाव से उन्नीसवीं शताब्दी में ही एक नितान्त भौतिक जीवन-दृष्टि उदित हुई जो निरन्तर प्रगतिशील रही। मनुष्य अधिकाधिक बुद्धिवादी होता गया और जीवन की निरन्तर वर्धमान जटिलता को ही सुलझाने में उलझता गया। राज्यतन्त्र, अर्थव्यवस्था, धर्म तथा नैतिकता आदि की वैज्ञानिक बुद्धि के प्रकाश में नवीन व्याख्याएँ की गईं, तथा मानव-मूल्यों में परिवर्त्तन हुए। मनुष्य की सूक्ष्म निरीक्षक दृष्टि अपने चतुर्दिक् की छोटी से छोटी वस्तु पर पड़ी और उसका विभिन्न पक्षों से अध्ययन किया गया। भावुकता, आदर्श एव परम्परित धारणाओं को अलग रखकर वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देखने-परखने की प्रवृत्ति प्रबल होती गई। अन्य साहित्यिक रूपों की अपेक्षा उपन्यास-कहानी में यथार्थ चित्रण का आग्रह अधिक दिखाई पड़ा।

---

१. देवराज उपाध्याय—आलोचना' उपन्यास विशेषांक पृष्ठ १०

अपने सहज रूप में मानव-जीवन शक्ति तथा दुर्बलता, महत्ता एवं लघुता, कुरूपता और सुरूपता का संघात है। इन द्विविध रूपों में ही वह यथार्थ है। यदि यथार्थवाद का शाब्दिक अर्थ लिया जाय तो इसके अन्तर्गत वे सभी रचनाएँ आ जायेंगी जिनमें वास्तविक जीवन के उच्च से उच्च एवं निम्न से निम्न पक्षों का यथातथ्य चित्रण हो। वास्तविक जीवन में वाह्य परिस्थितियों एव क्रियाकलापों के साथ-साथ आन्तरिक भावनाओं, विचारों, आदर्शों, कल्पनाओं एवं स्वप्नों की भी सत्ता है और इनके द्वारा भी जीवन अभिव्यक्त होता है। अतएव व्यापक अर्थ में यथार्थवादी रचनाएँ मनुष्य की वाह्य एव आन्तर दोनों ही सत्ताओं के चित्रण का लक्ष्य रखकर चलेंगी। मनुष्य भावुक भी होता है, आदर्शवादी भी होता है, और यदि उसके चरित्र के इन पक्षों का सहज, स्वाभाविक एवं मानव-सुलभ वर्णन हो तो वह यथार्थ की परिधि में ही रहेगा। यथार्थ का अतिक्रमण तब होता है जब लेखक की कल्पना वस्तु या व्यक्ति को अस्वाभाविक रंगों से चित्रित करने लगे अथवा वह धार्मिक-नैतिक उपदेश के आवेश में वस्तु के सहज स्वरूप में काट-छाँट करने लगे। उपर्युक्त अर्थ में कट्टर आदर्शवादी को भी यथार्थवाद पर आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु यथार्थवाद इस व्यापक अर्थ में गृहीत नहीं हुआ।

वास्तव में यथार्थवाद प्रधानतया आदर्शवाद तथा रोमांस की प्रतिक्रिया में प्रादुर्भूत हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रांस के बालजक, फ्लावेयर, जोला प्रभृति लेखकों ने यथार्थ चित्रण की परम्परा का प्रवर्त्तन किया और आगे चलकर रूस के तुर्गनेव, टालस्टाय, डास्टायवस्की तथा गोर्की जैसे समर्थ कथाकारों के हाथों इसे परिपूर्णता प्राप्त हुई। यथार्थवाद के समर्थकों का आग्रह था कि साहित्य को महान्, दूरस्थ एवं काल्पनिक की अपेक्षा साधारण, सुपरिचित एव निम्न का वर्णन करना चाहिए। उपन्यास जीवन का चित्र है और जीवन-समुद्र में गगन-चुम्बी महूर्मियाँ एवं नेत्ररंजक रत्न ही नहीं हैं, छोटी-छोटी लहरियाँ, बनते-बिगड़ते बुद्बुद्, कीचड़ और दलदल, घोंघे और सीप तथा असंख्य अन्य जीवजन्तु एवं कीटाणु भी हैं। यहाँ पर पुण्यश्लोक महात्मा अथवा सुख-वैभव में पले श्रीमान तो विरल ही हैं। इनकी तुलना में जीवन के कठोर यथार्थ से जूझने वाले, विपत्ति और वेदना से विकल अपनी प्रवृत्तियों के गुलाम सामान्य जनों का संख्या ही अधिक है। यदि उपन्यास को जीवन का प्रतिनिधित्व करना है तो उसे जनसाधारण की समस्याओं, जीवन-स्थितियों, आर्थिक सामाजिक अवस्थाओं आदि का यथार्थ चित्रण ही आवश्यक होगा।

जोला ने यथार्थता की परिभाषा 'कल्पना का निषेध और आदर्श का बहिष्कार' कहकर की थी। उसका तात्पर्य उन सब बातों को दूर रखने और उन सबको छोड़

देने से या जिनका सुदृढ़ आधार वास्तविक जीवन में न हो और जो विलक्षण, अतथ्य, अस्पष्ट अथवा उपदेशात्मक हों। उसका कहना है कि यथार्थवादी साहित्य में तत्कालीन जीवन का चित्रण होता है। इस तरह यथार्थता का आधार वास्तविक अनुभव में होता है और उसी के द्वारा वह नियन्त्रित होती है। यथार्थवादी उपन्यासकार मनुष्यों का अंकन करते समय "क्रिया-व्यापार के नियमों पर विश्वास करता है, चरित्र सूत्रों पर नहीं"। उसकी चित्तवृत्ति "विश्लेषणात्मक होती है; काव्यमय, भावनामय नहीं"। वह "मनुष्यों का चित्रण ठीक वैसा ही करता है जैसे वे हैं"। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जोला कथाजगत् से रोमांस, कल्पना, प्रच्छन्न आध्यात्मिक सत्य, मानव-चरित्र एवं मानव-जीवन की व्याख्या, सब कुछ निकाल बाहर करना चाहता है। यदि एक शब्द में कहें तो कह सकते हैं कि जोला के लिए निजी व्यक्तिगत दृष्टि का कोई मूल्य नहीं।

प्रकृतिवाद

यथार्थवाद के सम्बन्ध में जोला द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही कथा-साहित्य में प्रकृतिवाद के प्रवर्त्तन का उत्तरदायी है। विज्ञानवेत्ता मनुष्य को भी प्रकृति के समकक्ष रखकर देखने का पक्षपाती है। जिस प्रकार प्रकृति-विकास में किसी प्रक्रिया को हेय नहीं कहा जा सकता और वैज्ञानिक सूक्ष्मता से सबका निरीक्षण-परीक्षण करता है उसी प्रकार भौतिक स्तर पर मनुष्य जीवन का भी निरीक्षण करके उसका यथातथ्य चित्रण होना चाहिए। मूलतः मनुष्य भी पशु-धर्मा है और उसमें भी आहार, मैथुन आदि पशुप्रवृत्तियाँ अपने आदिम या प्रकृत रूप में वर्त्तमान हैं। जब प्रकृति के अन्य जीवों में ये प्रवृत्तियाँ गोप्य नहीं हैं तो मनुष्य में ही क्योंकर गोप्य हों। अतएव मनुष्य का यथार्थ चित्रण तभी सम्भव है जब उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का तथा उनसे प्रेरित क्रिया-कलापों का नितान्त तटस्थ एवं वैज्ञानिक दृष्टि से नग्न वर्णन हो। इसी प्रकार की साहित्यिक दृष्टि उस कथा-वाङ्मय के निर्माण के लिए उत्तरदायी है जो नीरस, तुच्छ, मलिन और निकृष्ट होता है, और जिसके अस्तित्व का बहाना केवल यही है कि उसकी प्रति-मूर्ति हमारे नीरस, क्षुद्र, तुच्छ, मलिन दैनिक जीवन में है। प्रकृतिवादी लेखक धार्मिक-नैतिक पूर्वाग्रहों से नितान्त मुक्त होकर मनुष्य का ऐसे ही वर्णन-विश्लेषण करता है जैसे कोई वैज्ञानिक किसी पुष्प का अथवा जीवजन्तु का करता है। अतएव स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का वर्णन करते समय वह चुम्बन-आलिंगन तथा अन्य शारीरिक चेष्टाओं का भी वर्णन करने से नहीं हिचकता। उसकी कृति में व्यक्ति एवं समाज के अत्यन्त घिनावने चित्र भी रहते हैं। यथार्थ एवं प्रकृतिवाद के नाम

पर कितने ही लेखकों ने रसपूर्वक कुत्सित जीवन के अङ्ग प्रत्यंग का वर्णन, उसकी विकृति तथा व्योरेवार चित्रण किया। कथा-साहित्य में विभिन्न मानसिक रोगों, अपराधों, कामचेष्टाओं तथा अन्य अनैतिक आचरणों एवं गंदगियों आदि के वर्णन का बाहुल्य हो गया। इन विकलांग चित्रों को लक्ष्य करके ही यथार्थवादियों तथा प्रकृतिवादियों पर व्यंग किया गया कि 'इन्होंने हमें एक नवीन संसार देने का वचन दिया था किन्तु दिया एक अस्पताल' (दे प्रामिस्ड टु गिव अस ए न्यू वर्ल्ड इन्स्टेड दे गेव अस हास्पिटल)।

यथार्थवाद-सम्बन्धी अन्य धारणाएँ

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन का साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा और यथार्थवाद एक नये नाम से, नये अर्थों में समझा जाने लगा। मार्क्स के अनुसार पूँजीपति (शोषक) तथा पूँजीहीन (शोषित या सर्वहारा) वर्गों का संघर्ष एक ऐतिहासिक सत्य है और इसका चरम लक्ष्य वर्गहीन समाज की स्थापना है। समाज के इन वर्गों का यह संघर्ष ही यथार्थ है। अतएव समाजवादी यथार्थवाद के अन्तर्गत सर्वहारा वर्ग की दयनीयता, शोषण-प्रक्रिया, असतोष तथा वर्गविभेद के मिटाने के प्रयत्नों का वर्णन रहता है। इस दृष्टि से लिखे गये उपन्यासों में पूँजीपति वर्ग के व्यक्तियों के सकुचित स्वार्थों, शोषण-प्रणालियों, विलासवृत्ति, बाह्य सदाचरण एव एकान्तिक दुराचरण आदि पर निर्मम प्रहार की प्रवृत्ति प्रबल होती है। पूर्वाग्रह को लेकर चलने वाली यह दृष्टि अधिकतर एकांगी एव असहिष्णु होती है।

इस समाजवादी यथार्थवाद से नितान्त भिन्न मनस्तत्ववादी यथार्थवाद है। जिस प्रकार समाजवादी यथार्थवाद के मार्क्स को भौतिक दर्शन से प्रेरणा मिली है उसी प्रकार मनस्तत्ववादी यथार्थवाद को फ्रायड, एडलर तथा युग आदि के मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक निष्कर्षों से। इन निष्कर्षों के अनुसार मन में अनेक पर्ते, अनेक ग्रंथियाँ होती हैं और हमारे बाह्य आचरणों एवं क्रियापद्धतियों का मूल प्रेरणा-स्रोत हमारी अन्तश्चेतना होती है। अतएव मन की ये विभिन्न दिशावर्तिनी सचरणभूमियाँ ही यथार्थ हैं और हमारी चेतना-धारा तथा मन-सचरण का अनुगमन एवं चित्रण ही मनुष्य का वास्तविक चित्रण है। इस मत पर विश्वास रखने वाले कलाकार व्यक्ति के अन्तस्तल में पैठ कर उसकी चेतना के उर्मिल प्रवाह को शब्दांकित करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार मनस्तत्ववादी यथार्थवाद नितान्त आन्तरिक, एवं व्यक्तिगत है जब कि समाजवादी यथार्थवाद बिल्कुल बाह्य एव सामाजिक। दोनों ही पूर्वाग्रह ग्रस्त होकर चलते हैं अतएव जीवन के स्वस्थ सतुलित एवं कलात्मक चित्रण के मार्ग में बाधा पहुँचाते हैं।

यथार्थवाद का महत्त्व एवं उसकी सीमाएँ

यह तो मानना पड़ेगा कि साहित्यिक अभिव्यंजना-प्रणाली पर यथार्थवाद का प्रभाव पड़ा है और उससे लाभ भी हुआ है। यथार्थवादी लेखक विशिष्ट और सूक्ष्म को मूल्य प्रदान कर सत्य का भ्रम उत्पन्न करने पर जोर देता है। अत्यत व्यंजक व्यौरों के चयन में वह जिस ध्यान और सावधानी का परिचय देता है उसका प्रभाव सम्पूर्ण साहित्य पर पड़ा है। व्यक्ति, परिस्थिति एव वातावरण का जितना जीवन्त, यथातथ्य एव विश्वसनीय चित्रण यथार्थवाद के उदय के उपरान्त आरम्भ हुआ वह अपूर्व है। यथार्थवादी रीतियों का अनुसरण करने के कारण, नितान्त काल्पनिक होने पर भी, अन्य प्रकार के उपन्यासकारों की रचनाओं में एक प्रकार की मूर्त्तता तथा वास्तविकता आ जाती है। प्रतिदिन के ससार को, साधारण और अधस्थ के निवास-स्थान को, साहित्य का विषय बनाकर यथार्थवाद ने कथावाङ्मय का बड़ा उपकार किया है। आज के उपन्यास को सच्चे अर्थों में समाज का चित्र कहलाने की क्षमता यथार्थवाद से ही मिली है। इसके प्रवर्त्तन से साहित्य का क्षेत्र विस्तृत हुआ है, नवीन वर्णन भूमियाँ मिली हैं, व्यक्ति के बाह्य क्रियाकलापों एव असगतियों के मूल स्रोतों तक पहुँच कर उनके चित्रण की क्षमात प्राप्त हुई है और मानव-जीवन असख्य रूपों में अभिव्यक्त हो उठा है। आज के साहित्य के लिए जीवन का कोई क्षेत्र नगण्य, उपेक्षित एवं हेय नहीं रह गया है।

किन्तु इसकी सीमाएँ भी हैं और साहित्य के स्वस्थ, सतुलित विकास के लिए उनसे सतर्कता अपेक्षित है। अपने अप्राकृतिक, निकृष्ट रूप में यथार्थवादियों (प्रकृतिवादियों) ने क्षुद्र और निम्न के प्रति अपनी रुचि कदाचित् इसलिए दिखाई है कि वह क्षुद्र और निम्न है, साहित्य क्षेत्र के प्रसार के विचार से नहीं। हमारी अनुभूतियों में सभी प्रकार और सभी मात्राओं के कला-मूल्य हैं। यथार्थवादी और आदर्शवादी दोनों ही उनमें से अपनी रुचि के अनुकूल बातें पसद कर सकते हैं। परन्तु यथार्थवादी खोज ढूँढ कर अन्य सबकी अपेक्षा साधारण और क्षुद्र को ही पसन्द करता है। उसके लिए केवल वही वास्तविक है। आज के समाजवादी यथार्थवादी भी जब समाज के विभिन्न वर्गों का चित्रण करने लगते हैं तो वे बिल्कुल असहिष्णु हो उठते हैं और वर्ग-विशेष पर निर्मम व्यंग्यात्मक प्रहार से उनकी कृति का मानवीय स्वास्थ्य-संतुलन नष्ट हो जाता है।

यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि निम्न और क्षुद्र में स्वयं कोई साहित्यिक मूल्य नहीं होता और बिना व्याख्या की सहायता के वह प्रदान भी नहीं किया जा सकता। हम तो समझते हैं कि जोला के अर्थ में शुद्ध यथार्थवाद

कथा-वाङ्मय में असम्भव है। क्योंकि वह व्याख्या को या वैयक्तिक दृष्टि को नहीं मानता। हमारे अनुभव के लोक-सामान्य-तत्व हमारी ज्ञान-राशि की वृद्धि करते हैं। यदि उनमें उस व्यक्तिगत तत्व का मेल न हो, तो वे हमारे साहित्य की वृद्धि कभी नहीं कर सकते। व्याख्या करना लेखक का कर्तव्य है। वह व्याख्या करने के लिए वाध्य है अन्यथा साहित्य फोटो-चित्र के समान प्राणहीन, आत्महीन रह जायगा। वह व्याख्या से वच सकता ही नहीं। क्योंकि अनुभव को साहित्यिक व्यंजना प्रदान करके चिरस्थायी वह इसीलिए तो वनाना चाहता है कि उस अनुभव का उसके लिए कुछ अर्थ है, तात्पर्य है।

हिन्दी में इधर यथार्थवादी परम्परा की उत्कृष्ट कृतियों को देखकर यह सहज ही वोध होता है कि छोटे-छोटे व्यंजक घटना-प्रसगों एव तफसीलों के द्वारा चित्रपट को विस्तृत वनाने की ओर लेखक का जितना उत्साह रहता है उतना गहराई लाने की ओर नहीं। पात्र, परिस्थिति एव वातावरण के चित्रण में फोटोग्रैफिक यथा-तथ्यता होते हुए भी प्रभविष्णुता एवं स्थायित्व का अभाव रहता है।। कहीं वाह्य वर्णनों के वाहुल्य और कहीं अन्तश्चेतना की उर्मियों में डूबने-उतराने की प्रवृत्ति के कारण कथानक विखरा-विखरा, विशृङ्खल एवं अनगढ़ हो उठा है। अनुकृति के अधिकाधिक मोह ने कहानी की रंजकता को कम किया है। ऐसी स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टि जिसमें जीवन और कला दोनों ही का समन्वय हो कम देखने को मिलती है।

निष्कर्ष

विभिन्न वादों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यकार के लिए स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टि नितान्त अपेक्षित है। उसे साहित्य के उच्चतम लक्ष्य को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने देना चाहिए। साहित्य की सृष्टि जीवन के माध्यम से जीवन के लिए होती है। जीवन के अनेक रूप हैं, अनेक पक्ष हैं और विविध रूपों एव पक्षों में ही वह यथार्थ है। कलाकार को मानवीय सहानुभूति के साथ मनुष्य की शक्ति एवं दुर्वलता को देखना चाहिए और जीवन को उसकी समग्रता में व्यक्त करना चाहिये। रचना-प्रक्रिया में, चित्रण-शैली में, यथार्थवाद की उपयोगिता निर्भ्रान्त है किन्तु जीवन की प्रगति के लिए, काव्य के स्थायित्व के लिए चिरन्तन जीवन-मूल्यों पर अधिकाधिक वल देना होगा। आदर्श चरित्र सृष्टि अविश्वसनीय हो सकती है किन्तु व्यक्ति की आदर्शवादिता यथार्थ ही रहेगी। अतएव आदर्श यदि व्यक्ति के माध्यम से आवे, लेखक के प्रयत्न से नहीं, तो वह स्पृहणीय है।

हिन्दी उपन्यास

[ऐतिहासिक अध्ययन]

लेखक

शिवनारायण श्रीवास्तव

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, तिलकधारी कालेज,

जौनपुर

सरस्वती मन्दिर, वाराणसी